आर्यशूरकृत—

जातकमाला

—एक अध्ययन

लेखक

डॉ० कमलाकान्त मिश्र

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

इलाहाबाद

१९७७

आर्यशूरकृत-

जातकमाला-एक अध्ययन

लेखक

डॉ० कमलाकान्त मिश्र

एम्० ए०, पी-एच्० डी०, व्याकरण-साहित्याचार्य

अनुसन्धान अधिकारी

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ,

इलाहाबाद

गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

मोतीलाल नेहरू पार्क

इलाहाबाद

१९७७

प्रथम संस्करण
जुलाई, १९७७ ई०

प्रकाशक :
प्राचार्य,
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
मोतीलाल नेहरू पार्क,
इलाहाबाद—२११००२
(भारत)
कृते
राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
नयी दिल्ली

मूल्य······

मुद्रक :
नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद।

A STUDY
OF
THE JATAKAMALA
OF
ARYASHURA

By

Dr. K. K. MISHRA

M. A., Ph. D., Vyakarana-Sahityacharya

RESEARCH OFFICER

G. N. Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha,

ALLAHABAD

THE

G. N. JHA KENDRIYA SANSKRIT VIDYAPEETHA

ALLAHABAD

1977

First Edition
July, 1977

Published by :
The Principal,
Ganga Nath Jha Kendriya Sanskrit Vidyapeetha,
Moti Lal Nehru Park,
ALLAHABAD—211002
(India)
For
RASHTRIYA SANSKRIT SANSTHAN,
NEW DELHI

Price Rs..........

Printed by :
Nagari Press, Daraganj, Allahabad


विद्यापीठ-सुमङ्गल-
२५-९-१८७१ई

प्रकाशकीय

'जातकमाला—एक अध्ययन' के प्रकाशन की योजना 'राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान' के द्वारा 'विद्यापीठ' को प्राप्त हुई। इसे प्रकाशित रूप में प्रस्तुत करते हुए हमें हार्दिक प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। ग्रन्थकार डॉ० कमलाकान्त मिश्र की प्रथम सारस्वत-साधना की लतिका में प्रसूत प्रथम पुष्प के रूप में हम प्रस्तुत ग्रन्थ का स्वागत करते हैं और आशा करते हैं कि इसके द्वारा डॉ० मिश्र साहित्य आलोचन के क्षेत्र में व्यापक प्रतिष्ठा के भाजन होंगे। डॉ० मिश्र एक उत्साही, श्रमशील एवं विनम्र नवयुवक हैं और उनका उत्साह अदम्य है।

ग्रन्थ के सम्बन्ध में केवल हम इतना ही कहना चाहेंगे कि इससे मेधावी ग्रन्थकार की व्यापक शोध-क्षमता का सहज अनुभव किया जा सकता है।

जातक-साहित्य बौद्ध धर्म का एक 'कान्तिमत् रत्नखण्ड' है। आर्यशूर ने उस रत्नखण्ड से जातकमाला की अनुपम सृष्टि की है जो अपने दिगन्तव्यापी यशः-प्रसार के कारण किसी भी संस्कृत काव्य-ग्रन्थ से पीछे नहीं है। 'जातकमाला' के प्रस्तुत 'अध्ययन' के माध्यम से सहृदय पाठक-वर्ग को आर्यशूर और उसके यशःपूत कृतित्व के विषय में जिज्ञासा का अविकल समाधान प्राप्त हो सकेगा।

अन्त में हम 'संस्थान' के माननीय अधिकारियों को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने विद्यापीठ को प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन की अनुमति देने की कृपा की। विद्यापीठ की शोध-प्रकाशन समिति तथा परमादरणीय अध्यक्ष डॉ० बाबू राम सक्सेना के हम बहुत कृतज्ञ हैं, जिनके आशीर्वाद से यह प्रकाशन संपन्न हो सका है। सकुशल तथा सत्वर प्रकाशन सम्पन्न कर देने के लिए नागरी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद भी प्रशंसा का पात्र है।

डॉ० हरिहर झा
का० प्राचार्य
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ

इलाहाबाद
तिथि २२-७-१६७७ ई०

प्रस्तावना

डॉ० कमलाकान्त मिश्र इस विद्यापीठ में अनुसन्धान अधिकारी हैं। चार वर्ष पूर्व इन्होंने पटना विश्वविद्यालय में "**जातकमाला—एक अध्ययन**" विषय पर शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत कर पी-एच्० डी० उपाधि प्राप्त की थी। हमारा सौभाग्य है कि राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान की अनुमति से इस ग्रन्थ को यह विद्यापीठ प्रकाशित कर रहा है।

भारतीय चिन्तन की तीन प्रमुख परम्पराएं हैं—वैदिक, बौद्ध और जैन। इनमें से बौद्ध धारा ने जितना प्रचार प्रसार और गौरव भारत से बाहर प्राप्त किया उतना शेष दो ने नहीं। बौद्ध चिन्तन पुरातन मूल रूप में पालि भाषा में प्राप्त है। इसका रूप ईसा पूर्व तीसरी शती में सुनिश्चित हो गया था। कई सौ वर्ष बाद बौद्ध धर्म ग्रन्थ संस्कृत में प्रणीत हुए। जातकमाला संस्कृत का ग्रन्थ है।

पालि में ५४७ जातक हैं। **सुत्तपिटक** के **संयुत्त-निकाय** का एक ग्रन्थ **जातक** है। जातक का मूल रूप गाथाओं में है। आज प्राप्त जातकों का गद्य भाग **'अट्ठकथा'** (भाष्य) के रूप में कई सौ वर्षों बाद बना। प्राचीन बौद्ध परम्परा में जीवात्मा नाम का तत्व अग्राह्य है, पर पुनर्जन्म है। कोई जीव कितने बोधिसत्त्वों की स्थिति में रह कर अन्त में बुद्ध होता है। जातकों में इन्हीं बोधिसत्त्वों की कहानी है। जातकमाला के रचयिता ने कुछ जातक चुन कर संस्कृत में प्रस्तुत किए हैं। मूल पालि पाठ से तुलना करने पर पता चलेगा कि संस्कृत रूप किस बात में पालि से भिन्न है।

डॉ० कमलाकान्त मिश्र ने जातकमाला का अध्ययन अनेक दृष्टियों से किया है और विषय पर प्रचुर प्रकाश डाला है। आशा है यह 'अध्ययन' हमारे ज्ञान में यथेष्ट वृद्धि करेगा। निश्चय ही डॉ० मिश्र साधुवाद के पात्र हैं।

डा० बाबू राम सक्सेना
एम्० ए०, डी० लिट्०
सभापति, स्थानीय प्रबन्धक समिति
गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ
भूतपूर्व कुलपति
इलाहाबाद विश्वविद्यालय

इलाहाबाद
दिनांक २१-७-७७

सम्मति

डॉ० कमलाकान्त मिश्र, एम्० ए०, पी-एच्० डी० द्वारा लिखित **"जातकमाला—एक अध्ययन"** नामक ग्रन्थ को प्रकाशित होते देख प्रसन्नता हुई। डॉ० मिश्र ने इस पुस्तक को लिख कर संस्कृत तथा हिन्दी की बड़ी सेवा की है। सरल संस्कृत ग्रन्थों का भी आदर कम होता जा रहा है। अत: संस्कृत ग्रन्थों के तथ्यों तथा दार्शनिक ज्ञान का सहज हिन्दी माध्यम से प्रचार बहुत अपेक्षित है।

आर्यशूर की जातकमाला अतिप्रसिद्ध ग्रन्थ है। मूल जातक पालि भाषा में हैं, जिनकी प्रामाणिक संख्या ५४७ है। आर्यशूर ने ३४ जातकों को सरल कोमल संस्कृत भाषा में लिख कर संस्कृत साहित्य की अभिवृद्धि की है। इसमें बौद्ध-धर्म तथा उपदेशों का कथाच्छलेन प्रतिपादन परम उपयोगी तथा हृदयग्राही हुआ है। संस्कृत साहित्य में यह परम्परा पुरानी है। बोधगम्य कथाओं के माध्यम से गंभीर विषयों का प्रतिपादन तथा नीतिशास्त्र के दुरूह तत्त्वों को सर्वसाधारण करने की प्रथा पुरानी है। इनके उदाहरण छान्दोग्योपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् तथा ब्राह्मण साहित्य में भरे पड़े हैं, जिनके निदर्शन रामायण तथा महाभारत में भी मिलते हैं। जीव-जन्तुओं की कथा द्वारा उपदेश का परम प्रसिद्ध ग्रन्थ पञ्चतन्त्र आज भी सर्वत्र पढ़ा जाता है और मान्य है। आर्यशूर ने भी इसी परम्परा में दुरूह बौद्ध दार्शनिक सिद्धान्तों का संस्कृतीकरण कर उन्हें जन-साधारण के लिए सुलभ बनाया है।

अत: मेरा विश्वास है कि जिज्ञासुओं के लिए यह ग्रन्थ परम उपादेय होगा।

डॉ० बेचन झा

पटना — एम्० ए०, डी० लिट्०, साहित्याचार्य, व्याकरणतीर्थ

तिथि १८-६-१९७७ ई० — प्रोफेसर एवं अध्यक्ष

संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय

"नायं प्रयत्नः सुगतिं समाप्तुं
नैकातपत्रां मनुजेन्द्रलक्ष्मीम् ।
सुखप्रकर्षैकरसां न च द्यां
ब्राह्मीं श्रियं नैव न मोक्षसौख्यम् ।।
यत्त्वस्ति पुण्यं मम किञ्चिदेवं
कान्तारमग्नं जनमुज्जिहीर्षोः ।
संसारकान्तारगतस्य तेन
लोकस्य निस्तारयिता भवेयम् ।।"

—जातकमाला (हस्ति-जातक २१,२२)

आमुख

"एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥"
"मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥"

(बोधिचर्यावतार ३।६, ८।१०८)

मानव-हृदय में इतिहास के किसी अज्ञात क्षण में प्रस्फुटित करुणा की उदात्त भावना से आप्लावित उपर्युक्त पद्यों को सुनने के उपरान्त मेरे मन में उस उत्स को ढूँढ़ निकालने का निश्चय हुआ, जो अब 'जातकमाला—एक अध्ययन' के रूप में प्रस्तुत हो रहा है। बोधिसत्त्व की महाकरुणा से उद्दीप्त बौद्ध-साहित्य (विशेषत: जातक-साहित्य) ने मानव-हृदय की सबसे निगूढ़, विलक्षण निधि—करुणा को अनेक कथाओं के माध्यम से व्यञ्जित कर जगत् का जो हित किया है, वह अपने आप में अद्वितीय है। आज स्वार्थ एवं हिंसा की भावनाओं से व्याप्त मानव-हृदय को परिवर्तित करने तथा संसार को आध्यात्मिक सुख एवं शान्ति की ओर अग्रसर करने के लिए बोधिसत्त्व की करुणा से उल्लसित जातकमाला जैसे ग्रन्थों के परिशीलन की अपेक्षा है। यही कारण था कि मैं इस ग्रन्थ के अध्ययन में प्रवृत्त हुआ तथा अपनी सामर्थ्य और सीमा में रहते हुए मैंने जो कुछ प्रयास किया, वह अब सहृदय पाठकों के समक्ष प्रस्तुत है।

मेरे इस विनम्र प्रयास में गुरु-जनों के आशीर्वाद एवं मित्रों की शुभ-कामनाओं का भी योगदान रहा है, जिसके लिए मैं हृदय से उन सबों का आभारी हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ श्रद्धेय गुरुवर डॉ० बेचन झा जी (एम्. ए., डी. लिट्, साहित्याचार्य, व्याकरणतीर्थ), प्रोफेसर एवं संस्कृत-विभागाध्यक्ष, पटना विश्वविद्यालय के अमूल्य निर्देशन में लिखा गया तथा सन् १९७३ ई० में पटना विश्वविद्यालय की पी-एच्. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ। ग्रन्थ के यथासमय सफलतापूर्वक सम्पन्न होने में सर्वाधिक श्रेय परम पूजनीय गुरुवर के समुचित निर्देशन एवं अच्छी 'संभावना' को है, जिसके कारण मेरे जैसा साधारण व्यक्ति भी इस कठिन कार्य को पूरा करने में सफल हो सका है। जैसा कि कहा गया है :—

"सिध्यन्ति कर्मसु महत्स्वपि यन्नियोज्याः
संभावनागुणमवेहि तमीश्वराणाम्।"

(अभिज्ञानशाकुन्तलम् ७।४)

यद्यपि मेरे इस प्रबन्ध के प्रस्तुत होने में पर्याप्त सामग्री की अनुपलब्धि जैसी नाना कठिनाइयाँ आती रहीं, तथापि पूज्य गुरुदेव के व्यक्तिगत सहयोग एवं पथ-प्रदर्शन की दीपशिखा के आलोक में वे स्वतः दूर होती गयीं। उनके सहानुभूतिपूर्ण वात्सल्य की छत्र-छाया में ही मेरा यह शोधकार्य संपन्न हुआ है। अतः मात्र कृतज्ञता ज्ञापित कर उनसे उऋण होना कदापि संभव नहीं।

प्रस्तुत विषय पर शोधग्रन्थ लिखने में मुझे अपने गुरुवर डॉ० उमाशङ्कर शर्मा 'ऋषि', व्याख्याता, संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय से पर्याप्त उत्साह मिला। उन्होंने अपना अमूल्य समय देकर प्रारम्भ से ही मेरे इस कार्य में रुचि ली, अनेक बार आवश्यक सुझाव देने की कृपा की एवं आद्योपान्त इस प्रबन्ध का अवलोकन कर अपना स्नेह सौजन्य प्रदर्शित किया। मेरी हार्दिक कृतज्ञता उन्हें समर्पित है।

विश्वविद्यालय अनुदान आयोग, नयी दिल्ली के प्रति आभार प्रकट करना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ, जिसने अपनी 'रिसर्च फेलोशिप' (१९७०–७३ वर्ष) प्रदान कर मुझे इस शोधकार्य को यथासमय पूरा करने में आर्थिक संबल प्रदान किया है।

इस ग्रन्थ को प्रकाश में लाने का श्रेय राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, नयी दिल्ली को है, जिसने अपनी प्रकाशन समिति की अनुशंसा पर (जनवरी १९७६ ई०) में इसे अपने प्रकाशन कार्यक्रम के अन्तर्गत प्रकाशित करने का निर्णय लिया। किन्तु कतिपय व्यावहारिक कठिनाइयों के परिणाम-स्वरूप मुद्रण-कार्य प्रारम्भ होने में विलम्ब होता रहा। अन्ततः मेरे अनुरोध पर संस्थान ने फरवरी १९७७ ई० में इस पुस्तक को गङ्गानाथ झा केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित करने की अनुमति दे दी, जिससे मुद्रण एवं प्रकाशन कार्य अल्पकाल में तथा समुचित रूप से संभव हो सका है। इसके लिए संस्थान के निदेशक एवं अन्य अधिकारियों के प्रति मैं हृदय से कृतज्ञ हूँ।

इस सन्दर्भ में मैं विद्यापीठ के स्थानीय प्रबन्धक समिति के अध्यक्ष माननीय डॉ० बाबू राम सक्सेना जी के प्रति किन शब्दों में अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करूँ, जिन्होंने 'विद्यापीठ' से इस 'अध्ययन' को प्रकाशित करने की अनुमति प्रदान की तथा अपने अमूल्य आशीर्वाद से मुझे कृतार्थ किया। प्रकाशन की अनुमति मिलते ही ग्रन्थ को यथाशीघ्र तथा सुचारु रूप से मुद्रित करने के लिए प्रेस आदि की समुचित व्यवस्था कर तथा समय-समय पर अपने अनुभवपूर्ण परामर्श से लाभान्वित कर विद्यापीठ के का० प्राचार्य आदरणीय डॉ० हरिहर झा जी ने जो अपना सहज स्नेह भाव व्यक्त किया है, इसके लिए मैं उनका आभारी हूँ।

मुख पृष्ठ का चित्र विश्वन्तर (वेस्सन्तर) जातक की कथा पर आधारित अति प्राचीन (द्वितीय शताब्दी ई० पू० की) भरहुत की इलाहाबाद संग्रहालय

में सुरक्षित प्रस्तरमूर्त्ति (सं० ५५) का है एवं आवरण पृष्ठ के पिछले भाग का चित्र शश-जातक के दृश्य पर आधारित उसी समय की प्रस्तरमूर्त्ति (इलाहाबाद संग्रहालय संख्या २७) का है, जो संग्रहालय के निदेशक, डॉ० सतीशचन्द्र कालाके सौजन्य से 'अमेरिकन इन्स्टीच्यूट ऑफ इण्डियन स्टडीज', वाराणसी द्वारा सुलभ हुए हैं। इसके लिए मैं उनका कृतज्ञ हूँ।

स्नातक कक्षा में मेरे गुरु प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरी, भू० पू० संस्कृत विभागाध्यक्ष, पूर्णियाँ कालेज, पूर्णियाँ (बिहार) के प्रति आभार प्रकट करना भी मेरा पुनीत कर्तव्य है, जिनकी पुस्तक 'जातकमाला' (का हिन्दी अनुवाद) से मुझे पर्याप्त सहायता मिली है।

समय-समय पर अमूल्य सुझाव देने के लिए अपने अनुभवी मित्र डॉ० किशोर-नाथ झा जी एवं प्रूफ संशोधन, आवश्यक परामर्श आदि के द्वारा ग्रंथ के मुद्रण में प्रारम्भ से अन्त तक अभिरुचि लेने के लिए अपने सहृदय मित्र डॉ० जगन्नाथ पाठक जी के प्रति जितनी भी कृतज्ञता ज्ञापित की जाय, वह थोड़ी है।

नागरी प्रेस, दारागंज के अधिपति, श्रीयुत् सरयू प्रसाद पाण्डेय जी ने, जिस तत्परता के साथ अल्प समय में इस ग्रन्थ को मुद्रित कर अपने सहज सौजन्य का परिचय दिया है, इसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

अपने जिस किसी रूप में यह 'अध्ययन' मुझ जैसे 'अल्पविषया मति' वाले लेखक के माध्यम से 'सदसद्व्यक्तिसमर्थ' सुजनों के हाथों में जा रहा है, बस, इतना ही मेरे लिए परितोष का विषय है, क्योंकि इसमें यदि कोई वैशिष्ट्य उदित होगा तो उसका सम्पूर्ण श्रेय उन्हीं सुजनों को प्राप्त होगा जो अपने सहज सौजन्य से इसे अङ्गीकार करेंगे और त्रुटियों के परिमार्जन के लिए अपेक्षित परामर्श से लेखक को अनुगृहीत करेंगे—

एतावत्सरसिजकुड्मलस्य कृत्यं
भित्वाऽम्भः सरसि विनिर्गमो बहिर्यत्।
आमोदो विकसनमिन्दिरानिवास—
स्तत्सर्वं दिनकरकृत्यमामनन्ति॥

गुरु पूर्णिमा,
प्रयाग
३०, जुलाई १९७७ ई०

कमलाकान्त मिश्र

विषय-सूची

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

चतुर्थ अध्याय

———

संकेत-विवरण

सा० द०	—	साहित्यदर्पणम्
का० प्र०	—	काव्यप्रकाशः
अभि०	—	अभिज्ञानशाकुन्तलम्
का० सू० वृ०	—	काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति
वृत्त०	—	वृत्तरत्नाकर
काव्या०	—	काव्यादर्श
जातक०	—	जातकमाला
अभिधान०	—	अभिधानचिन्तामणि
ध्वन्या०	—	ध्वन्यालोक
ना० शा०	—	नाट्यशास्त्र
भू०	—	भूमिका
पृ०	—	पृष्ठ
सांख्य०	—	सांख्यकारिका
बृहदा०	—	बृहदारण्यकोपनिषत्
छान्दो०	—	छान्दोग्योपनिषत्
मं०	—	मंगलाचरण
तुल०	—	तुलनीय
भामह०	—	भामहकृत काव्यालङ्कार
सदुक्ति०	—	सदुक्तिकर्णामृतम् ।
सुभाषित०	—	सुभाषितरत्नकोष
श्रीमद्भग०	—	श्रीमद्भगवद्गीता
रामा०	—	रामायणम्-वाल्मीकि सं० श्री वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री, पणशीकर, १९३० ।
श्रीमद्वाल्मीकिरामा०	—	श्रीमद्वाल्मीकिरामायणम्, आर० नारायण स्वामी, मद्रास लॉ जर्नल प्रेस, १९३३ ।
महायानसूत्र०	—	महायानसूत्रसंग्रह-सं० डॉ० परशु-राम वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६१ ।
म० भा०	—	महाभारत
शा० प०	—	शान्तिपर्व

ललित०	—	Lalitavistara—Ed. by Dr. P. L. Vaidya, Mithila Institute, Darbhanga. 1958.
Speyer	—	Jatakamala, tr. by J. S. Speyer, Motilal Banarsidass, Delhi-7, 1971.
K. P. J.	—	Kashi Prasad Jayasawal "Hindu Polity" Bangalore. Printing & Publishing Co. Ltd., Bangalore City, 1943.
G. D. De.	—	Gokul Das De—Significance & Importance of Jatakas, Calcutta University, 1951.
P. E. A.	—	Pillar Edicts of Ashoka, Dr. U. S. Sharma, April-1960.
P. T. S.	—	Pali Text Society
M. W.	—	Monier Williams—Sanskrit-English Dictionary
Feer	—	M. L. Feer—A Study of the Jatakas—Analytical and critical, Calcutta—1963.
J. R. A. S.	—	Journal of Royal Asiatic Society.
S. B. E.	—	Sacred Books of the East.
B. B.	—	Bibliothica Buddhica, Petrograd.
Pt.	—	Part.
Ed.	—	Edited.
Tr.	—	Translated.
Intr.	—	Introduction
P.	—	Page.

———

जातकमाला–एक अध्ययन

विषय-प्रवेश

वेदादिशास्त्रों में मानवमात्र के प्रथम ज्ञान का आदर्श मिलता है। अत्यन्त मौलिक तथा स्थूलरूप में प्रदर्शित वैदिकज्ञान को उपनिषदों में सूक्ष्मतर बताया गया है। इसके अनन्तर भी उन सूक्ष्म कल्पनाओं को विद्वानों ने मानवमात्र के कल्याण तथा सरलबोध के लिए कथा का रूप दिया, जिससे पुराण-साहित्य का विकास हुआ। पुराणों में समस्त कर्मकाण्डों का प्रतीकात्मक वर्णन हटाकर रूपक दिये गये हैं। स्वर्ग-नरक की विलक्षण कल्पना ने मानव के नैतिक मूल्यों को सुरक्षित रखने में बड़ा योगदान दिया है। इतिहास, पुराण तथा वेद के सम्बन्ध पर महाभारत (१।१।२६७) में कहा गया है—

> "इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत् ।।
> बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति ।।"

किन्तु ये पुराण एवं इतिहास के वाक्य भी सुहृत्सम्मित वाक्य के समान ही कर्त्तव्य की सूचना देने में समर्थ हुए। माधुर्य एवं रसोद्गिरण करते हुए वाणियों में कर्त्तव्यनिर्देश अब भी शेष ही रहा। यह सर्वविदित है कि बाल्यावस्था में गुरुजन का हितोपदेश आज्ञा के रूप में कार्य का निर्देश करता है। कुछ प्रौढ़ता प्राप्ति के अनन्तर सुहृद्-वाक्यों की प्रेरणा से मनुष्य अपने कर्त्तव्य पथ की ओर अग्रसर होता है। अनन्तर जब मनुष्य गृहस्थधर्म में सर्वथा आबद्ध हो जाता है, तब उसे अपने कर्त्तव्य-मार्ग पर सञ्चरण करने के लिए कान्तासम्मित वाक्य की आवश्यकता होती है। इसी तरह उपदेश के क्षेत्र में भी सुहृत्सम्मित उपदेश के अनन्तर आचरण की शिक्षा के लिए कान्तासम्मित उपदेश की आवश्यकता को अनुभूत कर काव्य इस अभाव की पूर्ति में सचेष्ट हुए। कवि अपनी अमर सहस्र वाणियों द्वारा सहृदयजनों के मानस-पटल पर उपदेश के तत्त्वों को अंकित करने में पूर्ण सफल होने लगे। फलतः काव्य की सृष्टि सर्वतोमुखी होकर सभी दार्शनिक सिद्धान्तों को परिस्फुट करने के लिए एकान्ततः आधार हो गयी। शब्दालंकार का आश्रयण कर कोमलकान्त पदावली सहृदय-हृदय को सदुपदेश सुनने के लिए सर्वथा आवर्जित करने लगी तथा अर्थालंकार अभिप्रेत अर्थों की अभिव्यक्ति में सहायक होने लगे और सरस वाक्य अपने अर्थों की अमिट छाप अन्तःपटल पर अंकित कर उचित कार्य की ओर एकान्ततः संलग्न करने लगे। परिणामतः अश्वघोष जैसे प्रबुद्ध बौद्ध दार्शनिक को भी अपने सिद्धान्त के प्रचार में इसी कोमलकान्त पद-शय्या का अवलम्बन करना पड़ा और बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द जैसे अमर महाकाव्यों के द्वारा वह जन-मन रञ्जन कर बौद्ध सिद्धान्त को कान्तासम्मित उपदेश के द्वारा हृदय-पटल पर अंकित करने में समर्थ हुए।

'जातकमाला' में एक ऐसी संस्कृति उपनिबद्ध है, जो मात्र भारतीय संस्कृति नहीं, वरन् एक सनातन प्राणि-मात्र की संस्कृति है। इसकी कथाओं का मूलाधार, करुणा और मैत्री है। यह उस ज्योति की अमर वाणी से सम्बद्ध है, जिसने भोग-विलास के अन्तस्तल में करुणा का उद्भावन किया। कनक-कामिनी और कीर्ति रूप दृढ़तम बन्धन-शृंखलाओं को तोड़ने वाले ज्ञान, करुणा, प्रेम आदि तत्त्वों को जन-मन में स्थिर करने के लिए जातकमाला की कथाएँ सामाजिक द्वन्द्वों (जैसे-धनी-निर्धन, ऊँच-नीच) से ऊपर उठकर सरल सुबोध भाषा में लिखी गयीं। इन कथाओं की शिक्षा से दीक्षित संसार आज भी श्रद्धा, आदर और गौरव के साथ बुद्ध को स्मरण करता है। भगवान् बुद्ध जिन आर्यसत्यों की ज्ञान-रश्मि से देदीप्यमान थे, उसी का प्रबल प्रकाश इन जातकों को प्रभाव-भास्वर करता है। संसार के करोड़ों प्राणियों की मंगलमय कामना से महाकवि आर्यशूर ने बुद्ध के संदेशों को सामान्य कथाओं के द्वारा मानव-हृदयपटल पर अंकित करने का प्रयास किया। कठिन विषयों को सरल शब्दों में इतिहास एवं कथाओं के द्वारा प्रदर्शित कर कर्त्तव्य-मार्ग के निर्देशन की परम्परा हमारे यहाँ अति प्राचीन काल से चली आ रही है। महाभारत एवं उपलब्ध पुराण इसी तथ्य के पोषक हैं। उनमें अनेक पुण्यात्मा राजाओं के चरित्रों को सरल भाषा में उपनिबद्ध कर सुपथ पर चलने का उपदेश दिया गया है। इसी प्रकार बौद्ध-सिद्धान्त को जन-मन में अंकित करने के लिए कोमल-कान्त पदावली की शय्या देकर अश्वघोष तथा आर्यशूर ने भी इसी मार्ग को प्रशस्त किया है।

बौद्ध-धर्म तथा दर्शन पर आश्रित संस्कृत में काव्यरूप में लिखे गये ग्रन्थों में अश्वघोष के बुद्धचरित तथा सौन्दरनन्द एवम् आर्यशूर-रचित जातकमाला अत्यन्त प्रसिद्ध तथा उल्लेखनीय हैं। इन तीनों में जातकमाला की कुछ विशेषतायें हैं। अश्वघोष के काव्यों में एक सूत्र में निबद्ध कथा आद्योपान्त प्रवाहित होती रहती है, जिससे महाकाव्यत्व के निर्वाह का अधिक अनुकूल अवसर प्राप्त हुआ है एवं विषय-वर्णन में भी कोई प्रतिबन्ध नहीं है। दूसरी ओर जातकमाला, बोधिसत्त्व की विभिन्न कथाओं का उनके अवदानों पर आश्रित निरूपण करने के कारण, अपनी विषय-वस्तु में बँधी हुई है। प्रत्येक जातक अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है, जिसकी कथा आर्यशूर को अधिकांशतया पालि जातकों में उपजीव्य विषय-वस्तु के रूप में प्राप्त हुई है। उस कथावस्तु का अतिक्रमण आर्यशूर के लिये न तो उचित था और न अपेक्षित ही। स्पेयर ने जातकमाला के अपने अंग्रेजी अनुवाद के अन्त में (पृ० ३३७-४०) जातकमाला के ऐसे श्लोकों की सूची दी है, जो पालि-जातकों की गाथाओं के प्राय: अनुवाद हैं। यही कारण है कि जातकमाला अपनी साहित्यिक सम्पत्ति में अश्वघोष के काव्यों के समकक्ष नहीं रखी जा सकती।

जातकमाला की दूसरी विशेषता यह है कि इसमें गद्य और पद्य, दोनों का सन्निवेश हुआ है। अपने पूर्ववर्ती ग्रन्थ 'पंचतंत्र' के आदर्श पर लिखी गयी इस जातकमाला पर उक्त ग्रंथ का बहुत अधिक प्रभाव है। पंचतंत्र के बाद क्रमश:

विकसित होनेवाली संस्कृत गद्य-शैली के ऐतिहासिक पर्यालोचन के लिये जातकमाला में प्रयुक्त गद्य का तो महत्त्वपूर्ण स्थान है ही, नीति के उपदेश के रूप में काव्यात्मक पद्यों का भी अपना विलक्षण सौन्दर्य है। दोनों दृष्टियों से आर्यशूर की यह कृति साहित्यिक अध्ययन की अपेक्षा रखती है।

इतना महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ होते हुए भी इसकी ओर परवर्ती समालोचकों की दृष्टि नहीं पड़ी, जिसके परिणाम स्वरूप संस्कृत में इस पर कोई भी टीका नहीं मिलती। जोन्स्टन ने जिन दो टीकाओं का उल्लेख किया है[1] वे तिब्बती भाषा में हैं। प्रथम टीका के लेखक धर्मकीर्ति कहे जाते हैं और दूसरी टीका "पञ्चिका" है। इन टीकाओं की प्राप्ति के अभाव में जातकमाला का अर्थ केवल भाषा-ज्ञान के बल पर ही समझा जा सकता है। जातकमाला विशेष रूप से बौद्धों के बीच ही प्रचलित थी। अतः संस्कृत के समालोचकों की दृष्टि इस पर नहीं पड़ी तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। एकमात्र 'अभिनन्द' की ही एक उक्ति—

"सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिसुभगा भारविगिरः
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥[2]

आर्यशूर की विशेषता प्रकट करती है कि शूर (=आर्यशूर) विशुद्ध अर्थात् स्वाभाविक उक्तियों से परिपूर्ण भाषा-शैली का लेखक था। सचमुच यह आश्चर्य का विषय है कि इतने सुन्दर साहित्यिक ग्रन्थ के विषय में किसी समालोचक ने कुछ नहीं लिखा, जबकि अन्य कवियों और लेखकों के विषय में अनेक सूक्तियाँ प्रचलित हैं।

जातकमाला ग्रन्थ के अब तक निम्नलिखित संस्करण प्रकाश में आ चुके हैं—

जातकमाला का प्रथम संस्करण हालैण्ड निवासी डॉ० हेन्ड्रिक कर्न (Dr. Hendrik Kern) ने सम्पादित कर अमेरिका के हार्वर्ड प्राच्यमाला (Harvard Oriental Series) के प्रथम ग्रन्थ के रूप में सन् १८९० में हार्वर्ड विश्वविद्यालय प्रेस में मुद्रित तथा प्रकाशित किया। इनके सम्पादन के आधार हैं—कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय की दो पाण्डुलिपियाँ (संख्या १३२८ तथा १४१५) एवं पेरिस के राष्ट्रिय ग्रन्थागार की एक पाण्डुलिपि (संख्या ८९५)। इस संस्करण के विषय में

---

1. The Buddhacharita—tr. ed. by E. H. Johnston, Pt. II. P. XXXVII—

"No commentary was ever written either on it or on the 'Saundarananda', where as two exist for the Jatakamala; which offers far fewer difficulties of interpretation."

२. सुभाषितरत्नकोष, १६९८, सदुक्तिकर्णामृत ५।२६।५।

मैक्समूलर ने कहा है कि डच विद्वान् कर्न द्वारा प्रस्तुत जातकमाला का संस्करण उत्कृष्ट है और संभवत: उसमें परिवर्तन न हो सकेगा। "The edition of the Sanskrit text by Prof. Kern is not only an 'editio princeps'. but the text as restored by him, will probably remain the final text."[1] वस्तुत: प्रो० कर्न प्रशंसा के पात्र हैं; क्योंकि उन्होंने श्लाघनीय संस्कृत पाठ प्रस्तुत किया है। उन्होंने संक्षिप्त भूमिका के साथ जातकमाला का मूल मात्र प्रकाशित किया है। उपर्युक्त ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक Charles Rockwell Lanman थे।

रायल एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता के पुस्तकालय में जातकमाला की दो पाण्डुलिपियाँ हैं, जो नेपाल से आयी हैं। ये दोनों नेवारी लिपि में लिखित हैं। उनमें से एक (जी० ८८८०) खण्डित है तथा ११वीं शती की नेवारी लिपि में तालपत्र पर लिखी हुई है। इसमें अविषह्य जातक से प्रारम्भ होनेवाले पाँच जातक हैं। दूसरी पाण्डुलिपि (बी० १३) १८वीं शती की नेवारी लिपि में कागज पर लिखी हुई है। इसमें "सुभाषराज" नामक एक अधिक जातक है। दोनों पाण्डुलिपियाँ कर्न के संस्करण से प्राय: मिलती हैं। पहली का पाठ अधिक अच्छा है, दूसरी का पाठ कुछ अशुद्ध है।

जातकमाला का चीनी भाषा में अनुवाद सन् ९६० और ११२७ ई० के बीच हुआ, जिसमें १४ जातक ही हैं।

जातकमाला का अंग्रेजी अनुवाद प्रो० जे० एस० स्पेयर द्वारा किया गया और ऑक्सफोर्ड की बौद्ध-धर्म ग्रन्थमाला (Sacred Books of the Buddhist) के प्रथम ग्रन्थ के रूप में सन् १८९५ ई० में ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय प्रेस में छपकर प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थमाला के प्रधान सम्पादक एफ० मैक्समूलर थे। स्पेयर ने ही सर्वप्रथम विद्वानों का ध्यान जातकमाला की साहित्यिक विशेषताओं की ओर आकृष्ट किया है। पूरे एक अनुच्छेद में उन्होंने इसकी साहित्यिक समालोचना दी है। (Speyer Inter. P. XXIII (V) उन्होंने प्राय: गद्गद् होकर लिखा है कि यह अपने प्रकार की सबसे पूर्ण कृति रही है तथा न केवल अपनी शैली की उत्तमता के कारण, प्रत्युत विचारों की उदात्तता के लिये भी यह एक विशिष्ट कृति मानी जायगी। जातक रूपी पुष्पों की यह सचमुच माला है ("It has perhaps been the most perfact writing of its kind. It is distinguished no less by the superiority of its style than by the loftiness of its thoughts. Above all, I admire his moderation. Unlike so many other Indian mastery in the art of literary composition

1. Speyer—preface. P. XI.

he do s not allow himself the use of embellishing apparel."[1]) इसी प्रकार के भावोच्छ्वासों से स्पेयर ने आर्यशूर का वर्णन किया है। यह दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति है कि स्पेयर के बाद इस विषय की चर्चा ही समाप्त हो गयी कि जातकमाला में साहित्यिक सम्पत्ति भी है तथा इसका अध्ययन साहित्य के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रख सकता है।

उक्त संस्करणों के अनन्तर भारतवर्ष में भी जब विश्वविद्यालयों के पाठ्य-क्रम में जातकमाला का सन्निवेश हुआ, तब चुने हुए जातकों के कतिपय संस्करण प्रकाशित हुए। इनमें पं० बटुकनाथ शास्त्री के संस्करण में चुने हुए ११ जातक उनकी "बाला" नामक संस्कृत टीका के साथ प्रकाशित हैं। प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरी ने भी क्रमश: प्रथम २० जातकों का हिन्दी अनुवाद के साथ प्रथम संस्करण तथा शेष जातकों को पूरा कर द्वितीय संस्करण प्रकाशित किया है। इन संस्करणों में जातक-माला का वही पाठ स्वीकृत है जो हार्वर्ड से कर्न ने प्रकाशित किया था।

जातकमाला का एक संस्करण मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा से बौद्ध संस्कृत-ग्रन्थावली (संख्या २१) के अन्तर्गत डॉ० पी० एल० वैद्य के सम्पादन में सन् १९५९ ई० में प्रकाशित हुआ है। इसमें आर्यशूर के नाम से प्राप्त "सुभाषित-रत्न-करण्डक-कथा" परिशिष्ट के रूप में पहली बार प्रकाशित है। जातकमाला के पद्यों में प्रयुक्त वृत्तों की सूची भी सर्वप्रथम इसी संस्करण में दी गयी है। वैद्य महोदय ने भी इसकी भूमिका में इसकी साहित्यिक सम्पत्ति की चर्चा मात्र की है।

इन उत्तम संस्करणों के होने पर भी अभी तक इसका साहित्यिक अध्ययन नहीं हो सका था। साहित्यिक अध्ययन से मेरा तात्पर्य भारतीय साहित्यशास्त्र के उपादानों के प्रकाश में जातकमाला का अध्ययन किये जाने से है। साहित्य-शास्त्रियों ने जो साहित्यालोचन के सिद्धान्त रखे हैं, उन्हें आधार मानकर यदि हम जातकमाला की गद्य-पद्यमयी शैली का अनुशीलन करें तो अनेक रोचक तथ्यों के प्रकाशित होने की संभावना है। विशेषत: बौद्ध-ग्रन्थों में साहित्यिक दृष्टि से विलक्षण होने के कारण इसका काव्यात्मक परिशीलन अत्यन्त आवश्यक है। स्वयं आर्यशूर ने जातकमाला के मंगलाचरण में यह स्पष्ट किया है कि इसे वे काव्य का रूप दे रहे हैं जिससे—

"स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्या: कथाश्च रमणीयतरत्वमीयु:।" (—जातक० मं० २)

अर्थात् धर्म-कार्य से उखड़े हुए चित्त वाले व्यक्तियों को भी प्रसन्नता हो

---

1. Speyer–Intr. P. XXIII-IV.

तथा धर्म की कथायें और भी रमणीय हो जाँय। अश्वघोष के समान[1] आर्यशूर का भी उद्देश्य धर्मच्युत व्यक्तियों को काव्य के व्याज से नैतिक उपदेश प्रदान करना है। कालिदास, भवभूति, बाण इत्यादि कवियों से भिन्न आर्यशूर साक्षात् धर्मोपदेश में विश्वास करते हैं; काव्य का सौन्दर्य-ग्रहण या चित्त-चमत्कार मात्र इनका उद्देश्य नहीं है। इस प्रकार काव्यरूपता एक साधनमात्र है जैसा कि वे कहते हैं कि अपनी काव्य-कुसुमाञ्जलि के द्वारा बोधिसत्त्व के अद्भुत कर्मों की हम अर्चना कर रहे हैं :—

"पूर्वप्रजन्मसु मुनेश्चरिताद्भुतानि
भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलिनार्चयिष्ये।" (जातक० मं० १)

काव्य की साधनरूपता और साध्यरूपता में बहुत अन्तर होता है। संस्कृत-साहित्य के इतिहास में साध्यरूप काव्यों पर अनेक सूक्तियाँ तो हैं ही, आधुनिक युग में उन पर अनुशीलनात्मक शोधप्रबन्ध भी अनेकानेक लिखे गये हैं। किन्तु जो काव्य किसी विशेष उद्देश्य से लिखे गये हैं, जहाँ कविता व्याजमात्र है, उनके अनुशीलन का समय आ गया है। प्रस्तुत ग्रन्थ इसी दिशा में किया गया एक विनम्र प्रयास है।

———

१—सौन्दरनन्द :—

(क) "इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।
यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति॥—१८/६३

(ख) "प्रायेणालोक्य लोकं विषयरतिपरं मोक्षात्प्रतिहतं
काव्यव्याजेन तत्त्वं कथितमिह मया मोक्षः परमिति।—१८/६४

प्रथम अध्याय

१. बौद्ध-संस्कृत-साहित्य का परिचय

बौद्धसाहित्य के ग्रन्थ दो भाषाओं—पालि एवं संस्कृत में लिपिबद्ध हैं। धर्मविषयक ग्रन्थ पालि में लिखे गये हैं तथा दर्शनविषयक ग्रन्थ संस्कृत में। संस्कृत ग्रन्थों में से कुछ हीनयान सम्प्रदाय के हैं और शेष महायान सम्प्रदाय के। महायान के प्राय: सभी ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। प्रथमत: हीनयान के प्रमुख संस्कृत ग्रन्थों का परिचय प्रस्तुत है—

"ज्ञानप्रस्थानशास्त्र"

यह सर्वास्तिवाद का प्रधान ग्रन्थ है। सर्वास्तिवाद बौद्धधर्म के अठारह निकायों में से एक है[१]। इसके अनुसार बाह्य वस्तुजात तथा आध्यात्मिक वस्तुजात, दोनों का अस्तित्व है। इसके रचयिता कात्यायनीपुत्र थे। ज्ञानप्रस्थानग्रंथ की वृत्ति का नाम "विभाषा" है। इसमें सर्वास्तिवादनिकाय के विभिन्न आचार्यों का मत उपनिबद्ध है, जिसमें पाठक अपनी रुचि के अनुरूप मत का ग्रहण कर सकते हैं। इसी कारण इसका नाम "विभाषा" है। इसकी रचना कनिष्क के राज्यकाल के बाद हुई थी। इसके रचयिता के रूप में वसुमित्र का नाम लिया जाता है। इस ग्रंथ का पूरा नाम "महाविभाषाशास्त्र" था। "विभाषा" ग्रन्थ अपने असली रूप में उपलब्ध नहीं है। इसका कुछ अंश ही प्राप्त हुआ है, जिसके अवलोकन से इसकी उत्कृष्टता तथा इसके विस्तार का ज्ञान होता है। इसकी दार्शनिक पद्धति प्रौढ़ है। परमार्थ (४९९ ई०—५६९ ई०) के अनुसार छठी शताब्दी में यह ग्रन्थ शास्त्रार्थ का प्रधान विषय था, जबकि बौद्धों एवं सांख्यों के बीच विवाद चल रहा था।

ज्ञान-प्रस्थान के अतिरिक्त सर्वास्तिवाद के अन्य अभिधर्म ग्रन्थों का उल्लेख भी मिलता है।[२]

१—बौद्धधर्मदर्शन—आचार्य नरेन्द्रदेवकृत, पृ० ३६

२—"श्रूयन्ते ह्यभिधर्मशास्त्राणां कर्त्तार:। तद्यथा ज्ञानप्रस्थानस्य आर्यकात्यायनीपुत्र: कर्त्ता। प्रकरणपादस्य स्थविरवसुमित्र:। विज्ञानकायस्य स्थविरदेवशर्मा। धर्मस्कन्धस्य आर्यशारिपुत्र:। प्रज्ञप्तिशास्त्रस्य आर्यमौद्गल्यायन:। धातुकायस्य पूर्ण:। संगीतिपर्यायस्य महाकौष्ठिल:।"

—"अभिधर्मकोशव्याख्या कारिका—३,
बिब्लिओथिका, २१, पृ० १२।

"अभिधर्मकोश"[१]

सर्वास्तिवाद का यह एक प्रौढ़ ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में आठ कोशस्थान या अध्याय हैं, जिनके विषय इस प्रकार हैं—

१—धातु, २—इन्द्रिय, ३—लोकधातु, ४—कर्म, ५—अनुशय, ६—आर्य-पुद्गल, ७—ज्ञान, ८—ध्यान। वसुबन्धु ने इसकी रचना कारिका रूप में की थी और उन्होंने इस पर भाष्य भी लिखा था। उस भाष्य पर यशोमित्र ने "स्फुटार्था" टीका लिखी थी। वसुबन्धु का समय ताकाकुसू के अनुसार ४२० ई० और ५०० ई० के बीच का है। बोगिहारा इनका समय ३९० ई० के बीच निर्धारित करते हैं। एन० पेरी इनका समय ३५० ई० के लगभग सिद्ध करने का यत्न करते हैं। विन्टरनिट्ज इन्हें चौथी शताब्दी का मानते हैं। "अभिधर्मकोश" के तिब्बती और चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं। बौद्धसाहित्य और दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान् लुई द वाले पूसें (Loue's dela valle Pou in) ने इसका चीनी से फ्रेन्च में अनुवाद किया। राहुल सांकृत्यायनजी तिब्बत से मूल संस्कृत ग्रन्थ का फोटो लाये और पटना के काशी प्रसाद जायसवाल अनुसंधान-संस्थान के द्वारा इसके प्रकाशन की व्यवस्था हुई। चीनी भाषा में इसके दो अनुवाद हैं—

२—परमार्थ (५६३ ई०) का। २—शुआन च्वाङ का।

इस ग्रन्थ का प्रथम सम्पादन बोगिहारा द्वारा जापान से हुआ है। वसुबन्धु ने इसके अतिरिक्त कई ग्रन्थों का प्रणयन किया था; किन्तु उनमें से अनेक प्रायः विनष्ट हो चुके। तिब्बत, चीन आदि बौद्ध देशों में जो ग्रन्थ सुरक्षित रह सके वे हैं :—"परमार्थसप्तति", "तर्कशास्त्र", "वादविधि" और "गाथा-संग्रह"। ये सभी हीनयान के ग्रन्थ हैं।

कहा जाता है कि महायान के कुछ ग्रन्थों का प्रणयन भी वसुबन्धु ने किया था। उनके नाम हैं :—"सद्धर्मपुण्डरीकटीका", "महापरिनिर्वाणसूत्रटीका", "वज्रच्छेदिका-प्रज्ञापारमिताटीका" और "विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि"।

महावस्तु[२]

महावस्तु या "महावत्थु अवदान" हीनयान का एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यह लोकोत्तरवादी महासांधिकों का विनय ग्रन्थ है। महावस्तु का अर्थ है :—"महान विषय या कथा अर्थात् उपसम्पदा आदि बौद्ध विनय सम्बन्धी कथा। इस ग्रन्थ में भगवान बुद्ध के जीवन-चरित तथा संघ-स्थापना का वर्णन है। प्रारम्भ में ही चार

१—अनुवादक एवं सम्पादक
आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५८ ई०।

2. Ed. by E. Senert, Paies, 1882-97.

बोधिसत्त्व-चर्याओं का वर्णन दिया गया है—प्रकृतिचर्या, प्रणिधानचर्या, अनुलोमचर्या और अनिवर्त्तनचर्या। इन चर्यायों की पूर्ति से बोधिसत्त्व बुद्धत्व की प्राप्ति करते हैं। इन चर्याओं का उल्लेख कर ग्रन्थ का नाम दिया गया है :—

"आर्यमहासांघिकानां लोकोत्तरवादिनां मध्यदेशिकानां विनयपिटकस्य महावस्तुनो ·····" आदि। इस परिचय के बाद चतुर्विध उपसम्पदाओं का वर्णन है—स्वाम उपसम्पदा, एहि भिक्षुकाय उपसम्पदा, दशवर्गेण गणेन उपसम्पदा, तथा पचवर्णेण गणेन उपसम्पदा।

महावस्तु में बुद्धानुस्मृति नाम का बुद्धस्तोत्र है, जिसमें कहा गया है कि दीपंकर भगवान के पास जब बोधिसत्त्व ने अनिवर्त्तनचर्या का प्रारम्भ किया तभी से वे वीतराग हैं—

"दीपंकरमुपादाय वीतरागस्तथागतः।
राहुलं पुत्रं देशेन्ति एषा लोकानुवर्त्तना॥"[1]

इस ग्रन्थ में भगवान को 'लोकोत्तर' माना गया है। हीनयान से महायान की ओर संक्रमण की यह अवस्था है। हीनयान में समाधि का महत्त्व था। महावस्तु में भक्ति प्रधान स्थान ले लेती है। स्तूप की परिक्रमा करने अथवा पुष्पोपहार के द्वारा भगवान की आराधना करने से अमित पुण्य होता है।

बोधिसत्त्व की दश भूमियाँ हैं—पुरारोहा, वद्धमाना, पुष्पमण्डिता, रुचिरा, चित्तविस्तार, रूपवती, दुर्जया, जन्मनिदेश, यौवराज और अभिषेक। इनका सर्वप्रथम उल्लेख तथा विस्तृत वर्णन महावस्तु में ही मिलता है। इन्हीं को महायान ग्रन्थों में आगे चलकर पल्लवित किया गया। बुद्ध के जीवनचरित का वर्णन करना महावस्तु का प्रधान उद्देश्य है। इस कारण इसे महावस्तु अवदान भी कहते हैं। इसका लगभग आधा से अधिक भाग जातक तथा अन्य कथाओं से भरा है जो सामान्यतः पालि जातकों का अनुसरण करते हैं।

इसका रचनाकाल अनुमानतः २०० ई० पू० माना जाता है। इसी समय इसके मूल रूप की रचना हुई होगी। किन्तु समय-समय पर ग्रन्थ का विस्तार हुआ होगा, लोगों की ऐसी धारणा है। सम्पूर्ण ग्रन्थ मिश्र-संस्कृत में है। महावस्तु का प्रथम सम्पादन इ० सेना ने तीन भागों में, सन् १८८२-१८९७ ई० में किया है।

अश्वघोष-साहित्य

अश्वघोष ने अपने काव्यों द्वारा बौद्धधर्म के गूढ़ रहस्यों को काव्यमयी भाषा में साधारण जनता के समक्ष प्रकट करने का स्तुत्य कार्य किया। उनकी कृतियों में

१—आचार्य नरेन्द्रदेव-बौद्धधर्मदर्शन, पृ० १३० में उद्धृत।

हीनयान तथा महायान दोनों सम्प्रदायों के विचार मिलते हैं। वे हीनयानी सर्वास्तिवादी विद्वान् थे, साथ ही महायान के योगाचार सम्प्रदाय के विज्ञानवादी दार्शनिक भी। हीनयान की कुछ त्रुटियों के परिमार्जन के लिए उन्होंने "महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र" की रचना की थी।

अश्वघोष को कनिष्क का समकालीन या उससे कुछ पूर्व का समझा जाता है। उनकी काव्यशैली से भी यह प्रतीत होता है कि वे कालिदास से पूर्व के थे। भास उनका अनुकरण करते हैं। उनके शब्दभंडार से प्रतीत होता है कि वे कौटिल्य के निकटवर्ती हैं। इस प्रकार अश्वघोष का समय प्रथम शताब्दी समझा जाता है। अश्वघोष अपने को "साकेतक" (अयोध्या के रहनेवाले) कहते हैं और माता का नाम सुवर्णाक्षी बतलाते हैं—

"आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्य-
भदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्।"[१]

ये वेद तथा शास्त्रों के ज्ञाता थे। ये ब्राह्मणकुल में उत्पन्न हुए थे। युवावस्था में ही अश्वघोष ने महाकवि, संगीतज्ञ, नाटककार तथा अभिनेता के रूप में ख्याति प्राप्त कर ली थी।

अश्वघोष की तीन कृतियों के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं। वे हैं—क—बुद्धचरित, ख—सौन्दरनन्द, तथा ग—शारिपुत्रप्रकरण। प्रथम दो महाकाव्य तथा तृतीय नाटक हैं। इनके अतिरिक्त चीनी परम्परा के अनुसार इत्सिंग ने सातवीं शताब्दी में अश्वघोष की निम्नलिखित कृतियों की सूची दी है—

१—महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह २—वज्रसूची ३—गाण्डीस्तोत्रव्याख्या ४—सूत्रालंकार।

उनके नाम से "राष्ट्रपाल" और "उर्वशी-वियोग" नामक दो नाटकों का भी उल्लेख मिलता है।

बुद्धचरित[२]—

निर्विवादरूप से यह अश्वघोष की रचना है। यह महाकाव्य है। इसमें गौतम-बुद्ध का सर्वाङ्गीण चरित्र निबद्ध हुआ है। इसमें २८ सर्ग थे, किन्तु मूलरूप में सम्प्रति इसके प्रथम सर्ग का ३/४ भाग, २ से १३ सर्ग तथा चौदहवें सर्ग का १/४ भाग ही मिलते हैं। ग्रन्थ का प्रारम्भ भगवान बुद्ध की स्तुति से होता है तथा सम्वेगोत्पत्ति, अभिनिष्क्रमण, मारविजय, संवोधि, धर्मचक्रप्रवर्त्तन, परिनिर्वाण आदि घटनाओं के

१—सौन्दरनन्द, बुद्धचरित तथा शारिपुत्रप्रकरण का अन्तिम वाक्य।

2. Ed. Cowell, Oxford, 1898 Formichi, Bari, Translation-S.B.E. XLIX. ii, 1912,

वर्णन के उपरान्त इसका अन्त प्रथम धर्मसंगीति और अशोक के राज्यकाल के वर्णन से होता है। बुद्धचरित के उपलब्ध संस्करण में सत्रह सर्ग हैं। इसके अन्तिम चार सर्ग अमृतानन्द नामक (१८०० ई०) किसी व्यक्ति के द्वारा जोड़े गए समझे जाते हैं। इसका एक अट्ठाइस सर्गों का हिन्दी संस्करण प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरीजी (भू० पू० अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, पूर्णिया कॉलेज, पूर्णिया) ने तैयार किया है, जिसके चौदहवें सर्ग तक संस्कृत के श्लोक भी दिये गए हैं। जोन्स्टन का अंग्रेजी संस्करण इसका आधार है। बुद्धचरित के सम्बन्ध में इत्सिंग ने लिखा है कि उस समय भारतवर्ष, जावा, सुमात्रा तथा उनके आसपास के द्वीपों में इसका पाठ तथा गायन होता था।

सौन्दरनन्द—

"सौन्दरनन्द" महाकाव्य में अठारह सर्ग हैं। यह समग्र ग्रन्थ सुरक्षित है। इसमें भगवान् बुद्ध के उपदेशों से प्रभावित होकर नन्द के, अपनी पत्नी सुन्दरी और सांसारिक विषयों से विरक्त होकर प्रवज्या लेने की कथा का वर्णन है। महाकाव्य के प्रथम तीन सर्गों में सिद्धार्थ के जन्म से लेकर उसके बुद्धत्व प्राप्त करने तथा कपिलवस्तु लौटने तक का वर्णन है। चौथे सर्ग में नन्द और उसकी पत्नी सुन्दरी के विवाह और उनकी गहरी अन्योन्यासक्ति तथा भिक्षाटन के लिए उनके द्वार पर आए बुद्ध के खाली हाथ लौट जाने का वर्णन है। पांचवें सर्ग में पश्चात्ताप करता हुआ नन्द बुद्ध के समीप जाता है। बुद्ध उसे बौद्धधर्म में दीक्षित कर लेते हैं। छठे सर्ग में पतिवियुक्ता सुन्दरी का करुण विलाप है। सातवें सर्ग में नन्द की अपनी नवोढ़ा पत्नी के प्रति आसक्ति और उसके पास लौट आने की प्रबल उत्कंठा का वर्णन है। आठवें और नवें सर्ग में एक श्रमण के द्वारा नन्द को उपदेश देने का वर्णन है। दशवें तथा ग्यारहवें सर्ग में नन्द की आसक्ति दूर करने के उद्देश्य से बुद्ध योगविद्या के वल पर उसको आकाशमार्ग से उड़ाकर स्वर्ग ले जाते हैं। वहाँ की अप्सराओं को देखकर नन्द पत्नी-वियोग भूल बैठता है। बुद्ध उसे अप्सराओं को प्राप्त करने के लिए तपस्या का मार्ग बतलाते हैं। बारहवें सर्ग में तपस्यारत नन्द को एक भिक्षु बताता है कि उसकी तपस्या के उद्देश्य की सर्वत्र निन्दा हो रही है। अनन्तर उसका कामुक मन बुद्धत्व की ओर उन्मुख होता है। उसके बाद तेरहवें सर्ग तक नन्द के प्रति बुद्ध के उपदेश का वर्णन है। अन्तिम दो सर्गों में शान्त-प्रकृतिस्थ नन्द के समाधिस्थ स्वरूप का वर्णन हुआ है।

सौन्दरनन्द की पुष्पिका में अश्वघोष ने कहा है कि उनका यह ग्रन्थ स्वान्तः-सुखाय न होकर सांसारिक विषय-भोगों में आसक्त लोगों का ध्यान बौद्धधर्मानुकूल मोक्षमार्ग की ओर प्रेरित करने के लिए लिखा गया है—

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः
श्रोतॄणां ग्रहणार्थमन्यमनसां काव्योपचारात्कृता।

यन्मोक्षात्कृतमन्यदत्र हि मया तत्काव्यधर्मात्कृतं
पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति ॥"[१]

सौन्दरनन्द में पूर्ववर्ती किसी काव्य का संकेत नहीं मिलता। अत: प्रो० कीथ का मत है कि सौन्दरनन्द अश्वघोष की प्रथम रचना है, किन्तु अन्य विद्वान् इस मत के विरोध में अनेक पुष्ट प्रमाण देते हैं। "सूत्रालंकार" ग्रन्थ में बुद्धचरित का नाम आया है, किन्तु सौन्दरनन्द का नाम नहीं मिलता। बुद्धचरित में महायान का एक भी सिद्धान्त उपलब्ध नहीं होता, किन्तु सौन्दरनन्द के अन्तिम भाग में कवि का महायान सिद्धान्तों से परिचित होना लक्षित होता है। शैली की दृष्टि से भी सौन्दरनन्द बाद की रचना जान पड़ता है। क्योंकि इस महाकाव्य में अश्वघोष के अत्यन्त परिष्कृत एवं प्राञ्जल शैली के दर्शन होते हैं।

शारिपुत्रप्रकरण—

यह नाटकग्रन्थ है। इसमें ९ अंक हैं। इसमें शारिपुत्र और मौद्गलयायन के बौद्धधर्म में दीक्षित होने की कथा वर्णित है। इसके कुछ अंश ही प्राप्त हैं। प्रो० लूडर्स ने इसका उद्धार किया है। नाट्यशास्त्र के नियमानुसार प्रकरण के सभी अंकों से यह सुसज्जित है। यह "मृच्छकटिक" तथा "मालतीमाधव" की भाँति लिखा गया है। बुद्ध तथा उनके शिष्य संस्कृत में बोलते हैं तथा विदूषक और अन्य हीन कोटि के पात्र प्राकृत भाषा का प्रयोग करते हैं।

महायानश्रद्धोत्पादसंग्रह[२]—

इसमें विज्ञानवाद और शून्यवाद का विकसित विवेचन है। अत: तकाकुसु, विन्टरनिट्ज, राहुल सांकृत्यायन, डॉ० राधाकृष्णन् आदि विद्वानों के अनुसार यह ग्रन्थ शून्यवाद के प्रथम आचार्य नागार्जुन (२०० ई०) तथा विज्ञानवाद के प्रथम आचार्य असंग एवं वसुबन्धु के पहले का नहीं हो सकता है। अतएव इस ग्रन्थ का रचयिता अश्वघोष दूसरा है, जो ४०० ई० के बाद हुआ होगा। इसके विपरीत डॉ० टी० सुजुकी आदि कुछ विद्वान् एक ही अश्वघोष को मानते हैं। उनके अनुसार नागार्जुन से भी पहले प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में विरचित शून्यवादी विचारधारा की प्रथम कृति—"अष्टसाहस्त्रिकाप्रज्ञापारमिता" के आधार पर महाकवि अश्वघोष ने "महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र" की रचना की थी। चीनी परम्परा भी इसी मत का समर्थन करती है। यह ग्रन्थ अश्वघोष की महायान सम्बन्धी विचारधारा का प्रेरक रहा है।

---

१. सौन्दरनन्द १८/६३

2. **"Discourse on the Avokening of Faith in the Mahayana", by T. Suzuki, Chicago, 1900.**

वज्रसूची—

या "वज्रछेदिका" अथवा वज्रसूचिकोपनिषद्" में वज्र की सूई की भाँति पैनी दृष्टि से वर्णभेद की समीक्षा की गई है। इसमें श्रुति, स्मृति, एवं महाभारत के उद्धरणों को देकर वर्णव्यवस्था की कटु आलोचना की गई है। चीनी परम्परा के अनुसार यह अश्वघोषकृत नहीं, अपितु धर्मकीर्तिरचित है। इसकी शैली भी अश्वघोष की शैली से सर्वथा भिन्न है। तथापि राहुल जी इसे अश्वघोष की रचना मानते हैं।

गाण्डीस्तोत्र—

यह २९ श्लोकों की एक लघुकृति है। अधिकांश श्लोकों का छन्द स्रग्धरा है। इत्सिंग (७०० ई०) तथा विन्टरनिट्ज के अनुसार यह अश्वघोष की रचना है, किन्तु अधिकांश विद्वान् इस मत को नहीं मानते हैं। शैली की दृष्टि से इसका अश्वघोष की कृतियों से कोई साम्य नहीं है। २०वें श्लोक के अनुसार यह ग्रंथ कश्मीर में लिखा गया, जबकि वहाँ का प्रबन्ध बिगड़ गया था।

सूत्रालंकार[1]—

इस ग्रंथ के रचयिता के रूप में अश्वघोष का नाम इत्सिंग ने लिया है। किन्तु अब सामान्यत: विद्वान् इस पर सहमत हैं कि यह अश्वघोष की रचना नहीं है। जातक की कोटि की कथाओं का संकलन इसमें है, जिसमें अश्वघोष की काव्य-शक्ति के दर्शन होते हैं।[2]

जातकमालाकार श्री आर्यशूर अश्वघोष के ऋणी हैं। जातकमाला में ३४ जातकों का संग्रह है। लगभग सभी कथायें पालिजातक पर आधारित हैं। इत्सिंग जातकमाला की प्रशंसा करता है कि इसका उस समय बड़ा आदर था। अजन्ता की गुफाओं में जातकमाला के दृश्य खचित हैं। आर्यशूर का समय चौथी शताब्दी है।

अवदान-साहित्य

अवदान (पालि=अपदान) शब्द की व्युत्पत्ति अज्ञात एवं विवादयुक्त है। इसका प्रारम्भिक अर्थ असाधारण अद्भुत कार्य समझा गया। अनन्तर उदारचरित भी अवदान का अर्थ किया गया। महावस्तु को भी अवदान कहा गया है। अवदान-कथाओं का सबसे प्राचीन संग्रह "अवदानशतक" है। उसका चीनी अनुवाद तीसरी शताब्दी में हुआ था। प्रत्येक कथा के अन्त में यह निष्कर्ष दिया गया है कि शुक्ल

1—Trans. Ed, Huees, Paris, 1908.

2—"It is a collection of edifying legends of the Jataka type in which Ashwaghosh applies the resources of his poetic sprit to adorn the teachings of the faitn."—Keith

—Buddhist Philosophy p. 227.

कर्म का शुक्ल फल, कृष्ण का कृष्ण तथा व्यामिश्र का व्यामिश्र फल होता है। अनेक अवदानों में पिछले जन्म की कथा का वर्णन है जिसका फल प्रत्युत्पन्न काल में मिला। किसी-किसी अवदान में बोधिसत्त्व की कथा है, जिसे जातक भी कहा जा सकता है। कुछ अवदानों में प्रत्युत्पन्न की कथा वर्णित कर भविष्यकाल का व्याकरण किया गया है।

अवदानशतक—

हीनयान का एक ग्रंथ है। सर्वास्तिवाद आगम के परिनिर्वाणसूत्र तथा अन्य सूत्रों के उद्धरण इसमें पाये जाते हैं। इसकी कथाओं में ब्रह्मपूजा की प्रधानता है, किन्तु बोधिसत्त्व का उल्लेख नहीं मिलता है। अवदानशतक की कथायें अवदान के अन्य संग्रहों तथा कुछ पालि अवदानों में भी मिलते हैं।

दिव्यावदान—

मूलतः हीनयान का ग्रंथ है। यद्यपि इसके कुछ ग्रंथ महायान से सम्बन्ध रखते हैं। इसकी विषयवस्तु मूल सर्वास्तिवाद के विनय से बहुत कुछ मिलती है। दिव्यावदान में दीर्घागम, उदान, स्थविरगाथा आदि के उद्धरण प्रायः मिलते हैं। इसमें विनय से अनेक अवदान शब्दशः उद्धृत हुए हैं। कहीं-कहीं बौद्ध भिक्षुओं की चर्या के विषय भी दिये गए हैं। अधिकांश कथा सरल संस्कृत गद्य में है। कुछ में समासान्त पदों का प्रयोग-बाहुल्य है। दिव्यावदान की कई कथायें अत्यन्त रोचक हैं, जैसे उपगुप्त एवं मार की कथा और कुणालावदान।

अवदानशतक की सहायता से अनेक अवदानमालाओं की रचना हुई है, यथा—"कल्पद्रुमावदानमाला," "अशोकावदानमाला"। "द्वाविंशत्यवदानमाला" भी अवदानशतक का ऋणी है। अवदानों के अन्य संग्रह "भद्रकल्पावदान" और "विचित्रकर्णिकावदान" हैं। इनमें से अधिकांश प्रायः अप्रकाशित हैं। कुछ के केवल तिब्बती और चीनी अनुवाद मिलते हैं। क्षेमेन्द्र की "अवदानकल्पलता" भी उल्लेखनीय है। इस ग्रंथ की समाप्ति १०५२ ई० में हुई। इसमें १०७ कथाओं का संग्रह है। तिब्बत में इस ग्रंथ का बड़ा आदर है। क्षेमेन्द्र के पुत्र सोमेन्द्र ने ग्रन्थ की भूमिका तथा "जीमूतवाहन अवदान" नामक एक कथा अपनी ओर से जोड़ दी है।

महायानसूत्र

महायानसूत्र यद्यपि अनेक हैं, किन्तु उनमें महत्त्वपूर्ण नौ हैं—अष्टसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता, सद्धर्मपुण्डरीक, ललितविस्तर, लंकावतार, सुवर्णप्रभास, गण्डव्यूह, तथागतगुह्यक, समाधिकरण और दशभूमीश्वर। इन्हें नेपाल में नवधर्म (धर्मपर्याय) कहते हैं। नेपाल में इसकी पूजा होती है। इन्हें वैपुल्यसूत्र भी कहा गया है।

महायान के वैपुल्यसूत्रों में दो प्रकार के ग्रन्थ पाये जाते हैं एक में बुद्ध, बोधिसत्त्व तथा बुद्धयान की महत्ता का प्रतिपादन हुआ है। सद्धर्मपुण्डरीक, ललित-

विस्तर आदि ग्रन्थ इस प्रकार के हैं। दूसरे प्रकार के ग्रन्थ वे हैं जिनमें महायान के मुख्य सिद्धान्त "शून्यता" या प्रज्ञा की महत्ता बतलायी गई है। इस प्रकार का ग्रन्थ है—प्रज्ञापारमितासूत्र। इसमें एक ओर शून्यता तथा दूसरी ओर महाकरुणा—इन दो सत्यों के समन्वय का प्रयत्न किया गया है।

महायानसाहित्य में प्रज्ञापारमितासूत्रों का महत्त्वपूर्व स्थान है। इन्हें आगमग्रन्थ भी कहा जाता है। इनकी सम्वादशैली प्राचीन है। अन्य महायानग्रन्थों में बुद्ध प्राय: किसी बोधिसत्त्व से सम्वाद करते हैं, किन्तु यहाँ सुभूति नामक स्थविर से उनकी बातचीत होती है। शून्यता के विषय में प्रज्ञापारमितासूत्र ग्रन्थ में सुभूति और शारिपुत्र—इन दो स्थविरों का सम्वाद बहुत ही तात्त्विक और गम्भीर है। सन् १७९ ई० में उसका चीनी भाषान्तर हुआ था। अत: ऐसा समझा जाता है कि ई० पूर्व में इनकी रचना हुई होगी। नेपाली परम्परा के अनुसार मूल प्रज्ञापारमिता-सूत्र सवा लाख श्लोकों का था, जो क्रमश: घटकर लाख, पचीस हजार, दश हजार और आठ हजार श्लोकों का सूत्र-ग्रन्थ बना। दूसरी परम्परा के अनुसार मूलग्रन्थ आठ हजार श्लोकों का था, जिसे अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता कहा जाता है। उसी को बढ़ाकर अनेक पारमिता ग्रन्थ बनाये गए। यह परम्परा अधिक ठीक प्रतीत होती है। संस्कृत में निम्नलिखित प्रज्ञापारमितासूत्र ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१—शतसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता,	५—सप्तशतिकाप्रज्ञापारमिता,
२—पञ्चविंशतिप्रज्ञापारमिता,	६—वज्रच्छेदिकाप्रज्ञापारमिता,
३—अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता,	७—अल्पाक्षराप्रज्ञापारमिता,
४—सार्द्धद्विसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता,	८—प्रज्ञापारमिता हृदयसूत्र।

इन सबों में अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमितासूत्र प्राचीनतम है।

अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता—

इस ग्रंथ में कुल बत्तीस 'परिवर्त्त' हैं। प्रथम परिवर्त्त का नाम "सर्वाकार-ज्ञताचर्या परिवर्त्त" है। "विराटप्रज्ञापारमिता" में जिन विषयों की चर्चा बार-बार आती है, उनका सारांश इसी परिवर्त्त में आ गया है। व्यवहारसत्य और परमार्थ-सत्य के एकत्र निरूपण करने में उत्पन्न कठिनाइयों का प्रत्यय यहाँ शारिपुत्र और सुभूति के संवाद में मिलता है। बोधिसत्त्व, महासत्त्व, महायान आदि शब्दों के विभिन्न अर्थ इस परिवर्त्त में बताये गए हैं। अद्वय-ज्ञान में प्रतिष्ठित होना ही बोधिचर्या है तथा अद्वयज्ञान ही प्रज्ञा है—इस सिद्धान्त का प्रथम दर्शन स्पष्टत: यहाँ होता है।

सद्धर्मपुण्डरीक[1]—

सद्धर्मपुण्डरीक महायान के वैपुल्यसूत्रग्रन्थों में सर्वोत्कृष्ट है। इसके निदान-परिवर्त्त में कहा गया है—

1. Ed. by H. Kern and B. Nanjio, B. B. X. Petrograd, 1908 H; trans; S. B. E. XXX, ct. J. R. A. S. 1916, P. 269ff.

"वैपुल्यसूत्रराजं परमार्थनयावतारनिर्देशम् ।
सद्धर्मपुण्डरीकं सत्त्वाय महापथं वक्ष्ये ॥"[१]

महायान की पूर्ण प्रतिष्ठा होने के बाद ही सम्भवत: इस ग्रंथ की रचना हुई। सद्धर्मपुण्डरीक के नाम के विषय में एम० अनिसाकी ने कहा है कि "पुण्डरीक" अर्थात् "कमल" शुद्धता और पूर्णता का चिह्न है। पंक में उत्पन्न होने पर भी जिस प्रकार कमल उससे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार इस लोक में उत्पन्न होने पर भी बुद्ध उससे निर्लिप्त रहते हैं। इस ग्रंथ में २७ अध्याय हैं, जिन्हें परिवर्त्त कहा गया है। इस ग्रंथ में महायान धर्म के विशेष सिद्धान्तों का सामान्य विवेचन हुआ है। साहित्य की दृष्टि से भी यह एक उच्चकोटि का ग्रंथ है। इसमें अतिशयोक्ति का बाहुल्य है। इसकी शैली संक्षिप्त न होकर विस्तृत है। एक ही बात बार-बार दुहरायी गई है। यह ग्रंथ चीन, जापान आदि महायानधर्मी देशों में बहुत पवित्र माना जाता है। चीनी भाषा में मूल-ग्रंथ के छः अनुवाद हुए। सबसे पहला अनुवाद सन् २२३ ई० में हुआ। चीनी परम्परा के अनुसार इस ग्रंथ पर बोधिसत्त्व वसुबन्धु ने "सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रशास्त्र" नाम की टीका लिखी थी, जिसका चीनी भाषा में अनुवाद लगभग ५०८ ई० में बोधिरुचि और रत्नमति ने किया था। चीन और जापान में इसका कुमारजीवकृत अनुवाद अधिक लोकप्रिय है। सन् ६१५ ई० में जापान के एक राजपुत्र शी-तोकु-ताय-शि ने इस पर एक टीका लिखी थी, जो आज भी बड़े आदर से पढ़ी जाती है। सद्धर्मपुण्डरीक में मिश्र-संस्कृत भाषा, स्तूपपूजा, बुद्धभक्ति का विशेष वर्णन देखकर यह अनुमान किया जाता है कि महावस्तु और ललितविस्तर के बाद प्रथम शताब्दी के आरम्भ में इसकी रचना हुई है।

ललितविस्तर[२]—

महायानसूत्र ग्रंथों में बहुत पवित्र माना जाता है। आरम्भ में यह हीनयान के अन्तर्गत सर्वास्तिवादी निकाय का ग्रंथ था। पीछे महायान के रूप में परिणत और परिवर्द्धित हुआ। भूमण्डल पर भगवान् बुद्ध ने जो क्रीड़ा (ललित) की उसका वर्णन होने के कारण ग्रन्थ का नाम ललितविस्तर पड़ा। इसको महाव्यूह भी कहते हैं। भगवान् का तुषित लोक में निवास, गर्भावक्रान्ति, जन्म, बालचर्या, सर्वमार-मण्डलविध्वंसन इत्यादि विषयों का इसमें अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन है। २७वें परिवर्त्त में महायान ग्रन्थों की परिपाटी के अनुसार ग्रन्थ के माहात्म्य का वर्णन है। यह ग्रंथ गद्यमय है। बीच-बीच में गाथाएँ हैं, जो वस्तुत: सुन्दर ग्राम्यगीत हैं। ललित-विस्तर में पुरानी परम्परा के अनुसार बुद्धकथा वर्णित है। इससे बुद्धकथा के विकास का इतिहास ज्ञात होता है। साहित्य की दृष्टि से भी इसका बड़ा महत्त्व है। ललित-विस्तर में सुरक्षित गाथा और उसके कथांशों के आधार पर ही अश्वघोष ने बुद्ध-

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव-बौद्धधर्म-दर्शन, पृ० १४२ में उद्धृत।
2. Ed. S. Lalnam Halle a. s, 1902-8.

चरित नामक अनुपम महाकाव्य की रचना की थी। डॉ० एस० लेफमान ने ललितविस्तर के प्रारम्भिक कुछ अध्यायों का अनुवाद सन् १८७५ में बर्लिन से प्रकाशित किया था।

"बिब्लिओथिका इण्डिका" नामक ग्रंथमाला के लिए डॉ० राजेन्द्रलाल मित्र ने ललितविस्तर का अंग्रेजी अनुवाद तैयार किया था, जिनमें से १५ अध्यायों का अनुवाद सन् १८८१ से १८८६ ई० के बीच प्रकाशित हो सका। इन्होंने मूल ग्रन्थ का भी एक संस्करण निकाला था। सम्पूर्ण मूल ग्रन्थ का सम्पादन डॉ० एस० लेफमान ने किया। इसका फ्रेंच-अनुवाद फूको ने "एनल द मूसे गिमे"[1] में प्रकाशित किया। तिब्बती भाषा में इस ग्रन्थ का अनुवाद पाँचवीं शताब्दी में हुआ था। चीनी भाषा में इसका अनुवाद ३०० ई० में हुआ था।

लंकावतारसूत्र—

महायान बौद्धधर्म मुख्यतः शून्यवाद और विज्ञानवाद नामक दो निकायों में विभक्त है। लंकावतारसूत्र विज्ञानवाद का मूल ग्रन्थ है। विज्ञान ही सत्य है। विज्ञान से भिन्न वस्तु की सत्ता नहीं है, यह इस वाद की मान्यता है। लंकावतारसूत्र में लंकाधीश रावण को सद्धर्म का उपदेश वर्णित है। इस ग्रन्थ में दस परिवर्त्त हैं। प्रथम परिवर्त्त में राक्षसाधिपति रावण का बुद्ध से सम्भाषण है। बोधिसत्त्व महामति के कहने पर रावण भगवान् से धर्म और अधर्म के विषय में प्रश्न करता है। द्वितीय परिवर्त्त में बोधिसत्त्व महामति स्वयं भगवान् से एक सौ प्रश्न पूछता है। प्रायः सभी प्रश्न मूलसिद्धान्त से सम्बद्ध हैं। निर्वाण, संसार-बन्धन, मुक्ति, आलयविज्ञान, शून्यता आदि गम्भीर विषयों के बारे में तथा चक्रवर्ती माण्डलिक, शाक्यवंश आदि के बारे में भी ये प्रश्न हैं। तृतीय परिवर्त में कहा गया है कि बुद्ध के असंख्य नाम हैं, कोई उन्हें तथागत कहते हैं, तो कोई स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतांक, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, बालि, वरुण आदि नामों से पुकारते हैं। उन्हें ही अनिरोधानुत्पाद, शून्यता, तथता, सत्य, धर्मधातु और निर्वाण की संज्ञा भी दी गई है। सातवें परिवर्त्त तक विज्ञानवाद के सूक्ष्म सिद्धान्तों की चर्चा है। अष्टम परिवर्त्त में मांस-भक्षण का निषेध है। हीनयान के विनयपिटक में त्रिकोटि-परिशुद्ध मांस का विधान है, किन्तु महायान में मांस-भक्षण वर्जित है। नवम परिवर्त्त में अनेक धारणियों का वर्णन है। दशम परिवर्त्त में ८८४ श्लोकों में विज्ञानवाद का विवेचन है, जो आगे के दार्शनिक विज्ञानवाद के लिए आधार स्वरूप है।

लंकावतारसूत्र के तीन चीनी-अनुवाद हुए हैं—४३४ ई० में गुणभद्र के द्वारा, ५१३ ई० बोधिरुचि के द्वारा एवं ७००-७०४ ई० में शिक्षानन्द के द्वारा।

---

१. जिल्द ६ और १६, पेरिस, सन् १८८४-१८९२ ई०।

इस ग्रंथ का सम्पादन "बेनयिड नंजिओ" ने क्वीटो (जापान) से १९२३ ई० में किया है। डॉ० सुजूकी ने इस पर विशेष अध्ययनपूर्ण ग्रन्थ लिखा है।

सुवर्णप्रभाससूत्र[1]

इसमें भगवान् के धर्मकाय की प्रतिष्ठा है अर्थात् बुद्ध का रूपकाय नहीं है और इसलिए भगवान् के धातु की वस्तुत: उत्पत्ति नहीं है। इसके तीन चीनी अनुवाद उपलब्ध हैं—धर्मक्षेम (सन् ४१४-४३३ ई०) परमार्थ तथा उनके शिष्य (सन् ५५२-५५७ ई०) और इत्सिंग (सन् ७०३ ई०), के द्वारा कृत अनुवाद। महायान देशों में इस ग्रन्थ का बड़ा आदर है।

गण्डव्यूह—

बोधिसत्त्व की उपासना के अध्ययन में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह ग्रन्थ संस्कृत में प्राप्य है। इसका प्रकाशन डॉ० सुजूकी ने सन् १९३४ ई० में क्वीटो से किया था। यह ग्रन्थ चीनी अवतंसक से मिलता-जुलता है। भाषा, वर्णन-शैली और कथा की दृष्टि से यह ग्रन्थ अद्भुत है।

समाधिराजसूत्र—

इस सूत्र ग्रन्थ में योगाचार की अनेक समाधियों का वर्णन है।[2] इसका दूसरा नाम चन्द्रप्रदीपसूत्र है।

दशभूमीश्वर—

इस महायानसूत्रग्रन्थ में दश भूमियों का वर्णन है, जिनसे बुद्धत्व की प्राप्ति होती है। इस सिद्धान्त का पूर्वरूप महावस्तु में मिलता है। दशभूमक इस सिद्धान्त का सबसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का चीनी अनुवाद धर्मरक्ष ने सन् २९७ ई० में किया था।

अन्य सूत्रग्रन्थ

"कारण्डव्यूह" नामक महायानसूत्र में बोधिसत्त्व की महिमा का वर्णन है। इसे गुणकारण्डव्यूह भी कहा जाता है। यह ग्रन्थ गद्य तथा पद्य दोनों में मिलता है। पद्यकारण्डव्यूह में आदिबुद्ध की कल्पना मिलती है। योगदर्शन की नित्यमुक्ति तथा सर्वज्ञ ईश्वर की कल्पना से यह मिलती-जुलती है। यह आदिबुद्ध जगत् का कर्ता है। प्रारम्भ में "स्वयम्भू" या आदित्यनाथ नामक आदिबुद्ध प्रकट हुए और उन्होंने समाधि से विश्व का निर्माण किया। उनके सत्त्व से अवलोकितेश्वर की उत्पत्ति हुई, जिसके शरीर से देवों की सृष्टि हुई। कारण्डव्यूह में अवलोकितेश्वर की महाकरुणा

1—Ed. by Sarad Chandra, Calcutta, 1898.

2. 'Samadhiraj Sutra' deals with the supreme meditation which produces the highest knowledge. Keith—Buddhist Philosoph y, P. 225.

के अनेक वर्णन हैं। वह सृष्टि का स्रष्टा भी है। उनका रूप विराट् है। उनकी आँखों से सूर्य और चन्द्र, भ्रू से महेश्वर, भुजाओं से ब्रह्मा आदि देव, हृदय से नारायण, दन्त से सरस्वती, मुख से मरुत्, पैरों से पृथ्वी और पेट से वरुण उत्पन्न हुए हैं। उसकी उपासना से स्वर्ग की प्राप्ति होती है। इसमें तन्त्र एवं मन्त्रों की भी चर्चा है।

"ॐ मणिपद्मे हुँ"—यह षडक्षर मन्त्र सर्वप्रथम कारण्डव्यूह में मिलता है। इस मन्त्र को तिब्बत में आज भी पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है। इस प्रकार इस ग्रन्थ में आदिबुद्ध, स्रष्टा-बुद्ध तथा मन्त्र-तन्त्रों से सम्बन्धित बौद्ध-धर्म का और भक्तिमार्ग का दर्शन होता है। गद्यकारण्डव्यूह—सन् १८७३ ई० में सत्यव्रत सामश्रमी के द्वारा प्रकाशित हुआ था। इसका तिब्बती अनुवाद सन् ६१६ ई० में हुआ था।

"अक्षोभ्यव्यूह" एवं "करुणापुण्डरीक"—दो सूत्रग्रन्थों में अनुक्रम से बुद्ध, अक्षोभ्य और पद्मोत्तर के लोकों का वर्णन है। चतुर्थ शताब्दी के पहले इन दोनों ग्रन्थों का चीनी भाषा में अनुवाद हुआ था।

"सुखावतीव्यूह" नामक महायानसूत्र में बुद्ध-अमिताभ के सुखावतीलोक का वर्णन है। सुखावती बौद्धों का नन्दन-वन है। वहाँ बुद्ध-अमिताभ का राज्य है। जो व्यक्ति पुण्य-सम्भार का अर्जन कर मृत्यु के समय बुद्ध अमिताभ का चिन्तन करता है, वह इस लोक को (बुद्धलोक को) प्राप्त होता है। यहाँ नरक प्रेत, असुर आदि का अभाव है। यहाँ सदा दिन ही रहता है। यहाँ गर्भज-जन्म नहीं है। सभी सत्त्व कमलदल से उद्भूत हैं, पाप से सर्वथा विरत और प्रज्ञा से संयुक्त हैं।

संस्कृत में इसके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं—एक दीर्घ, दूसरा संक्षिप्त। पहले का प्रकाशन और अंग्रेजी-भाषान्तर मैक्समूलर ने और दूसरे का फ्रेंच भाषान्तर जापानी विद्वानों ने किया।

"दीर्घसुखावतीव्यूह" के चीनी भाषा में बारह अनुवाद हुए थे। इनमें से केवल पाँच आज चीनी त्रिपिटक में प्राप्त होते हैं। सबसे पुराना भाषान्तर सन् १४७-१८६ ई० के बीच का है। संक्षिप्त सुखावतीव्यूह का चीनी भाषा में अनुवाद कुमारजीव, गुणभद्र आदि ने किया था।

"आर्यबुद्धावतंसक" में बोधिसत्त्व की उपासना का परम प्रकर्ष मिलता है। इस नाम का एक बौद्धनिकाय छठी शताब्दी में हुआ था। उसी का यह पवित्र ग्रन्थ है। अवतंसकसूत्र मूल संस्कृत में अब उपलब्ध नहीं है। चीनी परम्परा के अनुसार छः भिन्न-भिन्न अवतंसकसूत्र थे, जिनमें छत्तीस हजार से लेकर एक लाख गाथाओं का संग्रह है। इनमें से छत्तीस हजार गाथाओं का चीनी अनुवाद बुद्धभद्र ने अन्य भिक्षुओं के सहयोग से सन् ४१८ ई० में किया था।

"काश्यप-परिवर्त्त" में भगवान् बुद्ध का भिक्षुमहाकाश्यप से सम्बन्ध का वर्णन है। इसमें बोधिसत्त्वयान और शून्य का उल्लेख हुआ है। एक स्थल पर कहा

गया है कि तथागत से भी बोधिसत्त्व की पूजा अधिक फलदायक है। "हे काश्यप ! जिस प्रकार प्रतिपदा के चन्द्र की विशेष पूजा होती है, पूर्णिमा के चन्द्र की विशेष पूजा नहीं होती, उसी प्रकार मेरे अनुयायियों को चाहिए कि वे तथागत से भी अधिक पूजा बोधिसत्त्वों की करें क्योंकि तथागत बोधिसत्त्वों से ही उत्पन्न होते हैं।" काश्यप-परिवर्त्त का चीनी अनुवाद सन् १७८-१८४ ई० के बीच हुआ था।

परिपृच्छा ग्रन्थ

परिपृच्छा ग्रन्थ अनेक हैं जैसे, राष्ट्रपालपरिपृच्छा, उरगपरिपृच्छा, उदयन-वत्सराजपरिपृच्छा, चन्द्रोत्तरादारिकापरिपृच्छा, नैरात्म्यपरिपृच्छा आदि। इनका उल्लेख "शिक्षासमुच्चय" में मिलता है। राष्ट्रपालपरिपृच्छा इन ग्रन्थों में मुख्य है। इसमें दो परिवर्त्त हैं। पहला निदान-परिवर्त्त है, जिसमें आयुष्मान् राष्ट्रपाल को भगवान् बुद्ध का उपदेश मुख्यतया वर्णित है। द्वितीय परिवर्त्त में पुण्यरश्मि नाम के राजकुमार की जातक कथा है। राष्ट्रपालपरिपृच्छा का चीनी अनुवाद सन् ५८५ और ५९५ ई० के बीच हुआ था। इसका प्रकाशन एल० फिनो ने सन् १९०१ ई० में किया है।

नागार्जुन की कृतियाँ

नागार्जुन का समय लगभग १५० ई० माना जाता है। ये ब्राह्मण से बौद्ध हुए थे। अत: बौद्ध-साहित्य के गम्भीर ज्ञान के साथ ब्राह्मण-साहित्य में भी इनकी असाधारण गति थी। निम्नलिखित कृतियां आचार्य नागार्जुन की हैं—

१. माध्यमिककारिका, २. दशभूमिविभाषाशास्त्र, ३. महाप्रज्ञापारमिता-सूत्रकारिका, ४. उपायकौशल, ५. प्रमाणविध्वंसक, ६. विग्रहव्यावर्त्तिनी, ७. चतु:स्तव, ८. युक्तिषष्ठिका, ९. शून्यतासप्तति, १०. प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, ११. महायानविंशक, १२. सुहृल्लेख।

इनमें विग्रहव्यावर्तिनी और माध्यमिककारिका ही मूल संस्कृत में उपलब्ध हैं। शेष कृतियाँ चीनी तथा तिब्बती अनुवादों में मिलती हैं।

असङ्गविरचित ग्रन्थ

राहुलजी के अनुसार निम्नलिखित ग्रन्थ असंग के द्वारा रचित हैं—

१. महायानोत्तरतंत्र, २. महायानसूत्रालंकार, ३. योगाचारभूमिशास्त्र, ४. वस्तुसंग्रहणी, ५. वज्रच्छेदिका-टीका।

ये ग्रन्थ राहुलजी को तिब्बती, चीनी और जापानी अनुवादों तथा वहाँ के हस्तलिखित ग्रन्थसंग्रहों में प्राप्त हुए हैं। योगाचार भूमिशास्त्र और महायानोत्तरतंत्र मूल संस्कृत में भी तिब्बत में मिले हैं। महायानसूत्रालंकार असंग और उनके गुरु मैत्रेयनाथ की संयुक्त रचना समझी जाती है। इनकी कारिकायें मैत्रेयनाथ की और

व्याख्या असंग की हैं। बौद्धदर्शन में असंग की योगाचारभूमि को इतना महत्त्व प्राप्त हुआ कि तबसे विज्ञानवाद को योगाचार-दर्शन के नाम से कहा गया।

दिङ्नाग बौद्धन्याय के प्रतिष्ठापक माने जाते हैं। इन्होंने लगभग एक सौ ग्रन्थों की रचना की, किन्तु उनमें से कुछ ही उपलब्ध हैं। उनके महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं—प्रमाणसमुच्चयवृत्ति, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रनिर्णय और प्रमाणशास्त्र-न्यायप्रवेश।

धर्मकीर्त्ति (सन् ६७५-७०० ई०) के निम्नलिखित ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। प्रमाणवार्त्तिक, प्रमाणविनिश्चय, न्यायविन्दु, हेतुविन्दु, सम्बन्धपरीक्षा, वादन्याय और संख्यान्तरसूत्रसिद्धि। इनमें न्यायविन्दु, हेतुविन्दु और प्रमाणवार्त्तिक संस्कृत में उपलब्ध हैं। इनके अतिरिक्त इन्होंने प्रमाणवार्त्तिक और सम्बन्धपरीक्षा पर वृत्तियाँ भी लिखी थीं।

"चतुःशतक" आर्यदेव का प्रसिद्ध ग्रन्थ है। ये नागार्जुन के शिष्य थे। इसमें चार सौ कारिकायें हैं। "चित्तशुद्धिप्रकरण" इनका दूसरा ग्रन्थ बताया जाता है। इसके कुछ ही अंश मिले हैं। "सृष्टिप्रकरण" नामक एक ग्रन्थ भी आर्यदेवरचित ही समझा जाता है जिसके संस्कृत पाठ का निर्माण टामस ने चीनी और तिब्बती अनुवादों की सहायता से किया।

"बोधिचर्यावतार", "शिक्षासमुच्चय" तथा "सूत्रसमुच्चय" के रचयिता के रूप में शान्तिदेव (७वीं शताब्दी) का नाम तारानाथ ने दिया है। बोधिचर्यावतार निर्विवादरूप में शान्तिदेव की कृति है। इसका सर्वप्रथम प्रकाशन रूसी विद्वान् आई० पी० मिनाएव ने जापेस्की में किया था। बाद में हरप्रसाद शास्त्री ने बुद्धिस्ट टेक्स्ट सोसाइटी के जर्नल में प्रकाशित किया था। प्रज्ञाकरमति ने बोधिचर्यावतार पर "पञ्जिका" नामक टीका लिखी है, जिसका प्रकाशन फ्रेंच अनुवाद के साथ लावली पूसें के द्वारा विब्लिओथिका इन्डिका में सन् १९०२ ई० में हुआ था। "शिक्षासमुच्चय" की जो हस्तलिखित प्रति प्राप्त हुई है, उसमें ग्रन्थकार का नामोल्लेख नहीं है। किन्तु तंजोर-इन्डेक्स ३१ में इसके रचयिता के रूप में शान्तिदेव का नाम आया है। महायान धर्म के विद्वान् दीपंकर श्री ज्ञान (अतीश) भी इस ग्रन्थ को शान्तिदेव की ही कृति समझते थे। "बोधिचर्यावतारपञ्जिका" में प्रज्ञाकरमति ने भी शिक्षासमुच्चय का कर्त्ता शान्तिदेव को ही माना है।[1] इसका तिब्बती भाषा में अनुवाद सन् ८१६ और ८३८ ई० के बीच जिनमित्र और एक तिब्बती पण्डित ज्ञानसेन के द्वारा हुआ था। इससे प्रतीत होता है कि मूलपुस्तक सन् ८०० ई० से पूर्व लिखी गई।" शिक्षा-समुच्चय" का प्रकाशन सी० वेण्डल द्वारा सेण्ट पीटर्स वर्ग

१— "शिक्षासमुच्चयोऽपि स्वयमेभिरेव कृतः। तदा नानासूत्रैकदेशानां वा समुच्चय एभिरेव कृतः॥

—बोधिचर्यावतारपञ्जिका —५/१०५, १०६।

की रूसी विब्लिओथिका बुद्धिका ग्रन्थमाला में सन् १८६७ ई० में हुआ। इसका दूसरा संस्करण सन् १६०२ ई० में हुआ। सी० वेण्डल तथा डब्ल्यू० एच० डी० राउज द्वारा इसका अंग्रेजी अनुवाद सन् १६२२ ई० में इण्डियन टेक्स्ट सीरिज में प्रकाशित हुआ है।

"सूत्रसमुच्चय" ग्रन्थ शान्तिदेव की रचना है अथवा नागार्जुन की, इस विषय में पर्याप्त विवाद है, किन्तु वास्तविकता यह है कि इस ग्रन्थ की कोई प्रति उपलब्ध नहीं है, जिसके आधार पर सही निर्णय किया जा सके।

आठवीं शताब्दी में शान्तरक्षित ने "तत्त्वसंग्रह" नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इस ग्रन्थ में स्वातान्त्रिक योगाचार की दृष्टि से बौद्ध तथा अन्य दार्शनिक मतों का खण्डन है। इस ग्रन्थ का प्रकाशन कमलशील की टीका के साथ बड़ौदा से हुआ है।

२. त्रिपिटक और जातक

बौद्धों के आगम ग्रन्थ पालि एवं संस्कृत दोनों ही भाषाओं में प्राप्त होते हैं। पालि भाषा में लिखित ग्रन्थ अपेक्षाकृत अधिक प्राचीन एवं प्रामाणिक माने जाते हैं। इन्हें "बुद्धवचन" भी कहा गया है। इन ग्रन्थों को दो वर्गों में रखा जा सकता है :— धर्मविषयक ग्रन्थ और व्याकरण आदि शास्त्रीय विषयक ग्रन्थ। धर्मग्रन्थों को त्रिपिटक (तिपिटक) शब्द से अभिहित किया जाता है।

त्रिपिटकों में भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व (ज्ञान) प्राप्त करने से लेकर निर्वाण (मोक्ष) प्राप्त करने तक के समस्त उपदेशों का संग्रह है।

भगवान् बुद्ध के उपदेश लिखित एवं संगृहीत नहीं थे। उनके परिनिर्वाण के पश्चात् उनके प्रधान शिष्य महाकश्यप ने इस आवश्यकता का अनुभव किया कि प्रमुख भिक्षुओं की एक बैठक आयोजित हो, जिसमें बुद्धवचन का प्रामाणिक संग्रह कर लिया जाय। इससे धर्म की सुरक्षा हो सकेगी तथा भविष्य में उसकी परम्परा अबाधगति से चलती रहेगी।[1] तदनुसार उन्होंने उक्त बैठक में भाग लेने के लिए पाँच सौ श्रेष्ठ भिक्षुओं को आमंत्रित किया। तत्कालीन मगध सम्राट अजातशत्रु ने सभा की सारी व्यवस्था की। राजगृह के "बेभार" पर्वत के उत्तरपार्श्व में स्थित "सत्तपण्णी" गुहा के द्वार पर निर्मित विस्तृत रम्य-मण्डप में सभा का कार्य सम्पन्न हुआ। बुद्ध के तीन मुख्य शिष्य थे, जिन्होंने उनके उपदेशों को यथावत् स्मरण रखा था। वे शिष्य थे—उपालि, आनन्द और महाकश्यप। उक्त सभा में उपालि से पूछ कर विनय सम्बन्धी नियमों का, आनन्द से पूछकर अभिधम्म का तथा महाकश्यप से पूछकर सुत्तपिटक का संग्रह किया गया।

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग एक सौ वर्ष बाद विनय के कुछ नियमों को लेकर भिक्षुओं में महान विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसके परिणामस्वरूप एक दूसरी संगीति का आयोजन वैशाली में हुआ। देश के सुदूर प्रान्तों के सात सौ विख्यात भिक्षु इसमें सम्मिलित हुए। इसी कारण यह संगीति "सप्तशतिका" नाम से प्रसिद्ध हुई। इसमें पिटकों, निकायों, अंगों तथा धम्मखन्ध आदि के नवीन संस्करण किए गए।

1—B. J. K,—Khuddaka Vol. VI—Introduction—P. V 6.

"The venerable Maha Kassapa felt an urgent need for convening a Grand Council of leading Elders of the sangh to make a full collection of the teachings, and also to adopt maans for their right preservation and transmission to Posterity."

इसके एक सौ वर्ष बाद सम्राट् अशोक का आश्रय पाकर बौद्ध धर्म अत्यन्त आदरणीय बन गया। फलत: अनेक अन्य धर्मावलम्बी लोग या तो अन्त:करण से या आदर पाने की अभिलाषा से पीला वस्त्र धारण कर भिक्षु बन गए, किन्तु अपने पुराने संस्कार और विचारों से छुटकारा पाना उनके लिए सरल नहीं हुआ। अत: उन्होंने अपने-अपने ढंग से धर्म की उलट-पलट व्याख्या करनी आरम्भ कर दी। फलत: भिक्षु-संघ का बौद्धिक जीवन उच्छृंखल होने लगा तथा धर्म के वास्तविक स्वरूप का निर्णय कठिन हो गया। ऐसी स्थिति में बौद्ध-धर्म के नायक स्थविर भिक्षुओं ने धर्म की शुद्धता को अक्षुण्ण रखने तथा उसे विरोधीतत्त्वों से बचाने के लिए एक तीसरी संगीति का आयोजन पाटलिपुत्र के "अशोकाराम" नामक विहार में किया। सम्राट अशोक के गुरु "मोग्गलिपुत्त तिस्स" ने इसकी अध्यक्षता की। इसमें अशुद्ध मतों का खण्डन करते हुए मौलिक परम्परा से मान्य स्थविरवाद नामक धर्म के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए "कथावत्थु" नामक ग्रन्थ की रचना की गयी, जो त्रिपिटक-साहित्य का एक अमूल्य ग्रन्थरत्न माना जाता है। तृतीय संगीति के पश्चात् सम्राट अशोक ने सुदूर देशों में बौद्ध धर्म के प्रचार के लिए धर्मदूतों को भेजा। इसी क्रम में उनके पुत्र राजकुमार महेन्द्र तथा पुत्री राजकुमारी संघमित्रा के द्वारा त्रिपिटक साहित्य लंका की भूमि में पहुँचा। अब तक यह साहित्य गुरुशिष्य-परम्परा से ही सुरक्षित रह रहा था। इसे सर्वप्रथम लिपिबद्ध कर पुस्तक का रूप देने का कार्य लंका में २८० ई० पू० में राजा "वट्टगामिनि अभय" के संरक्षण में चतुर्थ संगीति में किया गया।[1]

इसके बाद सन् १८७१ ई० में बर्मा देश के माण्डले (Mandla.) नामक नगर में "राजा मिण्डन (Mindon) के संरक्षण में पाँचवीं-संगीति का आयोजन हुआ, जिसमें सम्पूर्ण पालि-त्रिपिटक का संशोधन तथा नवीन संस्करण प्रस्तुत किया गया और उन्हें अंतिम रूप देकर संगमर्मर की पट्टियों पर निम्नलिखित रूप में उत्कीर्ण कर दिया गया।[2]

विनय—१११ पट्टियाँ (Stables)

सुत्त—४१० पट्टियाँ (Stables)

अधिधम्म—२०८ पट्टियाँ (Stables)

आधुनिक युग में त्रिपिटक के मुद्रित संस्करण की आवश्यकता का अनुभव बर्मा के "छट्ठ-संघायन" (The Sixth Great Council) में किया गया। इस बैठक का आयोजन रंगून से कुछ ही दूर स्थित एक सुन्दर कृत्रिम पाषाण गुहा में हुआ, जिसमें संसार के विभिन्न देशों के ढाई हजार विद्वान भिक्षु सम्मिलित हुए थे। बैठक का प्रारम्भ १७ मई १९५४ ई० को हुआ था। बैठक में त्रिपिटक के

१—महावंश, अध्याय (X-XXIII)

२—बौद्धधर्म के २५०० वर्ष, १९५६, पृ० ३५

मूलरूप की स्वीकृति मिलते ही वहीं एक स्वतंत्र मुद्रणालय की स्थापना कर दी गई और मुद्रण कार्य प्रारम्भ कर दिया गया। दो वर्षों तक निरन्तर कार्य कर मई १९५६ ई० में २५०० वीं बुद्धजयन्ती के दिन संघायन की बैठक समाप्त हो गई। लंका, बर्मा, थाइलैण्ड और कम्बोडिया के लोगों का प्रधान धर्म बौद्ध स्थविरवाद है, जिसका सर्वमान्य ग्रन्थ है त्रिपिटक। इन देशों में समय-समय पर अपनी-अपनी लिपियों में त्रिपिटक के सुन्दर से सुन्दर संस्करण प्रकाशित होते रहे हैं। लंदन की पालि-टेक्स्ट-सोसाइटी ने रोमन लिपि में इसे प्रकाशित किया है। भारत में केन्द्रीय तथा बिहार सरकार के संयुक्त सहयोग से नालन्दा के "देवनागरी-त्रिपिटक-प्रकाशन विभाग" को सम्पूर्ण पालि-त्रिपिटक का एक प्रामाणिक देवनागरी-संस्करण प्राय: चार-चार सौ पृष्ठों के चालीस खण्डों में प्रकाशित करने की योजना पूरी हो चुकी है। त्रिपिटक हैं—

(१) विनयपिटक—अनुशासनविषयक
(२) सुत्तपिटक (सूत्रपिटक)—उपदेशात्मक
(३) अभिधम्मपिटक (अभिधर्मपिटक)—मनोवैज्ञानिक।

विनयपिटक

भिक्षुओं के आचरण का नियमन करने के लिए भगवान् बुद्ध ने जो नियम बनाये, वे "पातिमोक्ख" (प्रतिमोक्ष) कहलाये। इन्हीं नियमों की चर्चा विनयपिटक में है। इसी के आधार पर संघ के सभी भिक्षु-भिक्षुणी दिन-प्रतिदिन कार्य करते थे। पातिमोक्ख का माहात्म्य बतलाते हुए स्वयं भगवान् बुद्ध ने कहा था कि उनके न रहने पर भी प्रतिमोक्ष और शिक्षापदों के कारण भिक्षुओं को अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होता रहेगा और इस प्रकार संघ स्थायी होगा[1]। प्रतिमोक्ष के अत्यधिक महत्त्व के कारण त्रिपिटकों में विनयपिटक का स्थान सर्वप्रथम है। इसके तीन भाग हैं—सुत्त विभंग इसका प्रथम भाग है, जो वस्तुतः २७ नियमों का विधान करने वाले सुत्तों (सूत्रों) की व्याख्या है। इसके "पाराजिक" तथा "पाचित्तिय" विभाग हैं। विनयपिटक का दूसरा भाग खन्धक कहलाता है। "महावग्ग" और "चुल्लवग्ग" ये दोनों खन्धक में समाविष्ट हैं। महावग्ग में प्रव्रज्या, उपोसथ, वर्षावास, प्रवारणा आदि से सम्बन्ध रखने वाले नियमों का संग्रह है। चुल्लवग्ग में भिक्षु के पारस्परिक व्यवहार और संघाराम संबंधी भिक्षुणियों के विशेष आचार का संग्रह है। भगवान बुद्ध की साधना का रोचक वर्णन महावग्ग में आता है और उनकी जीवन-कथा का यह भाग ही प्राचीनतम प्रतीत होता है। महावस्तु और ललितविस्तर में इसी प्रकार का वर्णन पाया जाता है। विनयपिटक का अंतिम भाग "परिवार" है, जो बाद का बना हुआ प्रतीत होता है। इसमें वैदिक अनुक्रमणिकाओं की तरह कई प्रकार की सूचियों का समावेश है।

---

१. आचार्य नरेन्द्रदेव—बौद्ध धर्म-दर्शन, पृ० ३०

सुत्तपिटक (सूत्रपिटक)

सुत्तपिटक में "धम्म" के सम्बन्ध में भगवान् बुद्ध के द्वारा समय-समय पर दिये गये उपदेशों एवं दृष्टान्तों का संग्रह है। इसके पाँच बड़े विभाग हैं, जो "निकाय" के नाम से प्रसिद्ध हैं—

१. दीघ-निकाय, २. मज्झिम-निकाय, ३. संयुत्त-निकाय, ४. अंगोत्तर-निकाय, ५. खुद्दक-निकाय

दीघनिकाय[1] (दीर्घनिकाय) में चौंतीस सुत्त (सूत्र) हैं। वे सुत्त लम्बे हैं। अत एव दीघ या दीर्घ कहे गये हैं। इनके तीन मुख्य भाग हैं—"शीलखन्ध", "महावग्ग" तथा "पटिकवग्ग"। "महापरिनिव्बानसुत्त" भी दीघनिकाय के अंतर्गत है। इनमें शील, समाधि और प्रज्ञा का विस्तृत तथा रोचक वर्णन है। दीघनिकाय के प्रथम "ब्रह्मजालसुत्त" में तत्कालीन धार्मिक और दार्शनिक मन्तव्यों का जो संग्रह है, वह भारतीय दर्शनों के प्राचीन इतिहास की सामग्री की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। दूसरे "सामञ्ञफलसुत्त" में भगवान् बुद्ध के समकालीन धर्मोपदेशकों के मन्तव्यों का वर्णन है। वर्ण-धर्म-व्यवस्था के विषय में बुद्ध का मन्तव्य तीसरे "अम्बट्ठसुत्त" में संगृहीत है, जो प्राचीन भारतीय समाज-व्यवस्था का अच्छा चित्र प्रस्तुत करता है। पाँचवे "तेविज्जसुत्त" में वैदिक धर्म के विषय में बुद्ध के कटाक्षों एवं यज्ञों के प्रति उनके विरोधों का संग्रह करके बुद्ध की दृष्टि में यज्ञ कैसे करना चाहिए, इसका वर्णन किया गया है। इसी प्रकार के कई सुत्त दीघ-निकाय में हैं, जो तत्कालीन धार्मिक सामाजिक और दार्शनिक परिस्थिति के हमारे ज्ञान में वृद्धि करने के साथ ही तत्तद्विषय में बौद्ध मन्तव्य को भी स्पष्ट करते हैं।

"मज्झिमनिकाय"[2] (मध्यमनिकाय) में मध्यम आकार के १५२ सुत्तों (सूत्रों) का संग्रह है। दीघनिकाय की तरह इन सूत्रों में भी बुद्ध के उपदेशों के ऊपर सम्वादों का संग्रह है। इसमें चार आर्यसत्य, निर्वाण, कम्र्म, सत्कार्यदृष्टि, आत्मवाद, ध्यान आदि अनेक विषयों की चर्चा है और बौद्ध धर्म के मन्तव्य का भी स्पष्टीकरण है। इसके "अस्सलायनसुत्त" में वर्ण-व्यवस्था के दोष बताये गये हैं और तत्कालीन भारत की सामाजिक परिस्थिति का सुन्दर चित्रण किया गया है। दृष्टान्त, कथा और उपमा के द्वारा कर्त्तव्य को हृदयंगम करने की शैली इस निकाय-ग्रन्थ की अपनी विशेषता है। आख्यान की शैली में अंगुलिमाल की कथा ८६वें सुत्त में रोचक ढंग से कही गई है। वह एक भयंकर डाकू था, किन्तु भिक्षु बन गया और निर्वाण को भी प्राप्त हो गया। जातक की शैली की भी कई कथायें इसमें संगृहीत हैं—जैसे सुत्त ८२ और ८३ में। इसके अतिरिक्त बुद्ध के कई प्राचीन शिष्यों के

1. Ed. by Trencknen, Pub. by P. T. S. London Vol. I, 1887.
2. Ed. by R. Rys Davids & J. E. Carpenter. Pub. by P. T. S. London, Vol, I, 1889.

विषय में भी ज्ञातव्य सामग्री इसमें संगृहीत है। इसके प्रसिद्ध महापरिनिव्वाणसुत्त में बुद्ध के निर्वाण काल का चित्र उपस्थित किया गया है। इस निकाय के अध्ययन से हमारे समक्ष बुद्ध-कालीन भारत का चित्र स्पष्ट होता है।

संयुत्त-निकाय[1] (संयुक्तनिकाय) सुत्तपिटक का तृतीय विभाग है, जो दीघ-निकाय तथा मज्झिम-निकाय का अनुगमन करता है। यह संयुक्त अथवा परस्पर मिलित सूत्रों का संग्रह है।[2] पालि शब्द "संयुत्त" (जो निस्सन्देह संस्कृत "संयुक्त" का रूपान्तर है) का अर्थ है एकत्रित अथवा परस्पर मिले हुए।

संयुत्तनिकाय में ५५ सूत्र-समूहों का संग्रह है, जिन्हें संक्षेप में "संयुत्त" कहा जाता है।[3] इनमें विविध विषयों का विवेचन है। जैसे "देवता संयुत्त" में देवताओं के वचनों का संग्रह है। "मार-संयुत्त" में बुद्ध को चलित करने के लिए मार के प्रयत्नों का संग्रह है। "भिक्खुणी-संयुत्त" में भिक्षुणियों को चलित करने के लिए किये गये मार के प्रयत्नों का वर्णन है। "अनन्त-मग्ग संयुत्त" में संसार की अनादिता और उसके भयंकर दुःख वर्णित हैं। "ध्यान-संयुत्त" में ध्यान का वर्णन है। "मातुगाम-संयुत्त" में नारी के गुण-दोष तथा उसके फलाफल का वर्णन है। "सत्त-संयुत्त" में बुद्ध के प्रति इन्द्र की भक्ति का निदर्शन है। अंतिम "सच्च संयुत्त" में चतुरार्य-सत्य की विवेचना की गई है। काव्य की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ में पर्याप्त सामग्री है। महाभारत के यक्ष-युधिष्ठिर संवाद की तरह इसमें भी यक्ष-बुद्ध का रोचक संवाद है। लोक-कविता का अच्छा संग्रह मार और भिक्खुणी-संयुत्त में मिलता है। इन संयुत्तों के आकार में पर्याप्त असमानता है। कोई दश ही सूत्रों का है, तो कोई अनेक अध्यायों का। सुत्तों (सूत्रों) की लम्बाई में भी एकरूपता नहीं है। इनमें कुछ सुत्त अत्यन्त छोटे हैं जब कि शेष बहुत बड़े। किन्तु कुल मिलाकर

---

1. Ed. by M. L. Feer-Vols. I-V & by Mrs Rhys Davids-Vol. VI Pub. For P.T.S. London by Henery Prowde. Oxford University Press, Ware House, Amen Corner, E. C. 884-1904.
2. The Samyutta Nikaya is the third section of the Sutta-Pitak, Forming a sequel to the Digha-Nikaya (Compilation of the long Suttas), and to the Majjhim Nikaya (Compilation of the Middle Suttas). It is the "Compilation of the joined or connected Suttas."
—Samyutta Nikaya of the Sutta Pittak—M.L. Feer, Vol. I. Int. P. VIII.
3. "The Samyutta-Nikaya consists of 55 groups of suttas, which are preeisely the Samyuttas"—M. L. Feer Intr. of Samyutta Nikaya, Vol. I. P. VIII.

इस संग्रह में अत्यन्त बड़े सूत्तों का सर्वथा अभाव है। सम्पूर्ण संग्रह अर्थात् ५५ संयुक्तों को पाँच बड़े विभागों में विभक्त कर दिया गया है, जो "वग्ग" कहलाते हैं। सगाथ-वग्गो, निदान-वग्गो, खन्धवग्गो, सलायतनवग्गो एवं महावग्गो। प्रत्येक वग्ग ९ से १३ (औसतन ११) संयुत्तों का है।[1]

"अंगुत्तरनिकाय"[2] में ३३०८ सुत्त हैं और उनमें एक वस्तु से लेकर ग्यारह वस्तुओं का समावेश क्रमशः किया गया है। प्रथम निपात में एक क्या-क्या है, यही गिनाया गया है। इसी प्रकार ग्यारहवें निपात में ग्यारह-ग्यारह वस्तुओं का संग्रह किया गया है। इसमें विषय-वैविध्य होना स्वाभाविक है।

"खुद्दक-निकाय" (क्षुद्र-निकाय) सुत्तपिटक का पंचम तथा अंतिम निकाय है। इसमें छोटे-छोटे सुन्दर उपदेशों का संग्रह है, जिनका विस्तृत विवेचन इस अध्याय के अन्त में समाविष्ट है।

सामान्यतः सुत्त-पिटक के सूत्र गद्य में हैं। कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है, कि सुत्त-पिटक का प्रादुर्भाव विक्रमाब्द से २५० वर्ष पहले हो चुका था।[3]

अभिधम्मपिटक—

अभिधम्मपिटक के संग्रह का श्रेय काश्यप को दिया जाता है। भगवान् बुद्ध के उपदेशों के आधार पर आध्यात्मिक दृष्टि के द्वारा बौद्ध दार्शनिक विचारों की व्यवस्था इस पिटक में है। यह सुत्तपिटक का ही दार्शनिक प्रतिरूप है। जो बातें वहाँ पंच-निकायों में भगवान् के प्रवचन रूप में कही गई हैं, उन्हीं को यहाँ शास्त्रीय रूप दिया गया है। इस पिटक के सात विभाग हैं—

१. धम्मसंगणि, २. विभंग, ३. धातु-कथा, ४. पुग्गल-पञ्ञति ५. कथा-वत्थु ६. यमक, ७. पट्ठान

"धम्म-संगणि"[4] में धर्मों का वर्गीकरण और उनकी व्याख्या की गई है। "विभंग" में उन्हीं धर्मों के वर्गीकरण का विस्तृत विवेकन किया गया है। धातुओं का प्रश्नोत्तर रूप में व्याख्यान "धातु-कथा"[5] में है। "पुग्गल-पञ्ञति"[6] (पुद्गल-

1. M. L. Feer. Intr. of the Samyutta-Nikaya Vol.-I, P. VIII—"Each of the five Vaggos contains from nine to thirteen, on an average eleven Samyuttas; their respective length somewhat differs."
2. Ed. by Morris Vol. I-IV P. T. S. London, 1885-88
3. श्री बटुकनाथ शास्त्री—पालि-जातकावलि, भू० पृ० ६।
4. Ed. by Muller, P. T. S. London, 1885.
5. Ed. by Gooneratna, P. T. S. London, 1892.
6. Ed. by Morris, P. T. S. London, 1883.

प्रज्ञप्ति में मनुष्यों का विविध रूपों में निर्देश किया गया है। अंगोत्तर-निकाय के ३-५ निपात के साथ इसका अधिक साम्य है। इसमें गुणों के आधार पर मनुष्यों का विविध रीति से वर्गीकरण किया गया है। "कथावत्थु"[1] (कथावस्तु) का महत्त्व बौद्धधर्म के विकास के इतिहास के लिए अत्यधिक है। "यमक" में प्रश्नों का उत्तर दो प्रकार से किया गया है। और "कथावत्थु" तक के ग्रन्थों से जिन शंकाओं का समाधान नहीं हुआ, उनका वर्णन इसमें किया गया है। "पट्ठान" (प्रस्थान) को मध्यप्रकरण भी कहते हैं। इसमें नाम और रूप के २४ प्रकार के कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध की चर्चा है और प्रतिपादन किया गया है कि केवल निर्वाण ही असंस्कृत है तथा शेष सब धर्म संस्कृत हैं।

कुछ लोगों का कहना है और बुद्ध के चरित से उचित भी प्रतीत होता है कि बुद्ध के वचन साक्षात् या परम्परा रूप में प्रथम दो (विनय और सुत्त) पिटकों में पाये जाते हैं। उन्होंने आध्यात्मिक उपदेश तो दिया ही नहीं, फिर उनके आध्यात्मिक वचनों के संग्रह (अभिधम्मपिटक) का होना ठीक नहीं प्रतीत होता। जान पड़ता है कि अभिधम्मपिटक के विषयों का संग्रह उनके शिष्यों का है। जो कुछ भी हो, इतना तो निर्विवाद है कि यह बौद्धमत का प्रसिद्ध संग्रह है।

खुद्दक-निकाय सुत्तपिटक के पञ्चनिकायों में अन्यतम है। इसमें निम्नलिखित ग्रन्थ पाये जाते हैं—

(१) खुद्दकपाठ—बौद्धधर्म में प्रवेश पानेवालों के लिए ज्ञातव्य-विषयों का इसमें संग्रह है, जैसे—त्रिशरण, दशशिक्षापद, उरशरीर के अवयवों का संग्रह, एक से दश तक की ज्ञेय वस्तुओं का संग्रह आदि।

(२) धम्मपद (धर्मपद)—यह बौद्ध-ग्रन्थों में सर्वाधिक प्रसिद्ध है। इसमें नैतिक उपदेशों का संग्रह है।

(३) उदान[2]—धम्मपद में एक विषय की निरूपक अनेक गाथाओं का संग्रह वग्गों में किया गया है, जबकि उदान में एक ही विषय का निरूपण करनेवाली अल्पसंख्यक गाथाओं का संग्रह है। प्रारम्भिक दो चार गाथाओं में बुद्ध का मन्तव्य व्यक्त किया गया है।

(४) इतिवुत्तक[3] (इतिवृत्तक)—भगवान ने ऐसा कहा, इस मन्तव्य से जिन गाथाओं और गद्यांशों का संग्रह किया गया है, वह इतिवुत्तक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ में उपमा का सौन्दर्य और कथन की सरलता दर्शनीय है।

---

1. Ed. by A. C Taylor, P. T. S. London, 1895.
2. Ed. by Steinthal, P. T. S, London, 1885.
3. Ed by Windisch, P. T. S. London, 1890.

(५) सुत्तनिपात[1] (सूत्रनिपात) में भगवान बुद्ध के प्राचीनतम उपदेशों का संग्रह है।

(६) विमानवत्थु[2] (विमानवस्तु) में देवयोनि का वर्णन है।

(७) पेतवत्थु[3] (प्रेतवस्तु) में प्रेतयोनि का वर्णन है।

(८-९) थेरगाथा और थेरीगाथा[4] (स्थविर गाथा और स्थविरागाथा)—इन दो ग्रन्थों में बौद्धभिक्षु और भिक्षुणियों की उल्लासपूर्ण गीतात्मक उक्तियाँ हैं। इनमें आध्यात्मिक परिशुद्धि, आतमविजय और परमशान्ति की ध्वनि गूँजती है। ये दोनों ग्रन्थ लोककविता के सुन्दर नमूने हैं।

(१०) जातक—इसका विवेचन इसी अध्याय में आगे प्रस्तुत है।

(११) निद्देस—इसके दो भाग हैं—"महानिद्देश" और "चुल्ल निद्देस"[5]। विषयवस्तु एवं शैली की दृष्टि से ये त्रिपिटक के अन्य ग्रन्थों से नितान्त भिन्न हैं। वस्तुतः इन्हें "अट्ठकथा-साहित्य" (टीकाग्रन्थ) के अन्तर्गत रखा जाना चाहिए, न कि पालिसाहित्य के मौलिक ग्रन्थ के अन्तर्गत, क्योंकि ये सुत्तनिपात के अंतिम दो अध्यायों—"अट्ठक वग्ग" तथा "पारायनवग्ग" के भाष्यमात्र हैं।

(१२) "पटिसंभिदामग्ग" में प्राणायाम, ध्यान, कर्म, आर्यसत्य, मैत्री आदि विषयों का निरूपण है।

(१३) अपदान (अवदान)—जातक में भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों के सुचरितों का वर्णन है, तो अवदान में अर्हतों के पूर्वजन्म के सुचरितों का।

(१४) बुद्धवंसो[6]—इसमें गौतमबुद्ध से पहले होने वाले बुद्धों के जीवनचरित वर्णित हैं, जिनसे वोधिसत्त्व का साक्षात्कार हुआ था तथा जिन्होंने यह भविष्यवाणी की थी कि "यह सम्यक्सम्बुद्धत्व का लाभ करेगा।" वे बुद्ध हैं—१. दीपङ्कर, २. कोण्डञ्ञ, ३. मङ्गलो, ४. सुमनो, ५. रेवतो, ६. सोभितो, ७. अनोभदस्सी ८. पदुमो, ९. नारदो, १०. पदुमुत्तरो, ११. सुमेधो, १२. सुजातो, १३. पियदस्सी, १४. अत्थदस्सी, १५. धम्मदस्सी, १६. सिद्धत्थ, १७. तिस्स, १८. फुस्स, १९. विपस्सी, २०. सिखी, २१. वेस्सभू, २२. ककुसन्ध, १३. कोणागमनो, २४. कस्सप।

---

1. Fousboll, P. T. S. London, Vol. I-1884, Vol. II—1893.
2. Ed. by Gooneratne, P. T. S. London, 1886.
3. Ed. by Minayeff, P. T. S, London, 1889.
4. Ed. by Oldenberg, Pischel, P. T. S. London, 1883.
5. Ed. and Pub. by J. Kashyap Secretary, Pali Publication Board, Nalanda, Patna, 1959.
6. Ed. by Morris P. T. S. London, 1882.

यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि जैनधर्म की परम्परा में भी इसी प्रकार पूर्व-तीर्थंकरों का उल्लेख मिलता है। साथ ही दोनों की संख्या में भी अधिक अन्तर नहीं है।

(१५) चरियापिटक[1]—यह खुद्दकनिकाय का अंतिम ग्रन्थ है। इसमें ३५ चरिया (चरित्र) वर्णित हैं। जातक के समान ही भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्मों की ये कथायें बुद्ध के अपने मुख से कहलायी गई हैं। बुद्ध ने पूर्वभवों में कौन-सी पारमिता किस भव में कैसे पूर्ण की उनका वर्णन है। इसमें वर्णित चर्या हैं—

१. अकिति चरिया, २. सङ्ख चरिया, ३. कुरुराज चरिया, ४. महा सुदस्सन चरिया, ५. महागोविन्द चरिया, ६. निमिराज चरिया, ७. चन्द्रकुमार चरिया, ८. सिविराज चरिया, ९. वेस्सन्तर चरिया, १०. ससपण्डित चरिया, ११. मातुपोसक चरिया, १२. भूरिदत्त चरिया, १३. चम्पेय्यनाग चरिया, १४. चूलबोधि चरिया, १५. महिसराज चरिया, १६. रुरुराज चरिया, १७. मातंग चरिया, १८. धम्मदेव पुत्त चरिया; १९. अलीन सत्थु चरिया, २०. सङ्खपाल चरिया, २१. युधञ्जय चरिया, २२. सोमनस्स चरिया, २३. अयोधर चरिया, २४. भिस चरिया, २५. सोण पण्डित चरिया, २६. तेमिय चरिया, २७. कपिराज चरिया, २८. सच्चतापस चरिया, २९. वट्टपोतक चरिया, ३०. मच्छराज चरिया, ३१. कण्हदीपायन चरिया, ३२. सुतसोम चरिया, ३३. सुवण्णसाम चरिया, ३४. एकराज चरिया, ३५. महालोमहंस चरिया।

यह गाथावद्ध लघुकाय ग्रन्थ है। प्राचीन पालिछन्दों के अध्ययन के लिए बुद्धवंश तथा चरियापिटक का बड़ा उपयोग है। २४ पूर्वबुद्धों के साथ-साथ बोधिसत्त्व की कल्पना का प्रथम दर्शन हमें इन्हीं ग्रन्थों में होता है।[2] इनका एक सुन्दर देव नागरी संस्करण नालन्दा से प्रकाशित हुआ है।[3]

जातक

बौद्ध साहित्य के सुत्त-पिटक के पाँचवें तथा अंतिम भाग—खुद्दकनिकाय के दशवें खण्ड में "जातक" नामक संग्रह मिलता है। श्री गोकुलदास डे महोदय ने

---

1. Ed. by Morris, P. T. S. London, 1882.

2. G. D. De—P. XV—

"The conception of Bodhisatta along with that of the twenty four previous Buddhas is noticeable for the first time in the works Buddhavamsa and Cariya Pitaka."

3. Buddhavamsa—Cariyapitaka.

(Khuddaka—Nikaya—Vol. VII.)

Ed. by Bhikkhu. J. Kashyap,

Pali Publication Board, Nalanda, Patna, 1959.

अपनी पुस्तक "The Significance and Importance of Jataka" की भूमिका में लिखा है कि जातकों का अस्तित्व त्रिपिटक से पूर्व भी बुद्ध की प्रथम संगीति में संकलित "आगमपिटक" में वर्तमान था। आगमपिटक के नौ खण्डों[1] में सातवां खण्ड जातकों का था। इनकी प्रामाणिकता इससे सिद्ध होती है कि दोनों संग्रहों—"आगमपिटक" तथा "त्रिपिटक" की जातक कथाओं में अभिन्नता है।

"जन्" धातु से निष्ठार्थक या भावार्थक "क्त" प्रत्यय के अनन्तर स्वार्थ में "क" प्रत्यय करने पर "जातक" शब्द निष्पन्न होता है। इसका शाब्दिक अर्थ है—अतीत जन्म की कथा। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार एक पुष्प को विकसित होने के लिए उस पुष्प की जाति-विशेष की प्राप्ति में लाखों वर्ष लग जाते हैं। तब क्या कोई प्राणी साठ, सत्तर या सौ वर्ष के जीवन में बुद्ध बन सकता है? उसे इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक जन्म धारण करने ही होंगे। गौतम बुद्ध को भी अनेक जन्म धारण करने पड़े। अपने पूर्व जन्मों में उनकी संज्ञा, बोधिसत्त्व अर्थात् बुद्धत्व प्राप्ति के लिए प्रत्यनशील प्राणी, था। ज्ञान-प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने अपने पूर्व जन्मों का भी ज्ञान पाया। वे अपने पूर्व जन्मों के अनुभवों को स्थिरचित्त होकर स्मरण करते थे तथा प्रसंग उपस्थित होने पर अपने अनुयायियों को सुनाते थे। इन्हीं वृत्तान्तों को 'जातक' कहा जाता है। भगवान् बुद्ध के श्रीमुख से कही गई उनके पूर्वजन्मों की कथाओं का संग्रह जातक ग्रन्थ है।

साधारण जनता को और विद्वानों को भी प्राणिमात्र के मोक्ष तत्त्वों का परिचय सुन्दर तथा बालबोध रीति से कराना ही जातक कथाओं की निर्मिति का उद्देश्य है।[२] कहा जाता है कि अपने धर्म का प्रचार करते समय भगवान् बुद्ध ने ये कथायें कही थीं। प्रचारकार्य के लिए युग-प्रवर्त्तक महापुरुषों ने कथाओं के साधन का उपयोग प्रचुरमात्रा में किया है।[3] सद्धर्मपुण्डरीक में कहा गया है कि तथागत ने सूत्रगाथाओं और जातककथाओं के द्वारा अपना उपदेश बालबोध कराया है।[४]

1—"The Agam Pitaka" which was the only Pitaka or authentic compilation of the Doctrine of the first Council contained the following nine-types of compositions—

The Sutta, The Geyya, The Veyyakaran, The Gatha, The Udan, The Itibuttaka, The Jataka, The Abbhuta and the Vedalls."

—G. D. De Iutr. P.XI.

२—इत्सिग ताका कुसू—इत्सिग के प्रवास, पृ० १६३।

3—A Jataka........is a piece taken out from old "Akhyanas" in illustration of some Particular view point of early Budhism either of the doctrine of "Karma" or the practice of Silas.

—G.D. De, P. 156.

4—Saddharma Pundarika—2/44

जातक में पशु-पक्षियों की कथाओं तथा अन्य ऐतिहासिक कथाओं को धार्मिक एवं नैतिक पुट देकर संगृहीत किया गया है।[1]

जातक और जातकट्ठकथा—

त्रिपिटक में जिस जातक ग्रन्थ का समावेश है, वह केवल गाथाओं का संग्रह है। जिस प्रकार धम्मपद एक वस्तु है और धम्मपद-अट्ठकथा दूसरी; उसी प्रकार जातक एक वस्तु है और जातकट्ठकथा दूसरी। अन्तर यह है कि धम्मपद का अर्थ बिना धम्मपद-अट्ठकथा के समझ में आ सकता है; किन्तु जातक बिना जातक-अट्ठकथा के अधूरा है। फिर जातक में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों से सम्बन्ध रखने वाली गाथायें भरी हैं। जातकट्ठकथा में अट्ठकथा सहित असली जातक कथायें प्रारम्भ होने से पूर्व निदान-कथा नाम का एक लम्बा उपोद्घात है। इस निदान कथा में सिद्धार्थ गौतम बुद्ध के जीवन-चरित्र के साथ उनके पूर्व के सत्ताइस बुद्धों का भी जीवन-चरित्र है। यह सारा का सारा बुद्धवंश से लिया गया प्रतीत होता है। जातकट्ठकथा के तीन भाग हैं :—१. दूरेनिदान, २. अविदूरे-निदान, ३. सन्तिके-निदान। सभी जातककथाएँ दूरेनिदान के ही अन्तर्गत आती हैं।

जातकों की संख्या के विषय में काफी मतभेद रहा है।[2] इनकी अधिकतम संख्या ५६५ बतलायी जाती है। ईशानचन्द्र घोष के अनुसार "महावस्तु" नामक ग्रन्थ में ८० जातक-कथाओं का होना प्रमाणित है। ई० पू० पहली या दूसरी शताब्दी में रचित "चुल्ल निद्देस" ग्रन्थ में जातक-कथाओं की संख्या ५०० बतलायी गयी है—"पञ्च जातकसतानि"।[3] चीन देश के प्रवासी फाहियान ने पाँचवीं शताब्दी में लंका में ५०० जातकों की चित्राकृतियाँ देखी थीं। थेरवादियों (सिंहल, स्याम, बर्मा, हिन्दचीन आदि देश के बौद्धों) की परम्परा के अनुसार जातकों की संख्या ५५० बतलायी जाती है। आचार्य श्री बटुकनाथ शास्त्री ने भी जातकों की कुल संख्या ५५० मानी है।[4] M.L. Feer महोदय के अनुसार

---

1. The Jatakas are largely folk literature in which beast fables and fragments of historical tradition as well as tales of wisdom have been gathered together with a religious and moral purpose, and the verses at the end form the real text to hang the narrative Summons from".

—G. D. De Foreword by S. K. Chattergee, P. VIII.

2. See on the Variations of this number, Kooppen—"Die Religion des Buddha", P. 319.
3. चुल्ल-निद्देस—२/१४/८१
4. पालिजातकावलि भू० पृ०—६

सामान्यतः स्वीकृत जातकों की संख्या ५५० है।[1] Hodgson के मतानुसार नेपाल में प्राप्त जातकमाला में ५६५ जातक-कथायें मिलती हैं।[2] "जातकट्ठकथा" में जातकों की कुल संख्या ५४७ कही गयी है।[3] Fousboll द्वारा सम्पादित "जातक" में ५४७ जातक हैं। जातक-संग्रह की विभिन्न हस्तलिपियों के सम्यक् अनुशीलन के पश्चात् Feer महोदय ने जातकों की प्रामाणिक संख्या ५४७ मानी है।[4] यही संख्या आधुनिक बौद्ध विद्वानों को मान्य है।

जातक कथाओं के विभाग—

"जातकत्थवण्णना" नाम की पालिटीका के आधार पर जातक कथाओं के पाँच विभाग किये गये हैं।[5]

(१) "पच्चुपन्नवत्थु" या प्रास्ताविक कथानक—इसमें भगवान् बुद्ध के अवस्थानकालीन वृत्तान्तों के प्रसंगों का निर्देश किया गया है। (२) "अतीतवत्थु" में बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथा का संग्रह है। (३) "गाथा"—इस विभाग में गाथाएँ और अभिसम्बुद्ध गाथाएँ अर्थात् कुछ श्लोक हैं, जो पूर्वजन्म के प्रसंग समझे जाते हैं तथा कुछ दूसरे श्लोक हैं, जो ज्ञान प्राप्त होने पर भगवान् बुद्ध के कहे हुए माने जाते हैं, (४) वेय्याकरण—एक छोटी-सी टीका है, जिसमें गाथाओं का शब्दशः अर्थ दिया हुआ है, (५) समोधान—इसमें कथा के विभागों का वर्तमान काल से सम्बन्ध

---

1. "The mean number generally accepted is five hundred and fifty."—Feer, P. 2
2. Feer, P.2.
3—"जातक"—आनन्द कौसल्यायन--प्रथम खण्ड भू० पृ० १६
4. Feer, P.3—"Here, then, is a well-established fact, the definite official number of the Jatakas is five hundred and forty seven."
5. G. D. De P.—XII—

"With regard to the Jatakas, Prof. Rhys Davids, the greatest pioneer in the field of Pali studies, has observed in his" "Buddhist India" that a typical Jataka is one which has—(1) an introductory episode, (2) The story of the Past being the Jataka proper in Prose, (3) The verse giving the moral in archaic language and many times appearing redundent for presenting the same fact of the story, (4) An explanation of the verse or verses and (5) Identification of the actors of the Past stories with the present ones among whom Buddha must be the hero, without this frame work no story is to be regarded as a Jataka."

बुद्धदेव ने वतलाया था और श्रोताओं के मन पर कथा सुनने का क्या परिणाम हुआ, इसका भी संकेत किया था।

जातक कथाओं का काल एवं संग्रह—

अपनी विख्यात पुस्तक "Hindu Polity" के प्रथम खण्ड के प्रारम्भ में स्वर्गीय डॉ० जायसवाल ने जातकों का रचनाकाल बुद्ध से पूर्व अर्थात् ईसा पूर्व ६०० वर्ष से भी पहले माना है।[1] श्रीयुत् गोकुलदास डे महोदय ने सिद्ध किया है कि जातक कथाओं का सबसे प्राचीन भाग गाथाओं का है, जो अत्यंत पुरातन भारतीय जनपद वाङमय का एक अंश है।[2] इनका कहना है कि ये गाथायें बुद्ध के समकालीन ही नहीं, बुद्ध पूर्व भी होंगी। पाश्चात्य विद्वानों का भी कहना है कि अधिकांश जातक कथायें बुद्ध पूर्व हैं।[3] जातक वाङ्मय बुद्धपूर्वकाल में आख्यानकों के रूप में विशेषत: लोककथाओं में निवद्ध था। तथागत की शरीरावस्था में और राजगृह में भिक्षुओं की प्रथम संगीति (First Buddhist Council) तक जातक कथासंग्रह वौद्ध कर्म-सिद्धान्त का उदाहरण वन गया; जैसा कि आगमपिटक में मिलता है। द्वितीय संगीति (Second Buddhist Council) के समय तक इस जातक वाङमय का रूपान्तर नीति एवं धर्म प्रदकथाओं में हुआ; जैसे—सुत्तन्त जातक और इतर जातक कथायें धर्म-विनय में मिलती हैं। तृतीय संगीति (Third Buddhist Couneil) के समय में जातक कथाओं का संग्रह खुद्दक निकाय के अन्तर्गत किया गया। आगे चलकर संग्रह में और भी वृद्धि हुई। खिस्त पश्चात् पाँचवीं शताब्दी में वोधिसत्त्व के पूर्व जन्मों के वारे में "जातकट्ठकथा" का अलग संग्रह हुआ। "लेओस" में प्रचलित जातक कथाओं के एक संग्रह में २७ कथायें हैं, जो अन्य किसी संग्रह में नहीं मिलती हैं।[4] तृतीय अथवा चतुर्थ शती में रचित "जातकमाला" जो संस्कृत में है, में ३४ जातक कथाओं का संग्रह है। प्रसिद्ध वौद्ध विद्वान् तारानाथ ने जातकमाला के रचयिता का नाम आर्यशूर लिखा है। ईस्वी पूर्व दूसरी-तीसरी

---

1. ......K. P. J.—Hindu Polity. Pt. I, Chapt. I P. 4–"the Jatakas which are regarded as Pre-Buddhan' i. e. anterior to 600 B. C.)......"
2. Calcuta Review, July 1930, P. 68—"The Jatakas were originally verses and are sufficient to counteract any inclination which may be still lingering in favour of ascribing to them at the time of their formation."
3. "......We may be sure that many, perhaps most of these tales are really older than the Buddha and belong to the oldest folklore of India."—Feer, Intr. by L. D. Barnett.
4. Bapat—"2500 years of Buddhism" P. 436

शताब्दी के भरहुत तथा साँची के स्तूपों की शिलाओं पर तीस से अधिक जातक कथायें उत्कीर्ण हैं।[1] जातकों की प्राचीनता निर्विवाद है। तृतीय संगीति में निर्धारित त्रिपिटकों को लेकर अशोक का पुत्र महेन्द्र बौद्ध-धर्म के प्रचार के लिये सिंहल गया था। इससे प्रतीत होता है कि विक्रमाब्द से प्राय: तीन सौ वर्ष पूर्व यह अभिधान प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका था। "जातक" का प्रथम सम्पादन फस्बोल (Fousboll) महोदय द्वारा किया गया। इसका अंग्रेजी अनुवाद चाइल्डर्स (Childers) ने किया है।

जातक-कथाओं का प्रभाव तथा साम्य—

जातक-संग्रह की कथाओं का साम्य अथवा प्रभाव अन्य साहित्य की कथाओं में दिखाई पड़ता है। त्रिपिटक अथवा तत्कालीन अन्य किसी साहित्य में न कहीं रामायण का उल्लेख मिलता है और न महाभारत का। सारे देश में रामायण और महाभारत की कथा घर-घर होती रहे और तत्कालीन साहित्य में उसके विषय में कहीं कुछ न कहा गया हो, यह हो नहीं सकता। इससे प्रतीत होता है कि रामायण एवं महाभारत जातक के बाद के ग्रन्थ हैं। जातक-कथा का स्पष्ट प्रभाव इन ग्रन्थों पर दिखाई पड़ता है। रामायण में बुद्ध का नामोल्लेख मिलता है—

"यथा हि चोरः स तथा हि बुद्ध-
स्तथागतं नास्तिकमत्र विद्धि।
तस्माद्धि यः शक्यतमः प्रजानां
न नास्तिके नाभिमुखो बुधः स्यात् ॥"[2]

दशरथ-जातक आदि कुछ जातकों से तो अत्यधिक साम्य दिखलाई पड़ता है। जैसे दशरथजातक में है—

"फलानं इव पक्कानं निच्चं पपतना भयं।
एवं जातानं मच्चानं निच्चं मरणतो भयं ॥"[3]

वा० रामायण में है—

"यथा फलानां पक्वानां नान्यत्र पतनाद् भयम्।
एवं नरस्य जातस्य नान्यत्र मरणाद् भयम् ॥"[4]

दशरथ-जातक—

एको व मच्चो अच्चेति, एको व जायते कुले।"[5]

---

1. Barooa and Sinha—"Bharhut Inscriptions" P. 78-99
२. रामा० २।१०६।३४
३. दशरथजातक—५
४. रामा०—२।१०५।१७
५. दशरथजातक—१०

रामायण में है—

एको हि जायते जन्तुरेक एव विनश्यति ।''[१]

दशरथजातक में है—

दसवस्स सहस्सानि सट्ठिवस्स सतानि च ।
कम्बुग्रीवो महाबाहु रामो रज्जं अकारयि ॥''[२]

रामायण—

''दश वर्षसहस्राणि दश वर्षशतानि च ।
भ्रातृभिः सहितः श्रीमान् रामो राज्यमकारयत् ॥[3]

इसी प्रकार ''सिवि-जातक'' सदृश अनेक कथाओं ने महाभारत में स्थान पाया है। अपने अविकसित रूप में जातक-कथा की कहानियों ने महाभारत और रामायण में आकर विकास पाया।

घट-जातक एक प्रकार से छोटा-मोटा भागवत ही है। इसमें कृष्ण-जन्म से लेकर कंस की हत्या करने और द्वारका जा बसने तक की सारी कथा आई है। चाणूर और मुष्टिक पहलवानों की हत्या करने जैसे छोटी-छोटी बातें भी इसमें हैं। अतः श्रीमद्भागवत के कृष्ण-जन्म की कथा स्पष्टतः अपने प्राचीन रूप में जातक में विद्यमान है।

ईसा की प्रथम शताब्दी में गुणाढ्य नामक किसी पण्डित द्वारा पैशाची भाषा में रचित ''बृहत्कथा'', जो अब अप्राप्य है, से सामग्री लेकर सोमदेव ने ''कथा-सरित्सागर'' की रचना की। इसमें अनेक जातक-कथाएँ विद्यमान हैं। इससे प्रतीत होता है कि ''बृहत्कथा'' का भी आदिस्रोत जातक कथाएँ रही होंगी।

पञ्चतंत्र तथा हितोपदेश की अनेक कथाओं का मूल जातकों में है। ''सिंहासनद्वात्रिंशिका'', ''शुकसप्तति'' आदि आख्यायिकाओं में तथा जातक-कथाओं में समानतायें हैं, जो वस्तुतः जातक-कथाओं के प्रभाव के परिणाम हैं।

कई जातक-कथायें पृथ्वी के अनेक भागों में पहुँच गयी हैं। ईसप की कथाओं के नाम से जिन कथाओं का यूरोप में प्रचार है, उनके विषय में विस्तृत अन्वेषण कर रीज डेविड्स (Rhys Davids) ने यह निष्कर्ष निकाला है कि उनमें से किसी

---

१. रामा०—२।१०८।३

२. दशरथ-जातक—१३

३. श्रीमद्वाल्मीकिरामा०—(६/१३१/१०६)
(पण्डित पुस्तकालय, काशी सं०)

कथा का किसी ईसप से सम्बन्ध नहीं है। उनमें से अधिकांश का मूल स्थान जातक-कथायें ही हैं[1]।

आठवीं शताब्दी में बगदाद के खलीफा अलमंसूर के दरबार का सन्त जान ऑफ डमसकस" (St. John of Damascus) नामक ईसाई ने ग्रीक भाषा में "बरलाम एण्ड जोसफ" (Barlam And Josaph) नामक पुस्तक लिखीं। बोधिसत्त्व ही इसके "जोसफ" हैं। सन्त जॉन की इस पुस्तक में बुद्ध का आंशिक चरित्र और अनेक जातक-कथायें हैं।

जिस समय हूण पूर्वी यूरोप में गये, वे अपने साथ कुछ जातक-कथाओं को ले गये। बहुत सी ऐसी कथायें 'सलाव' लोगों में मिलती हैं, जिनका मूल जातक-कथाओं में है। एक इटालियन विद्वान् ने सिद्ध किया है कि "किताब-उल-सिन्दबाद" की अनेक कथाओं का और अलिफलैला (Arabian Nights) की अनेक कथाओं का मूल-स्थान जातक कथायें ही हैं।[2] जातक-कथाओं के प्रसार और प्रभाव की कथा अनन्त प्रतीत होती है।

जातक-कथाओं का महत्त्व—

बौद्ध-साहित्य में जातकों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। भगवान् बुद्ध के सदाचारों को व्यक्त करने वाली इन कथाओं पर बौद्ध-धर्मावलम्बियों की अटूट श्रद्धा है। आज भी सिंहल, ब्रह्मा (बर्मा) आदि देशों में उपासक एवं उपासिकायें रात-रात भर उत्साहपूर्वक इन कथाओं को सुनती हैं। अन्य धर्मावलम्बियों के लिए भी इसका महत्त्व कम नहीं है। नीति-शिक्षण की दृष्टि से इन कथाओं की बराबरी करने वाला ग्रन्थ अन्यत्र दुर्लभ है।

भारतवर्ष का प्राचीन इतिहास इन कथाओं में सुरक्षित है। अशोक के शिलालेखों में इन जातकों के महत्त्वपूर्ण अंश उत्कीर्ण हैं, जो तत्कालीन इतिहास के ज्ञान के लिए बहुत महत्त्व रखते हैं। साँची, भरहुत आदि स्थानों में भी अनेक जातक-कथाओं के चित्र उत्कीर्ण हैं।[3] इससे उनकी प्राचीनता तथा महत्त्व का पता चलता है। प्राचीन भारत की सामाजिक अवस्था, वास्तुकला एवं मूर्त्तिकला के जिज्ञासुओं के लिए जातक-कथाओं में पर्याप्त सामग्री है।

कथा-विज्ञान की दृष्टि से भी इसका महत्त्व है। संसार के कथा-साहित्य में जातक-कथा-संग्रह अत्यन्त प्राचीन तथा अपेक्षाकृत बड़ा समझा जाता है।

---

1. Buddhist Birth-stories—P. 32
२. भ्रा० कौसल्यायन—जातक (प्रथम खण्ड) भू० पृ० २६
3. Barooa and Sinha—Bharhut Inscriptions.

इन जातकों में ही सर्वप्राचीन मागधी-भाषा के दर्शन होते हैं। अतएव भाषावैज्ञानिक अध्ययन के लिए भी यह महत्त्वपूर्ण है।

भारतवर्ष का अधिकांश साहित्य परलोकचिन्तामय है, उसको इहलोक की चिन्ता ही नहीं है। किन्तु किसी भी जाति का काम केवल परलोकपरक होने से नहीं चल सकता। भगवान् बुद्ध ने इहलोक तथा परलोक की चिन्ता में समत्व स्थापित किया। यही कारण है कि जातक-कथाओं को बौद्ध-वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान मिला और उसका विकास हुआ। जातक-साहित्य सच्चे अर्थों में जनता का साहित्य है। इसमें हमारे, उठने-बैठने, खाने-पीने, ओढ़ने-बिछाने की साधारण बातों से लेकर हमारी शिल्प-कला, कारीगरी, हमारे व्यापार की चर्चा के साथ हमारी अर्थनीति, राजनीति तथा हमारे समाज के संगठन का विस्तृत इतिहास भरा पड़ा है।[1] उस युग के भूवृत्त, विशेषरूप से जल-मार्गों एवं स्थल-मार्गों की भी पर्याप्त जानकारी इसमें मिलती है।

संक्षेप में भारतीय जीवन का कोई पहलू ऐसा नहीं, जिसका उल्लेख इन कथाओं में न मिलता हो। यदि मनोरंजन के साथ-साथ उपदेश ग्रहण करना हो, यदि हृदय को उदार तथा शुद्ध बनाने वाली कथाओं के साथ-साथ बुद्धि को प्रखर बनाने वाली कथायें पढ़नी हों, यदि अपने देश की प्राचीन आर्थिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक अवस्था से परिचित होना हो तो जातक-कथाओं से बढ़कर किसी दूसरे साहित्य की प्रशंसा नहीं की जा सकती है। डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी ने इसी कारण कहा है—

"The Buddhist Jatakas (in Pali or mixed Sanskrit) form a unique thing ih Indian Literature, we may say even in world literature."[2]

———

1. "Jatakas which exclusively belong to the Buddhists, contribute a great deal to the reconstruction of India's past civilization and being limited by no-means, to the Buddhist Period alone, they cover a much earlier time penetrating even into ihe Vedic."

—G. D. De. P. 94.

2. G. D. De—P. VII.

द्वितीय अध्याय

जातकमाला के लेखक का काल, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

आर्यशूर का काल—

कला और सौन्दर्य के उपासक, रूप और ऐश्वर्य के प्रशंसक प्रवृत्तिपरक कवि कालिदास ने अपनी कृतियों में अपने जीवन पर कुछ प्रकाश नहीं डाला तो त्याग, तपस्या, करुणा और परोपकार के अमृत-रस की धारा बहाने वाले निवृत्तिपरक कवि आर्यशूर को अपने जीवन की कथा लिखने की क्या चिन्ता हो सकती थी? अतएव जातकमाला के लेखक आर्यशूर के काल-निर्धारण में अन्त:साक्ष्य का नितान्त अभाव है। कुछ बाह्य तथ्यों के आधार पर ही इसका समय निर्धारित किया जाता है। जातकमाला का चीनी भाषा में अनुवाद ९६० और ११२७ ई० के बीच हुआ। इत्सिंग के अनुसार सातवीं शती के अन्तिम भाग में भारतवर्ष में जातकमाला का व्यापक प्रचार था। अजन्ता के पत्थर की दीवारों पर जातकमाला के क्षान्तिवादी, मैत्रीबल, महाहंस, रुरु, शिवि, महाकपि, महिष आदि जातकों के दृश्य चित्रित हैं और दृश्य-परिचय के लिये उन जातकों से उपयुक्त श्लोक भी उद्धृत हुए हैं। श्लोकों के अभिलेख की लिपि छठी शती की है। इससे अनुमान होता है कि ५वीं शती तक जातकमाला की ख्याति हो चुकी थी। कहा जाता है कि आर्यशूर ने कर्मफल पर एक सूत्र लिखा था, जिसका चीनी अनुवाद ४३४ ई० में हुआ था। यदि इस सूत्र के लेखक आर्यशूर ही हैं तो ये अवश्य इस अनुवाद-काल से पहले हुए होंगे। जातकमाला की भाषा के अध्ययन के आधार पर नलिनाक्ष दत्त ने आर्यशूर को तृतीय अथवा चतुर्थ शती के आस-पास का माना है—"It is perhaps from the 3rd or 4th century A. D. that the highly learned Buddhist thinkers gave preference to Paninian Sanskrit and adopted that language in the composition of their works. To this category belonged writers like Asvaghosa, Nagarjuna, Aryadeo, Asanga, Vasubandhu, Santideo, Aryasura, Ksemendra as also several others."[1]

उपर्युक्त तथ्यों के आधार पर जातकमाला का समय ३५० ई० से ४०० ई० के लगभग माना जाता है।

आर्यशूर का व्यक्तित्व—

जातकमाला के रचयिता आर्यशूर गद्य-काव्य साहित्य के आदि लेखक के रूप में स्मृत किये जा सकते हैं, क्योंकि काव्य-जगत् में गद्य के द्वारा उपदेश की परम्परा का

---

1. Bodhi sattvabhami—Intr

श्रीगणेश इन्होंने ही किया। ये उन महान् बौद्ध विद्वानों में से हैं, जिन्होंने भगवान् बुद्ध के धर्मोपदेशों को पाणिनीय व्याकरण की अनुगामिनी शुद्ध संस्कृत भाषा के माध्यम से संसार के समक्ष रखने का स्तुत्य प्रयास किया। भगवान् बुद्ध के प्रति इनकी अटूट निष्ठा थी। रत्नत्रय—बुद्ध, धर्म और संघ के प्रति इनकी निश्चित आस्था थी। ये महायान सम्प्रदाय के प्रति अधिक आग्रहशील थे। ये साहित्य, दर्शन, अलंकार एवं छन्द:शास्त्र के अच्छे विद्वान् थे। जातकमाला में इन्होंने सत्ताइस प्रकार के छन्दों का प्रयोग किया है।

किसी भी कवि अथवा लेखक के स्वभाव की छाप उसकी रचना-शैली पर पड़ती ही है। प्राय: सौम्य वक्ता वैदर्भी का एवं उद्धत वक्ता गौडी रीति का अनुसरण करता है। आर्यशूर ने जातकमाला में पूर्ण रूप से वैदर्भी रीति का आश्रयण किया है। वे सदैव स्वाभाविक ढंग से ही किसी वस्तु का वर्णन करते हैं। अतएव वे सरल एवं सौम्य स्वभाव के व्यक्ति कहे जा सकते हैं। प्राणियों पर दया की भावना उनके हृदय में कूट-कूट कर भरी थी। तिब्बतीय बौद्ध-धर्म के प्रसिद्ध इतिहासकार तारानाथ का कथन है कि आर्यशूर ने एक बाघिन और उसके बच्चे को भूख से मरते देखकर उनके आगे अपना शरीर उत्सर्ग करना चाहा। प्रथमत: उन्हें भय हुआ, किन्तु बुद्ध के स्मरण से निर्भय होकर उन्होंने अपने रक्त से सत्तर श्लोकों की एक स्तुति लिखी। फिर अपने शरीर का रक्त पीने के लिये बाघिन और उसके बच्चे को दिया। रक्त पीने पर जब उनके भीतर कुछ शक्ति का संचार हुआ तब आचार्य ने अपना शरीर उनके आगे समर्पित कर दिया। अपने गुरु से सुने हुए व्याघ्री-जातक के बोधिसत्त्व के अलौकिक कृत्य का उन्होंने अनुसरण किया। जिस कवि और आचार्य ने हृदय की समस्त श्रद्धा और भक्ति भाव के साथ प्रतिभा-प्रसूत काव्य-कुसुमांजलियों से बोधिसत्त्व के दिव्य और अद्भुत कर्मों की पूजा की है, उसने यदि अवसर उपस्थित होने पर बोधिसत्त्व के आदर्शों के अनुकरण में अपना शरीर भी उत्सर्ग कर दिया हो तो इसमें कुछ आश्चर्य नहीं।

आर्यशूर की कृतियाँ—

निम्नलिखित ग्रन्थ आर्यशूर विरचित बताये जाते हैं—

१—जातकमाला

२—सुभाषितरत्नकरडक-कथा

३—पारमितासमास

४—प्रतिमोक्षसूत्र-पद्धति—केवल तिब्बती अनुवाद में उपलब्ध।[१]

५—बोधिसत्त्वजातकधर्मगण्डी—केवल तिब्बती अनुवाद में प्राप्य।[२]

६—सुपथनिर्देशपरिकथा—केवल तिब्बती अनुवाद में प्राप्य।[३]

१—टोहोकू सूची—४१०३

२—टोहोकू सूची=४१५७

३—टोहोकु सूची—४१७५

इनके अतिरिक्त कई अन्य ग्रन्थों का प्रणयन या कम से कम परिष्कार आर्यशूर ने किया है, कुछ विद्वानों की ऐसी धारणा है। स्वसम्पादित जातकमाला की भूमिका में डा० पी० एल० वैद्य लिखते हैं कि "दिव्यावदान का ३८वाँ अवदान मैत्रकन्यकावदान आर्यशूर की ही रचना है, यह मेरी निश्चित सी धारणा है; क्योंकि उसकी भाषा, शैली तथा उपक्रमोपसंहार की पदावली वैसा स्पष्टतया सूचित करती हैं।"[1] उनकी यह भी धारणा है कि उस ग्रन्थ का २२वाँ तथा ३२वाँ अवदान आर्यशूर के द्वारा रचित या परिष्कृत हैं।

सम्प्रति आर्यशूर के नाम से जो ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं, वे हैं—जातकमाला, सुभाषितरत्नकरण्डककथा एवं पारमितासमास। अन्य सभी अपने मूल रूप को समाप्त कर चुके हैं। अत: मैं यहाँ इन्हीं तीन ग्रन्थों के विषय में संक्षिप्त विवेचन करना उपयुक्त समझता हूँ। इनमें सर्वप्रथम "पारमितासमास" पर विचार प्रस्तुत किया जा रहा है।

पारमितासमास

इसके रचयिता आर्यशूर बतलाये जाते हैं। इसकी मूल प्रति नेपाल महाराज के पुस्तकालय में सुरक्षित है। इटली के प्रसिद्ध विद्वान् डॉ० तुचि ने इसकी प्रतिलिपि की थी, जिसे आधार मानकर उनकी शिष्या डॉ० ए० फेरारी (A. Ferrarı) ने इटली भाषा में अनुवाद के साथ पारमितासमास का एक संस्करण सन् १९४६ ई० में रोम से "एनाली लेटरेन्सी" (Annali Lateranse) नामक पत्रिका के X भाग में प्रकाशित किया है। इस ग्रन्थ में दानपारमिता, शीलपारमिता क्षन्तिपारमिता, वीर्यपारमिता, ध्यानपारमिता और प्रज्ञापारमिता नामक छ: समास या सर्ग हैं, जिनमें ३६४ श्लोक हैं। पारमिता अर्थात् नैतिक और आध्यात्मिक पूर्णता का जो आदर्श जातकमाला की कथाओं में पाया जाता है, वही इस पारमितासमास में भी प्रतिपादित हुआ है। इसकी भाषा भी जातकमाला की भाँति सरल है।

सुभाषितरत्नकरण्डककथा

यह सर्वप्रथम डॉ० ए० सी० बनर्जी द्वारा नेपाल में प्राप्त एकाकी पाण्डुलिपि से सम्पादित तथा १९५९ खृष्टाब्द में मिथिला संस्कृत शोध संस्थान, दरभंगा द्वारा बौद्ध-संस्कृत ग्रन्थावली (२१) के अन्तर्गत जातकमाला के साथ चतुर्थ परिशिष्ट रूप में प्रकाशित हुई है। यह सद्धर्म (भगवान् बुद्ध के उत्कृष्ट धर्म) को लोकप्रिय बनाने के उद्देश्य से लिखा गया संस्कृत ग्रन्थ है। जन-साधारण के मस्तिष्क में बौद्ध-धर्म के प्रति विश्वास उत्पन्न कराने के लिये भिक्षुओं के उपदेश-वाक्य के रूप में इसकी रचना की गयी थी। इसमें कुल अट्ठाईस अध्याय हैं, जो सबके सब पद्य में हैं। श्लोकों की कुल संख्या एक सौ नब्बे है, जिनमें निम्नलिखित कथायें हैं—

---

१. जातकमाला—प्रस्तावना—पृ० Xiii

१—पुण्यप्रोत्साहन-कथा	श्लोक १ से ७ तक
२—धर्मश्रवणप्रोत्साहनकथा	" ८ से १४ तक
३—दुर्लभमानुष्य-कथा	" १५ से २० तक
४—दान-कथा	" २१ से ३३ तक
५—पुण्य-कथा	" ३४ से ४५ तक
६—विम्ब-कथा	" ४६ से ५२ तक
७—स्नान-कथा	" ५३ से ५५ तक
८—कुंकुमादि-कथा	" ५६ से ५८ तक
९—छत्र-कथा	" ५९ से ६१ तक
१०—धात्वारोपण-कथा	" ६२ से ६४ तक
११—मण्डल-कथा	" ६५ से ६८ तक
१२—भोजन-कथा	" ६९ से ७२ तक
१३—पान-कथा	" ७३ से ७७ तक
१४—वस्त्र-कथा	" ७८ से ८० तक
१५—पुष्पादि-कथा	" ८१ से ८४ तक
१६—प्रणाम-कथा	" ८५ से ९० तक
१७—उज्ज्वालिकादान-कथा	" ९१ से ९४ तक
१८—प्रदीप-कथा	" ९५ से ९९ तक
१९—विहार-कथा	" १०० से १०३ तक
२०—शयनासनदान-कथा	" १०४ से १०६ तक
२१—क्षेत्र-कथा	" १०७ से ११३ तक
२२—विचित्र-कथा	" ११४ से १५७ तक
२३—शीलपारमिता-कथा	" १५८ से १६५ तक
२४—क्षान्तिपारमिता-कथा	" १६६ से १७५ तक
२५—वीर्यपारमिता- कथा	" १७६ से १८० तक
२६—ध्यान-पारमिता-कथा	" १८१ से १८४ तक
२७—प्रज्ञापारमिता-कथा	" १८५ से १८९ तक
२८—पारमितापरिकथा (समाप्ति)	" (१९०)

इनमें कुछ अध्याय लम्बे हैं तथा कुछ अत्यन्त छोटे। उदाहरणार्थ, विचित्र-कथा में कुल ४४ श्लोक हैं, पारमितापरिकथा में मात्र एक श्लोक है। अत एव अध्यायों में समानता नहीं है। ग्रन्थ के अन्त में छः पारमिताओं—दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान एवं प्रज्ञा का परस्पर सम्बन्ध एवं महत्त्व प्रतिपादित हुआ है। प्रत्येक पारमिता का यहाँ पृथक् निदर्शन हुआ है तथा जीवन में आध्यात्मिक उन्नति की प्राप्ति के लिये इसे आवश्यक बताया गया है। वास्तव में पारमिताओं के सिद्धान्त ने जन-मानस को पर्याप्त प्रभावित किया तथा बौद्ध-धर्म को लोकप्रिय बनाया। अन्य महायान ग्रन्थों की भाँति यह ग्रन्थ भी भगवान् बुद्ध के प्रणमन से प्रारम्भ होता है।

नेपाल के पुस्तकालय में प्राप्त इसकी एकमात्र हस्तलिपि के आधार पर इस ग्रन्थ के रचयिता के रूप में आर्यशूर का नाम लिया गया है। किन्तु चतुर्थ शताब्दी में हुए आर्यशूर बौद्ध-संस्कृत-काव्य के एक प्रख्यात लेखक थे। उन्होंने परिष्कृत काव्यशैली में अपनी रचना की है। उनकी रचना में कृत्रिमता की अपेक्षा कलात्मकता अधिक है। उनकी यह विलक्षणता उनकी एकमात्र प्रकाशित रूप में प्राप्य कृति जातकमाला से भली-भाँति परिपुष्ट होती है। आर्यशूर ने विशुद्ध संस्कृत-भाषा के लेखक के रूप में कवियों में ख्याति प्राप्त की थी। अभिनन्द लिखते हैं—

"सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिरः
तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते ॥"[1]

और इसके द्वारा विशुद्ध भाषा-शैली के लिये आर्यशूर की प्रशंसा करते हैं। अतः उपर्युक्त वचन के आलोक में जातकमाला के रचयिता आर्यशूर की ही रचना "सुभाषितरत्नकरण्डककथा" को भी मानना चिन्तनीय है; क्योंकि इसमें बहुत अपूर्णतायें पायी जाती हैं। इस रचना में न काव्यशक्ति का दर्शन होता है और न प्रेरणामूलक कल्पना का। इसमें व्याकरण की अनेक त्रुटियों तथा सदोष छन्दों की भरमार है। विषय की दृष्टि से भी इसमें कोई उन्नयनकारी बात नहीं है। उदाहरणार्थ, एक विभाग में भिक्षुओं को दान देने का विषय है, जिसमें सब तरह का दान उपदिष्ट है। अत एव "सुभाषितरत्नकरण्डककथा" का रचयिता या तो कोई अन्य व्यक्ति है अथवा आर्यशूर नाम का कोई परवर्त्ती लेखक।

हम लोग स्पष्टतया जानते हैं कि नागार्जुन नामधारी दो व्यक्ति दो विभिन्न कालों में हुए—एक माध्यमिक सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक दूसरे महान् तांत्रिक अध्यापक। दोनों नागार्जुन एक दूसरे से चार सौ वर्ष आगे-पीछे थे, किन्तु तिब्बतीय परम्परा में असावधानीवश दोनों एक समझ लिये गये। ऐसी ही घटना आर्यशूर के विषय में भी हुई है। संभवतः दो आर्यशूर हुए होंगे—एक जातकमाला के लेखक तथा दूसरे सुभाषितरत्नकरण्डककथा के। तिब्बतीय परम्परा में भ्रमवश दोनों आर्यशूर एक ही व्यक्ति के रूप में समझ लिये गये होंगे। अतएव चतुर्थ शताब्दी में हुए आर्यशूर की प्रामाणिक रचना एकमात्र जातकमाला है, यह मेरी धारणा है। इसी मत का प्रतिपादन डॉ० पी० एल० वैद्य एवं डॉ० ए० सी० बनर्जी[2] ने भी अपने ग्रंथ की भूमिका में किया है।

---

१. सुभाषितरत्नकोष, १६६८.
सदुक्तिकर्णामृत—५/२६/५

2. Jatakamala—ed. by Dr. P. L. Vaidya, P. 278 :—"There were very likely two individuals of the name of Aryasura. One was the author of the Jatakamala and the other was that of the Subhasi-taratnakarandaka-Katha. In Tibetan accounts, they two have probably been mistakenly taken as one person."

जातकमाला

इसमें भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों के दिव्य एवं अदभुत कार्यों की उपदेशपूर्ण लघुकथाओं के रूप में व्याख्यानों का रोचक संग्रह उपलब्ध है। बुद्ध ने एक जन्म के ही प्रयत्नों से बुद्धत्व नहीं पाया था; बल्कि उन्होंने असंख्य जन्मों तक बुद्धत्व-प्राप्ति के लिये भगीरथ प्रयत्न किये थे। उनके उन्हीं पूर्व-जन्मों की कहानियों की माला "जातकमाला" (Garland of birth stories) कहलाती है। इसे "बोधिसत्त्वावदानमाला" भी कहते हैं। कथाओं की सामग्री प्राय: पहले से ही प्राप्त थी। लगभग सारी की सारी कथायें पालि के जातक-ग्रंथ में मिलती हैं। पालि में कुल ५४७ जातक-कथायें प्राप्त हैं। बारह कथायें पालि चरियापिटक में भी मिलती हैं। कुछ जातक कथायें महावस्तु में भी मिलती हैं। जातकमाला में कुल चौंतीस जातक (अर्थात् भगवान बुद्ध के पूर्व जन्मों की कथायें) संगृहीत हैं। ग्रंथ का आरम्भ भगवान् बुद्ध तथा बोधिसत्त्वों की वन्दना से होता है। प्रत्येक जातक "तद्यथानुश्रूयते" (तब जैसी कि अनुश्रुति है) से आरम्भ होता है। इसमें संगृहीत जातक निम्नलिखित हैं—

१. व्याघ्री-जातक, २. शिवि-जातक, ३. कुल्माषपिण्डी-जातक, ४. श्रेष्ठि-जातक, ५. अविषह्यश्रेष्ठि-जातक, ६. शश-जातक, ७. अगस्त्य-जातक, ८. मैत्रीबल-जातक, ९. विश्वन्तर-जातक, १०. यज्ञ-जातक, ११. शक्र-जातक, १२. ब्राह्मण-जातक, १३. उन्मादयन्ती-जातक, १४. सुपारग-जातक, १५. मत्स्य-जातक, १६. वर्त्तकापोतक-जातक, १७. कुम्भ-जातक, १८. अपुत्र-जातक, १९. बिस-जातक, २०. श्रेष्ठि-जातक, २१. चुड्डबोधि-जातक, २२. हंस-जातक, २३. महाबोधि-जातक २४. महाकपि-जातक, २५. शरभ-जातक, २६. रुरु-जातक, २७. महाकपि-जातक, २८. क्षान्ति-जातक, २९. ब्रह्म-जातक, ३०. हस्ति-जातक, ३१. सुतसोम-जातक, ३२. अयोगृह-जातक, २३. महिष-जातक, ३४. शतपत्र-जातक।

इनकी कथावस्तु संक्षेप में इस प्रकार है :—

१—व्याघ्री-जातक

भगवान् बुद्ध पूर्वजन्मों में भी सभी प्राणियों से अकारण स्नेह करते थे। इस जातक में उनके नि:स्वार्थ स्नेह एवं लोकोपकार की भावना का प्रतिपादन मिलता है।

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व की अवस्था में दान, प्रियवचन, उपकार आदि सत्कर्मों के आचरण तथा दया की वृष्टि से संसार पर अनुग्रह कर रहे थे, तब एक बार स्वधर्मानुराग के कारण पवित्र शील वाले किसी उन्नत और महान ब्राह्मण कुल में उन्होंने जन्म लिया। यथासमय उनके जातक-कर्म आदि संस्कार सम्पन्न हुए। स्वभावत: मेधावी, अनुकूल माता-पिता, आचार्य आदि गुरुजनों की उत्तम सहायता से युक्त ज्ञानार्जन के लिये उत्सुक एवं आलस्यरहित होने के कारण

उन्होंने अल्प काल में ही अठारहों विद्याओं[1] एवं वंश-परम्परा के अनुरूप सकल कलाओं में आचार्य-पद प्राप्त कर लिया।

वे ब्राह्मणों के लिये वेद के समान, क्षत्रियों के लिये आदरणीय राजा के समान, प्रजाओं के लिये साक्षात् इन्द्र के समान और विद्यार्थियों के लिये अनुकूल व उपकारी पिता के समान थे।[2]

सौभाग्य के कारण शीघ्र ही उन्हें महान् सम्पत्ति, सत्कार और कीर्त्ति प्राप्त हुई। किन्तु धर्माभ्यास से पवित्र बुद्धि बोधिसत्त्व को उस लाभ से आनन्द नहीं हुआ और भोगों में असंख्य दोष देख कर उन्होंने गृहस्थी को रोग के समान छोड़ दिया तथा संन्यासी होकर एक वनगिरि को अलंकृत किया। वहाँ उन्होंने मैत्री से परिपूर्ण शान्ति रस की धारा बहाई, जिससे हिंसक पशु भी आपस के वैर-भाव को छोड़कर तपस्वियों की भाँति विचरने लगे।

पवित्र आचरण, इन्द्रिय-संयम, संतोष और करुणा के कारण वे अपरिचित जनता के भी उतने ही प्रिय हो गये जितना प्रिय कि उन्हें समस्त जीवलोक था।

उनके प्रव्रजित होने का समाचार सुनकर अनेकों लोग स्वजन, परिवार और सम्पत्ति को छोड़कर उनके शिष्य बन गये तथा पवित्र शील, इन्द्रिय-संयम, सतत जागरूकता, एकान्त सेवन, मैत्री-भावना आदि से युक्त मानसिक समाधि के विषय में उपदेश ग्रहण करने लगे। धीरे-धीरे जब उनकी शिष्यमण्डली बहुत बढ़ गयी और संसार में कल्याण-मार्ग स्थापित हो गया तब एक बार वह महात्मा इसी जन्म में सुखपूर्वक विहार करने के लिये अपने तत्कालीन शिष्य अजित के साथ योगानुकूल पर्वत-कन्दराओं एवं निकुंजों में घूमने गये। उस समय उन्होंने पर्वत की कन्दरा में प्रसव की वेदना से पीड़ित एक युवती बाघिन को देखा। उसकी दशा इतनी खराब हो गयी थी कि दूध की प्यास से समीप में आये हुए तथा मातृविश्वास से निर्भय अपने नन्हें बच्चों को भी वह अपने आहार के तौर पर निहार रही थी। सच है "भूखा क्या नहीं करता"[3]। बाघिन की उस दशा को देख धीर होने पर भी बोधिसत्त्व करुणा के वशीभूत हो गये और दुःख से ऐसे काँपने लगे जैसे भूकम्प से

---

१. ४ वेद (ऋक्, साम, यजुः, अथर्व), ६ वेदाङ्ग (छन्दः, कल्प, ज्योतिष्, निरुक्त, शिक्षा, व्याकरण), ४ उपवेद (आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, शस्त्र-शास्त्र या स्थापत्य-शास्त्र) पुराण, मीमांसा, न्याय तथा धर्मशास्त्र।

— M. W. P. 963

२. "स ब्रह्मवद् ब्रह्मविदां बभूव राजेव राज्ञां बहुमानपात्रम्।
साक्षात् सहस्राक्ष इव प्रजानां ज्ञानार्थिनामर्थचरः पितेव॥" जातक० १/५

३. "बुभुक्षितः किं न करोति पापम्।"

—पञ्चतंत्र–४–१६

गिरिराज काँप रहा हो। वस्तुतः "दयालु व्यक्ति अपने भारी दुःखों में भी धैर्य धारण करते हैं, किन्तु दूसरों के हल्के दुःख से भी विचलित हो जाते हैं।"[१]

तुरंत उन्होंने शिष्य से कहा कि जब तक भूख की पीड़ा से व्याकुल यह बाघिन अपने सद्यः प्रसूत बच्चों की और अपनी भी हत्या नहीं कर लेती है, तब तक शीघ्र ही कहीं से भी इसकी क्षुधाशान्ति के लिये कुछ लाओ। मैं भी तब तक इसे इस दुस्साहस से रोकने की चेष्टा करता हूँ। "बहुत अच्छा" कहकर शिष्य वहाँ से चला गया और उसके आहार की खोज में लग गया। तब बोधिसत्त्व बहाने से उस शिष्य को दूर हटा कर सोचने लगे—

इस सम्पूर्ण शरीर के रहते मैं किस दूसरे प्राणी का मांस खोजूँगा? क्योंकि उसका मिलना भी निश्चित नहीं है और मेरा यह कार्य भी बिगड़ सकता है।[२] साथ ही।

"अनात्म, असार, विनाशवान्, दुःखमय, कृतघ्न और सदा अपवित्र रहने वाले इस शरीर के दूसरे के उपयोग में आने पर बुद्धिमान प्रसन्न ही होते हैं।"[३]

अतः बिना किसी सोच-विचार के शीघ्र ही मैं पहाड़ की खड़ी चोटी से गिरकर प्राण छोड़ूँगा तथा इस क्षुद्र शरीर के द्वारा पुत्र-वध के पाप से बाघिन को बचाऊँगा तथा इस कार्य के द्वारा लोकोपकार के लिये उत्सुक रहनेवालों का मार्ग प्रशस्त करूँगा, त्यागी पुरुषों को आनन्दित करूँगा तथा बुद्ध के भक्तों को प्रसन्न करूँगा, स्वार्थी, द्वेषी और लोभी मनुष्यों को लज्जित करूँगा तथा निकट भविष्य में सम्यक् बोधि प्राप्त करूँगा।

उनके इस परोपकार भावना एवं त्याग का कारण स्पर्धा या यश की अभिलाषा नहीं है और न स्वर्ग-प्राप्ति या राज्य-प्राप्ति ही है। जीवलोक के कष्टों का निवारण करना ही इनका लक्ष्य है।[४] इसी कारण परोपकार के लिये प्राण छोड़ने

१—महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन कम्पंते यत्तदद्भुतम् ॥—जातक०—१/१७

२—संविद्यमाने सकले शरीरे
कस्मात्परस्मान्मृगयामि मांसम्।
यादृच्छिकी तस्य हि लाभसंपत्
कार्यात्ययः स्याच्च तथा ममायम् ॥—जातक० १/२१

३—निरात्मके भेदिनि सारहीने
दुःखे कृतघ्ने सतताशुचौ च।
देहे परस्मानुपयुज्यमाने
न प्रीतिमान्यो न विचक्षणः सः ॥—जातक० १/२२

४—'न स्पर्धया नैव यशोऽभिलाषा—
न्नस्वर्गलाभान्न च राज्यहेतोः।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं
ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धेः ॥"—जातक० १/३०

में आनन्दित होते हुए उन्होंने शरीरोत्सर्ग कर दिया। तब बोधिसत्त्व के शरीर के गिरने का शब्द सुनकर वह बाघिन क्रोध एवं कुतूहल से पुत्र-वध के उद्योग से विरत होकर इधर-उधर देखने लगी तथा बोधिसत्त्व के निष्प्राण शरीर को देखते ही तेजी से समीप पहुँच कर उसे खाने लगी।

तब उनका शिष्य मांस पाये बिना ही लौट आया तथा बोधिसत्त्व के निष्प्राण शरीर को युवती बाघिन के द्वारा खाये जाते हुए देखकर महान् विस्मय से भर गया। उनके सद्‌गुणों के प्रति आदर-भाव होने से अपना श्रद्धोद्‌गार इस प्रकार प्रकट किया—

"अहो, यह महातमा दुःख से पीड़ित प्राणियों के प्रति कितने दयालु और अपने सुख की ओर से कितने लापरवाह थे। इन्होंने सज्जनों की मर्यादा को पराकष्ठा पर पहुँचा दिया और असज्जनों की कीर्त्ति को मिट्‌टी में मिला दिया।[1]

सब प्राणियों को शरण देनेवाले कारुणिक अत्यन्त धैर्यशाली महाभाग्यवान् लोकोपकारी महापुरुष बोधिसत्त्व को सब प्रकार से प्रणाम है।

तब उसने यह बात अपने सहपाठियों से निवेदन की। इस कार्य से विस्मित होकर उनके शिष्यों, गन्धर्वों, यक्षों, नागों और देवाधिपतियों ने उनकी अस्थि-रूपी रत्नराशि से युक्त उस भूमि को मालाओं, वस्त्रों, आभरणों और चन्दनचूर्ण की वृष्टि से पाट दिया।

कथा के अन्त में कहा गया है कि भगवान् बुद्ध पूर्व जन्मों में भी सभी प्राणियों से अकारण ही अत्यन्त स्नेह किया करते थे और उनके साथ एकात्म भाव को प्राप्त कर चुके थे। इसलिये हमें उन भगवान् में परम श्रद्धा होनी चाहिये तथा वैसा होने पर अत्यन्त आनन्दित होना चाहिये। इस प्रकार हमारी श्रद्धा स्थिर हो जायगी। यह भी कहा गया है कि हमें आदरपूर्वक धर्म-श्रवण करना चाहिये तथा करुणा रखनी चाहिये; क्योंकि करुणा के ही कारण उत्तम स्वभाव का निर्माण होता हैं और दूसरों पर अनुग्रह करने की प्रवृत्ति होती है।

इस प्रकार यह जातक समाप्त होता हैं। पालि के जातकों में यह जातक नहीं मिलता है।

२—शिवि-जातक

इस जातक में बोधिसत्त्व के असाधारण दान का वर्णन है।

एक बार भगवान् बुद्ध बोधिसत्त्वावस्था में शिवियों के राजा हुए। बाल्य-

---

१--अहो दयास्य व्यसनातुरे जने
स्वसौख्यनैःसङ्‌ग्यमहो महात्मनः।
अहो प्रकर्षं गमिता स्थितिः सता---
महो परेषां मृदिता यशः श्रियः॥"--जातक० १/३४

काल से ही वे बड़े बूढ़ों की सेवा में लगे रहते थे तथा अत्यन्त विनयी थे। स्वभाव से ही मेधावी उन्होंने अल्पकाल में ही अनेक विद्याएँ सीख लीं। उत्साह, मंत्रणा और प्रभुता की राजोचित शक्तियों तथा दैवी सम्पत्ति से युक्त होकर वे अपनी सन्तान के समान प्रजा का पालन करते थे। दान में उनकी अत्यधिक रुचि थी। अपनी उदारता, करुणा और ऐश्वर्य के कारण उत्तम राजा वे इच्छित वस्तु की प्राप्ति के आनन्द से याचकों के खिलते हुए चेहरों को देखकर आनन्दित होते थे।[१]

उस दानप्रिय राजा ने नगर के चारों ओर धन-धान्यादि सभी उपकरणों से भरपूर दानशालायें बनवाईं तथा अपने माहात्म्य के अनुरूप एवं अपने अभिप्राय के अनुसार उचित समय पर याचकों को यथाभिलषित दान देने लगे। राजा की इस दानशीलता को सुनकर चारों ओर के देशों के लोग विस्मय और आनन्द के साथ उस देश में पहुँचने लगे। बटोहियों की वेष-भूषा में चारों ओर से आये झुण्ड के झुण्ड उन याचकों को प्रवास से लौटे हुए बन्धुओं की तरह देख कर राजा की आँखें आनन्द से विकसित हो गयीं। प्रिय समाचार के समान याचना के शब्द सुनकर उन्हें आनन्द हुआ और दान देकर याचकों से भी अधिक सन्तोष हुआ।[२]

एक बार दान-शालाओं में घूमते हुए उन्होंने देखा कि याचकों की इच्छायें तृप्त होने से उनकी संख्या कम हो गयी है। अत: दान-धर्म में रुकावट पड़ने से राजा को संतोष नहीं हुआ। उन्होंने सोचा—

"वे सज्जन अत्यन्त भाग्यवान हैं, जिनसे याचकगण विश्वास और निर्भयता-पूर्वक शरीर के अंगों की भी याचना करते हैं। किन्तु मेरे फटकार के कठोर बचनों से मानो भयभीत होकर वे मुझसे केवल धन माँगने का ही साहस करते हैं।"[३]

अंगों से भी आसक्ति हटाकर दान देने के सम्बन्ध में राजा के उस उदार विचार को जानकर पृथ्वी काँप उठी।

१—उदारभावात्करुणागुणाच्च
वित्ताधिपत्याच्च स राजवर्यः।
रेमेऽर्थिनामीप्सितसिद्धिहर्षा-
दक्लिष्टशोभानि मुखानि पश्यन् ॥—जातक० २/३०

२—विप्रोषितस्येव सुहृज्जनस्य
संदर्शनात्प्रीतिविजृम्भिताक्षः।
याच्ञां प्रियाख्यानमिवाभ्यनन्द-
द्दत्वा च तुष्ट्यार्थिजनं जिगाय ॥—जातक० २/५

३—"अतिसभाग्यास्ते सत्पुरुषविशेषा ये विस्रम्भनिर्यन्त्रणप्रणयमर्थिभिः स्वगात्राण्यपि याच्यन्ते। मम पुन: प्रत्याख्यानरुक्षाक्षरवचनसंतर्जित इवार्थिजनो धनमात्रकेऽप्रगल्भप्रणयः संवृत्त इति ॥"—जातक० २/७ के बाद का गद्य।

भूकम्प के कारण पर्वतश्रेष्ठ सुमेरु के काँपने पर देवेन्द्र शक्र सोचने लगे—"यह क्या हुआ।" तब राजा के उस अलौकिक विचार को भूकम्प का कारण जानकर उन्होंने विस्मित हृदय से सोचा—क्या दान देने के हर्षातिरेक से उदात्त चित्त होकर राजा ने यह विचार किया है अथवा दान देने के लिये कटिबद्ध होकर उन्होंने अपने अंगदान करने का दृढ़ निश्चय किया है ?[१]

अतः मैं उनकी परीक्षा करूँगा। ऐसा निश्चय कर देवाधिपति शक्र एक वृद्ध एवं अंधे ब्राह्मण का रूप बनाकर उस समय राजा के समक्ष प्रकट हुए, जब वे अमात्यसहित दानशाला में बैठकर याचकों को यथाभिलषित दान द्वारा तृप्त कर रहे थे। राजा ने अपनी दयार्द्र, मैत्रीपूर्ण धीर, प्रसन्न और सौम्य दृष्टि से उनका स्वागत किया। आगमन का कारण पूछे जाने पर उन्होंने राजा को आशीर्वाद देते हुए कहा :—

"हे राजेन्द्र, दूर देश से आया हूँ, बूढ़ा और अन्धा हूँ, मैं आपका एक नेत्र माँगता हूँ। हे कमलनयन, हे राजेन्द्र, एक नेत्र से भी लोक-यात्रा की जा सकती है।"[२] तब अंगदान की अपनी अभिलाषा को पूर्ण होने का उचित अवसर पा राजा परम प्रसन्न होकर बोले—

"जिस मनोरथ को लेकर, हे ब्राह्मण आप यहाँ आये हैं, उसे मैं पूरा करता हूँ। मेरी एक आँख चाहनेवाले आपको मैं अपनी दोनों आँखें देता हूँ।"[३]

राजा के नेत्रदान के निश्चय को जानकर घबड़ाहट और दुःख से व्याकुल उनके विश्वस्त अमात्यों ने अनेक प्रकार से उन्हें समझाया कि आप धन-सम्पत्ति एवं सकल सुख-सामग्री द्वारा इस दरिद्र ब्राह्मण को तृप्त करें, किन्तु अपना नेत्र देकर सुख में पली हुई प्रजा को शोकाग्नि से न जलायें।[४]

१—"दानातिहर्षोद्धतमानसेन
वितर्कितं किं स्विदिदं नृपेण।
आबद्धदानव्यवसायकक्ष्यां
स्वगात्रदानस्थिरनिश्चयेन ॥—जातक० २/९

२—दूरादपश्यन्स्थविरोऽभ्युपेतस्-
त्वच्चक्षुषोऽर्थी क्षितिपप्रधान।
एकेक्षणेनापि हि पङ्कजाक्ष
गम्येत लोकाधिप लोकयात्रा ॥—जातक० २/१०

३—येनाभ्युपेतोऽसि मनोरथेन तमेष ते ब्राह्मण पूरयामि।
आकांक्षमाणाय मदेकमक्षि ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहंते ॥"—जातक० २/१३

४—"धनानि लक्ष्मीप्रतिबोधनानि
श्रीमन्ति रत्नानि पयस्विनीर्गाः।
रथान् विनीतांश्च युजः प्रयच्छ
मदोर्जितश्रीललितान् द्विपान्वा ॥"

किन्तु दृढ़ निश्चयी उस राजा ने अनुनयपूर्वक मधुरवाणी में अमात्यों के तर्कों का खण्डन करते हुए कहा—

"जो चीज माँगी जाय वही देनी चाहिये। अनचाही वस्तु देने से प्रसन्नता नहीं होती है। बाढ़ में बहते हुए को पानी का क्या प्रयोजन? अत: मैं माँगी हुई वस्तु ही दूँगा।[1] तब राजा के अत्यन्त विश्वस्त तथा प्रेमी प्रधान-मंत्री ने उन्हें समझाते हुए कहा कि क्या लाभ देखकर आप शक्र की समृद्धि से भी स्पर्धा करने वाली अपनी राज्य-लक्ष्मी का अतिक्रमण कर अपना नेत्र-दान करना चाहते हैं।

इस पर राजा ने कहा—हे अमात्य, "मेरा यह प्रयत्न सम्पूर्ण पृथ्वी का आधिपत्य, स्वर्ग, अपवर्ग या कीर्त्ति प्राप्त करने के लिये नहीं, किन्तु लोकरक्षा के लिये है। इसलिए मैं चाहता हूँ कि याचना करने में इन्हें जो कष्ट हुआ है वह व्यर्थ न हो।"[2] अनन्तर नीलकमल की पंखुड़ी के समान कान्तिमान नेत्र को राजा ने वैद्य के बताये तरीके से धीरे-धीरे अखण्डित ही उखाड़ कर ब्राह्मण को दे दिया और इन्द्र के प्रभाव से उसे उस नेत्रयाची ब्राह्मण के नेत्र-स्थान में विकसित तथा शोभित देख आनन्द से गद्-गद् हो अपना दूसरा नेत्र भी उसे दे दिया।

उनके नेत्रदान से समस्त प्रजाओं को तथा अमात्यों को तो हार्दिक पीड़ा हुई किन्तु राजा को परम प्रसन्नता। विस्मित-हृदय शक्र उनके असाधारण त्याग से मन ही मन प्रसन्न हो उनके नेत्र-क्लेश दूर करने के विषय में सोचने लगे। क्रम से राजा की आँखों का घाव भर गया। एक दिन वे एकान्त सेवन की इच्छा से उद्यान सरोवर के तट पर शीतल मृदु सुगंधित सुखदायक हवा में पर्यङ्कआसन से बैठे हुए थे। वहाँ प्रकट होकर देवेन्द्र शक्र ने कहा—"हे राजर्षि, वर माँगिये। आप जो कुछ चाहते हैं, वह कहिये।"[3] किन्तु याचना के कृपण मार्ग पर चलने में अनभ्यस्त उस

समुच्चरन्नूपुरनिस्वनानि
शरत्पयोदाभ्यधिकद्युतीनि।
गृहाणि सर्वर्तुसुखानि देहि
मा दा: स्वचक्षुर्जगदेकचक्षु:॥—जातक० २/१७-१८

१—"यदेव याच्येत तदेव दद्यान्—
नानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम्।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयै:
दास्याम्यत: प्रार्थितमर्थमस्मै॥"—जातक० २/२१

२—"नायं यत्न: सार्वभौमत्वमाप्तुं
नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्त्तिम्।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे
याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघ:॥—जातक० २/२८

३—"वरं वृणीष्व राजर्षे यदिच्छसि तदुच्यताम्॥"—जातक० २/३२

महादानी राजा ने अभिमान के साथ कहा—मनोरथपूर्ण होने से प्रसन्न याचकों के मुख को देखने में असमर्थ मुझे अब मरण ही प्रिय है।

इस पर शक्र ने पूछा—याचकों के कारण ही आप इस दशा में कष्ट पा रहे हैं। फिर भी आपका मन क्यों उन्हीं में लगा हुआ है ?

तब राजा ने कहा—अच्छा, हे देवेन्द्र सुनिये—

"पहले और अब भी यदि याचकों की याचना के वचन मुझे आशीर्वाद की तरह प्रिय लगे हैं तो मेरे एक नेत्र का उदय हो॥"[1]

यह कहते ही राजा के सत्य-बल और पुण्य-प्रताप से नीलकमल की पंखुड़ी के समान एक नेत्र प्रकट हो गया। उस प्रसन्न राजा ने शक्र से पुनः कहा—

"एक नेत्र माँगने वाले को खुशी से दोनों नेत्र देकर यदि मैं आनन्दोल्लास में तल्लीन हो गया तो मेरा दूसरा नेत्र भी उत्पन्न हो।"[2]

ऐसा कहते ही राजा का द्वितीय नेत्र भी प्रकट हो गया। उस समय सर्वत्र आनन्द की लहरें फैल गयीं। सबों ने प्रसन्न होकर राजा के लोकोत्तर कर्म की प्रशंसा में शुभ वचन कहे। "साधु-साधु" कहकर इन्द्र ने भी उनकी प्रशंसा की और यह वरदान दिया कि "चारों ओर सौ योजन तक, पहाड़ों के पार भी देखने की अप्रतिहत शक्ति आपके इन नयनों की होगी।"[3] अनन्तर वे वहीं अन्तर्धान हो गये।

राजा अपने नगर में पहुँचे और स्वागत के लिये आये हुए अमात्यों, ब्राह्मणों, वृद्धों, नगरनिवासियों एवं ग्रामवासियों की सभा में बैठकर स्वानुभूत श्रेयस्कर धर्म का उपदेश किया कि—

विनय और जीवदया से उत्पन्न होने वाले दान से बढ़कर अभ्युदय का अन्य उपाय नहीं है। मैंने मानुषचक्षु देकर इहलोक में ही अलौकिक दिव्य चक्षु प्राप्त

१—"तदैव चैर्तहि च याचकानां
वचांसि याच्ञानियताक्षराणि।
आशीर्मयाणीव मम प्रियाणि
यथा तथोदेतु ममैकमक्षि॥"—जातक० २/३६

२—"यश्चापि मां चक्षुरयाचतैकं
तस्मै मुदा द्वे नयने प्रदाय।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथासं
द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु॥"—जातक० २/३७

३—"समन्ताद्योजनशतं शैलैरपि तिरस्कृतम्।
द्रष्टुमव्याहता शक्तिर्भविष्यत्यनयोश्च ते॥"
—जातक० २/४५

किया है।[1] अत एव हे शिवियो, दान और उपभोग द्वारा अपनी सम्पत्ति को सफल करो।

इस प्रकार के उपदेशों के साथ कथा का अन्त होता है।

इस जातक के प्रारंभ तथा अन्त में कहा गया है कि—"शत-शत दुष्कर कार्यों द्वारा उन भगवान् ने हमारे लिये जिस सद्धर्म को उपस्थित किया, उसे हमें श्रद्धापूर्वक सुनना चाहिये।[2]

इस कहानी से यह शिक्षा भी मिलती है कि आदरपूर्वक संचित पुण्य इहलोक में अपनी शक्ति और कीर्ति के सुन्दर फूल प्रकट करते हैं।[3]

३—कुल्माषपिण्डी-जातक

इस जातक में प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिये गये दान के माहात्म्य का वर्णन है।

कथारंभ से पहले ही कहा जाता है कि "प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिया गया दान महाफलदायक होने के कारण थोड़ा नही कहा जा सकता।"[4] तब जैसी कि अनुश्रुति है—

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे तब एक बार कोशल देश के राजा हुए। उत्साह, मंत्रणा, प्रभुतादि उत्कृष्ट राजोचित गुणों से युक्त तथा दैवी सम्पत्तिवान् वे स्थिर राज्यलक्ष्मी के रहने पर भी धार्मिक होने के कारण दूसरों को उत्पीड़ित नहीं करते थे। एक समय उन्होंने अपने अन्तिम पूर्व जन्म का स्मरण किया, जिससे उनको संवेग हो गया और तब उन्होंने संन्यासियों, ब्राह्मणों, दीन-दुखियों तथा याचकों को खूब दान दिया। सदा शील-संबर का पालन किया और पर्व के दिनों में उपवास का नियम ग्रहण किया। निरन्तर अपनी सभा एवं अन्तःपुर में लोगों

१—"परानुकम्पाविनयाभिजाता-
द्दानात्परः कोऽभ्युदयाभ्युपायः।
यन्मानुषं चक्षुरिहैव दत्वा
प्राप्तं मयाऽमानुषदिव्यचक्षुः॥"—जातक० २/४८

२—"दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सदधर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः।"
—जातक० २/५० के बाद का गद्य

३—सत्कृत्योपचितानि पुण्यानीहैव पुष्पमात्रमात्मप्रभावस्य कीर्तिसंततिमनोहरं प्रदर्शयन्तीति।
—जातक० २/५० के बाद का गद्य।

४—"चित्तप्रसादोदगतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात्।"
—जातक० ३/१ के पहले का गद्य

महादानी राजा ने अभिमान के साथ कहा—मनोरथपूर्ण होने से प्रसन्न याचकों के मुख को देखने में असमर्थ मुझे अब मरण ही प्रिय है।

इस पर शक्र ने पूछा—याचकों के कारण ही आप इस दशा में कष्ट पा रहे हैं। फिर भी आपका मन क्यों उन्हीं में लगा हुआ है?

तब राजा ने कहा—अच्छा, हे देवेन्द्र सुनिये—

"पहले और अब भी यदि याचकों की याचना के वचन मुझे आशीर्वाद की तरह प्रिय लगे हैं तो मेरे एक नेत्र का उदय हो॥[1]

यह कहते ही राजा के सत्य-बल और पुण्य-प्रताप से नीलकमल की पंखुड़ी के समान एक नेत्र प्रकट हो गया। उस प्रसन्न राजा ने शक्र से पुनः कहा—

"एक नेत्र माँगने वाले को खुशी से दोनों नेत्र देकर यदि मैं आनन्दोल्लास में तल्लीन हो गया तो मेरा दूसरा नेत्र भी उत्पन्न हो।"[2]

ऐसा कहते ही राजा का द्वितीय नेत्र भी प्रकट हो गया। उस समय सर्वत्र आनन्द की लहरें फैल गयीं। सबों ने प्रसन्न होकर राजा के लोकोत्तर कर्म की प्रशंसा में शुभ वचन कहे। "साधु-साधु" कहकर इन्द्र ने भी उनकी प्रशंसा की और यह वरदान दिया कि "चारों ओर सौ योजन तक, पहाड़ों के पार भी देखने की अप्रतिहत शक्ति आपके इन नयनों की होगी।"[3] अनन्तर वे वहीं अन्तर्धान हो गये।

राजा अपने नगर में पहुँचे और स्वागत के लिये आये हुए अमात्यों, ब्राह्मणों, वृद्धों, नगरनिवासियों एवं ग्रामवासियों की सभा में बैठकर स्वानुभूत श्रेयस्कर धर्म का उपदेश किया कि—

विनय और जीवदया से उत्पन्न होने वाले दान से बढ़कर अभ्युदय का अन्य उपाय नहीं है। मैंने मानुषचक्षु देकर इहलोक में ही अलौकिक दिव्य चक्षु प्राप्त

१—"तदैव चैर्त्तार्ह च याचकानां
वचांसि याच्ञानियताक्षराणि।
आशीर्मयाणीव मम प्रियाणि
यथा तथोदेतु ममैकमक्षि॥"—जातक० २/३६

२—"यश्चापि मां चक्षुरयाचतैकं
तस्मै मुदा द्वे नयने प्रदाय।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथासं
द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु॥"—जातक० २/३७

३—"समन्ताद्योजनशतं शैलैरपि तिरस्कृतम्।
द्रष्टुमव्याहता शक्तिर्भविष्यत्यनयोश्च ते॥"
—जातक० २/४५

किया है।[1] अत एव हे शिवियो, दान और उपभोग द्वारा अपनी सम्पत्ति को सफल करो।

इस प्रकार के उपदेशों के साथ कथा का अन्त होता है।

इस जातक के प्रारंभ तथा अन्त में कहा गया है कि—"शत-शत दुष्कर कार्यों द्वारा उन भगवान् ने हमारे लिये जिस सद्धर्म को उपस्थित किया, उसे हमें श्रद्धा-पूर्वक सुनना चाहिये।[2]

इस कहानी से यह शिक्षा भी मिलती है कि आदरपूर्वक संचित पुण्य इहलोक में अपनी शक्ति और कीर्ति के सुन्दर फूल प्रकट करते हैं।[3]

३—कुल्माषपिण्डी-जातक

इस जातक में प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिये गये दान के माहात्म्य का वर्णन है।

कथारंभ से पहले ही कहा जाता है कि "प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिया गया दान महाफलदायक होने के कारण थोड़ा नही कहा जा सकता।"[4] तब जैसी कि अनुश्रुति है—

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे तब एक बार कोशल देश के राजा हुए। उत्साह, मंत्रणा, प्रभुतादि उत्कृष्ट राजोचित गुणों से युक्त तथा दैवी सम्पत्तिवान् वे स्थिर राज्यलक्ष्मी के रहने पर भी धार्मिक होने के कारण दूसरों को उत्पीड़ित नहीं करते थे। एक समय उन्होंने अपने अन्तिम पूर्व जन्म का स्मरण किया, जिससे उनको संवेग हो गया और तब उन्होंने संन्यासियों, ब्राह्मणों, दीन-दुखियों तथा याचकों को खूब दान दिया। सदा शील-संबर का पालन किया और पर्व के दिनों में उपवास का नियम ग्रहण किया। निरन्तर अपनी सभा एवं अन्तःपुर में लोगों

१—"परानुकम्पाविनयाभिजाता-
द्दानात्पर: कोऽभ्युदयाभ्युपाय: ।
यन्मानुषं चक्षुरिहैव दत्त्वा
प्राप्तं मयाऽमानुषदिव्यचक्षु: ।।"—जातक० २/४८

२—"दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सदधर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्य: ।"
—जातक० २/५० के बाद का गद्य

३—सत्कृत्योपचितानि पुण्यानीहैव पुष्पमात्रमात्मप्रभावस्य कीर्तिसंततिमनोहरं प्रदर्शयन्तीति ।
— जातक० २/५० के बाद का गद्य।

४—"चित्तप्रसादोदगतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात् ।"
—जातक० ३/१ के पहले का गद्य

तब प्रसन्न और विस्मित सभासदों को राजा ने दान-धर्म के विषय में अनेक प्रकार से उपदेश दिया। दान-सदा साथ रहने वाली महानिधि है, चोर आदि (चोर, राजा, अग्नि, जल) की पहुँच से बाहर है; मानसिक कृपणता-लोभ-द्वेषरूपी मल को धोनेवाला है; संसार-यात्रा की थकावट को दूर करनेवाला सुखदायक सवारी है। अनेक प्रकार के सुख पहुँचाने के कारण दान आनन्ददायक आत्यिन्तिक सन्मित्र है।[1]

दान के द्वारा मनुष्य जो चाहे प्राप्त कर सकता है। दान देना सम्पत्ति का सार ग्रहण करना है। यह ऐश्वर्य का आदि करण है, श्रीमानों की सज्जनता है, सुन्दर-कर्म है, अल्पज्ञों द्वारा किया गया तुच्छ दान भी सुन्दर दान है।[2]

अन्य जातकों की तरह इसमें भी अन्त में शिक्षात्मक वाक्य के रूप में कहा गया है कि प्रसन्नतापूर्वक सत्पात्र को दिया गया दान महाफलदायक होने के कारण थोड़ा नहीं कहा जा सकता।

४—श्रेष्ठि-जातक

इस जातक में बोधिसत्त्व की दानवीरता के प्रदर्शन द्वारा दान के माहात्म्य को बतलाया गया है। आरम्भ में ही कहा गया है कि अपनी विपत्ति की उपेक्षा करके भी सत्पुरुष दान देने की इच्छा करते हैं तब जो मनुष्य स्वस्थ है वह क्यों नहीं दान देगा?[3] तब जैसी कि अनुश्रुति है—

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे तो एक बार किसी उत्तम सेठ-कुल में उत्पन्न हुए। अपने सौभाग्य और सत्प्रयत्न से प्रचुर सम्पत्ति का अर्जन कर वे उदार दानवीर बन गये। शीघ्र ही उनकी दानवीरता का यश दशों दिशाओं में व्याप्त हो गया और झुण्ड के झुण्ड याचक उनके यहाँ आने लगे।

१—दानं नाम महानिधानमनुगं चोराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम्॥
—जातक० ३/२१

२—सारादानं दानमाहुर्धनाना—
मैश्वर्याणां दानमाहुर्निदानम्।
दानं श्रीमत्सज्जनत्वावदानं
बाल्यप्रज्ञैः पांसुदानं सुदानम्॥
—जातक० ३/२३

३—अत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः। केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात्।
—जातक० ४/१ के पहले का गद्य।

एक बार उनके भोजन-काल में भोजन सामग्री परोसी जाने पर उनकी पुण्य-राशि बढ़ाने की इच्छा से एक धीर, शान्त एवं ज्ञानी भदन्त भिक्षु हाथ में भिक्षापात्र लेकर द्वार के समीप उपस्थित हुए। तब पापी मार ने बोधिसत्त्व की उदारता को नहीं सह सकने के कारण विघ्न खड़ा करने के लिये उन भदन्त तथा द्वार-देहली के बीच अत्यन्त गहरा एवं भयानक नरक बनाया, जिसका भीतरी भाग चंचल ज्वालाओं से विकराल तथा छटपटाते हुए सैकड़ों लोगों से भरा हुआ था।

"भद्रे, स्वयं जाकर आर्य को पर्याप्त भिक्षा दो।"[1] बोधिसत्त्व का ऐसा आदेश पाकर उनकी पत्नी उत्तम भोजन सामग्री लेकर उस भिक्षु की ओर चली। द्वार के समीप उस भयानक नरक को देख भयभीत होकर लौट आई तथा अवरुद्ध कण्ठ से किसी-किसी प्रकार उसने वह वृत्तान्त अपने पतिदेव से कह सुनाया। अनन्तर उस दानवीर बोधिसत्त्व ने स्वयं उत्तम भोजन सामग्री लेकर द्वार के समीप पहुँच उस अत्यन्त भीषण नरक को देखा। तब उस पापी मार ने घर की दीवार से निकल कर अपनी दिव्य एवं अद्भुत आकृति दिखलाते हुए अन्तरिक्ष में खड़े होकर हितैषी व्यक्ति के समान कहा—हे गृहपति, यह महारौरव नामक नरक है। दान के द्वारा धन का नाश करनेवाले हजारों वर्ष तक इसमें निवास करते हैं। त्रिवर्ग-साधन के मूल कारण अर्थ का दान द्वारा नाश कर तूने पाप किया है; इसलिये तुझे खाने के लिये यह नरकान्तक मुख आया हुआ है। अत एव दान की ओर से अपने मन को अच्छी तरह रोक ले, जिससे तुम्हारा अभी पतन न होगा।

मेरे दान में विघ्न खड़ा करने के लिये इस दुरात्मा की यह चेष्टा है, ऐसा समझ कर बोधिसत्त्व ने नम्र एवं मधुर वाणी में उसके तर्कों का खण्डन करते हुए कहा कि दान से बढ़कर कोई धर्म-मार्ग मैं नहीं देखता हूँ तथा मेरा दान लोक-कल्याण के लिये है, आत्मसुख की प्राप्ति के लिये नहीं। अत एव मैं स्वेच्छा से इस नरक में उतरूँगा तथा याचना द्वारा मित्रता प्रकट करनेवाला भिक्षु का आदर-सत्कार करूँगा।

यह कहकर बोधिसत्त्व अपने भाग्यबल पर निर्भर करते हुए दान देने का परिणाम बुरा नहीं हो सकता है, यह जानते हुए स्वजन-परिजनों के मना करते रहने पर भी नरक के बीच से चले गये। तब उनके पुण्य-कर्मों के प्रभाव से कीचड़ के बिना ही उस नरक में कमल उत्पन्न हो गया जिस पर पैर रखकर उस भिक्षु के समीप पहुँच कर बोधिसत्त्व ने प्रसन्न मन से उन्हें भिक्षा दी। अपना आन्तरिक आनन्द प्रकट करने के लिये भिक्षु आकाश में उड़ गये और वहाँ विद्युत्प्रकाश युक्त बादल के समान जल बरसाते हुए और प्रज्वलित होते हुए विराजमान हुए।

मार का मनोरथ चूर्ण हो गया और वह कान्तिहीन होकर तुरत अपने नरक के साथ अन्तर्धान हो गया।

१—"भद्रे स्वयमार्याय पर्याप्तं पिण्डपातं देहि।"—जातक०—४।४ के बाद का गद्य

कथा के अन्त में इससे प्राप्त होने वाली शिक्षा को स्पष्ट कर दिया गया है कि सज्जन अपनी विपत्ति की उपेक्षा करके भी दान देने की इच्छा करते हैं तथा भय दिखलाने पर भी वे कुमार्ग पर नहीं चल सकते हैं।

५—अविषह्यश्रेष्ठि-जातक

दान का माहात्म्य बतलाने में इस जातक को कहा गया है। प्रारंभ तथा अन्त में कहा गया है कि—"धन क्षीण होने की आशंका से या समृद्धि की आशा से सत्पुरुष दान से विरत नहीं होते।"[1]

बोधिसत्त्वावस्था में भगवान् बुद्ध एक बार त्याग, शील आदि गुणों से संपन्न श्रेष्ठी हुए। अपनी प्रचुर सम्पत्ति से अतिथि-सत्कार कर वे अनवरत दानयज्ञ में लीन रहते थे। कृपणता आदि दोषों से अविषह्य (अजेय) होने के कारण वे अविषह्य नाम से विख्यात हुए।

याचकों को शिष्टाचार और उदारतापूर्वक यथेष्ट धन-राशि का दान करते हुए उस महापुरुष की दानशीलता को सुन देवेन्द्र शक्र के मन में विस्मय हुआ। उनके दान देने के निश्चय की स्थिरता का पता लगाने के लिये देवेन्द्र प्रतिदिन उसका धन छिपाने लगे। किन्तु धन क्षीण होते रहने पर भी जब वे दानपरायण बने रहे, तब शक्र ने एक ही रात में उनकी सारी धन-सम्पत्ति छिपा दी; केवल कुण्डलाकार कुछ रस्सी तथा एक हँसिया छोड़ दी। प्रात:काल जगने पर बोधिसत्त्व ने देखा कि उनका घर धन-धान्य तथा नौकर-चाकर से रहित, नि:शब्द, दीन मलिन और श्री-हीन है। किन्तु अविचल धैर्य के कारण बोधिसत्त्व उदास नहीं हुए और याचकों के स्वागत सत्कार करने के ख्याल से स्वयं रस्सी और हँसिये को हाथ में लेकर प्रतिदिन घास काट कर लाने लगे तथा उसके बेचने से प्राप्त धन के द्वारा भिक्षुओं का स्वागत सत्कार करने लगे। घोर दारिद्र्य में भी वे दान देने में प्रवृत्त हैं, यह देखकर देवेन्द्र शक्र को आश्चर्य और आदर भाव हुआ। तब अपना दिव्य रूप प्रकट करते हुए अन्तरिक्ष में खड़े होकर उन्होंने उस महापुरुष को दान-कर्म से विमुख करने के लिये कहा है गृहपति, दानातिरेक से ही आप इस दुरवस्था को प्राप्त हुए हैं। "थोड़ा-थोड़ा करके भी निरन्तर खर्च करने से उपार्जित धन-राशि भी समय पाकर क्षीण हो जाती है और संचय करने से बड़े-बड़े वल्मीक स्तूप बन जाते हैं, यह देख कर वृद्धि चाहने वालों के लिये संयम का ही रास्ता उचित है।[2] अत: यदि आप दानासक्ति को छोड़ दें तो पुन: पूर्वकाल की समृद्धि प्राप्त कर सकते हैं।

१—"न विभवक्षयावेक्षया समृद्धयाशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषा: ।"
—जातक०—५।१ के पहले का गद्य

२—"शश्वत् कृशेनापि परिव्ययेण कालेन दृष्ट्वा क्षयमर्जनानाम् ।
चयेन वल्मीकसमुच्छ्रयांश्च वृद्ध्यर्थिनः संयम एव पंथा: ॥—जातक०५।१०

तब दान देने का माहात्म्य बतलाते हुए बोधिसत्त्व ने कहा—अत्यन्त कष्ट में पड़कर भी हे सहस्रनेत्र आर्यपुरुष के लिये अनार्य कर्म करना कठिन है। इसलिये मुझे वह धन नहीं चाहिये जिसको लेकर मैं याचना के संताप से उदासमुख याचकों को प्रसन्न न कर सकूँ। जो जरा-मरण के दुःख से घिरे हुए प्राणियों की रक्षा करने के लिये अपने को भी उत्सर्ग कर देना चाहता है, जो दूसरों के दुःखी रहते सुखोपभोग करना नहीं चाहता, उसको आपकी लक्ष्मी से भी क्या प्रयोजन है ?[1]

तब देवेन्द्र शक्र ने प्रसन्न चित्त से उनकी प्रशंसा की तथा छिपायी गयी धन-सम्पत्ति लाकर उन्हें दे दी और उनसे क्षमा-याचना कर वहीं अन्तर्धान हो गये। यहीं यह जातक समाप्त हो जाता है।

६—शश-जातक

दान का माहात्म्य एवं अतिथिसत्कार का उपदेश-कथन इस जातक में हुआ है।

बोधिसत्त्व की अवस्था में भगवान् बुद्ध एक बार किसी जंगल के पवित्र स्थान में खरगोश की योनि में पैदा हुए। सत्त्वगुण, रूप-सम्पत्ति, अद्भुत शक्ति, विपुल ओज और सन्तोष से युक्त वे वहाँ मुनि के समान शोभित हुए। उनके मैत्रीपूर्ण उज्ज्वल मानसिक, वाचिक और कायिक कर्मों से दुरात्मा पशु भी प्राय: उनके मित्र और शिष्य हो गये। उनके विशिष्टमित्र थे—एक ऊदबिलाव (ऊध), एक सियाल और एक वानर। वे सभी वहाँ पशु-पक्षियों के स्वभाव से विमुख होकर प्राणियों पर दया करते थे और धर्मानुसार कीर्ति उपार्जन करते थे। शीघ्र ही सज्जनों के अभीष्ट आचरण से उन्होंने देवताओं को भी चकित कर दिया।

एक बार सायंकाल में धर्मोपदेश सुनने के लिये आये हुए उन मित्रों से उस महात्मा ने शुक्लपक्ष की चतुर्दशी के चन्द्रमा को देखकर कहा—स्पष्ट है कि कल पूर्णिमा होगी। अत: आप लोग पोषधव्रत के नियमों का पालन करते हुए न्यायपूर्वक प्राप्त उत्तम आहार से समय पर पहुँचे हुए अतिथि का सत्कार कर प्राण-रक्षा के लिये भोजन कीजियेगा। क्योंकि भव-चक्र में भटकते हुए प्राणियों के लिये पुण्य बहुत बड़ा सहारा है। 'बहुत अच्छा' कह कर तथा अभिवादन और प्रदक्षिणा कर उनके साथी अपने-अपने घर चले गये। तब उस महात्मा ने सोचा—आये हुए अतिथि का जैसे-तैसे सत्कार करने की शक्ति इनमें तो है किन्तु इसमें मैं सोचनीय हूँ। अनन्तर उन्होंने अपने शरीरोत्सर्ग द्वारा अतिथि-सत्कार का अद्भुत निश्चय किया। उनके इस उत्तम

१—"त्रातुं लोकान्यस्तु जरामृत्युपरीता
नप्यात्मानं दित्सति कारुण्यवशेन।
यो नास्वादं वेत्ति सुखानां परदुःखैः
कस्तस्यार्थस्त्वद्गतया स्यादपि लक्ष्म्या ॥"—जातक०—५।२४

विचार से आनन्दित और विस्मित होकर देवताओं ने अपना प्रभाव प्रकट किया। देवेन्द्र शक्र उस महासत्त्व का भीतरी भाव जानने की इच्छा से दूसरे दिन तीक्ष्ण आतप में ब्राह्मण का रूप धारण कर भूख-प्यास एवं थकावट के कष्ट से कराहते हुए, उन चारों से कुछ ही दूर पर जोर-जोर से रो-रोकर चिल्लाया—"अपने साथियों से छूटकर में अकेला इस गहन वन में भूख-प्यास से व्याकुल होकर भटक रहा हूँ। साधु लोग मेरी रक्षा करें।[1]

ब्राह्मण के करुण-क्रन्दन को सुनकर उन महात्माओं के हृदय काँप उठे। समीप पहुँच कर उन्होंने सान्त्वना देते हुए आग्रह किया कि आप यहाँ विस्रब्ध होकर रहें तथा आज हम लोगों की सेवा-शुश्रूषा स्वीकार कर अनुगृहीत करें और कल अपने स्थान पर जाँय। ब्राह्मण वेषधारी इन्द्र ने मौन स्वीकृति दे दी। तब ऊदबिलाव ने सात रोहू मछलियाँ ले आकर कहा—आप इन्हें खाकर यहाँ रहें। अनन्तर सियार ने भी उस दिन प्राप्त एक गोह और एक दही की हाँड़ी उनकी सेवा में प्रसन्नतापूर्वक प्रस्तुत कर दी। बानर ने पके हुए आमों के गुच्छों से अतिथिदेव का सत्कार किया। तब शश ने समीप जा कर सम्मानपूर्वक कहा—जिसके पास उपयोगी जो धन होता है, उसीसे वह आये हुए अतिथि का सत्कार करता है, मेरे पास इस शरीर से अधिक कुछ नहीं है। इसलिये आप मेरे इस सर्वस्व को स्वीकार करें।"[2] इतना कह कर वह अग्नि की खोज करने लगा। देवेन्द्र शक्र की महिमा से समीप में ही प्रज्ज्वलित अग्नि-पुंज उत्पन्न हो गया। उसे देख परम आनन्दित हो वह उस प्रज्ज्वलित अग्नि-पुंज पर ऐसे चढ़ गया जैसे राजहंस खिलते हुए कमलों से युक्त जलाशय पर चढ़ रहा हो।

यह देख कर देवेन्द्र के मन में बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने अपना स्वाभाविक रूप धारण कर दिव्य पुष्पों को वृष्टि की और कहा—कहाँ इसकी जाति (पशु-योनि) और कहाँ यह अद्भुत त्याग की उदारता और चित्त की दृढ़ता। स्पष्ट ही इस महात्मा ने पुण्य की ओर से उदासीन मनुष्यों और देवताओं को जीत लिया।"[3]

१—"एकं सार्थात् परिभ्रष्टं भ्रमन्तं गहने वने।
क्षुच्छ्रमक्लान्तदेहं मां त्रातुमर्हन्ति साधवः॥ —जातक० ६/२२

२—"यदस्ति यस्येप्सितसाधनं धनं
स तन्नियुङ्क्तेऽर्थिसमागमोत्सवे।
न चास्ति देहादधिकं च मे धनं
प्रतीच्छ सर्वस्वमिदं यतो मम॥"—जातक० ६/३०

३—"जातिः क्वेयं तद्विरोधि क्व चेदं
त्यागौदार्यं चेतसः पाटवं च।
विस्पष्टोऽयं पुण्यमन्दादराणां
प्रत्यादेशो देवतानां नृणां च॥—जातक० ६/३५

अनन्तर वे सभी अतिथि सेवी देवलोक में परम पद को प्राप्त हुए। इस प्रकार पशु-पक्षियों की योनि में भी महासत्त्व यथाशक्ति दान-धर्म में प्रवृत्त देखे जाते हैं। तब मनुष्य होकर कौन दान नहीं देगा।[1] इससे यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये कि पशु-पक्षी भी अपने गुणानुराग के कारण सज्जनों से पूजित होते हैं। इसलिये गुणों का आदर करना चाहिये।

यहीं पर यह जातक समाप्त होता है।

७—अगस्त्य–जातक

प्रस्तुत जातक में बोधिसत्त्व की असाधारण दानवीरता का वर्णन हुआ है।

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे तो एक बार किसी महान ब्राह्मण कुल में उत्पन्न हुए। यथासमय उनके जात-कर्मादि संस्कार सम्पन्न हुए तथा सांग वेदाध्ययन कार्य कराये गये। अपनी विद्या और गुण से अल्पकाल में ही उन्होंने विपुल सम्पत्ति अर्जित की। उनकी दानवीरता तथा अतिथिसेवा से उत्पन्न यश सर्वत्र फैल गया।

कुछ समय के बाद गृहस्थी को दोषों का घर समझ विपुल धन सम्पत्ति का सर्वथा त्याग कर वे प्रव्रज्या के नियम पालन में लीन हो गये, किन्तु पूर्व परिचय के कारण उनके गुणों से आकृष्ट होकर मोक्ष चाहनेवाले लोग उनके पास पूर्ववत् आते ही रहे। तब उस महासत्त्व ने ध्यान-सौकर्य के लिये दक्षिण समुद्र के मध्य में स्थित कारा द्वीप में जाकर आसन जमाया और उसे अपने आश्रम की शोभा से युक्त किया।

तपोवन में रहते हुए भी वे स्वच्छ जल, फल-मूल और मनोहर वचन द्वारा आये अतिथियों का सत्कार करते थे तथा उनके उपयोग से अवशिष्ट फल-मूल शरीर-धारणार्थ खाकर जीवित रहते थे। जब उनकी तपस्या की कीर्त्ति चरम सीमा को पार करने लगी तब उससे विचलित होकर देवेन्द्र शक्र ने उस महासत्त्व की स्थिरता की परीक्षा के लिये जंगल के समस्त फल-मूल का क्रम से लोप कर दिया। तब सन्तोषी बोधिसत्त्व इसकी परवाह न कर वृक्षों के नये पत्तों से भोजन का काम निकाल कर तृप्त रहने लगे। सन्तोषियों के लिये कहीं भी आहार प्राप्त करना कठिन नहीं है। घास-पात और जलाशय कहाँ नहीं रहते?[1]

देवेन्द्र शक्र को उनके व्रत की स्थिरता पर बहुत ही आश्चर्य हुआ, किन्तु अपनी परीक्षा उन्होंने जारी रक्खी। उन्होंने समस्त तृण-तरुओं और लताओं को

१—तिर्यग्गतानामपि महासत्त्वानां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा। केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात्।''—जातक० ६/३८ के बाद का गद्य

१—न क्वचिद्दुर्लभा वृत्तिः संतोषनियतात्मनाम्।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशयाः॥—जातक० ७/५

पत्रहीन कर दिया। तब बोधिसत्त्व ताजे झड़े हुए पत्तों को बटोर कर तथा पानी में उबाल कर उसे अमृत के समान प्रसन्न चित्त से खाकर ध्यानसुख में लीन रहने लगे। इतने पर भी इन्द्र को जब सन्तोष नहीं हुआ तब वे उनके व्रतकाल में क्रोधी ब्राह्मण-रूपधारी अतिथि बनकर उनके सम्मुख प्रकट हुए तथा भोजन के लिये निमंत्रित किये जाने पर अपनी मौन स्वीकृति दे दी। बोधिसत्त्व ने प्रसन्न मन से अतिथि को कष्ट-पूर्वक प्राप्त किये समस्त आहार (उबाले हुए पत्तों) को देकर स्वयं दान-जन्य आनन्द से ही तृप्त हो गये। दूसरे, तीसरे, चौथे और पाँचवें दिन भी इसी प्रकार व्रत-काल में प्रकट होकर इन्द्र उनका समस्त आहार आतिथ्य रूप में ग्रहण करते रहे और वे महात्मा अपने ध्यान में पूर्ववत् दिवारात्रि भूखे रहकर प्रसन्न मन से लगे रहे। सच है—सज्जनों की बढ़ी हुई दानाभिलाषा प्राणान्तक दुःखों में भी क्षीण नहीं होती।"[1]

तब आश्चर्य और भय से व्याकुल इन्द्र ने अपना दिव्य रूप धारण कर उनसे इस कठिन तप का प्रयोजन पूछा। बोधिसत्त्व ने कहा—"बार-बार जन्म लेना अत्यन्त दुःखदायक है, रूप को कुरूप करनेवाला बुढ़ापा, मृत्यु और रोग अत्यन्त दुःखदायक है। अतः प्राणियों की रक्षा के लिये ही मैं इसमें स्थित हूँ।"[2]

ये मेरी लक्ष्मी की कामना नहीं करते, यह जानकर देवन्द्र शक्र का हृदय आश्वस्त हुआ। तब उन्होंने उस महात्मा की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा वर माँगने के लिये बार-बार आग्रह किया। सुख-भोगों में अनासक्त और संतोष-परायण बोधि-सत्त्व उसे धर्मोपदेश करने की भावना से प्रथमतः लोभानल से, द्वितीयतः द्वेषाग्नि से एवं तृतीयतः मूर्खों के सम्पर्क से अलग रखने का वर माँगा। साधु-साधु कहकर देवेन्द्र शक्र ने उनका अभिनन्दन किया तथा पुनः वर माँगने का आग्रह किया। इस बार धीर-पुरुष के सम्पर्क का वर माँग कर उन्होंने सज्जन का माहात्म्य बतलाते हुए कहा—सज्जन स्वयं सुमार्ग पर चलता है और दूसरों को भी उस मार्ग पर ले जाता है। रूखा हितकारी वचन भी उसे विचलित नहीं कर सकता।[3]

अत्यधिक प्रसन्न होकर शक्र ने पुनः प्रार्थना की—

"आप संतोषात्मा ने अवश्य ही सब कुछ प्राप्त कर लिया है। अतः मेरे ऊपर अनुग्रह करने के विचार से आप वह ग्रहण करें।"[4]

१—दानाभिलाषः साधूनां कृपाभ्यासविवर्धितः।
नैति संकोचदीनत्वं दुःखैः प्राणान्तिकैरपि ॥—जातक० ७/८

२—पुनः पुनर्जातिरतीवदुःखं जराविपद्व्याधिविरूपताश्च
मर्त्तव्यमित्याकुलता च बुद्धेर्लोकानतस्त्रातुमिति स्थितोऽस्मि ॥—जातक० ७/१२

३—व्रजति गुणपथेन च स्वयं नयति परानपि तेन वर्त्मना।
वचनमपि न रूक्षमक्षमां जनयति तस्य हितोपसंहितम् ॥—जातक० ७/३०

४—कामं सन्तोषसात्मत्वात् सर्वत्र कृतमेव ते।
मदनुग्रहबुद्ध्या तु ग्रहीतुं वरमर्हसि ॥—जातक० ७/३२

तब बोधिसत्त्व ने उसका हित करने की कामना से दान देने की उत्कृट इच्छा प्रकट करते हुए कहा—

"मुझे कभी क्षीण न होने वाला आपका अन्न हो, दान देने के लिए कोमल मन हो, सदाचारी याचक हो, मैं यहीं वर मांगता हूँ।"[1]

इस प्रकार अनेकानेक वर देकर शक्र उन्हें प्रणाम कर वहीं अन्तर्धान हो गये। रात बीतने पर प्रातः काल बोधिसत्त्व ने शक्र के प्रभाव से लाये गये प्रचुर दिव्य अन्न, प्रत्येकबुद्धों तथा भोजन परोसने के लिए उन्नत अनेक देव-कुमारों को देखा। उनके द्वारा महर्षियों को तृप्त कर वे मुनि अत्यन्त आनन्दित हुए तथा स्वयं तपस्वियों के योग्य आहार, ध्यान-नियम और शान्ति से ही प्रसन्न रहे।

इस प्रकार त्याग वीरता तपोवन में रहने वालों के लिए भी अलंकार है, गृहस्थों के लिए तो पहले ही। दानवीरत्व की प्रशंसा में, लोभ, द्वेष, मोह और मूर्खता की निन्दा करने में, कल्याण-मित्र की संगति का गुण-गान करने में, संतोष की कथा कहने में, और तथागत का माहात्म्य बतलाने में यह दृष्टान्त उपस्थित करना चाहिए।

८—मैत्रीबल-जातक

इस जातक में बोधिसत्त्व की महाकरुणा का वर्णन है। प्रारंभ में तथा अन्त में उपदेशवाक्य के रूप में कहा गया है कि दूसरों के दुःख से दुःखी होनेवाले अत्यन्त दयालु मनुष्य अपने दुःख की चिन्ता नहीं करते हैं।[2] तब जैसी की अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार मैत्रीबल नामक राजा हुए। सब प्राणियों के प्रति उनके मन में मैत्री-भावना थी। वे दयालु महात्मा संसार के कल्याण में दत्त-चित्त तथा दान, धर्मानुराग आदि लोकोपकारी सद्गुणों से युक्त थे।

एक बार यक्षपति कुबेर द्वारा किसी अपराध में अपने देश से निर्वासित होकर पाँच यक्ष उस राज्य में आये। वे प्राणियों के ओज हरण करने वाले तथा दूसरों का बध करने में निपुण थे। आते ही वे अपने कार्य में लग गये, किन्तु उस पुण्यात्मा राजा के पुण्य-प्रताप से उस देश के किसी भी आदमी का ओज हरण नहीं कर सके।

तब ब्राह्मण का रूप बनाकर विचरते हुए उन यक्षों ने एक वनचारी गोपालक (ग्वाले) को छाँहदार वृक्ष के मूल में हरी दूब पर बैठा हुआ देखा तथा

---

१. त्वदीयमन्नं क्षयदोषवर्जितं
मनश्च दित्साप्रतिपत्तिपेशलम्।
विशुद्धशीलाभरणाश्च याचका
मम स्युरेतां वरसंपदं वृणे ॥—जातक० ७/३४

२. "न परदुःखातुराः स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिकाः।"
—जातक० ८/१ के पहले का गद्य

समीप जाकर कहा—"थ थ थ द द का का का का का।[1] हे गोरक्षक, इस एकान्त और निर्जन वन में अकेला विचरता तू भयभीत क्यों नहीं हो रहा है ?" यहाँ स्वभाव से ही क्रूर मांस-भक्षी राक्षसों का भी वास रहता है। यह सुनकर ग्वाले ने हँसते हुए कहा—"इस देश के लोग महास्वस्त्ययन (महान् रक्षक) के द्वारा परिपालित है। इसलिये इन्द्र का भी उन पर कुछ बस नहीं चल सकता, फिर माँस-भक्षी राक्षसों का क्या कहना ? इसलिये इस जंगल में भी वैसे ही जैसे कि अपने घर में, रात्रि में भी वैसे जैसे कि दिन में, अकेला भी वैसे-जैसे जनसमुदाय के बीच विचरण करता हूँ।[2] कुतूहल की प्रबलता के कारण उन यक्षों ने कहा—"हे भद्र ! तुम्हारा यह स्वस्त्ययन विशेष (विशिष्ट-रक्षक) कौन है ? तब विस्तृत रूप से उसने अपने राजा का गुण-गान किया।

राजा की दान-प्रियता आदि गुणों को सुनकर उनका अपकार करने की इच्छा से यक्षों ने दर्शन-काल में उनके समीप जाकर भोजन माँगा। प्रसन्न मन से राजा ने उनके लिये उत्तम भोजन मंगवाया, किन्तु उन्होंने ग्रहण नहीं किया तथा पूछने पर कहा—"हे कमलनयन, हे अखण्डव्रत, मनुष्य का ताजा मांस और गर्म रुधिर यही तो यक्षों का खाना और पीना है।[3]

इतना कहकर उन्होंने अपने विकृत एवं भयंकर रूप धारण कर लिये जिसे देखने पर राजा को निश्चय हो गया कि ये पिशाच हैं। तब दयालु राजा ने अनेक प्रकार का चिन्तन कर निश्चय किया कि इन्हें इस प्रकार का आहार देने के निमित्त मैं क्यों एक दिन के लिये भी परहिंसा और प्राणि-वध करूँ ? साथ ही याचकों को निराश करके लौटाना भी मेरे लिये असंभव है। अत: अपने ही शरीर से शोणित-सहित स्थिर और पुष्ट मांस काट कर इन्हें दूँगा। इसके अतिरिक्त आये हुए याचकों का सत्कार करने के लिये मेरे पास दूसरा कौन सा उचित उपाय है ?"[4] आनन्द-विभोर होकर तब उस महात्मा ने यक्षों से अपना शरीर दिखलाते हुए कहा—

१—मनुष्यों की बोली बोल सकने के पहले यक्ष तुतलाते हैं।

२—जन: स्वस्त्ययनेनायं महता परिपाल्यते।
देवेन्द्रेणाप्यशक्योऽयं किं पुन: पिशिताशनै: ।।
तेन गेह इवारण्ये रात्रावपि यथा दिवा।
जनान्त इव चैकोऽपि निर्भयो विचराम्यहम्। जातक० ८।९-१०

३—प्रत्यग्रोष्माणि मांसानि नराणां रुधिराणि च।
इत्यन्नपानं पद्माक्ष ! यक्षाणामक्षतव्रत ।।—जातक० ८।१६

४— स्वत: शरीरात्स्थिरपीवराणि
दास्यामि मांसानि सशोणितानि।
अतोऽन्यथा को हि मम क्रम:स्या-
दित्यागतेष्वर्थिषु युक्तरूप: ।।—जातक० ८/२२

"मैंने यह मांस और शोणित लोकोपकार के लिये ही धारण किया है। यदि आज इसका अतिथिसत्कार में उपयोग हो तो यह मेरा बड़ा सौभाग्य होगा।"[१] उनके द्वारा स्वीकृति मिलने पर विश्वस्त अमात्यों के विनयपूर्वक अनेक प्रकार से मना करने पर भी राजा ने वैद्य को बुलवा कर अपने शरीर की पाँच रक्तधमनियों को कटवा दी तथा यक्षों से कहा—

"इस दान को स्वीकार कर धर्म-कार्य में मेरी सहायता करते हुए आप मुझे अत्यन्त आनन्दित कीजिये।"[२]

"बहुत अच्छा" कह कर वे अपने अंजलिपुटों से ही राजा का रुधिर पीने लगे। इससे राजा को बहुत आनन्द हुआ। प्यास और थकावट दूर होने पर यक्षों ने राजा से कहा—"बस इतना ही पर्याप्त है। आनन्द से उनके नेत्र और भी खिल उठे। तब तेज तलवार से प्रसन्नतापूर्वक राजा ने अपना मांस काट कर उन्हें दिया। इसे देख कर उन राक्षसों के कठोर मन भी कोमल हो गये तथा राजा के प्रति उनमें श्रद्धा उत्पन्न हो गयी। धर्मानुराग या दया के वशीभूत हो कर दूसरों के लिये अपने प्रिय शरीर को त्यागने वाले मनुष्य द्वेषाग्नि से जले हुए चित्त को भी प्रसन्न कर के निर्मल और नया बना देता है।[३]

राजा के प्रति उनका क्रोध दूर हो गया तथा उनको प्रणाम कर उन्होंने अपनी संतोषाभिव्यक्ति की और पूछा—

"अनायास ही प्राप्त इस अनुरक्त राज्यलक्ष्मी का अनादर कर वह कौन-सा अद्भुत स्थान है जिसको इस मार्ग से चल कर आप प्राप्त करना चाहते हैं? तब राजा ने कहा—

१—अमूनि मांसानि सशोणितानि
धृतानि लोकस्य हितार्थमेव।
यद्यातिथेयत्वमुपेयुरद्य
महोदयः सोऽभ्युदयो मम स्यात्॥
—जातक० ८/२५

२—"धर्मकर्मणि साचिव्यं प्रीतिं च परमां मम।
भवन्तः कर्त्तुमर्हन्ति देयस्यास्य प्रतिग्रहात्॥"
—जातक० ८/४०

३—"धर्मप्रियत्वात्करुणावशाद्वा
त्यजन्परार्थे प्रियमात्मदेहम्।
द्वेषाग्निदग्धान्यपि मानसानि
प्रसादसौवर्ण्यनवानि कुर्यात्॥"
—जातक० ८/४७

जब तक मैं इन अनाथ देहधारियों को घोर विपत्ति में देखता हूँ, तब तक केवल अपने ही दुःख का नाश होने से मेरे मन में सन्तोष नहीं हो सकता।

इस पुण्य के द्वारा बुद्धत्व प्राप्त कर और दोष (राग-द्वेष-मोह) रूपी शत्रुओं को जीत कर मैं जरा-व्याधि-मृत्युरूपी महातरंगों से युक्त भवसागर से संतप्त प्राणियों का उद्धार करना चाहता हूँ।[1]

आनन्द से रोमांचित हो यक्षों ने राजा से कहा—आपका यह सम्पूर्ण उद्योग लोकहित के लिये ही है। इस लक्ष्यप्राप्ति के समय हम स्वार्थी यक्षों को भी स्मरण रखियेगा।

तब प्रसन्न मन से राजा ने कहा—यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं तो प्राणिहिंसा, दूसरों का धन और स्त्री-हरण करने का लोभ, निंदित वचन और मद्य-रूपी पाप को विष समझ कर छोड़ दीजिये।[2]

तब बहुत अच्छा कह कर उन यक्षों ने वैसा न करने की प्रतिज्ञा की और राजा को प्रणाम कर वहीं अन्तर्धान हो गये।

जिस समय बोधिसत्त्व ने रक्त और मांस देने का अद्भुत निश्चय किया था, उस समय देवादियों ने फूल बरसाये, दुन्दुभियाँ बजायीं तथा पृथ्वी प्रकम्पित हो उठी थी, जिससे घबरा कर देवेन्द्र शक्र पता लगाने के लिये निकले और राजा के समीप पहुँचे तथा सारी बातें जान कर उन्हें परम प्रसन्न देख आनन्दित हुए एवं अनेक प्रकार से उनकी स्तुति कर दिव्य एवं उत्तम औषधियों से उनके घाव को पूरा कर उनके शरीर को पूर्ववत् कर दिये। तब राजा से पूजित होकर इन्द्र अपने निवास स्थान को लौट गये।

अन्त में कहा गया है कि—दाताओं को उत्तेजित करने में, करुणा का वर्णन करने में तथागत का माहात्म्य दिखलाने में और सावधान होकर धर्मश्रवण करने में यह कथा कहनी चाहिये।

१—अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शिता-
मवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विषः।
जरा-रुजा-मृत्युमहोर्मिसङ्कुलात्-
समुद्धरेयं भवसागराज्जगत् ॥"—जातक० ८।५५

२—"अस्मत्प्रियं चाभिसमीक्षमाणै—
हिंसा भवद्भिर्विषवद्विवर्ज्या।
लोभः परद्रव्यपरिग्रहेषु
वाग्गर्हिता मद्यमयश्च पाप्मा ॥"—जातक० ८/६०

६—विश्वन्तर-जातक

साधारण प्राणियों के लिए बोधिसत्त्व के कार्यों का अनुमोदन करना भी आसान नहीं है, फिर उनके करने का क्या कहना। तब जैसी कि अनुश्रुति है :—

बोधिसत्त्वभूत भगवान् बुद्ध एक जन्म में शिविराज संजय के विश्वन्तर नामक पुत्र हुए। प्रतिष्ठा में वे राजा के बाद थे; किन्तु गुणों की ख्याति में राजा से भी अधिक।

युवा हो कर भी वे वृद्धोचित शान्ति से युक्त, तेजस्वी हो कर भी क्षमाशील, विद्वान् हो कर भी ज्ञान-मद से अनभिज्ञ तथा लक्ष्मीपात्र हो कर भी अभिमान से रहित थे।[1]

युवराज हो कर वे प्रतिदिन आये हुए याचकों को प्रिय वचन और शिष्टाचार के साथ मनोरथ से भी अधिक दान दे कर आनन्दित करते थे। इससे उनका दानानुराग चारों ओर फैल गया। तब किसी निकटवर्ती राजा ने उनके सुलक्षणवान गजेन्द्र को दान द्वारा अपहरण कराने की इच्छा से ब्राह्मणों को उनके समीप भेजा। स्पष्टत: किसी राजा की यह चाल है, यह समझते हुए भी विश्वन्तर ने सानन्द उस गजेन्द्र वर को दान कर दिया।

इस वृत्तान्त को सुन कर शिवि श देके लोग अत्यन्त क्रुद्ध हो कर राजा के समीप आये और विश्वन्तर को राज्य से निष्कासित कर वङ्क पर्वत पर चले जाने के विषय में कहा। राजाज्ञा से वे पत्नी एवं बाल-बच्चों सहित वहाँ से निकल कर वङ्क पर्वत पर चले। राह में उस दानप्रिय राजा से ब्राह्मणों ने रथ ढोने वाले घोड़ों की याचना की और उन्होंने दान भी कर दिया तथा स्वयं रथ ढोने का निश्चय किया। उस समय रोहित-मृगों के रूप में चार यक्षकुमार प्रकट हुए तथा सुशिक्षित घोड़ों के समान रथ के जुए को अपने कंधों पर ले लिया। कुछ दूर जाने पर एक दूसरे ब्राह्मण ने उस उत्तम रथ की याचना की। बोधिसत्त्व ने प्रसन्नतापूर्वक स्वजनों को रथ से उतार कर ब्राह्मण को रथ दे दिया। पैदल चल कर तब वे उस पर्वत पर पहुँचे तथा कठिन तपस्या करने लगे। पर्वत पर रहते हुए भी बोधिसत्त्व दानशीलता को छोड़ न सके। एक दिन किसी वृद्ध ब्राह्मण के याचना करने पर उन्होंने अपने बच्चों को भी दान कर दिया। इससे देवेन्द्र शक्र अत्यन्त विस्मित हुए तथा ब्राह्मण का रूप धारण कर उनकी परीक्षा लेने के लिये उनसे उनकी पत्नी की याचना की। उस दानवीर ने परम हर्ष के साथ उसे अपनी भार्या दान कर दी।

---

१. "युवापि वृद्धोपशमाभिरामस्-
तेजस्व्यपि क्षान्तिसुखस्वभाव:।
विद्वानपि ज्ञानमदानभिज्ञ:
श्रिया समृद्धोऽप्यवलेपशून्य:॥"
—जातक० ९/२

इस अद्‌भुत त्याग एवं दान से देवेन्द्र शक्र अत्यन्त प्रसन्न हुए। अनेक प्रकार से उनकी प्रशंसा कर उन्होंने कहा—"मैं आपकी पत्नी मद्री को वापस दे रहा हूँ तथा शीघ्र ही आपके पिता दोनों बच्चों सहित आपके समीप आयेंगे और आपको राजतिलक दे कर राज्य को उत्तम राजा से युक्त करेंगे।"[1] इतना कहकर शक्र वहीं अन्तर्धान हो गये। उनके प्रभाव से वह ब्राह्मण बोधिसत्त्व के बच्चों को शिविराज्य में ही ले गये। जब शिबियों और शिविराज ने बोधिसत्त्व के इस अतिकरुण एवं अतिदुष्कर कर्म को सुना तब उनके हृदय पिघल गये। उन्होंने बच्चों को ब्राह्मण के हाथ से छुड़ाया, तपोवन जाकर विश्वन्तर को मनाया और उन्हें सत्कारपूर्वक ले आकर राज्यासन पर बैठाया।

इसलिये कहा गया है कि बोधिसत्त्व के चरित अद्‌भुत हैं। अत: उनके मार्ग पर चलने वाले प्राणियों का अपमान न करना चाहिये और उन्हें विघ्न न पहुँचाना चाहिये।

१०. यज्ञ-जातक

अपने पूर्व जन्मों में भी भगवान् बुद्ध लोकोपकार में दत्त-चित्त रहते थे। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक जन्म में एकच्छत्र पृथिवी के अधिपति हुए। उनका राज्य सभी प्रकार के उपद्रवों से रहित था। धर्माचरण ही उनका एकमात्र कार्य था।

एक बार उनके बाहु-बल से रक्षित होने पर भी उस देश में प्राणियों के दुष्कर्म से और वर्षा के अधिकारी देव-दूतों की असावधानी से कहीं-कहीं अनावृष्टि के कारण बड़ी व्याकुलता हुई। प्रजा के हितचिन्तन में तत्पर उस धर्मात्मा राजा ने कुलपुरोहितों, वृद्धब्राह्मणों और बुद्धिमान् मंत्रियों से इसके निवारण का उपाय पूछा। उन लोगों ने वेद विहित यज्ञ-विधि को वृष्टि का कारण मानते हुए उसका वर्णन किया जो सैंकड़ों प्राणियों की हिंसा के कारण भयंकर है। उस दयालु राजा ने प्राणि-हिंसा युक्त उस यज्ञ का अनुमोदन नहीं किया; किन्तु नम्रता के कारण स्पष्टत: कुछ नहीं कह कर उस विषय को टाल दिया। राजा के गम्भीर और गूढ़ आशय को नहीं समझ सकने के कारण उन लोगों ने धर्मविषयक बातचीत के क्रम में यज्ञ करने के लिये उन्हें बार-बार उपदेश दिया।

१—"तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्रीं भार्यामिमामहम्।
व्यतीत्य नहि शीतांशु चन्द्रिका स्थातुमर्हति॥
तन्मा चिन्तां पुत्रयोर्विप्रयोगा-
द्राज्यभ्रंशान्मा च संतापमागा:।
सार्धं ताभ्यामभ्युपेत: पिता ते
कर्त्ता राज्यं त्वत्सनाथं सनाथम्॥"—जातक० ९।९९-१००

बाध्य होकर राजा ने सोचा—भला पशु-हिंसा से धर्म का, स्वर्ग-प्राप्ति का या देवताओं की प्रसन्नता का क्या शम्बन्ध हो सकता है ?[1] अत: इस सम्बन्ध में ऐसा करना चाहिये, यह निश्चय कर उनकी बात मान कर राजा ने कहा—मैं सुरक्षित और अनुगृहीत हूँ कि आप लोग मेरे हितचिन्तन में इस प्रकार दत्तचित्त हैं। मैं सहस्र नर-मेध यज्ञ करना चाहता हूँ। अमात्यगण अपने-अपने अधिकारानुसार यज्ञसामग्रियाँ मंगवाइये। यज्ञ-शाला खड़ी करने योग्य भूमि की परीक्षा कीजिये और यज्ञ के उपयुक्त तिथि करण-मुहूर्त्त-नक्षत्र-योग की जाँच कीजिये।

प्रजाओं को एकत्र कर उन्होंने कहा—प्रमाद एवं निद्रा से रहित निर्मल गुप्तचर रूपी नेत्रों द्वारा आज से आप लोगों के बीच जिस किसी को शील-मर्यादा का उल्लंघन करते मेरी आज्ञा की अवहेलना करते देखूँगा उस कुलांगार देश-कण्टक को यज्ञ-पशु के निमित्त ग्रहण करूँगा।

प्रजाओं ने सहर्ष राजाज्ञा को स्वीकार की। तब राजा ने विश्वासी अमात्यों को पापियों को पकड़ने के लिये चारों ओर भेजा तथा प्रतिदिन अपनी घोषणा डंके की चोट से करवाई। इससे उस देश के लोग दुराचार की आसक्ति को छोड़ कर शील-संवर से युक्त हो गये, वैर-भाव से विमुख हो कर परस्पर प्रेम और सम्मान करने में प्रवृत्त हुए, लड़ाई-झगड़ा छोड़ कर गुरुजनों की आज्ञा में रहने लगे। वे उदार, अतिथि-सेवक, विनयी और विनम्र हो गये मानो वे कृतयुग में रहते हों। गुप्तचरों के द्वारा यह वृत्तान्त सुनाने पर प्रसन्न मन से राजा ने उन्हें खूब दान दे कर तृप्त किया तथा मंत्रियों को आदेश दिया कि मेरी प्रजा अब दक्षिणा पाने के योग्य हो गयी है। अत एव मुझसे यथाभिलषित धन प्राप्त कर वह अपनी दरिद्रता दूर करे। तब सचिवों ने दानशालायें बनवा कर याचकों को यथेष्ट धन दे कर तृप्त किया। इस प्रकार उनके धर्म-यज्ञ द्वारा समृद्धशालिनी पृथिवी का दृश्य रमणीय हो गया। राजा की कल्याण-कामना में लगे हुए लोगों ने उनका यश चारों ओर फैलाया।

इससे यह निष्कर्ष निकालना चाहिये कि धर्माचरण से प्रजाओं का कल्याण होता है, इसलिये कल्याण चाहने वालों को धर्म का अनुसरण करना चाहिये। साथ ही पशुहिंसा से कदापि अभ्युदय नहीं हो सकता, अपितु दान, दम, संयम आदि से अभ्युदय होता है। इसलिये अभ्युदय चाहने वालों को दान आदि करना चाहिये।

११—शक्र-जातक

विपत्ति के कारण प्राणियों के प्रति महात्माओं की अनुकम्पा में कमी नहीं होती।

१—''को हि नामाभिसम्बन्धो धर्मस्य पशुहिंसया।
सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा॥''
—जातक० १०।१०

बोधिसत्त्व एक बार देवों के अधिपति इन्द्र हुए। अद्भुत लक्ष्मी से युक्त होने पर भी उनका हृदय अभिमान से मलिन नहीं हुआ। स्वर्ग और पृथिवी के सम्यक् परिपालन से उन्हें त्रिभुवन-व्यापिनी कीर्त्ति प्राप्त हुई। दैत्यों के लिये यह असह्य हो गया तथा अपनी विशाल सेना लेकर उनसे युद्ध करने के लिये वे चल पड़े। उस धर्मात्मा राजा ने प्रजा के सुख में विघ्न की आशंका से अपनी अद्भुत देव-सेना के साथ समुद्र तट पर असुर सेना का मुकाबला किया। तब वहाँ भयंकर देवासुर-संग्राम हुआ। राक्षसों की तीक्ष्ण तलवारों और तीरों से डर कर देवेन्द्र की सेना जब भाग चली तब अकेले ही शत्रु-सेना को रोक कर वे समर में स्थिर रहे।

हर्षोल्लास से घोर गर्जन करती हुई राक्षसों की विशाल सेना को समीप आते देख कर तथा अपनी सेना को भागने में तत्पर जान कर देवेन्द्र के सारथि मातलि ने वहाँ से हट जाना ही उचित समझ रथ को घुमाया। सामने शाल्मली वृक्ष पर गरुड़ नामक पक्षियों के घोसलों को रथ के टकराने के रास्ते में आये हुए देख कर दयार्द्रचित्त शक्र ने अपने सारथि से उसे बचाने के लिये कहा। तब मातलि ने दैत्यसेना की निकटता से असमर्थता प्रकट की तथा कहा—"हे कमलनयन, इस रथ के घुमाने से तो केवल पक्षियों का ही कल्याण होगा। बहुत देर के बाद देवताओं पर विजय प्राप्त करनेवाली यह शत्रु-सेना हमारा पीछा करती हुई समीप आ रही है।"[1]

तब देवाधिपति शक्र ने अपना उत्कृष्ट धैर्य प्रकट करते हुए कहा—भय से कातर मुख वाले इन प्राणियों को मार कर अपकीर्त्ति से कलंकित हो कर जीवित रहने की अपेक्षा मृत्यु को प्राप्त होना श्रेयस्कर है। अत: रथ को लौटाओ। शीघ्र ही मातलि ने उनके हजार घोड़ों वाले रथ को लौटाया। इन्द्र के रथ को लौटा हुआ देख शत्रु-दल भय से भागते हुए गिरने पड़ने लगे। आसुरी सेना को अस्त-व्यस्त देख इन्द्र की सेना भी लौट आई तथा शत्रुओं को पुन: लौटने की हिम्मत न हुई। विजय-लक्ष्मी से शोभित इन्द्र देवों से सम्मानित होकर अपने नगर और अन्त:पुर में आये।

इसलिये कहा जाता है :—

नीच मनुष्य अपनी क्रूरता के कारण सर्वदा पापाचरण करता है; मध्यम बुद्धिवाला दयालु व्यक्ति विपत्ति में पड़ कर पाप-कर्म करता है; किन्तु साधु पुरुष तो प्राण जाने पर भी अपनी सद्वृत्ति का उल्लंघन करने में समर्थ नहीं होता। जैसे कि समुद्र अपनी सीमा को पार नहीं कर सकता—

१—"निवर्तनादस्य रथस्य केवलं
शिवं भवेदम्बुरुहाक्ष पक्षिणाम्।
चिरस्य लब्धप्रसरा सुरेष्वसा-
वभिद्रवत्येव तु नो द्विषच्चमूः॥
—जातक० ११/१२

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः ।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्तिं
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥[1]

इससे यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये कि धर्म धार्मिकों की रक्षा करता है।

१२—ब्राह्मण-जातक

आत्म-लज्जा के कारण सत्पुरुष सदाचार की सीमा का अतिक्रमण नहीं करते। कहते हैं—

बोधिसत्त्व एक वार किसी महान् ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया। यथासमय उनके गर्भाधान-पुंसवन-सीमन्तोन्नयन-जातकर्म आदि संस्कार किये गये। अनन्तर वे वेदाध्ययन के लिये किसी विद्वान् सदाचारी गुरु के समीप गये। अल्प-काल में ही सहज मेधाशक्ति तथा स्थिर गुरुभक्ति से वे अपने गुरु के अत्यधिक प्रियपात्र बन गये।

एक वार उनके अध्यापक शिष्यों के शील की परीक्षा करने के लिये अपने दारिद्रय का वर्णन करने लगे। गुरु-स्नेह के कारण उनके शिष्य विकलित हो गये तथा उत्तमोत्तम एवं अधिकाधिक भिक्षा मांग कर लाने लगे। तव गुरु ने उनसे कहा—आप लोगों का यह परिश्रम वेकार है। भिक्षा के अन्न से किसी की दरिद्रता दूर नहीं हो सकती। तव किन शास्त्र विहित उपायों के करने से आपकी दरिद्रता दूर कर हम गुरु के अध्यापन-परिश्रम से उऋण हो सकते हैं, ऐसा शिष्यों द्वारा पूछने पर उन्होंने कहा :—

द्विजों के लिये चोरी को आपद्धर्म कहा गया है और संसार में निर्धनता अन्तिम विपत्ति है। इसलिये दूसरों की सम्पत्ति का उपयोग करने में हम दोषी नहीं हो सकते और यह सब कुछ तो ब्राह्मणों की ही सम्पत्ति है।"[2]

इस प्रकार जव गुरु ने वन्धन खोल दिया तब बोधिसत्त्व को छोड़ कर अन्य सभी छात्रों ने उनके वचन को उचित समझ कर स्वीकार कर लिया। किन्तु बोधि-

---

१—जातक० ११/१८

१—"आपद्धर्मः स्तेयमिष्टं द्विजाना-
मापच्चान्त्याः निःस्वता नाम लोके।
तस्माद् भोज्यं स्वं परेषामदुष्टैः
सर्वं चैतद्-ब्राह्मणानां स्वमेव ॥"
—जातक १२/८

सत्त्व न तो इसका अनुमोदन ही कर सके और न विरोध ही। वे लज्जा से मुख झुका कर चुप हो गये। गुरु के द्वारा पूछे जाने पर उन्होंने कहा—मैं जो इस प्रकार स्थिर हूँ, वह इसलिये नहीं कि अपनी स्नेह-हीनता और कठोरहृदयता के कारण मैं गुरु के दुःख में दुखी नहीं हो रहा हूँ, किन्तु इसलिये कि आचार्य का वताया हुआ उपाय संभव नहीं है। क्योंकि किसी के लिये भी छिप कर पापाचरण करना शक्य नहीं है। क्योंकि एकान्त का अस्तित्व ही नहीं है।[1] गुरु को प्रसन्न चित्त देख कर वोधिसत्त्व ने पुनः कहा :—

यहाँ मेरे मन में यह विश्वास नहीं हो रहा है कि आप भी धन के लिये हमें इस प्रकार वहका सकते हैं। सद्गुण और दुर्गुण का अन्तर जान कर भला कौन मनुष्य सद्गुण खो कर धन चाहेगा ? और आप मेरा अभिप्राय सुनें :—

काषाय वस्त्र पहन कर, भिक्षा-पात्र ले कर पर-गृहों की समृद्धि देखना अच्छा है, किन्तु निर्लज्ज हो कर धर्म की हत्या कर इन्द्र-पद की भी इच्छा करना अच्छा नहीं है—

"कपालमादाय विवर्णवाससा
वरं द्विषद्वेश्मसमृद्धिरीक्षिता।
व्यतीत्य लज्जां न तु धर्मवैशसे
सुरेन्द्रतार्थेऽप्युपसंहृतं मनः॥[2]

यह सुन कर आचार्य के हृदय में अत्यन्त आनन्द और विस्मय हुआ। मुक्त-कण्ठ से वोधिसत्त्व की प्रशंसा करते हुए उन्होंने कहा :—

"कुछ भी कारण पा कर मूर्ख अपने धर्म-मार्ग को छोड़ देते हैं; किन्तु तपस्या, विद्या और ज्ञान के धनी सत्पुरुष अत्यन्त कष्ट में भी विचलित नहीं होते हैं।

"निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः।
तपः श्रुतज्ञानधनास्तु साधवो
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम्॥[3]

२—"न खल्वहं निःस्नेहकठिनहृदयत्वादपरितप्यमानो गुरुदुःखैरेवमवस्थितः किन्त्व-संभवादुपाध्यायप्रदर्शितस्य क्रमस्य। न हि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित् पापमाचरितुम्। कुतः ? रहोऽनुपपत्तेः।"

—जातक० १२/१३ के पहले का गद्य

१—जातक० १२/१६

२—जातक० १२/२०

अतः आपकी विद्या सफल हुई, यह आपके सुन्दर आचरण से प्रकट है और इस सफलता के कारण मेरा परिश्रम सुखदायक हुआ।

इस प्रकार आत्म-लज्जा के कारण सत्पुरुष सदाचार की सीमा का उल्लंघन नहीं करते।

१३—उन्मादयन्ती-जातक

तीव्र पीड़ा से पीड़ित होकर भी सत्पुरुष अपने धैर्य की दृढ़ता के कारण कुमार्ग पर नहीं चलते। तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार शिवियों के राजा हुए। वे धर्मपरायण तथा प्रजाहित में तत्पर थे। उनके राज्य में एक प्रधान नागरिक की मूर्तिमती लक्ष्मी के समान एक कन्या थी, जो साक्षात् रति के समान तथा अप्सरा से भी अधिक रूपवती और परम दर्शनीया थी। उसे देख कर किसी का भी मन उन्मत्त हो जाता था। इसलिए भाई-बन्धुओं ने उसका नाम उन्मादयन्ती (पागलपन पैदा करने वाली) रखा। उसके पिता ने राजा से निवेदन किया—हे देव, आपके राज्य में स्त्री-रत्न प्रकट हुआ है। इसे स्वीकार या अस्वीकार करने के सम्बन्ध में देव प्रमाण हैं। राजा ने ब्राह्मणों को उसका लक्षण देखने के लिये भेजा। पिता की आज्ञा से उन्मादयन्ती जब उन ब्राह्मणों को भोजन कराने लगी, तब वे उसका मुख देख कर मुग्ध हो गये। अपनी आँखों और मन पर उनका वश न रहा। वे बेहोश हो गये। तब उस गृहपति ने उनके दृष्टिपथ से अपनी पुत्री को हटा कर स्वयं ब्राह्मणों को परोस कर खिलाया और विदा किया।

रास्ते में ब्राह्मणों ने सोचा—निश्चय ही इस रूप-शोभा से राजा के हृदय में उन्माद पैदा होगा तथा धार्मिक और आर्थिक कार्यों में उनका उत्साह शिथिल हो जायगा। राज-कार्य समय पर सम्पादित न होंगे। इससे प्रजा-हित में बाधा होगी और उनका अनिष्ट होगा।

यह अपने दर्शन-मात्र से मुनियों की सिद्धि में भी विघ्न डाल सकती है। फिर सुख में रहने वाले युवा राजा जब चाव से उसकी ओर देखेंगे तब उनका क्या हाल होगा?

राजा के समीप आकर उन लोगों ने निवेदन किया—"हे महाराज, वह रूपवती अलक्षणों के कारण श्रीहीन है। अतः आपके देखने योग्य भी नहीं है, फिर पत्नी बनाने योग्य कहाँ से होगी? यह सुन कर राजा की चाह नहीं रही। तब उस गृहपति ने उसी राज्य के अमात्य अभिपारग को अपनी कन्या दान कर दी।

एक बार कौमुदी महोत्सव की शोभा देखने की उत्सुकता से वह राजा उत्तम रथ पर चढ़कर राजधानी में घूमने गये। सहसा उनकी दृष्टि अपनी रूप शोभा के

साथ महल के ऊपर खड़ी उन्मादयन्ती पर पड़ी। उसे देखते ही वे मुग्ध हो गये तथा एकान्त में अपने सारथि सुनन्द से उसके विषय में पूछा। सारथि ने कहा—वह किरीटवत्स की बेटी तथा देव के अभिपारग नामक मुख्य मंत्री की पत्नी उन्मादयन्ती है। तब राजा को अत्यन्त क्षोभ हुआ तथा उन्होंने मन ही मन कहा—इस शुभ्र स्मित वाली का उन्मादयन्ती नाम यथार्थ में मधुर और कोमल है। इसने मुझे पागल बना दिया है। लाख प्रयत्न करने पर भी वे उसे भूल न सके तथा शनैः-शनैः क्षीणकाय होने लगे।

कुछ दिनों के बाद उनका मुख्यमंत्री अभिपारग कारण सहित राजा का वृत्तान्त जान लिया। उसे स्नेहवश राजा के अनिष्ट की आशंका हुई। एकान्त में उसने राजा के समीप जा कर निवेदन किया—हे देव, देवपूजन के समय एक यक्ष उपस्थित होकर मुझे सारी बातें बता गया है। अतः आप मेरे ऊपर अनुग्रह करने के लिये उन्मादयन्ती को ग्रहण करें। राजा ने अत्यधिक लज्जा का अनुभव किया तथा अमात्य के द्वारा विविध रूप से प्रार्थना की जाने पर भी संयम से ही काम लिया उसे अनेक प्रकार का धर्मोपदेश भी दिया।

इस प्रकार तीव्र पीड़ा से पीड़ित होकर भी सत्पुरुष अपने धैर्य की स्थिरता और धर्माभ्यास के कारण नीच मनुष्यों के मार्ग पर नहीं चलते, यह जानकर धैर्य और धर्म के अभ्यास में उद्योग करना उचित है।

१४—सुपारग-जातक

धर्म के नाम पर कहा सत्य वचन भी विपत्ति को टालता है, फिर धर्माचरण के फल का क्या कहना? तब जैसा कि सुना जाता है—

किसी जन्म में बोधिसत्त्व एक निपुण नाविक हुए। सतत जागरुकता, कष्ट-सहिष्णुता, सामुद्रिक ज्ञान आदि गुणों के कारण समुद्र-यात्रा में उन्हें परम सिद्धि प्राप्त हुई। इस कारण उनका नाम सुपारग हुआ तथा जिस नगर में वे रहते थे, उसका भी नाम "सुपारग" ही पड़ा, जो आज "सूपारग" के नाम से विख्यात है। यात्रा में सफलता चाहने वाले सामुद्रिक व्यापारी मंगलमय होने के कारण बुढ़ापे में भी सुपारग को अनुनय और आदर के साथ अपने-अपने जलयान में चढ़ा लेते थे।

एक बार सुवर्ण-भूमि के वनियों ने भरुकच्छ से प्रस्थान किया और यात्रा को सफल बनाने की कामना से सुपारग नगर में पहुँच कर उस महापुरुष से अपने जहाज पर चलने के लिये अनुरोध किया—"आपके चरण-कमलों के सम्पर्क से पवित्र हुई धूल से मंगलमय हो कर हमारी यह नाव इस दुर्गम महासमुद्र में भी सकुशल चले, इसीलिए हम आपके समीप आये हैं।[1] तब वह महात्मा बुढ़ापे के कारण शिथिल

१—"त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयसत्कृतेन मङ्गल्यतामुपगता रजसा त्वियं नौः।
दुर्गे महत्यपि च तोयनिधावमुष्मिन् स्वस्ति व्रजेदिति भवन्तमुपागताः स्मः॥
—जातक०—१४/२

शरीर होने पर भी उन पर अनुग्रह करते हुए उनके जलपोत पर चढ़ गये। इससे व्यापारियों को बहुत प्रसन्नता हुई।

क्रमशः उनका जहाज बढ़ने लगा और सायंकाल समुद्र के अथाह मध्य भाग में पहुँचा, जहाँ से चारों ओर कहीं भी किनारा दिखाई नहीं पड़ता था। सूर्य के अस्त होते ही भयंकर तूफान आया, जिससे प्रलयकालीन दृश्य उपस्थित हो गया। जहाज काँपने लगा तथा यात्रीगण व्याकुल होकर अपने-अपने इष्टदेव का स्मरण करने लगे। तब सुपारग ने उन्हें धैर्य बँधाते हुए कहा—महासमुद्र के मध्य में पहुँचने वालों को उत्पात-जन्य कष्ट होता ही है। अतः विषाद करना व्यर्थ है। आप लोग उदासी को त्याग कर अपने-अपने कार्य में सावधान हो जायँ। अनन्तर शान्त चित्त होकर वे लोग समुद्र की ओर देखने लगे। कुछ क्षणों में समुद्र का रंग बदला हुआ तथा भयंकर पुरुषाकार आकृतियाँ जल में गोता लगाते हुए उन सबों को दृष्टिगत हुआ। इससे भयभीत जान कर सुपारग ने उनसे कहा कि ये मछलियाँ हैं। इनसे डरना नहीं चाहिये। किन्तु, हम लोग बहाव में पड़कर दोनों ही नगरों से बहुत आगे आ गये हैं। यह "खुरमाली" नामक समुद्र है। अतः लौटने की कोशिश करें। किन्तु प्रचण्ड वेग से बहने वाली जल-राशि और पश्चिमी वायु के कारण जहाज को लौटाने में वे समर्थ नहीं हो सके। क्रम से भीतर प्रवेश करते हुए उन्होंने समुद्र के अनेक रूप देखे तथा सुपारग से उसका ज्ञान प्राप्त किया। उनका जहाज क्रमशः क्षीरसागर नामक दधिमाली (—दही का माला धारण करने वाला) अग्निमाली, कुशमाली, तथा नलमाली नामक सागर से भी आगे ही बढ़ गया। इससे व्याकुल होकर वे लोग सुपारग से अपना कर्त्तव्य पूछने लगे। इतने में जहाज "बड़वामुख" नामम समुद्र में पहुँच गया, जहाँ से बच कर निकलना असंभव है। अपने को मृत्यु-मुख में पहुँचा जान कर व्यापारीगण जीवन से निराश हो उठे। ऐसी स्थिति देख कर उस महात्मा का हृदय करुणा से भर आया। उसने कहा—मुझे जान पड़ता है कि अब भी हमारी रक्षा का कोई उपाय है। आप लोग मुहूर्त्त भर के लिये धैर्य धारण करें। अब भी जीने की आशा है, यह जानकर उन बनियों ने धैर्य धारण किया। बोधिसत्त्व ने एक कंधे पर चादर रख कर और दाहिने घुटने को जहाज पर टेक सर्वभाव से तथागतों को प्रणाम कर कहा :—

आप मान्य व्यापारियों तथा आकाशवासी देवगण सुनें—"जबसे मैं अपने को याद करता हूँ, जब से मुझे ज्ञान हुआ है, ध्यान करने पर भी स्मरण नहीं हो रहा है कि मैंने कदाचित् किसी प्राणि की हिंसा की है। इस सत्य-वचन से और मेरे पुण्य-बल से जहाज बड़वामुख में प्रविष्ट हुए विना ही सकुशल लौट जाय।

"स्मरामि यत आत्मानं यतः प्राप्तोऽस्मि विज्ञताम्।
नाभिजानामि सञ्चिन्त्य प्राणिनं हिंसितुं क्वचित्॥
अनेन सत्यवाक्येन मम पुण्यबलेन च।
बडवामुखमप्राप्य स्वस्ति नौर्विनिवर्तताम्॥"[१]

१—जातक०—१४/२०-२१

तब उस महात्मा के सत्य-बल और पुण्य-प्रताप से जल-प्रवाह के साथ-साथ बदलती हुई हवा ने जहाज को मोड़ दिया। प्रसन्न मन व्यापारियों ने सुपारग को प्रणाम कर पाल चढ़ा दी। जब जहाज लौट रहा था तथा रात्रि का आरम्भ हो रहा था तब सुपारग ने उनसे कहा :—"हे व्यापारियों, नलमाली आदि जिन समुद्रों को आपने क्रमश: देखा था, उनसे बालू और पत्थर उचित परिमाण में लेकर जहाज पर चढ़ा लें। ये बालू और पत्थर मंगलमय हैं, इनसे अवश्य आपको लाभ होगा।" तब सुपारग के प्रति प्रेम और सम्मान-भाव होने के कारण देवताओं ने उन स्थानों को बतला दिया जहाँ से उन यात्रियों ने वैदूर्य आदि रत्नों को बालू और पत्थर समझ कर जहाज पर चढ़ा लिया। रात बीतते ही उनका जहाज भरुकच्छ पहुँच गया। वहाँ सोना-चाँदी इन्द्रनील और वैदूर्य से जहाज को भरा हुआ देख कर वे आनन्दित हुए तथा अपने देश के समुद्र-तट पर जा कर उन्होंने प्रेमपूर्वक सुपारग की पूजा की।

इस प्रकार धर्माश्रित सत्य-वचन भी विपत्ति को टालता है, फिर धर्माचरण के फल का क्या कहना ? इसलिये धार्मिक होना ही चाहिये। यह भी कहना चाहिये कि सन्मित्र के आश्रय में रह कर मनुष्य कल्याण प्राप्त करते हैं।

१५—मत्स्य-जातक

शीलवान व्यक्ति के उत्तम अभिप्राय इहलोक में ही सिद्ध होते हैं, फिर परलोक का क्या कहना ?

बोधिसत्त्व एक बार किसी सुन्दर सरोवर में मछलियों के स्वामी हुए। अपने पूर्वजन्मों में परोपकार के अभ्यस्त होने के कारण इस जन्म में भी वे दूसरों के हित-कार्य में लगे रहते थे। वे महासत्त्व अपनी प्रिय सन्तानों की तरह मछलियों से स्नेह करते थे तथा दान प्रियवचन, उपकार आदि से उन पर अत्यन्त अनुग्रह करते थे।

एक बार प्राणियों के दुर्भाग्य से तथा वर्षा के अधिकारी देवों के प्रमाद से पर्याप्त वृष्टि नहीं हुई, जिससे वह सरोवर पूर्व की तरह जलपूर्ण नहीं हो सका तथा ग्रीष्म-ऋतु आने पर क्रम से सूख कर तलैया हो गया।

तब विषाद और दीनता के वशीभूत होकर उस सूखे सरोवर में मछलियाँ छटपटाने लगीं तथा तटवर्ती पक्षी उन्हें आहार बनाने को सोचने लगे। यह देख कर मत्स्यकुल पर करुणा करते हुए बोधिसत्त्व ने चिन्तन किया :—

इस बचे हुए जल के सूखने पर निश्चय है कि शत्रु आ कर तड़पती हुई मछलियों को मेरे देखते ही खा जायेंगे। वहाँ से निकल भागने का उपाय नहीं है। अत: इस दारुण विपत्ति में क्या करना उचित है, यह सोचते हुए उस महात्मा ने देखा कि सत्य का प्रभाव पीड़ित प्राणियों का एक सहारा है। उनका हृदय करुणा से भर आया और आकाश की ओर देखते हुए उन्होंने कहा—

"चिन्तन करने पर मुझे स्मरण नहीं हो रहा है कि घोर संकट में भी मैंने

कभी किसी प्राणि की हिंसा की है। मेरे इस सत्य के प्रभाव से देवराज जल बरसा कर जलाशयों को भर दें।"[1]

तब उस महात्मा के पुण्य-प्रताप एवं सत्य-बल से असमय में ही काले बादल चारों ओर फिर आये तथा मधुर गर्जन करते हुए जल बरसाने लगे। चारों ओर फैले हुए जल-प्रवाह से सरोवर भरने लगा। पृथ्वी पर प्रवाहित जलधारा से कौए आदि पक्षी भाग गये। मछलियाँ आनन्दित हुईं तथा बोधिसत्त्व का हृदय आनन्द से भर गया। इससे विस्मित होकर देवेन्द्र शक्र उनके समीप आये तथा स्तुति करते हुए कहा कि असावधानी के कारण मैंने यह भारी भूल की है कि लोकोपकार में दत्तचित्त आप जैसे के कार्य में मैंने सहायता न की। आगे आप चिन्ता न करें। मैं सज्जनों का कार्यभार वहन करूँगा और आपके सद्गुणों के सम्पर्क से यह देश फिर कभी इस प्रकार पीड़ित न होगा। इतना कहकर वे वहीं अन्तर्धान हो गये तथा वह सरोवर जल से परिपूर्ण हो गया।

इस प्रकार सदाचारी व्यक्तियों के उत्तम अभिप्राय इहलोक में ही सिद्ध होते हैं, फिर परलोक का क्या कहना ? अत: शील की विशुद्धि के लिये प्रयत्न करना चाहिये।

१६---वर्तकापोतक-जातक

एक बार बोधिसत्त्व किसी जंगल के भीतर वर्तकापोतक (बटेर-बच्चा) हुए। अत्यल्प अवस्था में भी उनका धर्म-ज्ञान लुप्त नहीं हुआ था। अपने माता-पिता द्वारा लाये गये जीव-जन्तुओं को वे खाना नहीं चाहते थे। उनके द्वारा लाये गये वन्य तृणों के बीज, वट-वृक्ष के फल आदि खा कर ही वे जीवन-धारण करते थे। उस रूखे-सूखे अल्प आहार के कारण उनका शरीर पुष्ट नहीं हुआ और न पंख ही अच्छी तरह उत्पन्न हुए। किन्तु, दूसरे बटेर-शिशु सभी प्रकार के आहार खा कर बलवान हो गये तथा उनके पंख भी विकसित हुए। यह तो स्वाभाविक ही है कि :—

"धर्म-अधर्म का विचार नहीं करनेवाला सर्वभक्षी प्राणी सुख से रहता है; किन्तु धर्मोचित वृत्ति की खोज करनेवाता और निर्दोष पदार्थों को खाने वाला दु:खी रहता है—

"धर्माधर्मनिराशङ्कः सर्वाशी सुखमेधते।
धर्म्यां तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दुःखितः॥"[2]

१—स्मरामि न प्राणिवधं यथाहं सञ्चिन्त्य कृच्छ्रे परमेऽपि कर्तुम्।
अनेन सत्येन सरांसि तोयैरापूरयन्वर्षतु देवराजः।"
—जातक० १५/८

२—जातक० १६/१

जब बटेर-बच्चों की ऐसी स्थिति थी तब एक दिन कुछ ही दूर पर महान् दावाग्नि प्रकट हुआ। तेज हवा से उड़ता हुआ वह अग्नि तृणों की खोज करता हुआ उन बटेर-शावकों के घोसलों के समीप पहुँच गया। तब वे बटेर तथा बटेर-बच्चे भय से व्याकुल हो फूट-फूट कर रोते हुए एक दूसरे का ख्याल न कर सहसा ही उड़ गये। किन्तु, अपनी दुर्बलता और पंख उत्पन्न नहीं होने के कारण बोधिसत्त्व ने उड़ने का प्रयत्न नहीं किया। अपना प्रभाव जान कर वे महासत्त्व विचलित नहीं हुए। तेजी से समीप आते हुए अग्नि से उन्होंने अनुनयपूर्वक कहा :—

"मेरे छोटे-छोटे अशक्त पैरों को पैर कहना व्यर्थ है, मेरे पंख भी अच्छी तरह उत्पन्न नहीं हुए हैं। आपके डर से मेरे माता-पिता भी उड़ गये। हे अग्नि, आपके अतिथि सत्कार के योग्य यहाँ कुछ भी नहीं है। अत: यहाँ से आपका लौटना ही उचित है।"[1]

उस महासत्त्व के द्वारा इस सत्यपूत वाणी में कहे जाने पर वह अग्नि तत्क्षण शान्त हो गया मानो जल की अधिकता से बढ़ी हुई किसी नदी में पहुँच गया हो।

इस प्रकार सत्य-पूत वाणी का अतिक्रमण अग्नि भी नहीं कर सकता। इसलिये सत्य-वचन का अभ्यास करना चाहिये।

१७—कुम्भ-जातक

मद्यपान के दोष तथा बोधिसत्त्व की लोकोपकारिता का कथन इस जातक में है।

भगवान् बुद्ध जब बोधिसत्त्व थे, तब एक बार देवों के अधिपति शक्र हुए। प्राय: धनमद के कारण लोग अपने हित में भी तत्पर नहीं रहते, किन्तु वे देवेन्द्र की लक्ष्मी पाकर भी मद से निर्लिप्त और परोपकार में जागरुक रहे।

एक बार मनुष्य-लोक का निरीक्षण करते हुए उन्होंने देखा कि सर्वमित्र नामक राजा कुसंगति में पड़ कर नगर और ग्राम की जनता के साथ मद्यपान में आसक्त है। यह देख उस महाकारुणिक को अत्यधिक चिन्ता हुई और वे सोचने लगे कि इनके ऊपर विपत्ति आई है, क्योंकि जो दोष देखने में असमर्थ हैं, उन्हें यह मद्यपान (जो आरम्भ में स्वादिष्ट लगता है) रमणीय कुमार्ग की भाँति कल्याण से

१—"व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरुढपक्ष-
स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रडीनौ।
त्वद्योग्य.स्ति न च किञ्चिदिहातिथेय-
मस्मान्निवर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने॥"
—जातक० १६/७

दूर ले जाता है।[1] राजा के कार्यों का अनुकरण करना जनता का स्वभाव है। अतः इस विषय में राजा की ही चिकित्सा करना उचित है।

यह निश्चय कर उस महात्मा ने जटा, वल्कल एवं मृगचर्म धारण किये हुए तेजस्वी ब्राह्मण का रूप बनाकर वामपार्श्व में मदिरापूर्ण मध्यमाकार घड़ा लेकर मद्य-सभा में विराजमान राजा सर्वमित्र के समक्ष अन्तरिक्ष में प्रकट हुए। विस्मय और सम्मान-भाव से प्रेरित सभासद उठ खड़े हुए तथा हाथ जोड़कर उनकी स्तुति करने लगे। तब उच्च स्वर से उन्होंने कहा—इस कण्ठ तक भरे अलंकृत घड़े को आप लोगों में से कौन खरीदना चाहता है ? राजा के द्वारा सादर पूछे जाने पर उस घड़े में स्थित द्रव्य (मद्य) के गुणों (समस्त दोषों) का वर्णन उन्होंने बड़े ही स्पष्ट रूप से किया जिससे राजा का हृदय अत्यन्त प्रभावित हुआ। उनके युक्तिपूर्ण वचनों को सुन तथा मद्य-पान के दोषों को जान राजा मद्य-पान की ओर से विमुख हो गये तथा उन्होंने कहा—

स्नेही पिता या गुरु अथवा नीति अनीति के ज्ञाता मुनि जो कुछ कह सकते हैं, वह सब आपने मेरी भलाई की इच्छा से अच्छा ही कहा। आचरण द्वारा मैं आपके बचनों की विविधवत् पूजा करूँगा। तब तक आप हित-वक्ता गुरु को मैं पाँच उत्तम ग्राम, एक सौ दासियाँ, एक सौ गायें तथा सुशिक्षित अश्वयुक्त दश रथ देता हूँ अथवा आप जो आदेश दें। अनन्तर अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो कर शक्र ने कहा—हे राजन्, आपके उत्तम ग्रामादि का मुझे प्रयोजन नहीं है। आप मुझे देवाधिपति समझें। वचन को आचरण में लाकर ही हितवक्ता की पूजा करनी चाहिए। इससे इहलोक में कीर्ति एवं लक्ष्मी तथा परलोक में अनेक प्रकार के सुख मिलेंगे। अतः मद्य-पान को त्याग कर धर्म की शरण में रहते हुए स्वर्ग प्राप्त करें। यह कह कर शक्र वहीं अन्तर्धान हो गये तथा राजा प्रजा-सहित मद्य-पान से विरत हुए। इस प्रकार मद्य-पान अनेक दोषों से युक्त और अत्यन्तकष्टप्रद है। यह देख कर सज्जन दूसरे को भी इससे रोकते हैं, अपने को तो पहले ही।

१८—अपुत्र-जातक

प्रस्तुत-जातक में गृहस्थ जीवन के दोषों तथा वैराग्य-जीवन के गुणों का वर्णन हुआ है।

एक बार बोधिसत्त्व ने किसी धनी और सदाचारी कुल में जन्म लिया। कालक्रम से बड़े होने पर उन्होंने समस्त विद्याओं का ज्ञान प्राप्त किया। अपनी दर्शनीय आकृति और धर्मसंगत लोक-व्यवहार की अभिज्ञता से वे लोगों के हृदय में स्वजन के समान विराजमान हुए।

---

१. "प्रमुखस्वादु पानं हि दोषदर्शनविक्लवान्।
श्रेयसोऽपहरत्येव रमणीयमिवापथम् ॥" —जातक०–१७/३

गार्हस्थ्य दुःख से युक्त और धर्म का बाधक है, जबकि तपोवन सुखप्राप्ति का स्थान है। यह देखकर घर के सुखों में उनका मन नहीं लगा।

माता-पिता के काल-कवलित होने पर उन्होंने घर की लाखों की सम्पत्ति मित्रों, स्वजनों, दीन-दुखियों, श्रमणों और ब्राह्मणों को यथायोग्य दान कर दी तथा वे प्रव्रजित हो गये। क्रम से ग्रामों, नगरों, निगमों, राज्यों और राजधानियों में विचरण करते हुए किसी नगर के निकट एक वन में रहने लगे। उनके प्रव्रजित होने के समाचार को सुनकर प्रजा ने उनका बड़ा सम्मान किया। उनके पिता के मित्रों ने उनके समीप पहुँच कर कुशल-प्रश्न पूछा तथा वार्त्तालाप के प्रसंग में उनसे स्नेहपूर्वक कहा :—

इस अवस्था में कुल और वंश की उपेक्षा कर प्रव्रजित होना आपकी चपलता है। जबकि सदाचारियों के द्वारा यह धर्म वन में या घर में भी प्राप्त किया जा सकता है, तब अपने श्रीसम्पन्न घर को छोड़कर आप क्यों जंगल में रहना पसन्द करते हैं? अतः आप यहाँ से अपने घर लौट चलें तथा वहाँ रह कर धर्म और सत्पुत्र प्राप्त करें। किन्तु वैराग्य-सुख के अमृत-रस से पवित्र-बुद्धि बोधिसत्त्व को कामोपभोग के निमन्त्रण से उतना ही कष्ट हुआ जितना कि भोजन से परितृप्त व्यक्ति को भोजन की बात सुन कर होता है। उन्होंने कहा—अवश्य ही स्नेह के वशीभूत होकर आपने यह वचन कहा है। अतः इससे बहुत दुःख नहीं हुआ। किन्तु, गृहस्थी में सुख होने का भान नहीं करना चाहिये।'' इसके बाद विस्तार से गृहस्थी के दोषों का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा :—

''मदमानमोहभुजगोपलयं प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम्।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं बहुतीव्रदुःखनिलयं निलयम्॥''[१]

अर्थात् घर दारुण विपत्तियों का स्थान, मद, अभिमान और मोहरूप सर्पों का निवास, शान्ति-सुख का विनाशक तथा सामने में उपस्थित सर्वनाश है। अतः घर का आश्रय कौन ले? इसके विपरीत ''संतुष्ट प्राणियों के निवास-स्थान, वैराग्य-से परिपूर्ण तपोवन में मन जितना आनन्दित होता है, उतना आनन्दित स्वर्ग में भी कहाँ से होगा?''[२]

जब इस प्रकार हृदयग्राही शब्दों में उन्होंने अपने पिता के मित्र को समझाया तब उसने विशेष सत्कार द्वारा उनका सम्मान किया।

१—जातक० १८/२०

२—संतुष्टजनगेहे तु प्रविविक्तसुखे वने।
प्रसीदति यथा चेतस्त्रिदिवेऽपि तथा कुतः॥
—जातक० १८/२१

इसलिए गृहस्थ-जीवन शील और शान्ति के प्रतिपक्षों से भरा है, यह समझ कर आत्म-कल्याण की कामना वाले लोग गृहस्थ-जीवन का परित्याग करते हैं। जिन्होंने वैराग्य रस का आस्वादन कर लिया है, वे फिर काम-भोगों में नहीं भटकते।

१९—बिस-जातक

प्रस्तुत जातक में वैराग्यसुख का वर्णन है।

बोधिसत्त्व ने एक बार किसी विख्यात ब्राह्मण कुल में जन्म लिया। उनके छ: छोटे भाई उन्हीं के अनुरूप गुणवान तथा उनके सदा अनुवर्त्ती थे। सातवीं एक बहिन थी। बोधिसत्त्व ने साङ्ग वेदाध्ययन कर संसार में सम्मान प्राप्त किया। देव-तुल्य माता-पिता की अत्यन्त भक्तिपूर्वक सेवा करते हुए तथा आचार्य और पिता के समान भाइयों को विद्या सिखाते हुए वे नीतिपूर्वक घर में रहते थे। काल-क्रम से उनके माता-पिता की मृत्यु हुई, जिससे उनके हृदय में संवेग हो गया। उनका श्राद्ध-संस्कार सम्पन्न होने के कुछ दिनों के बाद बोधिसत्त्व ने भाइयों को अपने प्रव्रजित होने की सूचना दी। यह सुनकर उन लोगों को बड़ी व्यथा हुई। प्रणाम कर उन लोगों ने कहा :—

"पितृ-वियोग के शोक-शल्य का घाव अभी भरा नहीं है। यह दूसरा दुःख रूपी नमक देकर उसे ताजा करना आप पूज्य के लिए उचित नहीं है। यदि गृहानुराग अनुचित और वनवास-सुख कल्याण का मार्ग है, तो हम भी प्रव्रजित होंगे।" अनन्तर आठों भाई-बहन विशाल घर-द्वार, बहुमूल्य-सम्पत्ति तथा रोते हुए स्वजनों और बन्धुओं को छोड़कर तापसोचित प्रव्रज्या से युक्त हो गये। उनके अत्यन्त अनुरक्त एक सहायक, एक दासी ओर एक दास भी उनके साथ प्रव्रजित हुए। वे सभी किसी बड़े जंगल के भीतर पहुँच कर एक कमलपूर्ण सरोवर के किनारे पृथक्-पृथक् पर्णशाला बनाकर व्रत-नियमों का पालन करते हुए ध्यानावस्थित चित्त से विहार करने लगे। वे प्रति पाँचवें दिन बोधिसत्त्व के समीप धर्मोपदेश सुनने के लिए जाया करते थे। वह दासी स्नेह और सम्मान-भाव के कारण पूर्ववत् उनकी सेवा करती रही। उस सरोवर से कमल-नाल निकाल कर वह किनारे के पवित्र स्थान पर कमल के बड़े-बड़े पत्तों पर बराबर-बराबर हिस्सा लगाकर रखती थी और काठों की चोट के शब्द से आहार-काल निवेदन कर वहाँ से हट जाती थी। होम-जप के बाद वे ऋषि उम्र के अनुसार एक-एक कर वहाँ आते थे और क्रम से कमल-नाल का एक-एक हिस्सा लेकर अपनी-अपनी पर्णशाला में चले आते थे। वहाँ विधिवत् उसे खाकर ध्यानावस्थित चित्त से बिहार करते थे। उनके इस निर्दोष शील-सदाचार, वैराग्य-रति एवं ध्यान में दत्त-चित्तता के कारण उनका यश चारों ओर फैल गया, जिसे सुनकर देवताओं के स्वामी शक्र उनकी परीक्षा लेने के लिये वहाँ आये। आहार-काल की सूचना देकर दासी के हटने पर देवराज इन्द्र ने कमल-नाल के पहले हिस्से को अन्तर्धान कर दिया। पूर्व की भाँति बोधिसत्त्व जब अपना हिस्सा

लेने आये तब वहाँ कमल-नाल को नहीं पाया। यह देख कर उन्होंने निश्चय किया—"किसीने मेरा अंश ले लिया है।" मन में संक्षोभ किये बिना ही वहाँ से लौट कर अपनी पर्णशाला में आये तथा यथोचित ध्यान-विधि में लग गये। किसी से यह समाचार भी नहीं कहा। दूसरे भाई पूर्ववत् अपना हिस्सा लेते रहे। इसी प्रकार दूसरे, तीसरे, चौथे एवं पाँचवें दिन भी शक्र ने वैसा ही किया। महासत्त्व बोधिसत्त्व भी उसी प्रकार क्षोभरहित और शान्तचित्त रहे।

अपराह्न-काल में धर्मोपदेश सुनने के लिए वे ऋषि पूर्ववत् बोधिसत्त्व की पर्णशाला में गये तथा उनके क्षीण काय को देखकर उनसे दुबलेपन का कारण पूछा। बोधिसत्त्व ने सभी बातें सच-सच बतला दीं। उन तापसों को आपस में इस प्रकार के अनाचार की आशंका नहीं हुई। तब सबों ने आवेग और पवित्रता प्रकट करते हुए काम-भोगों की प्रतिकूलता सूचक शपथ ली, जिससे देवराज इन्द्र के मन में विस्मय और सम्मान हुआ। अपना उज्ज्वल रूप प्रकट कर उन्होंने कहा—कठिन तपस्या से प्राप्य काम-भोगों की आप निन्दा क्यों करते हैं? तब बोधिसत्त्व ने काम-भोगों के क्लेशों का वर्णन किया जिसे सुनकर इन्द्र को प्रसन्नता हुई तथा उन्होंने अपना अपराध स्वीकार किया। कमल-नाल उपस्थापित कर उन्होंने उस महातमा से क्षमा-याचना की ओर अपराध क्षमा कराकर वे वहीं अन्तर्हित हो गये।

इस प्रकार जिन्होंने वैराग्य-सुख के रस को जान लिया है, उनके लिये काम-भोग हिंसा और विडम्बना के समान अनिष्ट होते हैं।

२०. श्रेष्ठि-जातक

गुण नहीं होने पर भी यदि उसकी कल्पना की जाय तो इससे साधुजनों को अंकुश की सी प्रेरणा मिलती है। कहा जाता है कि एक बार बोधिसत्त्व किसी राजा के कोषाध्यक्ष हुए। अपनी विद्या, वंश एवं उदार विचार से वे शीघ्र ही विख्यात हुए। महादानी और महाधनी होने के कारण वे बड़े-बड़े गृहपतियों से पूजित हुए।

एक बार किसी कार्य से उस महापुरुष के राजकुल जाने पर उनकी सास अपनी बेटी को देखने के लिये उनके घर आई। स्वागत-सत्कार होने पर बातचीत के प्रसंग में उसने अपनी पुत्री (बोधिसत्त्व की भार्या) से एकान्त में पूछा—"हे तात। क्या स्वामी तेरा अपमान तो नहीं करते हैं? लजाती हुई उसने धीरे से कहा—इनके जैसा शीलवान और सदाचारी तो प्रव्रजित भी दुर्लभ है। बुढ़ापे के कारण उसकी माता की सुनने और समझने की शक्ति क्षीण हो गयी थी। अत: अपनी बेटी के द्वारा लज्जा से संक्षेप में कहे गये अस्पष्ट वचन को वह ठीक-ठीक न समझ सकी। "प्रव्रजित" शब्द सुनकर उसने निश्चय कर लिया कि "मेरा जामाता प्रव्रजित हो गया"। अपनी बेटी के लिये शोक करती हुई वह जोर-जोर से रोने लगी तथा करुण विलाप करने लगी। अपने पति की प्रव्रज्या के सम्बन्ध में अपनी माता के

उस करुण और अकृत्रिम विलाप को सुनकर बोधिसत्त्व की पत्नी के हृदय में व्यथा और घबराहट हुई। शोकवश वह बातचीत के प्रसंग को भूल गयी। मेरे पति प्रव्रजित हो गये, इस अप्रिय समाचार को सुनकर मेरी माता मुझे सान्त्वना देने के लिये यहाँ आई हैं" यह निश्चय कर वह उच्च स्वर से रोती-विलपती मूर्छित हो गयी। यह जानकर घर के अन्य लोग तथा नौकर-चाकर सभी दुख के आवेग से रोने लगे। इस क्रन्दन को सुनकर बोधिसत्त्व के पड़ोसी मित्र, स्वजन, बन्धुबान्धव, आश्रित ब्राह्मण—और गृहयति प्राय: समस्त पुरवासी उस घर में आ गये।

बोधिसत्त्व जब राजकुल से लौटकर अपने घर के समीप पहुँचे तो अपने घर में रोने-पीटने का शब्द और लोगों की बड़ी भीड़ एकत्रित जानकर वे अपने अनुचर को पता लगाने भेजे। वृत्तान्त जानकर लौटने पर उसने कहा—

उत्सृज्य भवनं स्फीतमार्यः प्रव्रजितः किल।
इति श्रुत्वा कुतोऽप्येष स्नेहादेवंगतो जनः॥[1]

अर्थात् आर्य प्रव्रजित हो गये हैं, कहीं से यह सुनकर स्नेहवश लोगों की ऐसी दशा हो गयी है।

स्वभाव से ही शुद्धचित्त वे महात्मा अपने संबंध में लोगों की ऐसी श्रद्धा जान कर लज्जित और विरक्त हो गये तथा सोचने लगे—

"संभावनामस्य जनस्य तस्मात्क्रियागुणेन प्रतिपूजयामि।
असत्परिक्लेशभयं विमुञ्चंस्तपोवनप्रेमगुणेन गेहम्॥[2]

अर्थात् अपने गुणों के सम्बन्ध में लोगों की इस उत्तम संभावना को कार्यरूप में सम्मानित करूँगा। तपोवन की अभिलाषा से बुराइयों और क्लेशों से परिपूर्ण घर को छोड़ूँगा। ऐसा सोच कर वे महात्मा वहीं से लौट गये तथा पुन: राजा के समीप जाकर बोले—"मैं प्रव्रजित होना चाहता हूँ। देव मुझे इसकी आज्ञा दें। तब घबड़ा कर और आवेग में आकर राजा ने अनेक प्रकार से स्नेहपूर्ण शब्दों में उन्हें समझाया किन्तु उस महाज्ञानी पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा तथा उन्होंने वहीं से जंगल के लिये प्रस्थान कर दिया। अनन्तर मित्रों, बन्धु-बान्धवों, और आश्रितों ने आँसू बहाते हुए उन्हें रोकना चाहा। किसी ने प्रेमपूर्वक कठोर वचन कहे। गृहस्थाश्रम ही सबसे पवित्र है। इस प्रकार दूसरों ने शास्त्र और युक्ति द्वारा उन्हें समझाना चाहा। अपने उन मित्रों को तपोवन की यात्रा से रोकने में दृढ़संकल्प तथा अश्रु-जल से आर्द्रमुख देख उन्हें चिन्ता हुई :—

१—जातक० २०।९
२—जातक० २०।१२

"निवारणार्थानि सगद्गदानि
वाक्यानि साश्रूणि च लोचनानि।
प्रणामलोलानि शिरांसि चैषां
मानं समानस्य यथा करोति॥
स्नेहस्तथैवार्हति कर्तुमेषां
श्लाघ्यामनुप्रव्रजनेऽपि बुद्धिम्॥
मा भून्नटानामिव वृत्तमेतद्—
व्रीडाकरं सज्जनमानसानाम्॥"[1]

अर्थात् जिस प्रकार स्वजन के प्रति सम्मान-भाव के कारण ये मुझे रोकने के लिए गद्‌गद् वचन कह रहे हैं, आँखों से आँसू बहा रहे हैं और शिर झुका कर प्रणाम कर रहे हैं, उसी प्रकार स्नेह-भाव के कारण इन्हें मेरे पीछे प्रव्रजित होने की सुबुद्धि प्राप्त हो, जिससे इनका यह आचरण नाटक के पात्रों का सा सज्जनों के लिये लज्जाजनक न हो, यह सोचते हुए उन्होंने निश्चय किया कि—

यैर्विप्रलब्धाः सुहृदो ममैते
न यान्ति शान्तिं निखिलाश्च लोकाः।
तपोवनोपार्जितसत्प्रभावस्—
तानेव दोषान्प्रसभं निहन्मि॥"[2]

अर्थात् जिन दोषों के वशीभूत मेरे इन मित्रों तथा समस्त संसार को शान्ति नहीं मिल रही है, तपोवन में रह कर मैं वह उत्कृष्ट शक्ति प्राप्त करूँगा, जिससे उन दोषों का बलात् विनाश कर सकूं। तब वे मित्रों की स्नेहपूर्ण चेष्टाओं की उपेक्षा कर तपोवन चले गये।

इस प्रकार गुण नहीं होने पर भी यदि उसकी संभावना की जाय तो इससे साधुजनों को अंकुश की सी प्रेरणा मिलती है। अतः गुण प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। धर्म का आश्रय लेने में साथियों का मिलना कठिन है, यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिए।

२१—चुड्डबोधि–जातक

इस जातक के द्वारा क्रोध के उपशमन का उपाय विनय है तथा क्षमावान व्यक्ति अपना और शत्रु दोनों का हित-साधक होता है, इसकी शिक्षा दी गयी है।

सुना जाता है कि एक बार बोधिसत्त्व ने किसी महान् ब्राह्मण-कुल में जन्म लिया। यथासमय उनके सभी संस्कार हुए। अल्प-काल में ही वे विद्वानों में विख्यात

---

१. जातक० २०/२९–३०

२. जातक० २०/३७

हो गये जैसे रत्नज्ञों के यहाँ रत्न और समर में शूर[1]। पूर्व-जन्मों से ही प्रव्रज्या से परिचित तथा प्रज्ञा से पवित्र गृहस्थी में वे आनन्द प्राप्त करने में असमर्थ हुए। गृहस्थी में उन्होंने अनेक दोषों से युक्त सांसारिक कामोपभोगों को त्याग कर प्रव्रज्या के विनय रूपी नियम को धारण किया।

बोधिसत्त्व का तपोवन-गमन सुनकर अतिशय अनुरागपरायणा उनकी पत्नी ने मना किये जाने पर भी बाह्य अलंकरणों का सर्वथा परित्याग कर स्वाभाविक गुण-शोभा से अलंकृत हो तथा काषाय-वस्त्र धारण कर उनका अनुगमन किया। वे दोनों सघन वृक्षों की छाया से सुशोभित किसी एकान्त स्थान में आये तथा ध्यान-विधि में रत हो गये।

एक दिन वहाँ का राजा वासन्तिक शोभा से सुशोभित उस वन में विचरण करता हुआ विनयपूर्वक बोधिसत्त्व के समीप पहुँचा। समीप से ही सहज-सुन्दर संन्यासिनी को देख कर उसका चित्त आकृष्ट हुआ। अवश्य ही यह इसकी सहधर्म-चारिणी है, यह जान कर भी अपने चंचल स्वभाव के कारण वह उसके अपहरण का उपाय सोचने लगा। तपस्वियों के तप:प्रभाव से परिचित रहने के कारण उसने पहले उस महात्मा के तपोबल को जानने की चेष्टा की। उसने सोचा यदि इसके प्रति यह अति अनुरक्त होगा तो इसमें तपस्या का अतिशय प्रभाव भी अवश्य नहीं होगा। अत: उसने कहा—भगवन्, इस एकान्त वन में ऐसी सुन्दरी के साथ रहना उचित नहीं है। यदि इसे बलात् अपहरण करने का कोई प्रयास करे तो आप क्या करेंगे ? तब बोधिसत्त्व ने उत्तर दिया—

"स्यादत्र मे यः प्रतिकूलवर्ती
दर्पोद्भवादप्रतिसंख्यया वा।
व्यक्तं न मुच्येत स जीवतो मे
धाराघनस्येव घनस्य रेणुः॥"[2]

अर्थात् विरोध और अपमानभाव के कारण जो मेरे प्रतिकूल आचरण करेगा निश्चित ही मेरे जीवित रहते वह बच नहीं सकता, जैसे जल-धारा-वर्षी मेघ धूल को नहीं छोड़ता है। तब उस राजा ने सोचा—यह अवश्य ही इसके प्रति अति अनुरक्त तथा तपोबल से रहित है। अत: राजपुरुषों को आदेश दिया—"इस संन्यासिनी को अन्त:पुर में ले चलो।" यह सुनकर उस संन्यासिनी के करुण विलाप करने पर भी राजपुरुष बलपूर्वक रथ पर चढ़ाकर उसे अन्त:पुर की ओर ले चले। बोधिसत्त्व क्रोध

१—कीर्तिर्विद्वत्सदस्स्वेव विदुषां प्रविजृम्भते।
रत्नज्ञेष्विव रत्नानां शूराणां समरेष्विव॥
—जातक० २१/१

२—जातक० २१/११

का उपशमन कर पूर्ववत् शान्ति धारण किये बैठे रहे। इस पर राजा ने उत्तेजक वाणी में कहा—तुमने अभी जो प्रतिज्ञा की थी, उसके अनुरूप कोई भी कार्य करते मैं तुम्हें नहीं देख रहा हूँ। उस महात्मा ने उसी शान्तपूर्ण मुद्रा में कहा—महाराज, मेरी प्रतिज्ञा अव्यर्थ है। मेरी शान्ति तो भंग नहीं हुई है। क्योंकि—

"योऽभून्ममात्र प्रतिकूलवर्ती
विस्यन्दमानोऽपि स मे न मुक्तः।
प्रसह्य नीतः प्रशमं मया तु
तस्माद्यथार्थैव मम प्रतिज्ञा ॥"[1]

अर्थात् यहाँ मेरे प्रतिकूल आचरण करने के लिए जो चलायमान हो रहा था, उसे मैंने न छोड़ा। उसे बलपूर्वक शान्त कर दिया। अतः मेरी प्रतिज्ञा सत्य हुई। बोधिसत्त्व की धैर्यातिशयव्यंजक शान्ति को देख कर राजा अत्यन्त प्रभावित हुए तथा समझ गये कि यह महात्मा अतिशय तपोबल से युक्त है। मैंने चापल्यवश बहुत बड़ा अपराध किया है। राजा के पश्चात्ताप को सुनकर बोधिसत्त्व ने सुन्दर वाणी में क्रोध की निन्दा और शान्ति की प्रशंसा की। क्रोध के दुष्परिणामों को बतलाकर उन्होंने सिद्ध कर दिया कि क्रोध सबसे बड़ा शत्रु है तथा शान्ति उस पर विजय।

क्रोध के अभिव्यंजक सभी उपकरणों के प्रस्तुत होने पर भी उस महासत्त्व के क्रोध की अभिव्यक्ति न होने से क्रोधरूपी शत्रु पर उनकी विजय प्रदर्शित करना इस कथा का उद्देश्य है। अनुरागवती पत्नी के बलपूर्वक अपहरण से बढ़ कर क्रोध का अभिव्यंजक और क्या हो सकता है ? क्रोध प्रशमन के द्वारा किसी भी कार्य की हानि नहीं हो सकती है तथा तपस्वियों का रूप क्षमा ही है, यह भी इस कथा के द्वारा प्रदर्शित किया गया है।

२२—हंस-जातक

असज्जन पुरुष सज्जनों के वृत्तान्त को किसी भी प्रकार से समझने में असमर्थ होते हैं, बोधिसत्त्व के चरित्रों को समझने की तो बात ही क्या ?

सुना जाता है कि बोधिसत्त्व एक जन्म में मानस-महासरोवर में असंख्य हंसों के अधिपति धृतराष्ट्र नामक हंसराज हुए। सभी गुणों से युक्त उनका सुमुख नामक सेनापति था। वे दोनों परस्पर अतिशय प्रेम रखते हुए निवास करते थे। वहाँ के हंस उनसे अनुगृहीत होकर धर्मार्थविस्तारपूर्वक समृद्धि-सम्पन्न हुए। सभी प्राणियों के हितसाधन की कामना वाले हंसाधिपति एवं उनके सेनापति के गुणों के प्रभाव से विस्मित सिद्धर्षि, विद्याधर, देवगण, आदि ने सर्वत्र इनकी चर्चा करते हुए यह घोषणा की कि हंस के वेष में विनय और नय के अवतार ये कोई महापुरुष हैं।

१—जातक० २१/२०

उस समय वाराणसी में ब्रह्मदत्त नामक राजा थे। उन्होंने हंसाधिपति धृतराष्ट्र तथा सेनापति सुमुख की गुण-गरिमा की कथा सुनकर इनके दर्शन का निश्चय किया तथा अनेक शास्त्रवित् मंत्रियों को इस अभीष्ट-सिद्धि के उपाय का अन्वेषण करने के लिये कहा। उन लोगों ने अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार सोच कर नीतिपूर्ण मार्ग का निर्देश किया—

"सुखाशा देव भूतानि विकर्षति ततस्ततः।
सुखहेतुगुणोत्कर्षश्रुतिस्तावानयेदितः॥"[1]

अर्थात् सुख की आशा प्राणियों को दूर-दूर से आकृष्ट करती है। अतः सुख के हेतु रूप उत्कृष्ट गुणों का श्रवण उन्हें यहाँ ला सकता है। इसलिये किसी वन-प्रान्त में अतिशय उत्कृष्ट एक सुन्दर सरोवर की रचना की जाय तथा पक्षियों के अभयदान की घोषणा की जाय। राजा ने उनके कथन का अभिनन्दन किया तथा विमल जल से पूर्ण एवं पुष्पित कमलदल से शोभायमान एक बहुत बड़े सरोवर की रचना कराई जिससे समीपस्थ क्षेत्र भी सुवासित हो रहा था। पक्षियों के सुखोपभोग की सभी सामग्री प्रस्तुत कर प्रतिदिन उनके विश्वासार्थ अभय-दान की घोषणा कराई जाती थी—

"एष पद्मोत्पलदलच्छन्नतोयमिदं सरः।
ददाति राजा पक्षिभ्यः प्रीत्या साभयदक्षिणम्॥"[2]

एक समय, जब सभी दिशायें प्रबुद्ध कमल वन की शोभा से व्याप्त थीं, दिग्दिगन्त में विचरण करते हुए किसी हंस-युगल ने मानस से आने पर हंसराज धृतराष्ट्र से वाराणसी के उस मनोभिराम सरोवर के सौंदर्य का वर्णन किया तथा कहा—हे भगवन्, उस सरोवर में पक्षिगण निर्भय होकर अपने घर के समान विचरण करते हैं। अतः वर्षा-काल व्यतीत होने पर आप भी वहाँ चलने की कृपा करें। अन्य हंसों ने भी वहाँ जाने की उत्कंठा व्यक्त की। तब उनके सेनापति ने सानुनय निवेदन किया—आपका वहाँ जाना उचित नहीं है देव, क्योंकि वहाँ लोभनीय मनोहर वस्तु सुलभ है। दौरात्म्य-मधुर और औपचारिक वचनों से प्रच्छन्न रहता है। दुष्ट मानव-हृदय कोमलता से आवृत्त रहता है। वणिक् लोग लाभ की आशंका से व्यय करते ही हैं—

"उच्यते नाम मधुरं स्वनुबन्धि निरत्ययम्।
वणिजोऽपि हि कुर्वन्ति लाभसिद्धयाशया व्ययम्॥"[3]

यदि जाना ही हो तो वहाँ जाकर चिरकाल तक ठहरना तो सर्वथा अनुचित है।

अनन्तर शारदीय शोभा से पूर्ण विमल चन्द्र-किरणों की छाया में हंसराज यूथसहित ब्रह्मदत्त के उस सरोवर के दर्शन की अभिलाषा से गये। अभय-घोषणा

१—जातक० २२/६
२—जातक० २२/१७
३—जातक० २२/२०

सुनकर तथा पक्षियों की स्वच्छन्दता को देखकर उद्यान-यात्रा का अनुभव करते हुए उन लोगों ने वहाँ अतिशय प्रसन्नता का अनुभव किया। उस तालाब के अधिकारियों ने उन हंसों के आगमन की सूचना राजा को दी :—

"जैसे गुण और रूप की चर्चा इन हंसों के विषय में सुनी गयी थी, वे वैसे ही हैं। स्वर्ण के समान कान्तिमान पंख वाले वे आपके सरोवर की शोभा बढ़ा रहे हैं।" यह सुन कर राजा ने कुशल व्याधों को उन्हें पकड़ लाने का आदेश दिया। व्याधों ने हंसराज के विचरण-स्थल में जाल फेंक दिया। विश्वास के कारण निर्भय हंसराज विचरण करते हुए जाल में फंस गये। तब उन्होंने शब्द द्वारा इसकी सूचना दे दी जिससे अन्य पक्षीगण इस आपत्ति से बच जाँय। उनके फंस जाने से व्यथित-हृदय वे हंस भय से व्याकुलचित्त होकर उड़ गये; किन्तु उनका सेनापति और अभिन्न मित्र सुमुख उनके समीप से नहीं हटा। सच है—

"स्नेहावबद्धानि हि मानसानि
प्राणात्ययं स्वं न विचिन्तयन्ति।
प्राणात्ययाद्दुःखतरं यदेषां
सुहृज्जनस्य व्यसनार्तिदैन्यम् ॥"[1]

अर्थात् स्नेह से आवद्ध हृदय अपने प्राण के विनाश की भी चिन्ता नहीं करता; क्योंकि अपने मित्रों का दुःख-दैन्य प्राणत्याग से भी अधिक दुःखदायी होता है।

अनन्तर बोधिसत्त्व एवं सुमुख के वीच परस्पर नीतिपूर्ण वार्त्तालाप होता है। वोधिसत्त्व कहते हैं :—ये क्षण विलम्ब के नहीं हैं। अत: जल्दी चले जाओ।

"गच्छ गच्छेव सुमुख क्षमं नेह विलम्बितुम्।
साहाय्यस्यावकाशो हि कस्तवेत्थं गते मयि ॥"[2]

अनन्तर सुमुख कहता है :—"यहाँ पर स्थित व्यक्ति की न तो ऐकान्तिक मृत्यु हो सकती है और न जाने पर अमरत्व ही मिल सकता है। सुख में आपकी उपासना कर आपत्ति में कैसे छोड़ सकता हूँ ? मात्र अपने प्राण की रक्षा के लिये आपको छोड़ कर जाने पर कितने धिक्कारों की वर्षा मुझ पर होगी ? अतः मैं आपको छोड़कर नहीं जाऊँगा—

नैकान्तिको मृत्युरिह स्थितस्य
न गच्छतः स्यादजरामरत्वम्।
सुखेषु त्वां समुपास्य नित्य—
मापद्गतं मानद केन जह्याम् ॥
स्वप्राणतन्तुमात्रार्थं त्यजतस्त्वां खगाधिप।
धिग्वादवृष्ट्यावरणं कतमन्मे भविष्यति ॥

१—जातक०-२२/२५

२—जातक०-२२/२६

नैव धर्मो महाराज त्यजेयं त्वां यदापदि ।
या गतिस्तव सा मह्यं रोचते विहगाधिप ।।"[1]

इस प्रकार प्रेम और त्याग विषयक वार्त्तालाप करते हुए उन दोनों ने साक्षात् मृत्यु के समान व्याध को आते हुए देख कर मौनभाव धारण कर लिया। पाश-स्थान में आकर उन दोनों को बहेलिये ने देखा तथा उनकी रूप-शोभा से विस्मित होकर पाश समेटने लगा। तब एक को बद्ध तथा दूसरे को स्वस्थचित्त और उसकी उपासना करते देख आश्चर्यचकित होकर उसने सुमुख से वहाँ से नहीं भागने का कारण पूछा। सुमुख ने मनुष्य की वाणी में कहा :—तुमने तो पाश के द्वारा इनके चरण को बाँधा है; किन्तु इनके दृढ़तर गुणों द्वारा मेरा हृदय बँधा हुआ है। अतः इनको छोड़कर जाना कैसे संभव है ?

"अयं पाशेन महता संयतश्चरणे त्वया ।
गुणैरस्य तु बद्धोऽहमतो दृढतरैर्हृदि ।।"[2]

और भी—

ये मेरे राजा और प्राण के समान प्रिय मित्र हैं। इस सुखदाता को विषम स्थिति में छोड़ कर अपनी प्राणरक्षा के लिये मैं कदापि नहीं जा सकता हूँ।

"राजा मम प्राणसमः सखा च
सुखस्य दाता विषमस्थितश्च ।
नैवोत्सहे येन विहातुमेनं
स्वजीवितस्याप्यनुरक्षणार्थम् ।।"[3]

सुमुख के इस प्रकार के प्रेम और त्यागपूर्ण वचन सुन कर कठिन हृदय होने पर भी निषाद ने विस्मय और आदर के साथ उसकी हृदय से प्रशंसा की तथा हंसराज को पाशमुक्त कर दिया। इससे आनन्दित हो सुमुख ने कहा :—तुम हजारों वर्षों तक सुखी रहो। तुम्हारा श्रम विफल न हो। इसलिये हमें पकड़ कर राजा के समीप ले चलो। इससे प्रसन्न होकर राजा तुम्हें प्रचुर धन देगा। निषाद ने मुक्त हंस-युगल को राजा के समक्ष उपस्थित किया। अत्यधिक प्रसन्न होकर राजा ने उससे सम्पूर्ण वृत्तान्त पूछा। निषाद ने आद्योपान्त सच-सच कह दिया। परम प्रसन्न होकर राजा ने उसे रत्नों के प्रभूत दान से संतुष्ट किया तथा ससम्मान हंसराज को सुवर्णासन पर एवं सुमुख को वेत्रासन पर बैठाया। कुशल-प्रश्न के अनन्तर राजा ने निवेदन किया कि सत्समागम की मेरी चिर अभिलाषा आज पूरी हुई। आज आपको पाशबद्ध कर मैंने अतिशय चापल्य किया है। इसके बाद हंसयुगल एवं राजा के बीच बहुत ही सुन्दर वार्त्तालाप हुआ और अन्त में राजा से अभिनन्दित हो दोनों ने वहाँ से प्रस्थान किया। इस प्रकार कष्ट में पड़े हुए

१—जातक० २२।२७-२९
२—जातक० २२।४२
३—जातक० २२।४४

सज्जनों के वृत्तान्त का अनुभव असत्पुरुष नहीं कर सकते। कल्याण-वाणी सतत कल्याणकर होती है। कल्याणकर मित्र के द्वारा कष्ट में भी इष्टसिद्धि होती है।

इस जातक के द्वारा मित्र एवं सेवकों के कर्तव्य का निर्देश किया गया है। कर्तव्यपरायण व्यक्ति अपना तथा स्वामी का हितसाधक होता है तथा दूसरे में भी कर्तव्यभावना को अनुप्राणित करता है। सत्पुरुष विपत्ति में भी अपने कर्त्तव्य का पालन अवश्य करते हैं।

२३—महाबोधि-जातक

असत्कृत होने पर भी पूर्वोपकारियों के प्रति सज्जनों की अनुकम्पा में कमी नहीं होती है; क्योंकि वे कृतज्ञ और क्षमाशील होते हैं। यह इस अनुश्रुति से प्रमाणित है—

बोधिसत्त्व की अवस्था में भगवान् बुद्ध एक बार महाबोधि नामक परिव्राजक हुए। गृहस्थावस्था में ही उन्होंने लोकप्रिय विद्याओं का विधिवत् अभ्यास किया तथा विविध कलाओं की ज्ञानपिपासा शान्त की। प्रव्रज्या लेकर लोकहित के लिए उद्योग करते हुए उन्होंने धर्मशास्त्रों का विशेष अध्ययन किया तथा शीघ्र ही उनमें आचार्य का पद प्राप्त किया। अपने पुण्यबल, ज्ञानमाहात्म्य, लोकज्ञान और सुन्दर आचरण के कारण वे जहाँ कहीं जाते थे, वहीं विद्वानों, राजाओं, ब्राह्मणों तथा संन्यासियों से स्वागत-सत्कार और सम्मान प्राप्त करते थे।

लोगों पर अनुग्रह करने के लिए संसार में विचरण करते हुए वे महात्मा एक समय किसी राजा के राज्य में पहुँचे। उनके आगमन का समाचार जान कर उनके गुणों से आकृष्टचित्त राजा ने प्रसन्न होकर अपने रमणीय उद्यान में उनके लिए निवास बनवाया तथा शिष्य की भाँति उनकी उपासना करते हुए उन्हें सम्मानित किया। बोधिसत्त्व ने भी सुखद धार्मिक कथाओं से प्रतिदिन उन्हें कल्याणमार्ग का उपदेश देते हुए अनुगृहीत किया। क्योंकि—परानुकम्पी धर्मात्मा व्यक्ति सभी को कल्याणकारी उपदेश देते हैं। कल्याणकामी प्रेमी सत्पात्र की प्राप्ति पर तो कहना ही क्या ?—

"अदृष्टभक्तिष्वपि धर्मवत्सला
हितं विवक्षन्ति परानुकम्पिनः।
क एव वादः शुचि भाजनोपमे
हितार्थिनि प्रेमगुणोत्सुके जने ॥"[१]

बोधिसत्त्व के सद्गुणों के प्रतिदिन बढ़ रहे सत्कार को देख कर राजा के प्रतिष्ठित सभासदों और अमात्यों ने ईर्ष्या-द्वेष से दग्धहृदय होकर भेद उत्पन्न करने वाली बात को हित की बात के समान बार-बार राजा से कहा—

१—जातक०-२३/३

"नार्हति देवो बोधिपरिव्राजके विश्वासमुपगन्तुम् । व्यक्तमयं देवस्य गुणप्रियतां धर्माभिमुखतां चोपलभ्य व्यसनप्रतारणश्लक्ष्णशठमधुरवचनः प्रवृत्तिसंचारणहेतुभूतः कस्यापि प्रत्यर्थिनो राज्ञो निपुणः प्रणिधिप्रयोगः । तथा हि धर्मात्मको नाम भूत्वा देवमेकान्तेन कारुण्यप्रवृत्तौ ह्रीदैन्ये च समनुशास्ति, अर्थकामोपरोधिषु क्षत्रधर्मबाह्येष्वासन्नापनयेषु धर्मसमादानेषु दयानुवृत्त्या च नाम ते कृत्यपक्षमाश्वासनविधिनोपगृणीते प्रियसंस्तवश्चान्यराजदूतैः । न चायमविदितवृत्तान्तो राजशास्त्राणाम् । अतः साशङ्कान्यत्र नो हृदयानीति ।"[1] अर्थात् "श्रीमान् के लिए बोधिपरिव्राजक पर विश्वास करना उचित नहीं है । स्पष्ट है कि आपके गुणानुराग और धर्म में प्रवृत्ति का समाचार पाकर यह किसी विपक्षी राजा का भेजा हुआ कुशल गुप्तचर है । आपको विपत्ति में फँसाने के लिए प्रिय, मधुर और दुष्टवचन बोलनेवाला यह आपका समाचार भेजने के लिए नियुक्त हुआ है । यह धर्मातमा बनकर आपको केवल दयालुता और दीनतापूर्ण लज्जा का उपदेश देता है तथा अर्थ, काम एवं राजधर्म के विरोधी और अनीति के संकट से युक्त धर्माचरण का उपदेश देता है । दयापूर्वक आपके कर्त्तव्य का निर्देश करता हुआ आपकी प्रशंसा करता है । यह अन्य राजदूतों से परिचित होना चाहता है तथा राजशास्त्रों से अनभिज्ञ नहीं है । अतः इसके सम्बन्ध में हमारा हृदय सशंक है ।"

बहुतों के द्वारा इस प्रकार के वचनों को सुनकर राजा के मन में भी बोधिसत्त्व के प्रति सन्देह हो गया । स्वाभाविक है कि पिशुनतारूपी वज्र के प्रहार से विश्वस्त व्यक्ति भी अपना धैर्य छोड़ देता है । कहा भी गया है—

"पैशुन्यवज्राशनिसंनिपाते
भीमस्वने चाशनिसंनिपाते ।
विस्रम्भवान्मानुषमात्रधैर्यः
स्यान्निर्विकारो यदि नाम कश्चित् ।।"[2]

विश्वास के अभाव में उस महासत्त्व के प्रति राजा का प्रेम और आदर-भाव क्रमशः मन्द होने लगा । राजा को अपने प्रति विरक्त-हृदय देख कर उस महात्मा ने वहाँ से प्रस्थान का उपक्रम किया । यह सुन कर अवशिष्ट स्नेह-सौजन्य और विनय के रक्षार्थ राजा ने उनके समीप जाकर सम्मान प्रदर्शित किया और कहा—अकस्मात् हमें छोड़ कर आप क्यों जा रहे हैं ? बोधिसत्त्व ने कहा—

"नाकस्मिकोऽयं गमनोद्यमो मे
नासत्क्रियामात्रकरूक्षिकत्वात् ।
अभाजनत्वं तु गतोऽसि शाठ्या-
द्धर्मस्य तेनाहमितो व्रजामि ।।"[3]

१—जातक०—२३/४ के बाद का गद्य
२—जातक०— २३/५
३—जातक० २३/७

अर्थात् मेरी यह आकस्मिक यात्रा नहीं है, आपके असत्कार से रुष्ट होकर भी मैं नहीं जा रहा हूँ। शठता के कारण अब आप धर्म के पात्र नहीं रहे। इसलिए मैं यहाँ से जा रहा हूँ। अनेकविध दृष्टान्तों से फटकारने पर अपने उपेक्षा-भाव के लिए राजा ने उनसे क्षमा-याचना की तथा वहीं रहने के लिये प्रार्थना की। किन्तु, उस महात्मा ने अनेक प्रकार से समझाते हुए कहा कि—

"असेवना चात्युपसेवना च
याञ्चाभियोगाश्च दहन्ति मैत्रीम्।
रक्ष्यं यतः प्रीत्यवशेषमेत-
न्निवासदोषादिति यामि तावत्॥"[1]

अर्थात् असेवन अतिसेवन और बार-बार की याचना से मैत्री नष्ट होती है। यहाँ रहने के दोष से बचे हुए स्नेह की रक्षा करनी है। इसीलिए मैं यहाँ से जा रहा हूँ। तब राजा ने प्रार्थना की कि अवश्य ही जाना है, यह निश्चय यदि आपने कर लिया है तो पुनः यहाँ आकर हमें अनुगृहीत कीजियेगा; क्योंकि असेवन से भी स्नेह की रक्षा करनी ही है। बोधिसत्त्व ने कहा—"संसार में अनेक विघ्न-बाधायें हैं। अतः मैं प्रतिज्ञा करने में असमर्थ हूँ। यहाँ आने का आवश्यक कारण होने पर मैं आपका पुनः दर्शन करूँगा। इतना कह कर वे उसके राज्य से निकल गये और गृहस्थों के सम्पर्क से व्यथित चित्त होकर किसी वन-प्रान्त में ध्यानादि में लग गये।

शान्तिसुख का आस्वादन करते हुए उन्होंने अनुकम्पावश एक समय उस राजा का स्मरण किया तो अपनी दिव्य-दृष्टि से देखा कि उसके अमात्यगण अपनी मिथ्या दृष्टि से उसे कुमार्ग की ओर बहका रहे हैं। कोई अहेतुवाद की ओर खींचता है तो कोई ईश्वर को कारण के रूप में निर्दिष्ट करता है। दूसरा पहले किये हुए कर्मों का फल सुख-दुःख है, इसकी शिक्षा देता है। कोई उच्छेदवाद की चर्चा से कामभोग में ही प्रताड़ना कर रहा है और दूसरा क्षत्र-विद्या के अनुसार कौटिल्यादि नीति की चर्चा करता हुआ या विरोधी कार्यों में ही राजधर्म का अनुशासन कर रहा है। पापियों के सम्पर्क से तथा दूसरों पर विश्वास कर चलने की बुद्धि से राजा मिथ्या दृष्टि के प्रपात के सम्मुख गिरने के लिये खड़ा है। यह देख कर दया से द्रवीभूत हो बोधिसत्त्व ने उसे बचाने का उपाय सोचा। सच है—सद्गुणों के अभ्यास से साधुओं के हृदय में पूर्वकृत उपकार बना ही रहता है, किन्तु उनके हृदय से अपकार उसी प्रकार गिर जाता है जिस प्रकार कमल के पत्ते से पानी।

१—जातक० २३/१६

"गुणाभ्यासेन साधूनां कृतं तिष्ठति चेतसि ।
भ्रश्यत्यपकृतं तस्माज्जलं पद्मदलादिव ।।"[1]

तब इसके लिये यह उचित समय है, यह निश्चय कर, बोधिसत्त्व ने अपने आश्रम में एक बड़े वानर का निर्माण किया और उसके चमड़े को हटा कर, शेष शरीर को लुप्त कर दिया। उस चर्म को धारण कर वे राजभवन के द्वार पर प्रकट हुए। राजा ने अगवानी आदि अतिथिजनोचित उपचार के द्वारा उनकी पूजा की तथा सभा में उचित आसन पर बैठा कर यह जिज्ञासा की कि भगवन् किसने आपको इस वानर चर्म का उपहार देकर अपने को महान अनुग्रह का पात्र बनाया। बोधिसत्त्व ने कहा—महाराज, मैंने स्वयं ऐसा किया है। स्वभावत: कठोर पृथ्वी पर धर्मानुष्ठान करने में कष्ट का अनुभव कर आश्रम में स्थित महान वानर को मार कर उसका चमड़ा धारण कर लिया है। सौजन्य एवं विनयवश राजा ने कुछ नहीं कहा और सलज्जहृदय हो वह अधोमुख हो गया; किन्तु पूर्व से ही वैरभाव को प्राप्त उनके अमात्यों ने अवसर पाते ही उनकी निन्दा की। बोधिसत्त्व ने शान्तचित्त से उन अमात्यों के पूर्वकथित सिद्धान्तों का अपने ज्ञान एवं तर्क-बल से खण्डन कर उन्हें अप्रतिभ कर दिया। परिषद् सहित राजा को सन्मार्ग का उपदेश दिया तथा वहीं से आकाश में उड़कर उन लोगों के द्वारा पूजित हो वन-प्रदेश की ओर प्रस्थान किया।

इस प्रकार अपमानित होने पर भी कृतज्ञता और क्षमाशीलता के कारण सज्जनों की दया उनके पूर्वोपकारियों के प्रति क्षीण नहीं होती है। इसलिए केवल अपमान से ही पूर्वकृत उपकार को नहीं भूलना चाहिये।

२४—महाकपि-जातक

सज्जन अपने दु:ख से उतने संतप्त नहीं होते जितने कि अपकारियों के कुशलपक्ष की हानि से।[2] तब जैसी कि अनुश्रुति है—

बोधिसत्त्व एक बार हिमालय के मनोरम अंचल में एक विशालकाय वानर होकर अकेले विचरण कर रहे थे। उस अवस्था में भी उनका धर्मज्ञान लुप्त नहीं हुआ। वे कृतज्ञ, उदारचेता, महाधीर तथा महाकारुणिक थे। तपस्वी के समान जंगली पर्ण-फलों से शरीरयात्रा करते हुए वे महात्मा वहाँ आये हुए प्राणियों पर अनेक प्रकार से अनुकम्पा करते थे।

१—जातक० २३/२२

२—"नात्मदु:खेन तथा सन्त: संतप्यन्ते यथापकारिणां कुशलपक्षहान्या।"
—जातक० २४/१ के पहले का गद्य

एक समय कोई व्यक्ति अपनी गाय को खोजता हुआ मार्गभ्रष्ट हो वहाँ पहुँचा। भूख-प्यास गर्मी और थकावट से व्याकुल वह एक वृक्ष के नीचे बैठ गया। वहाँ उसने पक कर गिरे हुए कुछ तिन्दुकी फलों को देखा तथा चखा। भूख की असह्य पीड़ा के कारण उसे वह फल अत्यन्त स्वादिष्ट लगा। इससे आकृष्ट होकर वह प्रपाततट-स्थित तिन्दुकी वृक्ष की फलपूर्ण डाल पर चढ़ा तथा डाल के अन्त तक चला गया। सहसा वह पतली डाल टूट कर गिर पड़ी और वह व्यक्ति उसके साथ ही बड़े पहाड़ी दुर्ग में गिर पड़ा, जो पत्तों के ढेर और पानी की गहराई से युक्त था। अत एव उसका कोई अंग-भंग नहीं हुआ। पानी से निकल कर वह चारों ओर घूमने लगा, किन्तु कहीं निकलने का मार्ग न देखा। रक्षा का कोई उपाय न देख वह जीवन से निराश हो गया। तीव्र शोकशल्य से पीड़ित होकर कातर हृदय से भाँति-भाँति का विलाप करता हुआ वह प्रपात-जल और साथ गिरे हुए तिन्दुकी फल पर वहाँ कुछ दिन बिताया। कुछ समय के बाद महाकपि आहार के लिए विचरण करते हुए उस तिन्दुकी वृक्ष पर आये तथा प्रपात की ओर दृष्टिपात करते हुए दयनीय दशा में स्थित उस क्षीणकाय मनुष्य को देख कर अत्यन्त व्याकुल हो गये। आहार की खोज छोड़ कर उन्होंने मनुष्य की वाणी में उससे कहा—मनुष्य के लिए दुर्गम इस प्रपात में घूम रहे तुम कौन हो तथा यहाँ कैसे आये ?

"मानुषाणामगम्येऽस्मिन् प्रपाते परिवर्त्तसे।
वक्तुमर्हसि तत्साधु को भवानिह वा कुतः ॥"[१]

उस मनुष्य ने हाथ जोड़ कर कहा—हे महाभाग मैं मनुष्य हूँ। वन में विचरण करता हुआ मैं भटक गया तथा फल के लोभ से इस पेड़ से गिड़कर ऐसी महाविपत्ति में पड़ गया हूँ। अतः हे वानरपति, मुझ असहाय के भी आप रक्षक बनें।

"मानुषोऽस्मि महाभाग प्रनष्टो विचरन् वने।
फलार्थी पादपादस्मादिमामापदमागमम् ॥
तत्सुहृद्बन्धुहीनस्य प्राप्तस्य व्यसनं महत्।
नाथ वानरयूथानां ममापि शरणं भव ॥"[२]

यह सुन कर बोधिसत्त्व को बड़ी दया आई। उन्होंने उस पर करुणा करते हुए संकट काल के लिए दुर्लभ स्नेहपूर्ण-वाणी में आश्वासन दिया तथा तिन्दुक और दूसरे फल दिये। प्रपात में जाकर कहा—"आओ मेरी पीठ पर चढ़ कर मुझसे चिपट जाओ। मैं तुम्हारा और अपने शरीर के सार का उद्धार करता हूँ। क्योंकि सज्जनों के मतानुसार इस असार शरीर का सार परोपकार ही है। अनन्तर उसने वैसा ही किया। उसके अतिशय भार से उस महाकपि के प्राण निकलने लगे; किन्तु उत्साह के आधिक्य से धैर्य की रक्षा करते हुए, उन्होंने बहुत कष्ट से उसे निकाला। इससे उनका

१—जातक०—२४/६
२—जातक०—२४/७-८

मन परम प्रसन्न हुआ। एक सुन्दर शिला को देखकर अपनी थकावट दूर करने की इच्छा से निर्मल-चित्त बोधिसत्त्व ने उस आदमी से कहा—इस वनप्रदेश में हिंसक पशु निर्बाध पहुँच सकते हैं। यहाँ थक कर सोये हुए मुझे और साथ ही अपने कल्याण को कोई हठात् ही समाप्त न कर दे। अत: चारों ओर दृष्टि रखते हुए तुम मेरी और अपनी रक्षा करो। मेरा सारा शरीर अत्यन्त थका हुआ है। इसलिए मैं मुहूर्त्त भर सोता हूँ। उस व्यक्ति ने सविनय कहा—आप इच्छानुसार सोयें और सुखपूर्वक जागें। मैं आपकी रक्षा के लिए तैयार हूँ। जब वह महासत्त्व गंभीर निद्रा के वशीभूत हुए तब उस आदमी ने सोचा—प्रयत्नपूर्वक प्राप्य वन्य फल-मूलों पर रहने वाला बलहीन मैं इस दुस्तर वन को कैसे पार करूँगा। इसके लिये इसका यह मांस अपेक्षित है। यद्यपि इसने मेरा उपकार किया है, तथापि यह भक्षणीय है। अत: मैं इसे अपना आहार बनाऊँगा। जब तक यह विश्वस्त होकर सोया हुआ है, तभी तक मैं इसे मार सकता हूँ। क्योंकि इसके साथ सम्मुख युद्ध में सिंह की भी पराजय की ही संभावना है। अत: विलम्ब करने का समय नहीं है। यह निश्चय कर उस दुरात्मा ने एक बड़ा पत्थर उठा कर उस महाकपि के शिर पर फेंका। शीघ्रता के कारण पूरा पत्थर पूरे वेग से उनके मस्तक पर नहीं पड़ा, अत: उसे चूर-चूर नहीं कर सका। किन्तु किनारे के एक भाग से ही उसे पीड़ित करता हुआ वह वज्र के समान पृथ्वी पर गिरा। पत्थर की चोट से उनका मस्तक फट गया। वेग से उछल कर बोधिसत्त्व ने कहा—"किसने मुझे मारा ?" वहाँ किसी दूसरे को नहीं, किन्तु लज्जा से उदास और कातर तथा विषाद से विवर्ण उसी आदमी को देखा। भय से उसका कण्ठ सूख रहा था तथा पसीने से वह तर था। तब वह महाकपि, इसी का यह कर्म है, यह निश्चय कर चोट की अपनी असह्य पीड़ा को भूल कर उसके आत्मकल्याण विरोधी दु:खद कर्म से विचलित हो उठे। दया से द्रवीभूत उनकी आँखें सजल हो उठीं। उस मनुष्य के प्रति क्रोध या क्षोभ को भूल कर उसके लिये शोक करते हुए उन्होंने कहा—हे भद्र ! मनुष्य होकर तुमने यह कुकर्म क्यों किया ? मैंने दुष्कर कार्य किया, यह अभिमान मुझे हुआ, तुमने अति दुष्कर कार्य कर उस अभिमान को दूर कर दिया। तुम परलोक से मानो लाये गये, मृत्युमुख से मानो छुड़ाये गये। तुम एक प्रपात से निकाले गये और दूसरे प्रपात में गिर पड़े हो। अहो ! अति दारुण अज्ञान को धिक्कार है, जो सुख की आशा से विह्वल प्राणियों को विपत्ति में गिराता है ? तुमने अपने को दुर्गति में गिराया, मुझे शोकाग्नि में डाला। यश की शोभा को नष्ट किया तथा गुणानुराग को समाप्त किया। मैं तुम्हारे पाप में निमित्त बना और उस पाप को प्रक्षालित करने में मैं समर्थ नहीं हूँ, इस बात से मेरे मन में जितनी व्यथा हो रही है, उतनी व्यथा तो मुझे इस चोट की पीड़ा से भी नहीं हो रही है। तुम सन्देह के पात्र हो। अत: मेरे द्वारा देखे जाते हुए तुम मेरे बगल से चलो, तब तक इस भयंकर जंगल से निकाल कर ग्राम के मार्ग पर पहुँचा देता हूँ। ऐसा न हो कि मार्ग से अनभिज्ञ वन में भटकते हुए, क्षीण-शरीर और अकेला पाकर

तुम्हें कोई सतावे और मेरे परिश्रम को व्यर्थ कर दे। इस प्रकार समझाते हुए महाकपि ने उस व्यक्ति को जनभूमि में पहुँचा कर कहा—हे मित्र, वन-भूमि यहाँ तक है। अब दुर्गम-वन के भय को छोड़कर आनन्द से जाओ। पाप-कर्म छोड़ने का यत्न करो; क्योंकि उसका परिणाम अवश्य दुःखदायी होता है। उस आदमी को शिष्य की भाँति उपदेश देकर महाकपि उसी वन-प्रदेश को लौट गये।

इधर घोर पाप करने से उस मनुष्य का मन पश्चात्ताप की अग्नि से जलने लगा। असाध्य कुष्ठ रोग से उसकी आकृति सद्यः बदल गयी। फूटते हुए फोड़ों के बहने से उसका शरीर गीला हो गया तथा उससे अत्यन्त दुर्गन्ध निकलने लगी। वह जहाँ कहीं भी गया वहीं उसके वीभत्स और विकराल रूप को देखकर तथा उसके बदले हुए दीन स्वर को सुनकर लोगों को विश्वास नहीं हुआ कि यह मनुष्य है। उसे साक्षात् पाप मानते हुए उन्होंने ढेले और लाठियों तथा फटकार के कठोर वचनों से उसे निकाल दिया। एक बार शिकार खेलते हुए किसी राजा ने जंगल में उसे प्रेत के समान घूमते देख कर भय और कुतूहल के साथ पूछा—

तुम कौन हो ? भूत-प्रेत पिशाच ? या मूर्त्त पाप ? अनेक रोगों के समूह ? या यक्ष्मा रोगों में कोई हो क्या ?—

"कस्त्वं प्रेतः पिशाचो वा मूर्त्तः पाप्माथ पूतनः।
अनेकरोगसंघातः कतमो वासि यक्ष्मणाम्॥"[1]

उसने आर्त्त स्वर से राजा को प्रणाम करते हुए अपने दुष्कर्म का इस प्रकार प्रकाशन किया—

"मित्रद्रोहस्य तस्येदं पुष्पं तावदुपस्थितम्।
अतः कष्टतरं व्यक्तं फलमन्यद्भविष्यति॥"[2]

अभी उस मित्र-द्रोह का यह फूल निकला है। अवश्य ही फल तो दूसरा ही इससे भी कष्टदायक होगा। अतः मित्रों के प्रति विश्वासघात शत्रु के समान है। मित्र-द्रोहियों की इहलोक में ही ऐसी दशा होती है, परलोक में होनेवाली दुर्गति की तो बात ही क्या ? किन्तु जिसका हृदय मित्रों के प्रति स्नेह से भरा हुआ है, वह उनका विश्वासपात्र और उनसे उपकृत होता है। वह कीर्त्ति, विनय और आनन्द प्राप्त करता है, शत्रुओं के लिये अजेय होता है और अन्त में स्वर्ग जाता है—

"वात्सल्यसौम्यहृदयस्तु सुहृत्सु कीर्त्ति
विश्वासभावमुपकारसुखं च तेभ्यः।
प्राप्नोति संनतिगुणं मनसः प्रहर्षं
दुर्धर्षतां च रिपुभिस्त्रिदशालयं च।"[3]

१—जातक० २४/३७
२—जातक० २४/३८
३—जातक० २४/४१

तथागत के माहात्म्य कथन में, आदरपूर्वक धर्म-श्रवण करने में, क्षमा की कथा में, मित्रों के प्रति द्रोह नहीं करने में तथा पाप-कर्म के दोष दिखलाने में यह कथा कहनी चाहिये ।

२५—शरभ-जातक

हत्या की चेष्टा करने वाला यदि विपत्ति में पड़ जाय तो उस पर भी महाकारुणिक करुणा ही करते हैं । सुना जाता है कि बोधिसत्त्व एक बार किसी वन में बलवान, रूपवान और तेजस्वी शरभ पशु हुए । उनकी आकृति पशु की थी किन्तु चित्त मनुष्य के समान धीर था । वे तपस्वियों के समान प्राणियों पर दया रखते थे, तृणों के अग्रभाग खाकर संतुष्ट रहते थे और योगी के समान उस एकान्त वन में विचरण करते थे—

"मृगाकृतिर्मानुषधीरचेता-
स्तपस्विवत्प्राणिषु सानुकम्पः ।
चचार तस्मिन् स वने विविक्ते
योगीव संतुष्टमतिस्तृणाग्रैः ॥"[1]

एक दिन उस देश का राजा उत्तम घोड़े पर सवार होकर मृगों का पीछा करता हुआ अत्यन्त वेग के कारण गज, अश्व, रथ और पैदल सेना को दूर में छोड़ कर उस स्थान पर पहुँचा । दूर से ही उस शरभ को देख कर धनुष चढ़ा कर उसने घोड़े को उधर घुमाया । अश्व के साथ आते हुए राजा को देख कर उसका सामना करने में समर्थ होने पर भी हिंसा और क्रोध से निवृत्त होने के कारण बोधिसत्त्व अत्यन्त वेग से भागने लगे । वह श्रेष्ठ घोड़ा भी पूरे वेग से शरभ का पीछा करता हुआ एक गड्ढे के पास पहुँच कर उसे लांघने का निश्चय न कर हठात् ही रुक गया । शरभ पर दृष्टि गड़ाये राजा ने प्रपात को नहीं देखा । वेगपूर्वक घोड़े के रुकने से निःशङ्क असावधान वह आसन से चलायमान होकर गिर पड़ा ।

घोड़े के पदचाप के बन्द होने से राजा के लौट जाने की संभावना करते हुए बोधिसत्त्व ने पीछे मुड़ कर देखा । सवार के बिना गड्ढे के किनारे घोड़े को खड़ा देख उन्होंने सोचा, अवश्य ही राजा गड्ढे में गिर पड़े हैं । इससे उस महात्मा के हृदय में उस वध करने वाले के प्रति भी अत्यन्त करुणा उत्पन्न हुई । उसके क्लेश का अनुमान कर वे अत्यन्त दुःखी हो गये । क्योंकि—

"किणाङ्कितानीव मनांसि दुःखै-
र्न हीनवर्गस्य तथा व्यथन्ते ।
अदृष्टदुःखान्यतिसौकुमार्या-
द्यथोत्तमानां व्यसनागमेषु ॥"[2]

१—जातक० २५/१
२—जातक० २५/७

अर्थात् निम्नवर्ग के लोगों के मन दुःख के अभ्यस्त होने के कारण दुःख से उतने व्यथित नहीं होते हैं, जितने कि विपत्ति के आने पर उच्च वर्ग के सुकुमार लोगों के मन, जिन्हें दुःख का दर्शन ही नहीं हुआ है। ये स्वयं इससे निकल नहीं सकेंगे। अतः यदि जीवित हैं तो इनकी उपेक्षा करना उचित नहीं है, यह सोचते हुए दयार्द्रचित्त होकर वे उस प्रपात के किनारे गये। वहाँ राजा को छटपटाते हुए देख कर उनकी आँखें आँसुओं से भर गयीं। "यह हमारा शत्रु है", यह भूल कर वह उसी के समान दुःख अनुभव करने लगे। विनयपूर्वक अपने साधु-भाव को प्रकट करते हुए उन्होंने शान्तिदायक मनोहर वाणी में उसे सांत्वना दी तथा कहा—हे महाराज! आप अधीर न हों। आपके ही तृण-जल पर पले मुझ पर आप विश्वास करें। मैं आपको इससे निकाल सकता हूँ। अतः शीघ्र ही आज्ञा दीजिये कि मैं आपके पास आ जाऊँ। उनके अद्भुत वचन से विस्मित और लज्जित हो राजा ने सोचा—मेरे शत्रुतापूर्ण पराक्रम को देख कर भी यह दया दिखला रहा है। अवश्य ही यह शरभ की आकृति में कोई महात्मा है। मैं ही पशु या बैल हूँ।[1] अतः इनकी प्रार्थना को स्वीकार कर इनका सत्कार करना उचित है, यह निश्चय कर उसने कहा—

"प्रपातपतनक्लेशान्न त्वहं पीडितस्तथा।
इति कल्याणहृदये त्वयि प्रस्खलनाद्यथा॥"[2]

अर्थात् प्रपात में गिरने की पीड़ा से मैं उतना व्यथित नहीं हूँ, जितना कि शुद्ध हृदय वाले आपके प्रति अपराध करने से। आपके स्वभाव को न जान कर, आपकी आकृति पर विश्वास कर मैंने आपको जो समझ लिया इसे अपने हृदय में स्थान नहीं दीजियेगा। राजा के प्रेमपूर्ण वचन से शरभ ने जान लिया कि निकालने की अनुमति मिल गयी है। तब प्रपात में उतर कर उसने विनयपूर्वक कहा—महाराज, मेरी पीठ पर चढ़ कर मुझसे चिपट जाँय। "बहुत अच्छा" कह कर राजा घोड़े की तरह उन पर चढ़ गया। पूरी शक्ति और वेग से राजा को दुर्ग से निकाल कर तथा घोड़े से मिला कर वे अत्यधिक प्रसन्न हुए तथा उसे नगर का मार्ग बतला कर स्वयं वन की ओर उन्मुख हुए। राजा का कृतज्ञ हृदय आनन्द से भर गया। उसने शरभ को आलिंगित करते हुए विनयपूर्वक निवेदन किया कि नगर में चलें। तब बोधिसत्त्व ने मधुर वाणी में उसकी प्रशंसा करते हुए कहा—"हे नरश्रेष्ठ, मुझ वनवासी को गृहवासी बनाकर अनुगृहीत करने का विचार छोड़िये, क्योंकि मनुष्य जाति का सुख भिन्न है और पशु जाति का भिन्न। हे वीर, यदि आप मेरा प्रिय करना चाहते हैं, तो व्याधकर्म को छोड़िये। पशु-पक्षी मन्द-बुद्धि होते हैं। वे दया के पात्र हैं। इसलिए उन पर दया करना ही उचित है। सब प्राणी समान

१—"अहो मधुरतीक्ष्णेन प्रत्यादिष्टोऽस्मि कर्मणा।
अहमेव मृगो गौर्वा कोऽप्ययं शरभाकृतिः॥
—जातक० २५।१४

२—जातक० २५।१६

रूप से सुख की प्राप्ति और दुःख से मुक्ति चाहते हैं। अतः अपने को जो अच्छा नहीं लगे, वह दूसरे के प्रति करना आपके लिये उचित नहीं है।

"सुखाश्रये दुःखविनोदने च
समानचित्तानवगच्छ सत्त्वान्।
इत्यात्मनः स्यादनभीप्सितं य-
न्न तत्परेष्वाचरितुं क्षमं ते ॥[1]

पाप से दुःख होता है, कीर्ति नष्ट होती है, सज्जनों के द्वारा निन्दा होती है, यह जानकर पाप को शत्रु के समान त्याग दें। जिन पुण्यों के सेवन से आपने लोकमान्य लक्ष्मी-निवास राजत्व को पाया है, उन्हीं पुण्यों को मित्र के समान बढ़ावें। आदर के साथ समयोचित विपुल दान देते हुए, सज्जनों की संगति से निरूपित शील का पालन करते हुए, जैसी अपनी वैसी ही अन्य प्राणियों की हितकामना करते हुए यश और सुख के साधन स्वरूप पुण्यों का संचय करें।[2]

इस प्रकार पारलौकिक बातों के उपदेश से राजा को अनुगृहीत कर वे महात्मा उसी जंगल में चले गये।

इस प्रकार हत्या की चेष्टा करनेवाला भी यदि विपत्ति में पड़ जाय तो महाकारुणिक उस पर करुणा ही करते हैं, उसकी उपेक्षा नहीं करते हैं।

२६—रुरु-जातक

दूसरों का दुःख ही साधुओं का दुःख है। वे इसे नहीं सह सकते, न कि अपने दुःख को। जैसा कि सुना जाता है—बोधिसत्त्व एक जन्म में किसी निर्जन वन में मनोहर रुरु मृग हुए। तीक्ष्ण-बुद्धि, सुन्दर आचरण एवं दिव्य शरीरवान वे सभी पशुओं से पूजित हुए। वहाँ रहते हुए उन्होंने एक बार समीप में बहती हुई जल से भरी हुई नदी की वेगवती धारा में बहते हुए किसी मनुष्य का करुण क्रन्दन सुना। क्रन्दन के करुण शब्द से हृदय में मानो आहत होते हुए बोधिसत्त्व "मत डरो मत डरो" शत-शत जन्मों में अभ्यस्त, भय-विषाद और दीनता को दूर करनेवाली, स्पष्ट अक्षरों वाली वह मनुष्यवाणी बार-बार जोरों से बोलते हुए उस गहन वन से निकल आये और उस मनुष्य को देख कर उन्होंने उसे निकालने का निश्चय किया। अपने प्राण की चिंता छोड़ भयंकर वेग से बहती हुई उस नदी में वे प्रविष्ट

१—जातक० २५।२६

२—कालोपचारसुभगैर्विपुलैः प्रदानैः
शीलेन साधुजनसंगतनिश्चयेन।
भूतेषु चात्मनि यथा हितबुद्धिसिद्ध्या
पुण्यानि संचिनु यशःसुखसाधनानि ॥"

—जातक० २५।२९

हुए, जैसे कोई वीर मनुष्य शत्रु-सेना को क्षुब्ध करता हुआ उसके भीतर प्रवेश करता है। अपने शरीर से उसके मार्ग को रोक कर उसने कहा—"मेरा आश्रय ग्रहण करो" भयातुर वह उनकी पीठ पर चढ़ गया। उस मनुष्य के आरूढ़ होने पर भी तथा नदी के वेग से विचलित किये जाते हुए भी उत्कृष्ट सत्त्व के कारण उनकी अद्भुत शक्ति बनी रही और वे उसके मनोनुकूल तीर पर पहुँच गये। अत्यन्त आनन्द का अनुभव करते हुए उसकी थकावट और दुःख दूर कर, उसे मार्ग बतलाया तथा प्रसन्नता के साथ विदा किया। स्नेही बन्धुओं और मित्रों के लिए भी दुर्लभ उनकी इस दयालुता से उस मनुष्य का हृदय भर आया। विस्मय और सम्मानपूर्वक बोधिसत्त्व को प्रणाम कर उसने कहा—बाल्यावस्था से ही स्नेही मित्र या बन्धु भी इस कार्य को नहीं कर सकता है, जिसे आपने मेरे लिए किया है। अतः ये प्राण आपके हैं। यदि आपके लिए किसी छोटे कार्य में भी इनका उपयोग हो तो मेरे ऊपर बड़ी कृपा होगी। अतः आप जिस किसी कार्य के योग्य समझें उसे करने की आज्ञा देकर मुझे अनुग्रहीत करें। तब उसकी प्रशंसा करते हुए बोधिसत्त्व ने कहा – इस कार्य को स्मरण करते हुए तुम यह बात किसी से न कहना कि इस प्रकार के प्राणि-विशेष ने मुझे निकाला है। मेरा यह सुन्दर रूप लुभावना है। लोभ के कारण मनुष्यों के हृदय प्रायः कठोर और अशान्त होते हैं। अतः अपने गुणों की और मेरी रक्षा करो। मित्रद्रोह कहीं कल्याणकारी नहीं होता है। वह "बहुत अच्छा" यह वचन देकर उस महासत्त्व को प्रणाम कर अपने घर की ओर चल दिया।

उसी समय किसी राजा की एक रानी थी, जिसके स्वप्न सत्य होते थे। एक समय प्रातःकाल में सोई हुई उसने स्वप्न देखा कि कान्तिमान् रुरु-मृग सिंहासन पर विराजमान होकर स्पष्ट अक्षरों वाली मनुष्य की वाणी में राजा सहित समस्त सभासदों को धर्मोपदेश कर रहा है। यह देखकर विस्मित हृदय रानी ने अवसर पाते ही राजा से उस असाधारण स्वप्न का वर्णन किया और कहा—हे राजन्, उस मृग को प्राप्त करने के लिए उचित यत्न किया जाय। उससे यह अन्तःपुर अत्यन्त शोभायमान होगा। उसके स्वप्न को सत्य मान कर राजा ने उस रुरु-मृग की खोज के लिए सभी व्याधों को आदेश दिया और उसे दिखलाने वाले को एक उत्तम ग्राम तथा दश मनोहर स्त्रियाँ देने की प्रतिदिन घोषणा की। बार-बार उस घोषणा को सुनकर धन के लोभ से रुरु-मृग के महान् उपकार को भूलते हुए उस कृतघ्न व्यक्ति ने राजा से निवेदन किया कि हे राजन्, मैं उसे दिखला सकता हूँ। यह सुनकर प्रसन्नचित्त हो राजा स्वयं मृग-यानुरूप वेष धारण कर, बड़ी सेना के साथ राजधानी से निकल कर उस व्यक्ति के द्वारा बतलाये जाते मार्ग से उस गहन वन में घुसा। तब उस मृग को निश्चिन्त देख कर उस पुरुष ने ज्यों ही उसे राजा को दिखलाने के लिये भुजा उठाई कि उसका हाथ प्रकोष्ठ से गिर पड़ा, जैसे तलवार से काट दिया गया हो। अनन्तर उस पुरुष द्वारा बतलाये मार्ग से राजा ने महापुण्यवान रुरु मृग को देखा और उसकी रूप-शोभा से आकृष्ट होकर उसे पकड़ने के लोभ से धनुष-बाण लेकर उसे

बिद्ध करने की इच्छा से उसकी ओर बढ़ा। चारों ओर से लोगों से घिरा हुआ अनुभव कर बोधिसत्त्व ने मनुष्य की वाणी में राजा से कहा—हे राजन्, क्षण भर रुकें और मेरी इस जिज्ञासा को शान्त कर दें कि निर्जन गहन वन में रहने वाले मेरे विषय में किसने आपको बतलाया। उसकी अद्भुत मनुष्य-वाणी से द्रवीभूत होकर राजा ने अपने बाण के नोक से उस पुरुष को दिखला कर कहा—यही इस अद्भुत रूप को दिखलाने वाला है। उस पुरुष को पहचान कर उसकी निन्दा करते हुए बोधिसत्त्व ने कहा—"सत्य है कि जल-प्रवाह में पड़े हुए काठ को निकालना अच्छा है लेकिन अकृतज्ञ मनुष्य को नहीं।"

"सत्य एव प्रवादोऽयमुदकौघगतं किल।
दार्वेव वरमुद्धर्तुं नाकृतज्ञमतिं जनम् ॥[1]"

मेरे परिश्रम का यही प्रत्युपकार है।

राजा ने उत्सुकतापूर्वक पूछा—हे अद्भुत मृग, किसे लक्ष्य कर आप यह कह रहे हैं? बोधिसत्त्व ने कहा—"जलप्रवाह में बहते हुए जिसको मैंने दया के वशीभूत होकर बचाया, हे नरश्रेष्ठ, उसी की ओर से मुझ पर यह विपत्ति आई। दुर्जनों की संगति कभी कल्याणकारी नहीं होती। तब राजा ने तीक्ष्ण दृष्टि से फटकार और रूक्षता के साथ उस पुरुष को पूछा। भय, विषाद एवं लज्जा से विवर्णमुख हो उसने धीरे-धीरे कहा—सत्य है। यह सुनकर धिक्कारते हुए राजा ने उसका वध करने के लिये धनुष पर बाण चढ़ाया। महाकारुणिक बोधिसत्त्व ने यह देख उन दोनों के बीच खड़े होकर कहा—मरे को न मारें, महाराज। इसके ऊपर दया करें, न कि क्रोध। इसने जो कुछ पाने की आशा की थी, उसे देकर इसके साहस को सफल करें। आपकी आज्ञा के लिये मेरा मस्तष्क झुका हुआ है।

अपकारी के प्रति भी बोधिसत्त्व की यह दयालुता देख राजा ने अत्यन्त विस्मित होकर गुरु के समान उनका सम्मान किया और उन्हें अपने उत्तम रथ पर चढ़ा कर राजधानी लाया। अतिथि सत्कार के अनन्तर सिंहासन पर बैठा कर मंत्रियों एवं रानियों के साथ धर्म के विषय में पूछा। बोधिसत्त्व ने मनुष्य की वाणी में उन्हें धर्मोपदेश दिया और कहा—हे राजन्, संक्षेप में दया ही धर्म है। राजा उनके वचन का अभिनन्दन कर प्रजासहित धर्म-परायण हो गया। उसने पशु-पक्षियों तक को अभय दान दे दिया।

इस प्रकार दूसरों का दुःख ही सज्जनों का दुःख है।

२७—महाकपि-जातक

इसमें बोधिसत्त्व के असाधारण त्याग तथा आश्रितों के प्रति अगाध वात्सल्य का प्रतिपादन हुआ है। एक बार बोधिसत्त्व हिमालय के मनोरम अंचल में वानरयूथ

१—जातक०—२६/२४

के अधिगत हुए। वहाँ एक विशाल वटवृक्ष था, जो स्वादिष्ट तथा मनोहर फलों से परिपूर्ण था। उसी वृक्ष का आश्रय लेकर बोधिसत्त्व वहाँ विहार करते थे। उस वृक्ष की एक शाखा फलाधिक्य के कारण समीप में बहती हुई नदी के ऊपर झुकी हुई थी। दूरदर्शी बोधिसत्त्व ने वानरों को आदेश दिया कि उस शाखा के फलरहित हो जाने पर ही कोई दूसरी शाखा का फल खाय। सभी वानरों ने वैसा ही किया। किन्तु पत्रसमूह से आच्छादित रहने के कारण एक छोटा फल उनकी दृष्टि से बच गया, जो कालान्तर में पक कर उस नदी की धारा में गिर गया और बहता हुआ रानी के साथ जलक्रीड़ारत किसी राजा के जाल में फँसा। उसके उत्कृष्ट गन्ध, अपूर्व रंग तथा अद्भुत रसास्वाद से अत्यन्त विस्मित होकर राजा सोचने लगा—दीर्घ काल तक जल में नहीं रहने के कारण इसका वर्ण, गन्ध एवं रस अक्षुण्ण है। अतः इसका उत्पत्तिस्थान अवश्य ही समीप में कहीं नदी तट है। यह निश्चय कर राजा ने महती सेना के साथ उस नदी का अनुसरण किया। अनेक प्रकार के स्थानों से गुजरता हुआ वह मनुष्यों के लिए दुर्गम उस वृक्ष के समीप पहुँच गया। वहाँ सैकड़ों वानरों को उसके दिव्य-फल में रत देख राजा ने अत्यन्त क्रुद्ध होकर तत्क्षण उन्हें ध्वस्त करने का आदेश दिया। आज्ञा पाकर भयानक राजसेना तीरों, ढेलों, लाठियों और बर्छियों की वर्षा से चारों ओर से उस वृक्ष को व्याप्त करती आगे बढ़ने लगी। इससे भयभीत होकर वानरगण दीनमुख हो बोधिसत्त्व के मुख की ओर ताकने लगे। उनकी यह दशा देख बोधिसत्त्व के हृदय में बड़ी करुणा हुई। भय, विषाद एवं घबराहट को छोड़ तथा वानरयूथ को रक्षा का आश्वासन देकर वे उस वृक्ष के शिखर से समीपवर्त्ती तट पर एक ही छलांग में चले आये, जहाँ अन्य बन्दर दो छलांगों में भी नहीं पहुँच सकते थे। पर्वत-शिखर पर चढ़ कर पर्वत तथा वृक्ष के अन्तर से अधिक लम्बी, बद्धमूल, सुदृढ़ वेत्रलता से अपने पैरों को अच्छी तरह बाँध कर पुनः उसी वृक्ष पर उछल पड़े। दूरी की अधिकता एवं बन्धन की व्याकुलता के रहते भी उस महासत्त्व ने किसी तरह वृक्ष की शाखा के अग्र-भाग को अपने हाथों से पकड़ा और संकेत के द्वारा वानरों को वहाँ से निकल भागने का आदेश दिया। भयातुर वानरगण उन्हें रौंदते हुए वहाँ से शीघ्र ही उस बेंत के द्वारा सकुशल निकल गये।

वानरों द्वारा निरन्तर रौंदे जाने पर बोधिसत्त्व के शरीर ने मांस को छोड़ दिया, किन्तु चित्त ने धैर्यातिशय को नहीं छोड़ा।[1]

---

१. भयातुरैस्तस्य तु वानरैस्तै-
राक्रम्यमाणं चरणैः प्रसक्तम्।
गात्रं ययौ स्वैः पिशितैर्वियोगं
न त्वेव धैर्यातिशयेन चेतः॥"

—जातक० २७।११

उनके इस अद्भुत उपाय कौशल एवं असाधारण त्याग से राजा को अत्यन्त विस्मय एवं सम्मान का भाव हुआ। उनकी आज्ञा से राजपुरुषों ने वानरपति के नीचे कपड़े का चंदोवा फैला कर एक बाण से बेंत को और दूसरे से वट वृक्ष की डाल को एक साथ ही काट कर बोधिसत्त्व के क्षत-विक्षत शरीर को मुक्त किया। धीरे-धीरे चंदोवे से उतार कर राजा ने उन्हें कोमल बिछावन पर सुलाया और उनका सम्यक् उपचार किया।

आश्वस्त होने पर अत्यन्त सम्मान के साथ कुशल-प्रश्न करते हुए राजा ने उनसे वैसा करने का कारण पूछा। बोधिसत्त्व ने राजा की अनुकूलता का आदर करते हुए कहा—मेरी आज्ञा के पालन में दक्ष इन्होंने मुझे अधिपति का भार दिया। इन पर मेरा पुत्रवत् स्नेह है। स्नेह की रक्षा के लिये मैंने यह आचरण किया। अपने आश्रितों की रक्षा कर मेरा चित्त अत्यन्त स्वस्थ है। शारीरिक पीड़ा, बन्धु-वियोग या सुख का विनाश मुझे संतप्त नहीं कर रहा है। क्रमागत यह मृत्यु मेरे लिये महोत्सव के समान है। स्वामी होने के कारण अपने जाति वालों से प्रणाम, सत्कार और भक्ति के साथ जिस सुख परम्परा को मैंने पाया, उससे आज मैं मुक्त हूँ। अतः मैं अत्यन्त आत्मसुख का अनुभव कर रहा हूँ।

उस अवस्था में बोधिसत्त्व को अत्यन्त प्रमुदित देख राजा परम विस्मित हुए तथा उनसे शिष्य के समान राजधर्म का उपदेश ग्रहण किया। राजा को समुचित शिक्षा देकर उन्होंने अपने पार्थिव शरीर को छोड़ दिया।

इस प्रकार सदाचार का अनुसरण करनेवाले प्राणी शत्रु के मन को भी जीत लेते हैं।

२८—क्षान्ति-जातक

इस कथा में बोधिसत्त्व की अद्भुत क्षमाशीलता का वर्णन हुआ है। गृहस्थ जीवन को दोषों का आस्पद मान कर बोधिसत्त्व ने एक बार संन्यास व्रत धारण किया। वे तपस्वी होकर सदा क्षमा का उपदेश देते थे और तदनुरूप धर्म की व्याख्या करते थे। अतः लोग उन्हें क्षान्तिवादी कहते थे। वे एकान्त, रमणीय, सुलभ फल-फूलों से समन्वित विमल कमल युक्त जलाशयों से सुशोभित एवं उद्यानों की रम्य शोभा से विभूषित वनस्थली में रहते थे तथा कल्याणकामी गुणानुरागियों को क्षमाविषयक धार्मिक कथाओं से अनुगृहीत करते थे।

एक बार उस देश का राजा ग्रीष्म-ऋतु में जल-क्रीड़ा की अभिलाषा से अपने अन्तःपुर के साथ उस रम्य वनस्थली में आया। वन-विहार सुख की यथेष्ट अनुभूति पाकर क्रीड़ाजन्य थकावट और मद्यपान के कारण सुन्दर कुञ्ज में उत्तम शय्या पर जाकर सो गया। तब उनकी स्त्रियाँ वन-शोभा से आकृष्ट होकर चारों ओर विचरण करने लगीं। वन की रमणीयता का अवलोकन करती हुई वे क्षान्तिवादी

मुनि के आश्रम में पहुँच गयीं। वहाँ वृक्ष के नीचे बैठे, शान्त, सौम्य तथा धर्मात्मा मुनि को देखते ही वे स्त्रियाँ विभ्रम-विलास तथा उच्छृंखलता का परित्याग कर विनय और शान्ति के साथ उनके चारों ओर बैठ गयीं। उस महात्मा ने प्रिय वचनों तथा अतिथियोग्य अन्य मनोहर उपचारों से उनका स्वागत कर सुबोध दृष्टान्तपूर्ण धर्मोपदेश के द्वारा उनका आतिथ्य किया।

इधर नींद टूटने पर रानियों के अनियंत्रित प्रेमपूर्ण हास्य, संभाषण तथा सरस चेष्टायें देखने के लिये उत्सुक राजा शयनपालिकाओं से उनका अन्यत्र गमन जानकर शय्या से उठ गया तथा दासियों एवं कंचुकियों के साथ उन्हें खोजता हुआ उस मुनि के आश्रम में पहुँचा। वहाँ महर्षि क्षान्तिवादी को रानियों से घिरा हुआ देखते ही नशे से बेहोश तथा ईर्ष्या से हतबुद्धि वह राजा अत्यन्त क्रुद्ध हो गया। विवेकबल के अभाव में वह विनय और सदाचार से च्युत हो गया। महर्षि को फटकारते हुए उसने कहा—

> "अस्मत्तेजः खलीकृत्य पश्यन्नन्तःपुराणि नः।
> मुनिवेषप्रतिच्छन्नः कोऽयं वैतसिकायते ॥[१]"

अर्थात् हमारे प्रभाव की उपेक्षा कर हमारी स्त्रियों को देखता हुआ यह कौन मुनि के वेष में छिपा हुआ व्याध का आचरण कर रहा है।

राजा के द्वारा इस प्रकार अपमानजनक शब्दों का प्रयोग करने पर अन्तःपुर के अनुचरों ने घबराहट में आकर उनसे मुनि का प्रभाव और माहात्म्य बतलाया। किन्तु राजा दूषित आशय के कारण उन बातों पर ध्यान न देकर स्वयं हाथ में तलवार लेकर उस मुनि पर शत्रु की तरह झपटा। सुन्दर शिष्टाचार और विनय से युक्त रानियों ने उस ऋषि की प्रशंसा के द्वारा राजा के क्रोधाग्नि-प्रज्वलित चित्त को शान्त करना चाहा, किन्तु इससे उनका क्रोध और बढ़ ही गया। आक्रमण किये जाने पर भी महासत्त्व निर्विकार, घबराहट से रहित तथा स्वस्थचित्त बने रहे। सबके प्रति क्षमाशील वे उस अपमान से जरा भी विचलित नहीं हुए। उन्होंने अनेक प्रकार के उपदेशप्रद वाक्य राजा के कल्याण के लिये कहा। किन्तु कुटिलता से हतबुद्धि राजा पर इसका उलटा ही परिणाम हुआ। कहा भी गया है—

> "पयःपानं भुजङ्गानां केवलं विषवर्द्धनम्।
> उपदेशो हि मूर्खाणां प्रकोपाय न शान्तये ॥"

अब यह अनुनय का पात्र नहीं रह गया है, यह सोच कर बोधिसत्त्व वैद्य द्वारा परित्यक्त रोगी के समान उसके लिये शोक करते हुए चुप हो गये। राजा ने उसके बाद उनके दोनों हाथ पैर, कान तथा नाक को काट डाला। शरीर पर तीक्ष्ण तलवार का प्रहार होने पर भी वे उत्तम मुनि न दुःखी हुए, न क्रुद्ध; क्योंकि वे जानते थे कि शरीर रूपी यंत्र का विनाश निश्चित है। इसलिये वे सब प्राणियों के

१—जातक०—२८।३०

प्रति क्षमाशील थे; किन्तु राजा की धर्मच्युति से वे अत्यन्त संतप्त हुए। सच है— शान्तचित्त दयालु पुरुष अपने पर आये दुःख से उतने दुःखी नहीं होते, जितना कि दूसरों पर आये दुःख से—

"प्रतिसंख्यानमहर्ता न तथा करुणात्मनाम्।
बाधते दुःखमुत्पन्नं परानेव यथाश्रितम्॥"[1]

उस घोर दुष्कर्म के करने पर राजा तत्क्षण अग्नि के समान दाहक ज्वर से ग्रस्त हो गया और उपवन से निकल कर भयंकर शब्द के साथ हठात् ही फटी हुई तथा आग की लपटों से भरी हुई पृथ्वी के भीतर समा गया। इससे समस्त राजकुल को अत्यन्त व्याकुल देख राजा के अमात्य ने महर्षि के चरणों में नत-मस्तक होकर निवेदन किया कि अज्ञान और चापल्य के कारण राजा ने आपको इस अवस्था में पहुँचा दिया है। अतः वही आपकी क्रोधाग्नि का इन्धन बने। हे सद्गुणों के पक्षपाती! आप उसके नगर, परिवार तथा दुःखी प्रजाओं को न जलावें। बोधिसत्त्व ने आश्वासन दिया कि मरण और व्याधि के दुःख से दुःखी, लोभ और द्वेष के वशीभूत अपने दुष्कर्मों से दग्ध व्यक्ति तो दया का पात्र होता है। उस पर क्रोध कौन करेगा? अपनी भलाई में आग लगाने वाले राजा को बचाने की शक्ति मुझमें नहीं है, तो मैं उस पर क्रोध क्यों करूँ? असंख्य जन्मों में यह क्षुद्र शरीर नाना प्रकार से नष्ट हुआ, फिर आज इसके नष्ट होने पर मैं क्षमा को क्यों छोड़ूँ? प्रव्रज्या की प्रतिज्ञा लेकर वन में रहता हुआ, मैं शीघ्र ही प्राण छोड़ने वाला हूँ। तब क्रोध को क्यों आश्रय दूँ? अतः आपका शुभ हो, आप निर्भय होकर जाँय।

इस प्रकार उन्हें उपदेश देकर तथा शिष्य बना कर महर्षि क्षमाशीलता के कारण अविचल धैर्य के साथ पृथ्वी के निवास को छोड़ कर स्वर्ग चले गये। क्षमा-शीलता के गुण-वर्णन में तथा कामोपभोगों के दुष्परिणाम दिखलाने में यह कथा कहनी चाहिये।

२९—ब्रह्म-जातक

बोधिसत्त्व के धर्म-ज्ञान एवं परोपकार की भावना का प्रतिपादन इस जातक में हुआ है। अपने पुण्य कर्मों के परिणाम-स्वरूप बोधिसत्त्व ने एक बार ब्रह्मलोक में जन्म पाया। वहाँ महान् ब्रह्म-सुख पाकर भी उनका मन परोपकार से विमुख नहीं हुआ; क्योंकि विषय-सेवन से होनेवाले सुख को पाकर लोग असावधान होकर निन्दित होते हैं; किन्तु ध्यानाभ्यास से होने वाले सुख को पाकर भी सज्जनों के परोपकार की इच्छा तिरोहित नहीं होती है—

"विषयसुखेनापि परां प्रमादवक्तव्यतां व्रजति लोकः।
ध्यानसुखैरपि तु सतां न तिरस्क्रियते परहितेच्छा॥"[2]

---

१. जातक—२८।५७

२. जातक० २९।१

एक बार उस महात्मा ने विविध दु:खों से युक्त अनेक लोकों का अवलोकन करते हुए "अंगदिन्न" नामक विदेहराज को देखा, जो कुसंगति तथा दुर्विचारों के अभ्यास से मिथ्या दृष्टि के गहन वन में भटक रहा था। परलोक नहीं है, शुभाशुभ कर्मों का परिणाम कहाँ से होगा ? यह निश्चय कर वह दान, सदाचार आदि सत्कर्मों से विमुख होकर भोगों में आसक्त हो गया था। साधुओं और ब्राह्मणों के प्रति उसका विनय और सम्मान शिथिल हो गया था। परलोक की बातों से उसे हँसी आती थी।

राजा को उस अनर्थकारिणी मिथ्यादृष्टि में आसक्त देख कर देवर्षि के हृदय में करुणा उमड़ पड़ी। एक समय जब राजा विषय-सुखों में लीन होकर सुन्दर एकान्त कुंज में बैठा हुआ था, देवर्षि उसके सामने ब्रह्मलोक से प्रज्वलित होते हुए नीचे उतरे। अग्निपुञ्ज के समान प्रकाशमान तथा सूर्य की किरण-राशि के समान अत्यन्त दीप्त उनके तेज से अभिभूत होकर राजा ने घबराहट के साथ उठ कर तथा हाथ जोड़ कर उन्हें प्रणाम किया और उनका परिचय पूछा। बोधिसत्त्व ने कहा कि रागद्वेष को आत्मसंयम की शक्ति से जीत कर ब्रह्मलोक में रहनेवाले देवर्षियों में से मैं हूँ। अपनी दिव्यशक्ति का रहस्य पूछे जाने पर उन्होंने कहा—हे राजन् ! पूर्व जन्मों में अभ्यस्त ध्यान, निर्मल सदाचरण और उत्तम इन्द्रिय-संयम के कारण यह दिव्यशक्ति मुझे प्राप्त हुई है। परलोक क्या है और इस पर कैसे विश्वास किया जा सकता है, यह पूछे जाने पर देवर्षि ने अनेक प्रमाणों एवं तर्कों से राजा को परलोक के विषय में समझाया; किन्तु मिथ्यादृष्टि के दुराग्रह तथा अपने एकत्रित पापों के कारण उस पर उसका कोई प्रभाव नहीं पड़ा। तब बोधिसत्त्व ने नरक की भयंकर यातनाओं का विस्तृत वर्णन कर उसे अनेक प्रकारों से समझाया कि आप जैसे लोगों की अन्तिम गति उसी में होती है। इसे सुनकर राजा के मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया। मिथ्यादृष्टि की आसक्ति का परित्याग कर उसने परलोक पर विश्वास किया और बोधिसत्त्व को प्रणाम कर कहा—

"निशम्य तावन्नरकेषु यातनां
भयादिदं विद्रवतीव मे मनः।
कथं भविष्यामि न तां समेयिवान्
वितर्कवह्निर्दहतीव मां पुनः॥
मया ह्यसद्दर्शननष्टचेतसा
कुवर्त्मना यातमदीर्घदर्शिना।
तदत्र मे साधुगतिर्गतिर्भवान्
परायणं त्वं शरणं च मे मुने॥"[1]

अर्थात् नरक की यातना सुन कर मेरा मन भयभीत हो रहा है। किस प्रकार मैं उस यातना को न प्राप्त करूँ, चिन्ता की यह अग्नि मुझे बार-बार जला रही है।

---

१. जातक०—२६/४६-४७

मिथ्या दृष्टि से ज्ञान के नष्ट होने के कारण में अदीर्घ-दर्शी कुमार्ग पर चला। इस लिए इस विषय में आप उत्तम गति वाले ही मेरी गति, आश्रय और शरण हैं। और भी—

"यथैव मे दृष्टितमस्त्वयोद्धृतं
दिवाकरेणेव समुद्यता तमः।
तथैव मार्गं त्वमृषे प्रचक्ष्व मे
भजेय येनाहमितो न दुर्गतिम् ॥"[१]

अर्थात् जिस प्रकार उगता हुआ सूर्य अन्धकार को दूर करता है, उसी प्रकार आपने मेरी दृष्टि के अन्धकार को दूर कर दिया। इसी प्रकार हे ऋषि ! अब आप मुझे मार्ग बतलायें, जिससे मैं दुर्गति को न पाऊँ।

वैराग्य तथा धर्माचरण के प्रति राजा का झुकाव देख कर बोधिसत्त्व ने शिष्य की भाँति उस पर अनुकम्पा करते हुए उसके लिए सुगतिमार्ग का उपदेश किया। उसके बाद वे वहीं अन्तर्हित हो गये। परलोक की कथा की सत्यता को जान कर, सम्यग् दृष्टि का ज्ञान प्राप्त कर अमात्यों एवं प्रजाओं के साथ वह राजा दान, इन्द्रिय-दमन और आत्म-संयम में तत्पर हो गया।

३०—हस्ति-जातक

यह कथा बोधिसत्त्व के अतिथि-सत्कार का अद्भुत दृष्टान्त उपस्थित करती है। एक बार बोधिसत्त्व किसी रमणीय नाग-वन में विशालकाय एकाकी हाथी हुए। पर्वत प्रान्त में स्थित वह वन वनचारियों का आश्रय था। वृक्षों, झाड़ियों एवं जल से रहित एक बड़ी मरुभूमि उसके चारों ओर मनुष्यों के आवागमन में रुकावट थी। वहाँ वे तपस्वी के समान वृक्ष के पत्तों, कमल-नाल तथा सन्तोष-शान्ति से ही प्रसन्न रहते थे।

एक बार वन के सीमान्त प्रदेश में विचरण करते हुए उस महासत्त्व ने मरुभूमि की ओर से क्रन्दन सुना। उन्होंने सोचा यह क्या है ? इस भूमि से दूसरे देश को जाने वाला कोई मार्ग भी नहीं है। इतनी बड़ी मरुभूमि को पार कर शिकार के लिए आना तो और भी असंभव है। स्पष्ट है कि ये मार्ग से भटक गये हैं, अथवा कोपवश राजा से निर्वासित किये गये हैं। दुःखदैन्यपूर्ण क्रन्दन सुन कर करुणा से प्रेरित बोधिसत्त्व तेजी से उस शब्द की ओर बढ़ने लगे। गहन वन से निकलने पर मरुभूमि में दूर से ही सात सौ मनुष्यों को देखा, जो भूख, प्यास और थकावट से व्यथित हो वन की ओर सहायता की आशा से देख रहे थे। जंगम हिमगिरि शिखर के समान हस्तिराज को देख कर उन मनुष्यों ने सोचा—अहो ! हमारा विनाश निश्चित है। किन्तु भयभीत होने पर भी भूख, प्यास और थकावट से निरुत्साहित होने के

---

१. जातक०—२९।४८

कारण उन्होंने भागने की चेष्टा नहीं की। उन्हें भयभीत जानकर बोधिसत्त्व ने दया से द्रवीभूत होकर मनुष्य की वाणी में आश्वासन देते हुए पूछा कि आप कौन हैं और किस प्रकार इस अवस्था को प्राप्त हुए हैं ? उनकी अभयदानसूचक अनुग्रह-प्रवृत्ति से आश्वस्त होकर उन मनुष्यों ने उन्हें प्रणाम कर निवेदन किया कि हे गजेन्द्र ! राजा की क्रोधाग्नि ने हम एक हजार व्यक्तियों को यहाँ डाल दिया। पहले कभी दुःख नहीं होने के कारण बहुत से लोग भूख, प्यास और शोक से अभिभूत होकर मर गये। इस समय सात सौ मनुष्य बचे होंगे। मृत्यु-मुख में डूबते हुए हम लोगों के लिये आप मूर्त्त आश्वासन के समान उपस्थित हुए हैं। उनकी बातों को सुन कर महाकारुणिक बोधिसत्त्व की आँखों से आँसू बहने लगे। उन्होंने अनेक प्रकार से शोक प्रकट करते हुए सोचा कि भूख, प्यास एवं थकावट से व्याकुल तथा दुर्बल काय ये उचित आहार के बिना निर्बल, छायारहित तथा अतिविस्तृत इस मरुभूमि को कैसे पार करेंगे ? नाग-वन में भी क्या है, जिससे एक दिन भी भूख से इनकी शरीर-यात्रा चल सके ? हाँ, ये मेरे शरीर को पाथेय बना कर तथा मशक की तरह अँतड़ियों में जल लेकर इस मरुभूमि को पार कर सकते हैं। अतः मैं विविध रोगों के घर इस देह को पीड़ित प्राणियों के लिये विपत्ति से निकालने का साधन बनाता हूँ। मेरे क्षेत्र में आये ये धर्मानुसार मेरे अतिथि हैं तथा विपत्ति में और बन्धुरहित हैं। इसलिए विशेष रूप से मेरी अनुकम्पा के पात्र हैं। तब उनमें से किसी ने जल की, किसी ने छाया की और किसी ने मार्ग की याचना की। उनकी करुण प्रार्थनाओं से दयार्द्र होकर उस महात्मा ने जिस ओर से मरुभूमि को पार करना शक्य था, उस ओर अपनी सूँड़ से उन्हें एक पहाड़ दिखलाते हुए कहा—उस पहाड़ के नीचे कमलों से शोभायमान, विमल जल का एक बड़ा सरोवर है। अतः इसी मार्ग से जाइये। वहाँ गर्मी, प्यास और थकावट को दूर कर, उस पहाड़ से कुछ ही दूरी पर गिरे हुए एक हाथी के शरीर को देखियेगा। उसके माँस को पाथेय बनाकर तथा मशक की तरह अँतड़ियों में जल लेकर इसी दिशा में जाइये। इस तरह अल्प कष्ट से ही आप लोग इस मरुभूमि को पार कर लेंगे। इस प्रकार आश्वासन देते हुए उस महात्मा ने उन्हें वहाँ से प्रस्थान करा कर स्वयं शीघ्रतापूर्वक दूसरे मार्ग से उस पहाड़ के किनारे से अपने शरीर को छोड़ दिया। भयंकर शब्द करते हुए उनके पृथ्वी पर गिरने पर देवताओं ने प्रसन्न होकर पुष्प सुगंध आदि की वृष्टि की।

उन मनुष्यों ने क्रम से सरोवर पर पहुँच कर गर्मी, प्यास और थकावट दूर की तथा समीप में ही कुछ देर पहले मरे हुए हाथी के शरीर को देखा। ध्यान से देखने पर कुछ लोगों ने निश्चयपूर्वक जान लिया कि यह वही श्रेष्ठ हाथी है। इससे उन्हें अद्भुत आश्चर्य हुआ कि जिनके कुल, शील और भक्ति को पहले कभी नहीं देखा, न सुना, ऐसे हम भाग्यहीनों के प्रति इन्होंने इतनी सुजनता दिखलाई, तब अपने मित्रों और बन्धुओं के प्रति ये कितने उदार होंगे।

"अदृष्टपूर्वान्वयशीलभक्तिषु
क्षतेषु भाग्यैरपरिश्रुतेष्वपि ।
सुहृत्त्वमस्मासु बतेदमीदृशं
सुहृत्सु वा बन्धुषु वास्य कीदृशम् ॥"[1]

ये सर्वथा प्रणम्य हैं। मृत्युमुख में आपतित हम पर अनुग्रह करनेवाले ये हाथी के रूप में कोई हैं, जो सज्जनों के दुर्लभ आचरण को धारण करते हैं। तब कौन इस समय स्नेही बन्धुओं से भी बढ़कर स्नेह करनेवाले, अनुग्रहपरायण, अपने प्राणों से भी हमारे उपकार में प्रवृत्त, अत्यन्त साधु आचरणवाले इनका मांस खा सकेगा ? उचित तो यह है कि विधिपूर्वक पूजा करते हुए हम दाह-क्रिया के द्वारा इनके ऋण से मुक्त हों। यह सोचते हुए उनके हृदय शोकाकुल हो गये मानो उनके स्व-जन की मृत्यु हुई हो।

अनन्तर कुछ धीर मनुष्यों ने कहा—"इस अपरिचित बन्धु ने हमारी रक्षा करने के उद्देश्य से अपना प्रिय शरीर छोड़ा। इनके उद्देश्य को पूरा करके ही हम इनकी पूजा कर सकेंगे। स्नेह से अतिथि-सत्कार में इन्होंने अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर दिया। अब इसे अस्वीकार कर कौन इस सत्कार को व्यर्थ करेगा ? अत एव गुरु के समान इनके वचन का पालन करते हुए हम इनका सम्मान और अपना कल्याण करें। इस विपत्ति को पार कर हम सभी इनकी पूजा करेंगे और वह सब कर्म करेंगे, जो मरे हुए स्वजन के लिए किया जाता है।

अनन्तर वे सभी उनके वचन के अनुसार हाथी का माँस तथा उसकी अँतड़ियों में जल लेकर उनके द्वारा निर्दिष्ट दिशा में चलते हुए मरुभूमि से सकुशल बाहर हो गये। इस प्रकार साधु-जन प्राण देकर भी दूसरों का दुःख दूर करते हैं।

३१—सुतसोम-जातक

सत्संग का माहात्म्य एवं बोधिसत्त्व की करुणा के वर्णन में यह कथा कही गयी है।

बोधिसत्त्व ने एक बार प्रख्यात कौरव-राजकुल में जन्म पाया। शत-शत गुण रूपी किरणों से विभूषित वे देखने में चन्द्रमा के समान सुन्दर लगते थे। अत एव पिता ने उनका नाम सुत-सोम रखा। शुक्लपक्ष के चन्द्रमा के समान उनकी कान्ति बढ़ने लगी। कालक्रम से उन्होंने सांग वेदों तथा विभिन्न उत्तम कलाओं में निपुणता पायी। शीघ्र ही अपने सद्गुणों से वे लोगों के प्रेम और सम्मान के पात्र हो गये। प्रजा-पालन में समर्थ जानकर राजा ने उन्हें युवराज के पद पर अभिषिक्त किया। विद्वान् होने के कारण सुभाषित उन्हें अत्यन्त प्रिय था। अतः सुभाषित लेकर आये हुए का वे बड़ा सम्मान करते थे।

---

१. जातक—३०।३७

एक दिन सेना के साथ वे क्रीड़ार्थ किसी उपवन में गये। वहाँ वे अपनी प्रियतमा के साथ विचरण करने लगे जैसे नन्दन-वन में कोई पुण्यात्मा विचरण कर रहा हो। मधुर संगीत, सुन्दर नृत्य, हाव-भावमय विलास एवं मनोहर वन-शोभा से वे आनन्दित हुए। वहाँ सुभाषित सुनानेवाला कोई ब्राह्मण आया और उनसे उचित रूप से सत्कृत होकर बैठ गया। अभी उस ब्राह्मण ने वहाँ आने का फल भी नहीं पाया था कि अचानक एक भयंकर कोलाहल हुआ। भय से काँपते हुए द्वारपाल ने निवेदन किया कि देव! राक्षसों से भी अधिक क्रूर, सैकड़ों मनुष्यों के संहार का अभ्यस्त नरभक्षी सौदास (सुदास का पुत्र) कल्माषपाद इधर ही आ रहा है, जिससे हमारी सेना व्याकुल होकर भाग रही है। अतः उचित कर्त्तव्य का आदेश दें। जानते हुए भी सुतसोम ने पूछा कि यह सौदास कौन है? द्वारपाल ने कहा कि एक समय सुदास नामक राजा मृगया के लिये किसी दुर्गम वन में गया। वहाँ उसने सिंही के साथ सहवास किया, जिससे कुमार का जन्म हुआ। वनचारियों के द्वारा वह राजा के पास लाया गया। पिता के द्वारा लालित पालित हो कर उसने उनकी मृत्यु के बाद राज्य भी पाया; किन्तु मातृदोष के कारण वह पुरवासियों को ही मार कर खाने लगा। फलतः पुरवासियों ने उसके वध का प्रबन्ध किया, जिससे भयभीत होकर उसने भूतों की उपासना की तथा उनसे प्रतिज्ञा की कि संकटमुक्त होने पर सौ राजकुमारों की बलि द्वारा वह भूतयज्ञ करेगा। वह संकटमुक्त हो गया। अब वह बलपूर्वक राजकुमारों का अपहरण करता हुआ श्रीमान् के अपहरण के लिये आ रहा है। अतः शीघ्र यथोचित आज्ञा दें।

सौदास की दुश्शीलता से पूर्वपरिचित बोधिसत्त्व ने कहा कि नरमांस के लोभ से मार्ग-भ्रष्ट होकर वह दयनीय अवस्था में है। अतः उसके पाप को उन्मीलित करने का यत्न करना मुझ जैसे सज्जनों का कर्त्तव्य है। अनन्तर रक्षकों को अपने-अपने कार्य में सावधान रहने का आदेश देकर तथा घबराये हुए लोगों को आश्वासन देकर स्वयं राजकुमार उधर बढ़े जिधर से वह क्रूर राक्षस के समान आकृति वाला सौदास आ रहा था। दूर से ही सुतसोम ने निर्भय होकर कहा कि यह मैं सुतसोम हूँ; इधर लौटो। यह सुनकर वह बोधिसत्त्व की ओर लौटा तथा उन्हें अपने कन्धे पर चढ़ा कर भागा। अपनी अभीष्ट-सिद्धि से प्रसन्न वह बोधिसत्त्व को मारे हुए मनुष्यों की लाशों से पटा हुआ तथा भयंकर अपने निवास-दुर्ग में रख कर स्वयं अपनी थकावट दूर करने लगा। तब बोधिसत्त्व को उस ब्राह्मण का स्मरण आया जो सुभाषित रूपी उपहार लेकर आया था तथा पुरस्कार की आशा से उद्यान में उनके लौटने की प्रतीक्षा कर रहा था। उसके लिये अत्यन्त शोकाकुल होते हुए उस महापुरुष के नेत्रों से आँसू निकल पड़े। सौदास ने भय के कारण उन्हें सजलनयन समझ कर हँसते हुए कहा कि मेरे वश में पड़ कर धीर कहलाने वाले तुम आँसू बहा रहे हो। ठीक ही कहा गया है—

"आपत्सु विफलं धैर्यं
शोके श्रुतमपार्थकम्।

नहि तद्विद्यते भूत-
माहतं यन्न कम्पते ॥[1]

अर्थात् विपत्ति में धैर्य नष्ट हो जाता है। ऐसा कोई प्राणी नहीं जो विपत्ति या शोक से आहत हो कर विचलित न हो।

बोधिसत्त्व ने कहा—अन्य किसी कारण से नहीं बल्कि, यह सोच कर मेरी आँखें सजल हो रही हैं कि सुभाषितों के साथ पुरस्कार की आशा से आया हुआ ब्राह्मण मेरा अपहरण सुनकर निराशा से दग्ध हो रहा होगा। इसलिये आप मुझे तब तक के लिये छोड़ दें जब तक कि मैं निराशा रूपी अग्नि से जलते हुए द्विज के हृदय को सत्कार रूपी शीतल जल से शान्त कर उससे सुभाषित रूपी मधु ग्रहण कर सकूँ। इस प्रकार द्विज के ऋण से मुक्त होकर यहाँ मैं आपके ऋण से सानन्द मुक्त होऊँगा। प्रथमतः सौदास को इस पर विश्वास नहीं हुआ; क्योंकि मृत्युमुख से मुक्त हो कर कौन स्वस्थचित्त मनुष्य पुनः उसी के पास जायगा ? किन्तु अनेक प्रकार से बोधिसत्त्व के विश्वास दिलाने पर उसने उनकी सत्यवादिता तथा धार्मिकता की परीक्षा के लिये जाने की अनुमति दे दी। शीघ्र लौटने की प्रतिज्ञा कर बोधसत्त्व घर आये। उन्होंने ब्राह्मण को बुला कर चार गाथायें सुनीं तथा प्रसन्न होकर प्रति सुभाषित सहस्र मुद्रा देकर उसे सम्मानित किया। इसे अतिव्यय समझ कर पिता ने प्रसंगवश उनसे कहा—सुभाषित के पुरस्कार की सीमा का ज्ञान होना चाहिये। इसके लिये सौ मुद्रा ही पर्याप्त हैं। बोधिसत्त्व ने सुभाषितों के महत्त्व का विस्तृत विवेचन करते हुए कहा कि जिसको सुनते ही मन प्रसन्न होता है कल्याण-प्राप्ति की इच्छा स्थिर होती है, ज्ञान विकसित होकर निर्मल होता है, उसे अपने शरीर का मांस देकर भी खरीदना चाहिये। अनन्तर पिता, गुरुजन तथा स्नेही लोगों से अनेक प्रकार से रोके जाने पर भी वे अपनी प्रतिज्ञा से अनुसार निर्भयता-पूर्वक सौदास को विनीत करने की इच्छा से अकेले उसके स्थान पर चले आये।

सत्य की रक्षा में प्राणों तथा राज्य के मोह को त्यागने वाले बोधिसत्त्व को पुनः आया देखते ही सौदास विस्मित, श्रद्धालु और प्रसन्न हुआ। उसने सुभाषित सुनने की इच्छा व्यक्त की। किन्तु बोधिसत्त्व पहले उसे अधार्मिक कहकर फटकारा और बाद में प्रसंगवश सत्यवचन एवं सदाचरण का सुन्दर उपदेश दिया, जिससे उसका हृदय परिवर्त्तित हो गया। बोधिसत्त्व को प्रणाम कर उसने धर्मश्रवण की महती इच्छा व्यक्त की। उसे शुद्धाशय समझ बोधिसत्त्व ने धर्म एवं सदाचरण की सुन्दर शिक्षा से सौदास को पाप कर्मों से विरत कर सन्मार्ग पर आरूढ़ किया तथा वन्दी बनाये राजकुमारों को मुक्त कराकर अपने-अपने राज्य में प्रतिष्ठित कराया।

इस प्रकार किसी भी प्रकार से प्राप्त सत्संग कल्याणकारी ही होता है। सत्पुरुष अपने जीवन, सुख और ऐश्वर्य की उपेक्षा कर सत्य की रक्षा करते हैं।

---

१. जातक०—३१।१४

३२—अयोगृह-जातक

संसार की अनित्यता तथा वैराग्य से कल्याण की प्राप्ति के कथन में यह जातक कहा गया है। बोधिसत्त्वावस्था में भगवान् बुद्ध एक बार किसी विनय-संपन्न राजकुल में उत्पन्न हुए। इनके जन्म लेते ही वहाँ प्रभूत दान से ब्राह्मण संतुष्ट हो गये। उज्ज्वल वस्त्राभूषण धारण कर भृत्य आनन्द से फूले नहीं समाये। कारागार से बन्दी मुक्त कर दिये गये। सर्वत्र आनन्द ही आनन्द हुआ। संतुष्ट मनुष्यों ने राजा के अभ्युदय की कामना की।

उस समय राजा के जो पुत्र उत्पन्न होते थे, वे मर जाते थे। इसे भूतबाधा मान कर राजा ने पुत्र की रक्षा के लिये एक सुन्दर प्रसूतिगृह बनवाया, जो सम्पूर्ण लोहे का बना हुआ था एवं मणियों की आकृति से अलंकृत था। भूत-विद्या एवं वेद-सम्मत विधि से भूतों के विनाश का प्रतिकार किया। समुचित शुभ अनुष्ठान और मंगल कर्म किये। उस महासत्त्व की सात्त्विकता, पुण्य-प्रभाव और समुचित रक्षा-व्यवस्था के कारण भूतों के लिये वे असह्य हुए। काल-क्रम से उनके संस्कार किये गये। योग्य आचार्यों से उनकी शिक्षा-दीक्षा हुई। अपने उत्तम गुणों से वे शीघ्र ही सब के प्रिय हो गये।

एक बार अपने उत्तम नगर में काल-क्रम से उपस्थित कौमुदी-महोत्सव की सुन्दर शोभा देखने की इच्छा से वे पिता की अनुमति लेकर एक उत्तम रथ पर आरूढ़ हो विचरण कर रहे थे। उस समय वैराग्य से अभ्यस्त होने के कारण उन्हें अपने पूर्वजन्मों का स्मरण हुआ। उन्होंने सोचा कि संसार की स्थिति अस्थिरता के कारण दु:खमयी और दयनीय है। महाशक्तिशाली शत्रु—व्याधि-बुढ़ापा और मृत्यु मारने के लिये उद्यत है। परलोक रूपी दुर्ग में अवश्य जाना है। तब ज्ञानी व्यक्ति के लिये आनन्द का अवसर ही कहाँ है? कोई मिलन नहीं, जिसका अन्त वियोग न हो। कोई सम्पत्ति नहीं जिसको विपत्ति नहीं घेरती। जगत् की स्थिति ऐसी चंचल होने पर भी वास्तविकता को नहीं देख कर ही लोग आनन्द का अनुभव करते हैं। इस प्रकार सोचते हुए उस महात्मा का मन विरक्त हो गया तथा अवसर मिलते ही राजा के समीप पहुँच कर उसने तपोवन गमन की अनुमति माँगी। पुत्र-प्रिय पिता ने स्नेहवश उसे रोकने का प्रयत्न किया। तब बोधिसत्त्व ने अनेक प्रकार के वचनों से यह स्पष्ट किया कि जरा और मरण रूप शत्रु से आज तक कोई भी बच नहीं सका है। अत एव मैं धर्माचरण के लिये वन जा रहा हूँ। वन में कुकार्यों को छोड़ कर और संग्रह के कष्ट से मुक्त हो कर मनुष्य सुखी होता है; शान्ति ही उसका एकमात्र कार्य होता है; चित्त संतुष्ट रहता है; वह सुख धर्म और यश को पाता है।

"वने तु संत्यक्तकुकार्यविस्तरः
परिग्रहक्लेशविवर्जितः सुखी।

शमैककार्यः परितुष्टमानसः
सुखं च धर्मं च यशांसि चार्च्छति ।।[1]

धर्म ही मनुष्य की रक्षा करता है, धर्म से ही महासुख होता है। धर्मात्मा को मृत्यु भी आनन्द ही देती है। उसके लिये दुर्गति का भय नहीं है।

इस प्रकार पिता से अनुनय कर वे उनकी आज्ञा प्राप्त कर राजलक्ष्मी को तृण के समान छोड़ कर तपोवन चले गये। वहाँ चिरकाल तक अपरिमित ध्यान कर अन्त में ब्रह्मलोकवासी हुए।

अतः जिनके मन में वैराग्य का उदय होता है, राजलक्ष्मी उनके मार्ग को अवरुद्ध नहीं कर सकती। इस कथा से यह निष्कर्ष भी निकालना चाहिये कि संसार अनित्य और त्राण-रहित है तथा धर्माचरण वन में सुकर है न कि घर में।

३३——महिष-जातक

बोधिसत्त्व की क्षमाशीलता का वर्णन इस जातक में है।

एक बार बोधिसत्त्व किसी जंगल में जंगली भैंसा हुए। अज्ञानमय पशु-योनि में पड़कर भी वे बड़े ज्ञानी और धार्मिक थे। उनके भद्र एवं दयालु स्वभाव तथा अक्रोध को जानकर एक दुष्ट बन्दर निर्भीक हो कर उन्हें अनेक प्रकार से सताया करता था। क्योंकि—

"दयामृदुषु दुर्जनः पटुतरावलेपोद्धवः
परां व्रजति विक्रियां न हि भयं ततः पश्यति।
यतस्तु भयशङ्कया सुकृशयापि संस्पृश्यते
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्धवः ।।"[2]

अर्थात् दयार्द्र व्यक्ति के प्रति दुर्जन उद्धत और उत्तेजित होकर बड़ी दुष्टता करता है; किन्तु जिस व्यक्ति से भय की थोड़ी भी आशंका रहती है, उसके प्रति वह शान्त और विनीत होकर शिष्य के समान विनम्र आचरण करता है।

वह बन्दर कभी बोधिसत्त्व के सोते रहने या ऊँघते रहने पर उनके ऊपर उछल पड़ता था। कभी उनके ऊपर चढ़ कर वृक्ष के समान जोरों से हिलाने लगता था। कभी भूख से पीड़ित उनके मार्ग को रोक कर खड़ा हो जाता था। एक बार लकड़ी लेकर उनके कानों को रगड़ दिया। इस प्रकार के अनेक उपद्रवों के किये जाने पर भी बोधिसत्त्व क्रोध के वशीभूत नहीं हुए। उसके सभी अविनीत कार्यों को उपकार के समान समझते हुए उन्होंने क्षमा कर दिया।

---

१. जातक० ३२।४६
२. जातक —३३।४

उनके अपमान से दुःखी होकर किसी यक्ष ने एक दिन मार्ग में बोधिसत्त्व को पूछा—"वेगपूर्वक चलाये गये तुम्हारे सींग का अग्र भाग पत्थर को फोड़ सकता है, बड़े-बड़े वृक्षों को विदीर्ण कर सकता है। क्रोधपूर्वक निक्षिप्त तुम्हारे पैर चट्टान में भी वैसे ही धँस सकते हैं जैसे कीचड़ में। फिर क्यों इस दुष्ट बन्दर के अपमान को सहन करते जा रहे हो ? क्या इसके द्वारा खरीद लिये गये हो या जुए में हरा दिये गये हो ?" बोधिसत्त्व ने क्षमासूचक कोमल शब्दों में अपना अभिप्राय प्रकट किया। जो प्रतिकार करने में असमर्थ है, वह बलवान को क्या क्षमा करेगा ? आचारवान् साधुओं को क्षमा ही करना क्या है ? बलवान ही दुर्बल के अपराध को क्षमा कर सकता है। अतः अपमानित होने पर गुणों का त्याग करना उचित नहीं है। उनके अद्भुत क्षमा-भाव को जान कर यक्ष को अत्यधिक आनन्द और विस्मय हुआ। उसने सम्मानपूर्वक उनकी आराधना एवं उपासना की और दुष्ट बन्दर को उनकी पीठ से हटा दिया। अनन्तर वह वहीं अन्तर्हित हो गया।

इस प्रकार साधु जन अपकारी का भी आदर करते हैं।

३४—शतपत्र-जातक

बोधिसत्त्व के क्षमाशील तथा उत्तम स्वभाव का चित्रण इस जातक में हुआ है।

एक बार बोधिसत्त्व किसी वन में शतपत्र नामक पक्षी हुए। पूर्व जन्मों में करुणा से अभ्यस्त होने के कारण उस अवस्था में भी उन्होंने शतपत्र की प्राणिहिंसा-वृत्ति का अनुसरण नहीं किया। पत्र, पुष्प एवं फल को खाकर ही वे संतुष्ट रहते थे। यथायोग्य धर्मोपदेश तथा परोपकार करते हुए वे शीघ्र ही उस वन के प्राणियों के आचार्य, बन्धु तथा राजा के समान माननीय हो गये।

किसी वन में विचरण करते हुए उन्होंने एक समय तीव्र वेदना से छटपटाते हुए एक सिंह को देखा। स्वभाव से ही कारुणिक उन्होंने समीप जाकर कोमल शब्दों में कहा, हे मृगराज, किस कारण से आप इतने अस्वस्थ दीख रहे हैं, यदि कहने योग्य हो तो कहिये और जो मेरे करने योग्य हो उसे भी कहिये। सिंह ने कहा कि गले के भीतर अटका हुआ हड्डी का टुकड़ा शल्य के समान मुझे अत्यन्त कष्ट दे रहा है। उसे मैं न तो निगल सकता हूँ और न उगल ही सकता हूँ। मित्रों के लिये सहायता का यही समय है। अतः आप जो कुछ जानते हों, उसके द्वारा मुझे स्वस्थ कीजिये। तब बोधिसत्त्व ने अपनी तीक्ष्ण बुद्धि से हड्डी निकालने का उपाय सोच लिया। उसके मुख-विस्तार की माप का काठ लेकर सिंह से कहा कि वह अपनी पूरी शक्ति से मुँह खोले। उसके वैसा करने पर उन्होंने उसकी दन्तपंक्तियों के बीच उस काठ को अच्छी तरह स्थिर कर उसके गले में प्रवेश किया। उसके गले में स्थित हड्डी को अपनी चोंच से पकड़ कर खींचते हुए तथा मुख-विस्तारक काठ को गिराते हुए वे निकल गये। इस प्रकार सुपरीक्षित निपुण शल्यहारक भी जिसको नहीं निकाल सकता था, उसको उन्होंने जन्म परम्परा से प्राप्त निर्मल बुद्धि से निकाला।

कष्टमुक्त होकर सिंह ने उनका अभिनन्दन किया और प्रसन्न होकर बोधिसत्त्व अपने अभीष्ट स्थान को चले गये।

एक बार काफी प्रयत्न करने पर भी शतपत्र ने कहीं कुछ आहार न पाया। भूख की ज्वाला से उनका शरीर जलने लगा। तभी उन्होंने उसी सिंह को देखा, जो तत्क्षण मारे गये तरुण हरिण का मांस खा रहा था। याचना से अनभ्यस्त बोधिसत्त्व उस उपकृत भी सिंह से कुछ नहीं कह सके। किन्तु क्षुधार्त्त रहने के कारण उसकी आँखों के आगे विचरण करने लगे। देखते हुए भी उस कृतघ्न दुरात्मा ने उन्हें आहार के लिये आमंत्रित नहीं किया। सच ही कहा गया है—

"शिलातले बीजमिव प्रकीर्णं हुतं च शान्तोष्मणि भस्मपुञ्जे।
समप्रकारं फलयोगकाले कृतं कृतघ्ने विदुले च पुष्पम्।।"[1]

अर्थात् जिस प्रकार चट्टान पर बोया गया बीज, उष्णतारहित अग्निपुंज में डाली गयी आहुति निष्फल होती है, उसी प्रकार विदुल का फूल और कृतघ्न के प्रति किया गया उपकार फल काल में व्यर्थ होता है।

अवश्य ही यह मुझे नहीं पहचान रहा है, यह सोच कर बोधिसत्त्व ने निश्शंक-भाव से याचक के समान आशीर्वाद देते हुए उससे दान माँगा। सदाचरण से सर्वथा अपरिचित उस क्रूर सिंह ने डाँटते हुए कहा—दया रूपी कायरता को नहीं जानने वाले मेरे समीप आकर भी तुम अब तक जीवित हो, क्या यही बहुत नहीं है? याचना द्वारा मुझे अपमानित कर तुम परलोक जाना चाहते हो? तिरस्कार के इन रूखे शब्दों से लज्जित होते हुए बोधिसत्त्व वहीं आकाश में उड़ गये।

तब किसी वनदेवता ने उनके धैर्य की परीक्षा लेने के विचार से उनके समीप पहुँच कर कहा कि हे पक्षिश्रेष्ठ! आपसे उपकृत होकर भी इस दुरात्मा ने आपका असत्कार किया। आप झपट कर इसकी आँखें फोड़ सकते हैं और इसके दाँतों के बीच से माँस छीन सकते हैं। क्यों शक्ति के रहते हुए भी आप इसे सह रहे हैं? इस प्रकार कहे जाने पर बोधिसत्त्व ने अपने स्वभाव का परिचय देते हुए शान्त भाव से कहा कि हमारे जैसे प्राणी के लिये यह मार्ग अनुचित है; क्योंकि सज्जन दया से प्रेरित होकर ही दुःख में पड़े हुए का उपकार करते हैं, न कि लाभ की इच्छा से। अतः उसके कृतघ्न होने पर भी क्रोध ठीक नहीं है। उपकार करने पर भी यदि किसी में मित्र का धर्म नहीं पाया जाय तो मृदुतापूर्वक धीरे-धीरे उससे अलग हो जाना चाहिये।

इस प्रकार के सुभाषितों को सुन कर वनदेवता अत्यन्त प्रसन्न हुए। "साधु-साधु" कहकर उन्होंने बोधिसत्त्व की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अनन्तर वे अदृश्य हो गये।

अतः उकसाये जाने पर भी सज्जन पाप में प्रवृत्त नहीं होते।

---

१. जातक०—३५।११

तृतीय अध्याय

१—महायान सम्प्रदाय और जातकमाला

आज से प्राय: ढाई हजार वर्ष पूर्व भारत में एक विश्वविख्यात ज्योति:पुंज ज्ञानसूर्य का प्रादुर्भाव हुआ था। वह ज्ञान, करुणा, प्रेम और त्याग का मूर्तिमान स्वरूप था। उसका हृदय संसार के दु:ख और दयनीय दशा को देखकर द्रवीभूत हो गया था। उसने यह जाना कि विश्व के क्षणिक और दिखावटी सुख ऊपरी स्तर तथा एक भयंकर चिरस्थायी-सी वेदना पर टिका हुआ है। उसने यह अनुभव किया कि जगत् की कृत्रिम स्मितिरेखा के नीचे आधि-व्याधि, जरा और मरण की भीषण व्यथा का अट्टहास निहित है। निरन्तर सत्य के शव पर मिथ्या का नर्तन देखते हुए भी विचलित न होने वाले अज्ञानी जगत् के आन्ध्य से क्षुब्ध होकर उसने दु:ख-निरोध के मार्ग को खोज निकालने की दृढ़-प्रतिज्ञा की। २९ वर्ष की भरी युवावस्था में उसने शाक्य-साम्राज्य की समृद्धि और वैभव को ठुकरा दिया। अपनी अनुपम सुन्दरी, सुशीला और गुणवती गृहिणी के अनवद्य प्रेम की भी उसने उपेक्षा कर दी और उसे दम्पति-स्नेह का ग्रन्थिभूत नवजात शिशु भी अभिनिष्क्रमण से रोक न सका। उसने जग के तीन व्यापक और दृढ़तम कनक, कामिनी तथा कीर्तिरूप बन्धन-शृङ्खलाओं को तोड़ फेंका। छ: वर्षों के कठिन तप के पश्चात् मार-विजय करनेवाले उस दुर्बल और कृशकाय व्यक्ति ने एक दिन गया के समीप निरंजना नदी के तट पर बोधिवृक्ष के नीचे अज्ञान के घने अंधकार को दूर करनेवाले ज्ञानसूर्य का साक्षात्कार किया। उसने फिर अपने सक्षात्कृत सत्य का प्रतीत्य-समुत्पाद[1], चार आर्यसत्य[2] और आर्य-

---

१. प्रतीत्यसमुत्पाद—प्रतीत्य (प्रति + इ + ल्यप्) किसी वस्तु की प्राप्ति होने पर समुत्पाद—अन्य वस्तु की उत्पत्ति अर्थात् सापेक्षकारणतावाद। आचार्य चन्द्रकीर्त्ति ने माध्यमिक कारिकावृत्ति में प्रतीत्यसमुत्पाद का अर्थ इस प्रकार किया है—"प्रतीत्यशब्दो ल्यबन्त: प्राप्तावपेक्षायां वर्तते। यदि प्रादुर्भाव इति समुत्पाद-शब्द: प्रादुर्भावेऽर्थे वर्त्तते। ततश्च हेतुप्रत्ययसापेक्षो भावानामुत्पाद: प्रतीत्यसमुत्पादार्थः" इसके द्वादशांगों की चर्चा अभिधर्मकोश में इस प्रकार है—

"स प्रतीत्यसमुत्पादो द्वादशांगस्त्रिकाण्डक: ।
पूर्वापरान्तयोर्द्वे द्वे मध्येऽष्टौ परिपूरणा: ॥—अभिधर्मकोश ३।२०

वे द्वादशांग इस प्रकार हैं—१. अविद्या, २. संस्कार, ३. विज्ञान, ४. नाम-रूप, ५. षडायतन, ६. स्पर्श, ७. वेदना, ८. तृष्णा, ९. उपादान, १०. भव, ११. जाति, १२. जरा-मरण। इनमें प्रत्येक परवर्त्ती अंग स्वाव्यवहित पूर्व अंग का कार्य है। अविद्या मूल कारण है।

२. (क) दु:ख, (ख) दु:खसमुदय, (ग) दु:खनिरोध, (घ) दु:खनिरोध-मार्ग।

अष्टांगिक-मार्ग[1] को बिना किसी जाति-पाँति, रूप-रंग, स्त्री-पुरुष, राजा-रंक, ऊँच-नीच, छोटे-बड़े, धर्मी-विधर्मी आदि के भेदभाव के सब लोगों को सरल-सुबोध भाषा में समझाया तथा उसे आज भी संसार श्रद्धा, आदर और गौरव के साथ भगवान् बुद्ध के नाम से स्मरण करता है।

बौद्ध धर्म भारत में ही नहीं फैला अपितु अपनी जन्म-भूमि की सीमा को लाँघ कर लंका, बर्मा, स्याम, मलाया, जावा, सुमात्रा, नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, कोरिया, चीन और जापान आदि सुदूर देशों में गया। भारत में लगभग डेढ़-हजार वर्षों तक व्याप्त रहकर और अनेक महान् दार्शनिक तत्त्ववेत्ता विचारकों तथा सन्त-पुरुषों को जन्म देकर अन्त में कालचक्र से अपनी जन्म-भूमि से लुप्त हुआ।

बुद्ध स्वयं ज्ञानी थे और उन्होंने ज्ञान का साग्रह प्रतिपादन किया। संसार का अर्थ भव-चक्र या आवागमन है। यह क्षणिक और दुःखमय है। अविद्या संसार की जननी है और सब दुःखों का मूल कारण है। निर्वाण या मुक्ति का अर्थ इस भव-चक्र से, इस आवागमन के चक्र से, इस प्रतीत्यसमुत्पाद के चक्र से मुक्त होना है। यह मुक्ति तभी हो सकती है जब संसार के मूल कारण अविद्या का नाश हो और अविद्या का नाश केवल विद्या या ज्ञान द्वारा ही संभव है। अतः ज्ञान ही सबसे श्रेष्ठ एवं पवित्र वस्तु है। बुद्धशब्द का अर्थ ही ज्ञानवान् है। भगवान् बुद्ध की प्रसिद्ध उक्ति है—हे भिक्षुगण, जिस प्रकार लोग सोने को अग्नि में तपा कर, कसौटी पर कस कर और अच्छी तरह ठोकपीट कर पूर्ण परीक्षा करने के बाद उसे खरा मानते हैं, उसी प्रकार आप लोग मेरे वचनों को ज्ञानाग्नि में तपा कर, बुद्धिरूपी कसौटी पर कस कर तथा उनकी हर प्रकार से पूर्ण परीक्षा कर के ही उन्हें ग्रहण करें, केवल मेरे प्रति आदर और श्रद्धा के कारण ही उन्हें सत्य मत मानें।[2]

भगवान् बुद्ध के पवित्र उपदेशों को उनके परवर्त्ती अनुयायी अपने-अपने ढंग से समझने तथा प्रतिपादन करने लगे, फलतः हीनयान तथा महायान नामक दो सम्प्रदायों में बौद्ध-धर्म विभक्त हो गया।

---

१. १. सम्यक् ज्ञान (आर्यसत्यों का तत्त्वज्ञान), २. सम्यक् संकल्प (दृढ़ निश्चय), ३. सम्यक् वचन (सत्यवचन), ४. सम्यक् कर्मान्त (हिंसा-द्रोह, दुराचरण-रहित कर्म), ५. सम्यक् आजीव (न्यायपूर्ण जीविका), ६. सम्यक् व्यायाम (बुराइयों को न उत्पन्न होने देना और भलाई के लिए सतत प्रयत्न करना), ७. सम्यक् स्मृति (चित्त, शरीर, वेदना आदि के अशुचि अनित्य रूप की उपलब्धि और लोभादि चित्त संताप से अलग हटना), ८. सम्यक् समाधि (राग-द्वेषादि द्वन्द्व-विनाश से उत्पन्न चित्त की शुद्ध नैसर्गिक एकाग्रता)।

२. तापाच्छेदाच्च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य भिक्षवो ग्राह्यं मद्वचो न तु गौरवात् ॥''
—तत्त्वसंग्रहपञ्जिका पृष्ठ १५

हीनयान का सबसे अधिक विख्यात एवं महत्त्वपूर्ण संप्रदाय "सर्वास्तिवाद" जगत् को केवल क्षण-क्षण परिणामी वासनाओं का संघात और जीव को केवल प्रतिक्षण-परिणामी विचारधारा का संतान मानता है। निर्वाण का अर्थ सर्वथा विनाश मानता है। अभावमय तथा अपनी ही मुक्ति की कामना करनेवाले स्वार्थी "अर्हत्" को सिद्ध समझता है। एक ओर तो हमें जीव और जगत् आदि सब वस्तुओं के अस्तित्व का लोभ दिखाता है और दूसरी ओर हमें केवल सन्तान और संघात के क्षणिक टुकड़ों से बहलाना चाहता है। एक ओर तो बुद्ध के मौन को जगत्, जीव और ईश्वर की सत्ता का निराकरण मानना और दूसरी ओर बुद्ध के शरीर को, अंग-प्रत्यंग, को, आराध्य मानकर उनके नख, केश, दन्त, भस्म एवं अस्थि-खण्डों पर भव्य मंदिर बना कर स्वयं बुद्ध की प्रतिमा को ईश्वर के आसन पर बिठा कर उसकी पूजा करना इस हीनयान सम्प्रदाय की जड़ों को हिला देता है।

हीनयान के इन दोषों और विरोधों ने कुछ विद्वान् बौद्धों को इन विषयों पर गम्भीर विचार करने को बाध्य किया। वे सोचने लगे कि वास्तव में क्या ये दोष और विरोध बुद्धवचनों में है या हीनयानियों द्वारा अन्यथाप्रतिपादित सिद्धान्तों में ? अन्ततः वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि हीनयानियों द्वारा अनुचित रीति से अन्यथा प्रतिपादित सिद्धान्तों में ही ये दोष और विरोध आते हैं, बुद्धसम्मत सिद्धान्तों में नहीं। बुद्ध भगवान् ने पात्र की योग्यता के अनुसार उपदेश दिया। हीनयानानुयायी श्रावकों और प्रत्येकबुद्धों को सत्त्वशुद्धि के लिये कर्म और उपासना का उपदेश दिया और केवल महायानानुयायी बोधिसत्त्वों को उन्होंने ज्ञान का असली उपदेश दिया। इन बौद्धों ने ही अपने आपको महायानी और दूसरे बौद्धों को हीनयानी शब्द से सम्बोधित किया।

महायान का अर्थ होता है—विस्तृत यान (गति-साधन) अथवा प्रशस्त मार्ग। इसका ऐसा नाम इसीलिए पड़ा कि इसके द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर चल कर असंख्य व्यक्ति चरम लक्ष्य को अपना सकते हैं। इस सम्प्रदाय को सहजयान (Easy Path) भी कहा जाता है; क्योंकि इसके सिद्धान्तों को प्रत्येक व्यक्ति सुगमता से हृदयंगम कर सकता है। महायान धर्म की सरलता एवं व्यावहारिकता ही इसे विश्व-धर्म के रूप में प्रतिष्ठित कर सकी। यह धर्म कोरिया, जापान, चीन आदि देशों में प्रचलित होकर मुख्यतः संस्कृत-भाषा में ही उपनिबद्ध हुआ है, इसलिए इसे आधुनिक विद्वान् संस्कृत बौद्धधर्म अथवा उत्तरी बौद्धधर्म (Northern Buddhism) के नाम से अभिहित करते हैं।

महायान धर्म की सबसे बड़ी विशेषता बोधिसत्त्व की कल्पना है। बोधिसत्त्व की प्राप्ति ही जीवन का उद्देश्य है। महायान में अपनी मुक्ति की अपेक्षा संसार के समस्त जीवों की मुक्ति पर जोर दिया गया है। महायानी संसार के समस्त प्राणियों के समग्र दुःखों का नाश करा उन्हें निर्वाण प्राप्त करा देना अपने जीवन का उद्देश्य मानता है। उसका यह प्रण है कि जब तक एक-एक प्राणी मुक्त नहीं हो जाता, हम स्वयं निर्वाण-सुख को नहीं भोगेंगे तथा त्रस्त मानव के निर्वाण-लाभ के लिये

प्रयत्नशील रहेंगे। महायानियों का यह आदर्श बोधिसत्त्व कहा जाता है। जो व्यक्ति इसकी प्राप्ति करता है तथा लोक-कल्याण में संलग्न रहता है, उसे भी बोधिसत्त्व कहा जाता है। जिस प्रकार पंक में रहकर भी पंकज स्वच्छ तथा निर्मल रहता है, उसी प्रकार संसार में रहकर भी वे संसारिक आसक्ति से प्रभावित नहीं होते। लोक-सेवा की भावना से वे जन्म ग्रहण करने को भी तत्पर रहते हैं।

महायान के "बोधिसत्त्व" हीनयान के "अर्हत्" पद से भिन्न है। हीनयान में "अर्हत्" की प्राप्ति ही जीवन का चरम लक्ष्य कहा गया है। "अर्हत्" के विचार में स्वार्थपरता निहित है, क्योंकि वे अपनी ही मुक्ति के लिये प्रयत्नशील रहते हैं। इसके विपरीत महायान के बोधिसत्त्व का आदर्श लोक-कल्याण की भावना पर प्रतिष्ठित है। इस प्रकार हीनयान का लक्ष्य वैयक्तिक है, जबकि महायान का लक्ष्य सार्वभौम।

महायान में बुद्ध को ईश्वर के रूप में माना गया है। हीनयान धर्म अनीश्वरवादी होने के कारण लोकप्रिय नहीं हो सका। धर्म की भावना में निर्भरता की भावना निहित है। मनुष्य अपूर्ण एवं असीम होने के कारण जीवन के संघर्षों का सामना करने से जब विरसता का अनुभव करने लगता है तब वह एक ऐसी सत्ता की कल्पना करता है जो उसकी सहायता कर सके। ऐसी स्थिति में वह स्वावलम्बन के प्रति श्रद्धा न रख कर ईश्वरापेक्षी हो जाता है। महायान में ऐसे व्यक्तियों के लिये भी आशा का सन्देश है। यही कारण है कि महायान में ईश्वर को करुणामय एवं प्रेममय माना गया है। कहा गया है—"The god of Mahayana is a god of love and lays great stress on devotion."[1] समस्त प्राणी प्रेम, भक्ति और कर्म के द्वारा ईश्वर की करुणा का पात्र हो सकता है।

आगे चलकर महायान में बुद्ध को पारमार्थिक सत्य का एक अवतार मान लिया गया है। बोधिसत्त्व की प्राप्ति के पूर्व बुद्ध के जितने अवतार हुए थे उनकी कथा जातक में वर्त्तमान है। परम-तत्त्व को महायान में वर्णनीय माना गया है। इसका प्रकाशन धर्मकाय के रूप में हुआ है। धर्मकाय के रूप में बुद्ध समस्त प्राणी के कल्याण के लिये चिन्तित दीखते हैं। इस रूप में बुद्ध को "अमिताभ बुद्ध" कहा जाता है तथा उनकी दया की अपेक्षा करना साधारण मनुष्य के जीवन का आवश्यक अंग होता है। महायान में ईश्वर की भक्ति पर भी बल दिया गया है। महायान ग्रंथ—"सद्धर्मपुण्डरीक" का कहना है कि सच्चे प्रेम से बुद्ध को, एक पुष्प के अर्पण द्वारा साधक को अनन्त सुख प्राप्त होता है। इस प्रकार बुद्ध को ईश्वर के रूप में प्रतिष्ठित कर महायान ने धार्मिक-भावना को संतुष्ट किया है।

महायान में आत्मा का अस्तित्व माना गया है। इसका कहना है कि यदि आत्मा का अस्तित्व नहीं माना जाय तो मुक्ति कैसे मिलेगी ? मुक्ति की सार्थकता को प्रमाणित करने के लिये आत्मा में विश्वास आवश्यक हो जाता है। महायान

---

1. "Dynamics of Faith" by K. N. Mitra, P. 62.

में वैयक्तिक आत्मा को मिथ्या या हीनात्मा कहा गया है। इसके बदले महात्मा की मीमांसा हुई है। सभी व्यक्तियों में एक ही महात्मा वर्त्तमान है। इस दृष्टि से सभी मनुष्य एक दूसरे से भिन्न होते हुए भी समान हैं।

हीनयान में भिक्षु-जीवन अथवा संन्यास पर अधिक जोर दिया गया है, किन्तु महायान में संन्यास अथवा संसार से पलायन की प्रवृत्ति की कटु आलोचना हुई है। यद्यपि विश्व पूर्णतः सत्य नहीं है फिर भी संसार को तिलांजलि देना बुद्धिमत्ता नहीं है। यदि मनुष्य संसार का पारमार्थिक रूप समझे तो संसार में रह कर ही वह निर्वाण प्राप्त कर सकता है। महायान यह शिक्षा देता है कि मनुष्य को संसार में रह कर ही अपनी प्रगति के सम्बन्ध में सोचना चाहिये।

महायान में कर्म-विचार में भी परिवर्त्तन लाने का प्रयास किया गया है। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का फल पाता है। दूसरे शब्दों में बिना किये हुए कर्मों का फल नहीं मिलता है तथा किये हुए कर्म का फल भी नष्ट नहीं होता है। परन्तु, महायान का कहना है कि बोधिसत्त्व अपने कर्मों के फल से दूसरों को लाभान्वित कर सकते हैं तथा दूसरे व्यक्तियों के पापमय कर्मों का स्वयं भोग कर सकते हैं। जातकमाला के प्रायः सभी जातकों में हम मीमांसा-दर्शनोक्त कर्म-सिद्धान्त का उल्लंघन पाते हैं। बोधिसत्त्व चाहे जिस रूप में भी हों, अपने समस्त पुण्यों के फल का प्रतिदान महान् से महान् पापी या श्वापद तक को करने में अग्रसर रहते हैं। प्रतिदान लेने में शक्र का योगदान मुख्य रूप से रहता है, जो अंशतः ईर्ष्यावश और अंशतः परीक्षा के लिये बोधिसत्त्व को महाकष्ट में डाल देता है। नेत्र जैसे अत्यन्त आवश्यक अंग की भी याचना कर लेता है[1], किन्तु बोधिसत्त्व लोक-कल्याण की कामना से उसे अहित नहीं समझते।

लोक-कल्याण की भावना से प्रभावित होकर बोधिसत्त्व अपने पुण्यमय कर्मों के द्वारा दूसरों को दुःख से मुक्ति दिलाते हैं तथा उनके पापमय कर्मों का स्वयं भोग करते हैं। इस प्रकार कर्मों के आदान-प्रदान को, जिसे परिवर्त्त कहा जाता है, महायान स्वीकार करता है।

महायान में निर्वाण के भावात्मक मत पर बल दिया गया है। निर्वाण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति के समस्त दुःखों का अन्त हो जाता है। वह आनन्द की अनुभूति प्राप्त करता है। निर्वाण को आनन्दमय अवस्था कहा गया है। महायान मत की तरह शंकर ने भी मोक्ष को एक आनन्दमय अवस्था बतलाया है।

महायान उदार एवं प्रगतिशील है। इसमें अनेक ऐसे अनुयायी आये जो बौद्ध-धर्म ग्रहण करने के पूर्व जिन धार्मिक विचारों को मानते थे, उन्हें बौद्ध-धर्म में मिला दिया। महायान ने, उदार एवं प्रगतिशील होने के कारण, उनके विचारों को

---

१. जातकमाला-शिबि-जातक

आश्रय दिया, जिसके फलस्वरूप महायान में अनेकानेक नवीन विचार मिल गये जो इसे जीवित तथा युगानुरूप बनाने में परम सहायक सिद्ध हुए।

असंग ने महायान-विधर्म-संगति-सूत्र में महायान की सात मौलिक विशेषताओं का उल्लेख किया है, जो निम्नांकित हैं—

१—महायान विस्तृत है।

२—यह सभी जीवों के प्रति सामान्य प्रेम को व्यक्त करता है।

३—विषय और विषयी के परम तत्त्व का निषेध कर तथा चैतन्य की एकमात्र सत्ता मानकर बौद्धिकता का परिचय देता है।

४—इसका आदर्श बोधिसत्त्व की प्राप्ति है। बोधिसत्त्व में संसार के समस्त जीवों की मुक्ति के लिये कर्म करने की अद्भुत शक्ति है।

५—यह मानता है कि बुद्ध ने अपने उपाय कौशल के आधार पर संसार के अनेकानेक मनुष्यों को उनके स्वभाव तथा बुद्धि के अनुसार उपदेश दिया है।

६—इसका अन्तिम उद्देश्य बुद्धत्व को प्राप्त करना है। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिये बोधिसत्त्व को दश अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है।

७—बुद्ध संसार के समस्त व्यक्तियों के आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करा सकते हैं।

२—बोधिसत्त्व की कल्पना

अब हम जातकमाला की मुख्य दार्शनिक वस्तु बोधिसत्त्व की कल्पना का भी ऐतिहासिक तथा दार्शनिक दृष्टियों से विचार करें। प्राणियों के आर्त्तिनाशन के प्रति बोधिसत्त्व का जो स्वरूप जातकमाला में प्रदर्शित है, वह मुख्यत: महायान की प्रकृष्टतम कल्पना है।

बौद्धधर्म की प्रारम्भिक अवस्था में "अर्हत्" की भावना पायी जाती है। भगवान् बुद्ध को "अर्हत्" कहा गया। साथ ही चार आर्यसत्य एवं अष्टांगमार्ग के उपदेश प्राप्त करने वाले उनके शिष्यों को भी "अर्हत्" पद से अभिहित किया जाने लगा। ऐसे लोग अष्टांग-मार्ग का अनुसरण कर तीनों आस्रवों (ऐन्द्रियिक सुख, सत्ता-प्रेम, अज्ञान) से रहित होते थे। "ब्रह्मजालसुत्त" आदि पालि ग्रन्थ के अनुसार "अर्हत्" वह है, जो मुक्त हो गया है, पुनर्जन्म के बन्धन से रहित है, जिसने अपने सारे भवबन्धनों को त्याग दिया है; जो पवित्र जीवन व्यतीत कर रहा है, जिसकी इच्छा एवं प्रवृत्ति अन्तिम मुक्ति के प्रति उन्मुख है, जो अपने मार्ग में एकाकी, उत्साहपूर्ण तथा अपना स्वामी स्वयं है।[1] "अर्हत्" स्वयं मुक्ति प्राप्त कर संसार के अन्य प्राणियों की मुक्ति के लिए बुद्ध के उपदेशों का प्रचार करता था। "अर्हत्" का जीवन मृत्युपर्यन्त सांसारिक जीवों के कल्याणार्थ अर्पित होता था। गौतम बुद्ध के परिनिर्वाण के तीन सौ वर्षों बाद तक "अर्हत्" की यही धारणा रही। परन्तु धीरे-धीरे इस भावना में परिवर्त्तन होने लगा और ईसा पूर्व दो सौ वर्ष तक बौद्ध भिक्षु सांसारिक जीवों की दु:खनिवृत्ति एवं कल्याण से विमुख होकर अधिक स्वार्थलिप्त हो गये। वे अपनी ही मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहने लगे। सामान्य लोगों के उद्धार के लिए बुद्ध के उपदेशों के प्रचार करने का उत्साह उनमें नहीं रहा। जन-कल्याण के प्रति भिक्षुओं के उदासीन तथा उनके आत्म-केन्द्रित होने की भावना का उल्लेख परवर्ती पालि-साहित्य में अनेक स्थलों पर मिलता है। धम्मपद[2] में जहाँ एक ओर आत्मसंयम, ध्यान आदि की प्रशंसा की गई है, वहीं सामान्य-जन के कल्याण के प्रति उदासीनता की भावना भी परिलक्षित होती है। थेरगाथा[3] के

---

१. ब्रह्मजालसुत्त (दीघ १, १-४६)

२. धम्मपद (२८ वग्ग) पब्बतट्ठो व भूमट्ठे धीरो बाले अवेक्खतीति।

३. (क)—थेरगाथा सं० २४५ पृ० ३१:—

"यथा ब्रह्मा तथा एको, यथा देवो तथा दुवे।
यथा गामो तथा तायो' कोलाहलं तत् उत्तरिन्ति।"

(ख) थेरगाथा सं० ३८० पृ० ४२—

"यस्स कत्थाय पब्बजितो अगारस्मा अनगारियम्।
सोमे अत्थो अनुप्पत्तो सब्बसंयोजनक्खयोति।"

(ग) थेरगाथा २२४, पृ० २६।

"तिस्सो विज्जा अनुप्पत्ता कतं बुद्धस्य सासनं" ति।

अधिकांश कवियों ने वैयक्तिक मुक्ति पर ही ध्यान को केन्द्रित किया है, प्राणियों के कल्याण की बात वहाँ शायद ही कहीं आयी है। मिलिन्दपन्ह[1] का कथन है कि "अर्हत्" को अपने ही दुःखों से मुक्ति के लिए प्रयत्नशील होना चाहिए।

उपर्युक्त संकीर्ण विचारों के विरोध में सभी जीवों की रक्षा एवं कल्याण के सिद्धान्त-रूप में बोधिसत्त्व की कल्पना का प्रादुर्भाव हुआ।

"The bodhisattva doctrine was promulgated by some Buddhist leaders as a Protest against this lack of true spiritual fervour and altruism among the monks of that period."[2]

बोधिसत्त्व का मुख्य, कार्य अर्हत् के आध्यात्मिक संकीर्णता की आलोचना एवं निन्दा करना था।

"A bodhisattve is emphatically and primarily one who criticises and condemns the spiritual egoism of such "Arhats" and Pratyeka-buddhas"[3]

इस सिद्धान्त का अनुगामी संगठन महायान की संज्ञा से अभिहित किया गया।

बोधिसत्त्व की कल्पना महायान की सबसे बड़ी विशेषता है। बोधि का अर्थ है बुद्धत्व (Enlightenment)—ऐसा प्रायः सभी विद्वान् मानते हैं। किन्तु सत्त्व का अर्थ विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न ढंग से समझा है और इस कारण बोधिसत्त्व शब्द की विविध व्याख्या की है। हरदयाल ने अपनी पुस्तक "The Bodhisattva Doctrine In Buddhist Sanskrit Literature" में बोधिसत्त्व शब्द के अर्थ का निम्नलिखित ढंग से विश्लेषण किया है—

(१) "सत्त्व (नपुं०) का अर्थ मोनियर विलियम्स के अनुसार है—बुद्धि, चरित्र, ज्ञान, प्रकृति। अतएव जिसे बोधि अर्थात् पूर्णज्ञान हो, जिसकी प्रकृति पूर्ण ज्ञानमयी हो वह बोधिसत्त्व है।[4]

(२) "सत्त्व" (पुं०) का अर्थ है प्राणी (Any living or sentient being) पालि "सत्त का अर्थ है—सजीव पदार्थ (A living being, creature, a sentient and rational being, person.)

यह अर्थ अधिकांश आधुनिक विद्वानों के द्वारा स्वीकृत है।

---

१. मिलिन्दपन्ह—३१ "किंति महाराज इदं दुक्खं निरुज्झाय अञ्ञञ्च दुक्खं न उप्पज्जेय्याति, एतदत्था महाराज अम्हाकं पब्बज्जा अनुपादापरिनिब्बानं"।

2. Hardayal, Bodhisattva Doctrine, P. 3.

3. Hardayal, Bodhisattva Doctrine, P. 3.

4. M. Williams Skt. Dicy., P. 688b :
"One who has bodhi or perfect wisdom as his essence."

इसी आधार पर समाधिराजसूत्रकार ने बोधिसत्त्व का अर्थ किया है :—

बोधति सत्त्वान् इति बोधिसत्त्वः" ।[1]

पी० घोष ने भी सत्त्व का अर्थ प्राणी ही किया है, किन्तु समस्त पद बोधिसत्त्व की व्याख्या उन्होंने की है—

"बोधिः स चासौ महाकृपाशयेन सत्त्वालम्बनात् सत्त्वश्चेति ।"[2]

इससे द्योतित होता है कि मनुष्य बोधि और सत्त्व दोनों ही हैं।

(३) सत्त्व का अर्थ है—आत्मा, मनस्, इन्द्रिय, चेतना। पालि में सत्त का अर्थ है—आत्मा। प्रज्ञाकरमति ने बोधिचयवितार की टीका में लिखा है—

"तत्र (बोधौ) सत्त्वं अभिप्रायोऽस्येति बोधिसत्त्वः ।"[3]

पी० घोष ने भी एक व्याख्याकार का उल्लेख किया है जो सत्त्व का अर्थ अभिप्राय करते हैं—

"बोधौ सत्त्वम् अभिप्रायो येषां ते बोधिसत्त्वाः ।',[4]

तदनुसार बोधि पर जिसका मन, प्रवृत्तियाँ विचार तथा इच्छायें केन्द्रित हों, वह बोधिसत्त्व है।

(४) सत्ता का अर्थ है—गर्भ, गुप्त, अज्ञात, अव्यक्त (मो० वि०)। तदनुसार बोधिसत्त्व वह है जिसमें बोधि (ज्ञान) अव्यक्त रूप में निहित हो।[5]

(५) योग-सूत्र के अनुसार सत्त्व का अर्थ हो सकता है—पुरुषाश्रित—मन, बुद्धि। यह ई० सेना के अनुसार है जिसने बौद्ध-धर्म पर योग-दर्शन का प्रचुर प्रभाव माना है।

किन्तु यह विचार बुद्धिग्राह्य नहीं हो सकता। क्योंकि इसमें इतिहास की भूल (Anachronism) होगी। अधिकांश विद्वान योग-सूत्र का समय ३०० ई० के आसपास मानते हैं जबकि "बोधिसत्त्र" शब्द पालि निकायों में ही आता है[6], जिसका समय ५वीं-४थी शती ई० पू० माना जाता है।

---

१. समाधिराजसूत्र fol. 25a, 4.

२. शतसाहस्रिका-प्रज्ञापारमिता पृ० २, note 2 (Chapter i-xii)

३. बोधिचर्यावतारपंजिका, पृ० ४२१

४. सतसाहस्त्रिका-प्रज्ञा पारमिता, पृ० २ टिप्पणी ३

५. H. S. Gaur—Buddhism, P. xi :—
"In whom knowledge is latent and undeveloped."

६, "मयृहं पि खो अनभिम्बुद्धस्स बोधिसत्तस्सेव ।" —मज्झिमनिकाय, १।१९।६

एच० कर्न ने बोधि शब्द को सांख्य-योग के "बुद्धि" शब्द का समानार्थी माना है। "बुद्धिसत्त्व" शब्द योग-साहित्य में पाया जाता है। इस आधार पर उन्होंने बोधिसत्त्व का अर्थ किया है—अन्तर्निहित बुद्धि का मानवाकार रूप (Personification of Potential intelligence)[1]

किन्तु यह अर्थ उपयुक्त नहीं प्रतीत होता है; क्योंकि बौद्धतत्त्व-मीमांसा के अनुसार "बुद्धि" सत्ता के निम्नतर स्तर से सम्बद्ध है, जबकि "बोधि" का सम्बन्ध उच्चतम ज्ञान से है। बोधिचर्यावतार में कहा गया है :—

"बुद्धिः सम्वृत्तिरुच्यते।"[२]

(६) सत्त्व पालि सत्त का रूपान्तर है जो संस्कृत सक्त से बना प्रतीत होता होता है। सक्त (√ सञ्ज्+क्त) का अर्थ है—सटा हुआ, सम्बद्ध, भक्त, संलग्न। तदनुसार बोधिसत्त्व (बोधिसक्त) का अर्थ है—बोधि में संलग्न।[3]

किन्तु पी० ओल्ट्रामार द्वारा इस मत का खण्डन इस आधार पर किया गया है कि √ सज्ज का प्रयोग कभी भी नैतिक तथा आध्यात्मिक आदर्शों के प्रति संसक्ति के अर्थ में नहीं हुआ है।[४]

(७) मोनियर विलियम कृत संस्कृत अंग्रेजी कोश में "सत्त्व" का अर्थ है—शक्ति, वल, साहस, उत्साह।[५] तदनुसार जिस व्यक्ति की शक्ति वोधि (जागृति, ज्ञान) की ओर अभिमुख है। इस अर्थ में सत्त्व शब्द क्षेमेन्द्र की "अवदानकल्पलता" में अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। यथा—

"सत्त्वाब्धिः।"[६]
"सत्त्वोज्ज्वलं भगवतश्चरितं निशम्य।"[७]
"सत्त्वनिधिर्।"[८]
"बोधिसत्त्वः सत्त्वविभूषितः।"[९]
बुद्धचरित में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है :—
"बोधिसत्त्वः परिपूर्णसत्त्वः।"[१०]

---

१. "Manual" P.65, note 5 "Histoire" 1, 383, note
—H. kern.
२. बोधिचर्यावतार—ix 2
३. K. E. Neumann, Massh, tr. vol. i, P. 620 note 5—
"One who is devoted or attached to bodhi."
४. P. Oltramare, "Bouddhique." P. 250
५. Skt. Dicy. M. W. P. 1052—"Strength, energy, vigour, power, courage."
६. Avadan Kalplata—II, P. 713, verse 42.
७. Do —II, P. 85, verse 74
८. Do —II, P. 945, verse 21
९. Do —II, P. 113, verse 8
१०. बुद्धचरित ६।३०

तिब्बती कोशकारों ने भी बुद्धि और उत्साह-सम्पन्नता पर बल दिया है। चीनी कोशकार के अनुसार बोधिसत्त्व वह है जिसकी प्रकृति बोधि हो गयी है।

डॉ० हरदयाल का निष्कर्ष है कि पालि वाङ्मय में आये हुए "बोधिसत्त" शब्द का सम्बन्ध वैदिक "सत्वन्" (वीर, साहसी) शब्द से है जिसके अनुसार हम "अध्यात्म वीर"[1] के रूप में इसका अर्थ कर सकते हैं। वास्तव में 'बोधिसत्त्व" शब्द में दो भावनायें अन्तर्निहित हैं—एक तो सत्ता की भावना और दूसरी संघर्षमय जीवन की। केवल सत्ता की भावना से बोधिसत्त्व का सम्बन्ध दिखाना भ्रामक है। अतः दूसरों के कल्याण के लिए निरन्तर संघर्षशील रह कर इस संसार में "अध्यात्म वीर" की भूमिका का निर्वाह करने वाला व्यक्ति ही बोधिसत्त्व है। इसे महासत्त्व भी कहते हैं।

बोधिसत्त्व की अवस्था को प्राप्त करनेवाले साधक के जीवन का लक्ष्य नितान्त उदात्त, महनीय तथा व्यापक होता है। उसके जीवन का उद्देश्य जगत् का परम कल्याण साधन होता है। बोधिसत्त्व का स्वार्थ इतना विस्तृत रहता है कि उसके "स्व" की परिधि में जगत् के समस्त जीव समा जाते हैं। उसके प्रधान गुण होते हैं—महामैत्री और करुणा। पिपीलिका से लेकर हस्ति-पर्यन्त विश्व के जीवों में जब तक एक भी प्राणी दुःख का अनुभव करता है, तब तक वह अपनी मुक्ति नहीं चाहता है। उसका हृदय प्राणियों के क्लेशों के निरीक्षण से स्वभावतः द्रवीभूत हो उठता है। बोधिचर्यावतार तृतीय परिच्छेद में बोधिसत्त्व के आदर्श का सुन्दर वर्णन है—

"एवं सर्वमिदं कृत्वा यन्मयाऽऽसादितं शुभम्।
तेन स्यां सर्वसत्त्वानां सर्वदुःखप्रशान्तिकृत्॥
मुच्यमानेषु सत्त्वेषु ये ते प्रामोद्यसागराः।
तैरेव ननु पर्याप्तं मोक्षेणारसिकेन किम्॥"

बोधिसत्त्व की यही अन्तिम कामना रहती है कि सौगत मार्ग के अनुष्ठान से मैंने जिस पुण्य-संभार का अर्जन किया है, उसके द्वारा समग्र प्राणियों के दुःखों की शान्ति हो। मुक्त जीवों के हृदय में जो आनन्द-सागर हिलोरें मारने लगता है, वही मेरे जीवन को आनन्दमय बनाने के लिये पर्याप्त है। रसहीन सूखे मोक्ष को लेकर क्या करना है?

बोधिसत्त्व को प्रथमतः बोधिचित्त का ग्रहण करना पड़ता है। सब जीवों के उद्धार के लिये सम्यक् संबोधि में चित्त को प्रतिष्ठित करना बोधिचित्त का ग्रहण है। उसके लिये वन्दना, पूजा, पापदेशना, पुण्यानुमोदन, अध्येषणा बोधिचित्तोत्पाद तथा परिणामना—इन सप्तविध अनुत्तर पूजा का विधान है। षट् पारमिताओं

---

1. Bodhisattwa Doctrine, P. 9—
"Heroic being, Spiritual warrior."

का—अर्थात् पूर्णत्व का—अनुशीलन भी नितान्त उपयोगी साधन है। दान अर्थात् आत्मभाव का त्याग तथा निःस्वार्थबुद्धि की प्रकृष्टता, शील अर्थात् प्राणातिपात आदि गर्हित कृत्यों से चित्त की विरति, क्षान्ति अर्थात् दूसरों के अपकार किए जाने पर भी चित्त की अकोपनता, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा—इन षट्पारमिताओं का अर्जन बुद्धत्व प्राप्ति का नैसर्गिक उपाय है। दान आदि पंचपारमिताओं का उद्देश्य प्रज्ञापारमिता का उदय कराना है। प्रज्ञापारमिता अर्थात् पूर्णज्ञान या सर्वज्ञता की प्राप्ति शून्यता में प्रतिष्ठित होने वाले व्यक्ति की होती है। प्रज्ञापारमिता प्राप्त करने वाले बोधिसत्त्व के लिए इस जगत के समस्त व्यवहार मायिक तथा स्वप्नवत् प्रतीत होते हैं। बोधिचित्त निःस्वभाव, निरालम्ब, सर्वशून्य, निरालय तथा प्रपंचसमतिक्रान्त आदि गुणों से युक्त होता है। नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र में बोधिचित्त का लक्षण इस प्रकार किया गया है—

"निःस्वभावं निरालम्बं सर्वशून्यं निरालयम्। प्रपञ्चसमतिक्रान्तं बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
न काठिन्यं न च मृदुत्वं न चोष्णं नैव शीतलम्। न संस्पर्शं न च ग्राह्यं बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
न दीर्घं नापि वा ह्रस्वं न पिण्डं न त्रिकोणकम्। न कृशं नापि च स्थूलं बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
न श्वेतं नापि रक्तं च न कृष्णं न च पीतकम्। अवर्णं च निराकारं बोधिचित्तस्य लक्षणम्।
निर्विकारं निराभासं निरूहं निर्विबन्धकम्। अरूपं व्योमसंकाशं बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
भावनासमतिक्रान्तं तीर्थिकानामगोचरम्। प्रज्ञापारमितारूपं बोधिचित्तस्य लक्षणम्॥
अनौपम्यमनाभासम् अदृशं शान्तमेव च। प्रकृतिशुद्धमद्रव्यं बोधिचित्तस्य लक्षणम्।"[1]
इत्यादि।

प्रज्ञापारमिता की देवीरूप से उपासना बौद्धों का प्रधान आचार है।[2] बोधिसत्त्व में ही प्राणियों को मुक्त बनाने की योग्यता रहती है।

जातकमाला का दूसरा नाम है—बोधिसत्त्वावदानमाला। अवदान का अर्थ है सुकर्म। इस प्रकार बोधिसत्त्वावदानमाला का अर्थ होगा—बोधिसत्त्व के अवदानों अर्थात् सुकर्मों की माला। इसमें भगवान् बुद्ध के पूर्व-जन्मों की कथायें हैं। बुद्ध ने एक जन्म के ही प्रयत्नों से बुद्धत्व नहीं पाया था। उन्होंने असंख्य जन्मों तक बुद्धत्व प्राप्ति के लिये भगीरथ प्रयत्न किये थे। जब वे अपने पूर्व-जन्मों में सद्गुणों का विकास और सत्कर्मों का आचरण कर रहे थे तब उनकी संज्ञा बोधिसत्त्व थी। बोधिसत्त्व को हम भावी बुद्ध भी कह सकते हैं। भगवान बुद्ध सर्वज्ञ थे। वे अपने

---

१. "नैरात्म्यपरिपृच्छासूत्र"—१२-१८
२. "सर्वेषामपि वीराणां परार्थनियतात्मनाम्।
बोधिका जनयित्री च माता त्वमसि वत्सला॥
बुद्धैः प्रत्येकबुद्धैश्च श्रावकैश्च निषेविता।
मार्गस्त्वमेका मोक्षस्य नास्त्यन्य इति निश्चयः॥"
—प्रज्ञापारमितासूत्र

पूर्व-जन्म की घटनाओं को भी जानते थे।[1] बोधिसत्त्व भी कभी-कभी अपने पूर्व जन्म का स्मरण कर सकते थे। बोधिसत्त्व कोशलाधिपति ने अपने अतीत जन्म का स्मरण करते हुए कहा था कि पूर्वजन्म में जब वे मजदूर थे तब भिक्षुओं को कुछ भोजन देने के फलस्वरूप ही वे दूसरे जन्म में कोशल के अधिपति हुए—

"सुप्तप्रबुद्ध इव जातिमनुस्मरामि
यस्यामिहैव नगरे भृतकोऽहमासम् ।
शीलान्वितोऽपि धनमात्रसमुच्छ्रितेभ्यः
कर्माभिराधनसमर्जितदीनवृत्तिः ॥
सोऽहं भृतिं परिभवश्रमदैन्यशालां
त्राणाशयात्स्वयमवृत्तिभयाद्विविक्षुः ।
भिक्षार्थिनश्च चतुरः श्रमणानपश्यं
वश्येन्द्रियाननुगतानिव भिक्षुलक्ष्म्या ॥
तेभ्यः प्रसादमृदुना मनसा प्रणम्य
कुल्माषमात्रकमदां प्रयतः स्वगेहे ।
तस्याङ्कुरोदय इवैष यदन्यराज-
चूडाप्रभाश्चरणरेणुषु मे निषक्ताः ॥[2]

और उनकी धर्मपरायणा रानी ने भी (जो बोधिसत्त्व नहीं थी) अपने अतीत जन्म को स्मरण करते हुए कहा कि पूर्व-जन्म में जब वह दासी थी तो किसी मुनि को कुछ भोजन देने के फलस्वरूप ही वह कोशलाधिपति की रानी हुई।

"बाल्येऽनुभूतमिव तत्समनुस्मरामि
दासी सती यदहमुद्धृतभक्तमेकम् ।
क्षीणाश्रवाय मुनये विनयेन दत्त्वा
सुप्तेव तत्र समवापमिह प्रबोधम् ॥
एतत् स्मरामि कुशलं नरदेव ! येन
त्वन्नाथतामुपगतास्मि समं पृथिव्या ।
क्षीणाश्रवेषु न कृतं तनु नाम किञ्चि—
दित्युक्तवानसि यथैव मुनिस्तथैव ॥[3]

---

१. तुलनीय—

बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन ।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप ॥
—श्रीमद्भगवद्गीता—४।५

२. जातक०—३।१०–१२

३. जातक० ३/१७–१८

जातकमाला के सभी जातकों के प्रधानपात्र बोधिसत्त्व हैं। वे मनुष्यों की योनि में कभी राजा[1], कभी आचार्य[2], कभी ब्राह्मण[3], कभी तपस्वी[4], कभी परिव्राजक[5], कभी श्रेष्ठी[6], और कभी नाविक[7] के रूप में प्रकट होते हैं। देवयोनि में देवताओं के अधिपति शक्र[8] होते हैं और पशु, पक्षियों की योनि में व्याघ्री[9], शशक[10], मत्स्य[11], मृग[12], कपि[13], हस्ती[14], वनमहिष[15] या हंस[16] होकर जन्म लेते हैं। जिस किसी भी योनि में उत्पन्न हों वे बचपन से ही बड़े होनहार होते हैं। अल्पकाल में ही सर्वगुणसम्पन्न हो जाते हैं।

बोधिसत्त्व के जीवन का प्रधान लक्ष्य—भागवत की इन पंक्तियों के उद्धरण में प्राय: प्रकट हुआ है—

"न कामयेऽहं गतिमीश्वरात् परामष्टर्द्धियुक्तामपुनर्भवं वा।
आर्तं प्रपद्येऽखिलदेहभाजामन्त:स्थितो येन भवन्त्यदु:खा: ॥" ६।२१।१२

वे भूख की ज्वाला से व्याकुल होकर अपने सद्य:प्रसूत शावकों को खाने के लिए उद्यत बाघिन के आगे अपना शरीरोत्सर्ग कर उसकी प्राणरक्षा और धर्मरक्षा करते हैं।[17] वे सर्वस्वदान से ही संतुष्ट न होकर अपने शरीर का अवयव भी प्रसन्नतापूर्वक दे देते हैं।[18] दान-कर्म में भयानक विघ्न उपस्थित होने पर भी वे अपने कर्म

---

१ शिवि० कुल्माषपिण्डी० मैत्रीबल० विश्वन्तर० यज्ञ० उन्मादयन्ती० सुतसोम० तथा अयोगृहजातक

२. ब्राह्मणजातक

३. बिस० तथा चुड्डबोधिजातक

४. अगस्त्य तथा क्षान्तिजातक

५. महाबोधिजातक

६. श्रेष्ठि० अविषह्यश्रेष्ठि० तथा श्रेष्ठिजातक (२०वें)

७. सुपारग-जातक

८. शक्रजातक तथा कुम्भजातक

९. व्याघ्रीजातक

१०. शश-जातक

११. मत्स्य-जातक

१२. शरभजातक तथा रुरु-जातक

१३. महाकपि-जातक (२४वें तथा २७वें जातक)

१४. हस्ति-जातक

१५. महिष-जातक

१६. हंस-जातक

१७. व्याघ्री-जातक

१८. शिवि-जातक

से विचलित नहीं होते।[1] तपस्याकाल में जब वे केवल कमल-नाल खा कर रहते थे, लगातार कई दिनों तक इन्द्र के द्वारा उनका आहार लुप्त किये जाने पर भी उनके मन में विकार का उदय नहीं होता है।[2] मनुष्य का ताजा मांस और गर्म रुधिर चाहने वाले भूखे और प्यासे यक्षों को अपने ही शरीर से मांस के टुकड़े खिला कर और रुधिर की धारा पिला कर वे उन क्रूर-हृदयों में भी करुणा का संचार करने में समर्थ होते हैं।[3] शशक-योनि में उत्पन्न होने पर वे भूखे अतिथि के लिए अपने सुन्दर शरीर को ही अग्नि में डाल कर अतिथि-सत्कार का अलौकिक दृष्टान्त उपस्थित करते हैं।[4] आजन्म आचरित अहिंसा के प्रभाव से वे समुद्र में संकटापन्न जहाज के संत्रस्त यात्रियों की प्राण-रक्षा करने में समर्थ होते हैं।[5] वे अपने अमात्य की रूपवती पत्नी को देख कर मोहित होते हैं और अमात्य द्वारा पत्नी अर्पित की जाने पर भी उसे अस्वीकार करते हुए शीघ्र ही मोहमुक्त होकर सन्मार्ग का उपदेश करते है।[6] वे देवेन्द्र शक्र होकर मद्य-पान में आसक्त राजा को मद्य-पान से विरत कर राजा और उसकी प्रजा का कल्याण करते हैं।[7] विपत्ति में पड़े हुए प्राणियों को देख कर बोधिसत्त्व दया से द्रवीभूत हो उठते हैं और अपने अलौकिक पराक्रम से उनकी रक्षा करते हैं। उपकृत प्राणी कृतघ्नता या विश्वासघात करें, बोधिसत्त्व उनका उपकार ही करते हैं। वे रुरुमृग होकर प्रखर जलधारा में बहते हुए, जीवन से निराश मनुष्य को जान की बाजी लगा कर बचाते हैं। किन्तु वह कृतघ्न उसका बदला लोभवश उन्हें राजा से पकड़वा कर देता है। फिर भी राजा द्वारा उस पापी के वध की चेष्टा करते समय बोधिसत्त्व पुनः उसकी प्राणरक्षा कर दया का अद्भुत दृष्टान्त उपस्थित करते हैं।[8] शतपत्र पक्षी होकर वे कण्ठ में अस्थिखण्ड के अटक जाने से व्याकुल सिंह की प्राणरक्षा करते हैं और कालान्तर में आहार ग्रहण करते हुए उसी सिंह के पास क्षुधार्त्त होकर पहुँचने पर भी फटकार कर भगाये जाते हैं। समर्थ होकर भी वे उसका बदला नहीं लेते हैं और उसे क्षमा कर देते हैं।[9] वे क्षान्तिवादी ऋषि होकर क्रोधी, हिंसक एवं कर्त्तव्यच्युत राजा के द्वारा अंग-अंग काट डालने पर भी क्षमाशील बने रहते हैं और उसके कल्याण की कामना करते हैं।[10]

---

१. श्रेष्ठि-जातक (४थ)
२. बिस-जातक
३. मैत्रीबल-जातक
४. शश-जातक
५. सुपारग-जातक
६. उन्मादयन्ती-जातक
७. कुम्भ-जातक
८. रुरु-जातक
९. शतपत्र-जातक
१०. क्षान्ति-जातक

कुमार्गगामी हिंसक प्राणियों पर करुणा करते हुए वे सदुपदेश और सदाचरण के द्वारा उनका हृदय-परिवर्तन कर उन्हें सन्मार्ग पर लाते हैं। वे क्रूर नरभक्षी सौदास को सत्यनिष्ठा और सुभाषितों के द्वारा प्राणिहिंसा एवं नरमांस भक्षण से विरत कर देते हैं।[1] वानरपति होकर वे अपने आश्रित वानरों को संकट से पार करने के लिए स्वयं सेतु बन जाते हैं और इस प्रकार प्राणत्याग कर परम सुखशान्ति का अनुभव करते हैं।[2] हाथी होकर वे भूख-प्यास से व्याकुल मरुभूमि में भटकते हुए सात सौ मनुष्यों को जल से भरा हुआ सरोवर दिखाते हैं और उनके आहार के लिए अन्य कोई उपाय न देख अपने को ही पहाड़ से नीचे गिरा कर अतिथिसेवा में अपना सर्वस्व उत्सर्ग कर देते हैं।[3]

उनके इस प्रकार के उत्तम आचरण का उद्देश्य भी कितना महान और पवित्र है, इसे उन्हीं के शब्दों में सुनिये—

"नायं प्रयत्नः सुगतिं समाप्तुं नैकातपत्रां मनुजेन्द्रलक्ष्मीम्।
सुखप्रकर्षैकरसां न च द्यां ब्राह्मीं श्रियं नैव न मोक्षसौख्यम्॥
यत्त्वस्ति पुण्यं मम किञ्चिदेवं कान्तारमग्नं जनमुज्जिहीर्षोः।
संसारकान्तारगतस्य तेन लोकस्य निस्तारयिता भवेयम्॥[4]

सुकर्मों द्वारा पुण्य का संचय वे संसार रूपी कान्तार में फँसे हुए लोगों के उद्धार की भव्य भावना से ही करते हैं, न कि सांसारिक या पारलौकिक सुख-समृद्धि, यश या मोक्ष की प्राप्ति के लिए। लोकरक्षा ही उनका प्रधान लक्ष्य है और इसी के अनुष्ठान में वे सदैव यत्न करते हैं—

"नायं यत्नः सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम्।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघः॥[5]

इस प्रकार बोधिसत्त्व के कर्म दिव्य और अद्भुत हैं। उनका जीवन अलौकिक और आदर्श है। उनके सदाचरण से हमें प्रेरणा मिलती है। हम भूखी बाघिन के आगे अपना शरीर उत्सर्ग न कर सकें, किन्तु भूखे प्राणियों—पशुओं और मनुष्यों की वेदना से द्रवीभूत होकर उनकी भूख की ज्वाला शान्त करने के लिए कुछ उद्योग अवश्य करें। हम परोपकार करना सीखें। उससे प्राप्त होनेवाला दिव्य आनन्द ही हमारा अपूर्व पुरस्कार होगा।

———

१. सुतसोम-जातक
२. महाकपि-जातक
३. हस्ति-जातक
४. जातक० ३०/२१
५. जातक० ९/२८

३—निर्वाण और पुनर्जन्म-सिद्धान्त

द्वितीय आर्यसत्य में भगवान् बुद्ध ने दुःख के कारणों को बताया है। यदि दुःख के कारण का अन्त हो जाय तो दुःख का भी अन्त अवश्य हो जायगा। वह अवस्था जिसमें दुःखों का अन्त होता है, "दुःख-निरोध" कहलाती है। इसी दुःख-निरोध को भगवान बुद्ध ने निर्वाण कहा है। अन्य भारतीय दर्शनों में जिस स्थिति को मोक्ष कहा गया है, उसी को बौद्ध दर्शन में "निर्वाण" की संज्ञा दी गयी है। इस प्रकार वस्तुतः निर्वाण और मोक्ष समानार्थक हैं। बौद्ध दर्शन में निर्वाण का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसे जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। यही बौद्धधर्म का मूलाधार है।

विद्वानों ने "निर्वाण" शब्द का अर्थ दो प्रकार से लगाया है। कुछ लोगों ने इसका अर्थ "बुझा हुआ" (Blowing out or extinguishing) तथा कुछ लोगों ने शीतलीकरण (Cooling) लगाया है। प्रथम प्रकार के मत को निषेधात्मक तथा द्वितीय प्रकार के मत को भावात्मक समझा जाता है।

निषेधात्मक मत के समर्थकों ने निर्वाण की तुलना दीपक के बुझ जाने से की है। तेल के समाप्त हो जाने पर जिस प्रकार दीपक बुझ जाता है और उसके प्रकाश का अन्त हो जाता है; उसी प्रकार काम, भोग, तृष्णा आदि आस्रवों के क्षीण होने पर आवागमन नष्ट हो जाता है और व्यक्ति का समस्त दुःख मिट जाता है। मुक्त जीव को बुझी हुई अग्नि के समान कहा गया है।[1]

निर्वाण के इस अर्थ से प्रभावित होकर कुछ बौद्ध तथा अन्य दार्शनिकों ने निर्वाण का अर्थ पूर्ण विनाश (Extinction) समझा है। इन लोगों के अनुसार निर्वाण प्राप्त करने के बाद व्यक्ति के अस्तित्व का विनाश हो जाता है। अतः इन लोगों ने निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त समझा है। किन्तु यह मत तर्कसंगत नहीं है। यदि निर्वाण का अर्थ पूर्ण विनाश अर्थात् जीवन का अन्त माना जाय तब यह नहीं कहा जा सकता कि मृत्यु के पूर्व बुद्ध ने निर्वाण को प्राप्त किया। किन्तु बुद्ध के सारे उपदेश इस बात के प्रमाण हैं कि उन्होंने मृत्यु के पूर्व ही निर्वाण को प्राप्त किया था। अतः निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त समझना भ्रमात्मक है। प्रो० मैक्समूलर और चाइल्डर्स ने निर्वाण विषयक समस्त उद्धरणों का सम्यक् अध्ययन

---

१. (क) दीघनिकाय ii—१५
(ख) मज्झिमनिकाय—७२
(ग) श्वेताश्वतरोपनिषद्—४/१६

कर यह निष्कर्ष निकाला है कि निर्वाण का अर्थ पूर्ण विनाश नहीं है।[1] बल्कि इसका आशय लोभ, घृणा, हिंसा आदि प्रवृत्तियों का विनाश है।[2]

भावात्मक मत के समर्थकों ने निर्वाण का अर्थ शीतलता लगाया है। बौद्ध-धर्म में वासना, क्रोध, मोह, भ्रम, दुःख इत्यादि को अग्नि के तुल्य माना गया है। निर्वाण का अर्थ वासना एवं दुःखरूपी आग का ठंडा हो जाना है :—"निर्वाणं शान्तम्।"[3] कुछ विद्वानों ने निर्वाण को आनन्द की अवस्था (The stat· of bli·s) कहा है। इस मत के समर्थकों में प्रो० मैक्समूलर, चाइल्डर्स, श्रीमती राइज डेविड्स और डॉ० राधाकृष्णन् के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। पालि ग्रन्थों में भी निर्वाण को आनन्द की अवस्था कहा गया है। धम्मपद में निर्वाण को आनन्द, परमसुख, पूर्णशान्ति तथा लोभ घृणा और भ्रम से रहित अवस्था कहा गया है।[4] यह अच्युत पद है।[5] इसे भयहीन अवस्था कहा गया है।[6] निर्वाण प्राप्त व्यक्ति की अवस्था का वर्णन नहीं किया जा सकता, क्योंकि यह ज्ञानातीत अवस्था है। तर्क और प्रमाण के माध्यम से उस अवस्था को चित्रित करना असंभव है। डॉ० दासगुप्ता ने कहा है कि लौकिक अनुभव के रूप में निर्वाण कानिर्वचन मुझे एक अध्यास कार्य प्रतीत होता है। क्योंकि यह एक ऐसी स्थिति है जहाँ सभी लौकिक अनुभव निरुद्ध हो जाते हैं। इसलिए इसका विवेचन भावात्मक प्रणाली से शायद ही संभव है। डॉ० कीथ ने भी इसी तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए कहा है कि "सभी व्यावहारिक शब्द अवर्णनीय का वर्णन करने में असमर्थ हैं।"

बौद्धधर्म के प्रसिद्ध धर्मोपदेशक नागसेन ने यूनान के राजा मिलिन्द (मिनेन्डर) के सम्मुख निर्वाण की व्याख्या उपमाओं की सहायता से की है। निर्वाण को उन्होंने सागर की तरह गहरा, पर्वत की तरह ऊँचा और मधु की तरह मीठा कहा है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि निर्वाण के स्वरूप का ज्ञान उसे ही

1, "There is not one passage which would require that its meaning should be annihilation."

—Quoted in P. 449. Vol. I of Indian Philosophy by Radhakrishnan.

2. "Nirvana is only the destruction of the fires of lust, hatred and ignorance"—Radhakrishnan, Indian Philosophy, Vol. I, P. 447.

३. "क्लेशशून्या चित्तसन्ततिर्मुक्तिरिति वैभाषिकाः।" सेतु०—पृ० २६

४. "निब्बाणं परमं सुखम्"—धम्मपद-२०३.

"इह नन्दति पेच्च नन्दति"—धम्मपद-१८

५. "निब्बाणं पदमच्चुतम्।"—सुत्तनिपात (विजनसुत्त)

६. "निब्बाणं अकुतोभयम्।"

—इतिवुत्तक ११२

हो सकता है जिसे इसकी अनुभूति प्राप्त हो। जिस प्रकार अन्धे को रंग का ज्ञान प्राप्त कराना संभव नहीं है, उसी प्रकार जिसे निर्वाण की अनुभूति अप्राप्त है, उसे निर्वाण का ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है।

निर्वाण की प्राप्ति इस जीवन में भी सम्भव है। कोई मानव इस जीवन में भी अपने दुःखों का निरोध कर सकता है। कोई यदि अपने जीवनकाल में ही राग, द्वेष, मोह, आसक्ति, अहंकार इत्यादि पर विजय पा लेता है, तब वह मुक्त हो जाता है। क्योंकि निर्वाण तज्जन्य दुःख के नाश की अवस्था है। इस अवस्था में संसार में रह कर भी वह सांसारिकता से निर्लिप्त रहता है। जैसे कमल जल में रह कर भी जल से अलग रहता है।[1]

भगवान् बुद्ध ने पैंतीस वर्ष की अवस्था में निर्वाण प्राप्त किया था। किन्तु तत्पश्चात् वे पैंतालीस वर्ष तक जीवित थे। बुद्ध की भाँति अन्य लोग भी अपने जीवन काल में निर्वाण को प्राप्त कर सकते हैं। निर्वाण प्राप्ति के बाद भी शरीर कायम रहता है। क्योंकि शरीर पूर्व जन्म के कर्मों का फल है। बुद्ध की यह धारणा उपनिषदों की जीवन्मुक्ति से मेल खाती है।

जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति की तरह कुछ लोग निर्वाण और परिनिर्वाण में भेद करते हैं। परिनिर्वाण का अर्थ मृत्यु के उपरान्त निर्वाण की प्राप्ति से होता है। इसे अनुपाधिशेष निर्वाण भी कहा जाता है। इस अवस्था में जीव के पूर्ण अस्तित्व का विनाश हो जाता है।[2] बुद्ध को परिनिर्वाण की प्राप्ति अस्सी वर्ष की अवस्था में हुई, जब कि उन्हें निर्वाण पैंतीस वर्ष की अवस्था के बाद ही हो गया था। मिलिन्दप्रश्न के उद्धरणों से यह प्रतीत होता है कि बुद्ध परिनिर्वाण के बाद अस्तित्व-रहित हो गये थे।[3] अतः निर्वाण का अर्थ जीवन का अन्त नहीं है; बल्कि यह अवस्था जीवन काल में ही प्राप्य है।

निर्वाण निष्क्रियता की अवस्था नहीं है, जैसा कि कुछ लोग समझते हैं। यह सही है कि निर्वाण की प्राप्ति के लिये मनुष्य को सभी बाह्य वस्तुओं तथा आन्तरिक भावों से मन को हटा कर आर्यसत्यों पर केन्द्रीभूत होना पड़ता है और निरन्तर उनका मनन करना पड़ता है। किन्तु एक बार जब स्थायी रूप से ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है, तब निरन्तर उसे समाधि में मग्न रहने की आवश्यकता नहीं रहती और न जीवन के कर्मों से अलग रहने की ही आवश्यकता रहती है। उसे कल्याण की भावना से समन्वित देखा जाता है। दूसरों के प्रति उनकी दया और प्रीति और भी बढ़ जाती है जिससे उनके उद्धार के लिये वे अपने ज्ञान का अधिकाधिक

---

१. "लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा"—श्रीमद्भगव० ५।१०

२. मिलिन्द०—II-2,4

३. मिलिन्द०—iii-५,१०

प्रचार करते हैं। निर्वाण-प्राप्ति के बाद भगवान् बुद्ध ने संसार के लोगों को दुःखों से पीड़ित देख कर लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित हो अपने उपदेशों को जनता के बीच घूम-घूम कर रखा। दुःखों से पीड़ित मानव को आशा का सन्देश दिया, अनेक संघों की स्थापना की। धर्मप्रचार के लिए अनेक शिष्यों को विदेशों में भेजा। इस प्रकार निर्वाण के पश्चात् बुद्ध का सारा जीवन कर्म का अनोखा उदाहरण बन गया। अतः निर्वाण का अर्थ कर्म-संन्यास समझना भ्रान्तिमूलक है।

भगवान् बुद्ध का उपदेश है कि कर्म दो तरह के होते हैं। एक तरह का कर्म राग, द्वेष तथा मोह के कारण होता है, जो हमारी विषयानुरक्ति की वृद्धि करता है तथा ऐसे संस्कारों को पैदा करता है जिनके कारण जन्म-ग्रहण करना ही पड़ता है। दूसरे तरह का कर्म बिना राग, द्वेष तथा मोह के होता है, जो अनासक्त भाव से तथा संसार को अनित्य समझ कर किया जाता है। इससे पुनर्जन्म की संभावना नहीं रह जाती है। जैसे सामान्य ढंग से यदि बीज का वपन किया जाय तो पौधे की उत्पत्ति होती है, किन्तु यदि बीज को भूँज दिया जाय तो उसके वपन से पौधे की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। उसी प्रकार राग, द्वेषादि का परित्याग कर अनासक्त भाव से किया गया कर्म पुनर्जन्म का कारण नहीं होता है। निर्वाण प्राप्त व्यक्ति भी इसी प्रकार के कर्म में प्रवृत्त होते हैं।

निर्वाण से दो तरह के लाभ हैं। प्रथम तो यह कि निर्वाणप्राप्ति के बाद पुनर्जन्म और तज्जनित दुःख संभव नहीं है; क्योंकि जन्म-ग्रहण के लिए जो आवश्यक कारण हैं, वे नष्ट हो जाते हैं। दूसरा लाभ यह है कि निर्वाण प्राप्त व्यक्ति का जीवन मृत्यु-पर्यन्त पूर्णज्ञान और शान्ति के साथ बीतता है। निर्वाण के बाद जो शान्ति मिलती है, उसकी तुलना सांसारिक सुखों के साथ नहीं हो सकती है। निर्वाण की अवस्था पूर्णतया, शान्त, स्थिर तथा तृष्णाविहीन होती है। साधारण अनुभवों के द्वारा इसका वर्णन नहीं किया जा सकता।

जैन-दर्शन में निर्वाण को मोक्ष कहा गया है। राग, द्वेष और मोह के कारण आस्रव होता है जिससे जीव बन्धन में फँस जाता है। जीव और पुद्गल के संयोग को बन्धन कहते हैं। अतः जीव का पुद्गल से वियोग होना ही मोक्ष है। यह तभी होता है जब नये पुद्गल का आस्रव बन्द हो और जो जीवन में पहले से ही प्रविष्ट है, वह नष्ट हो जाय। पहले को 'संवर'' और दूसरे को "निर्जरा'' कहते हैं। इस प्रकार कर्म-पुद्गलों से मुक्त होने से जीव सर्वज्ञ, सर्वद्रष्टा होकर मुक्ति का अनुभव करने लगता है। इस अवस्था को भाव-मोक्ष या जीवन्मुक्ति कहते हैं। यह अवस्था वास्तविक मोक्ष के पूर्व की अवस्था है। इस स्थिति में चार घातीय कर्मों का अर्थात् ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, मोहनीय एवं अन्तराय का नाश हो जाता है। इसके पश्चात् क्रमशः चार आघातीय कर्मों का अर्थात् आयु, नाम, गोत्र तथा वेदनीय का भी नाश हो जाता है। इस स्थिति में द्रव्यमोक्ष की प्राप्ति होती है।

जीव मुक्त होने के पश्चात् सभी कर्मों से तथा औपशमिक, छायोपशमिक, औदयिक तथा भव्यत्व भावों से मुक्त हो जाता है। यह ऊर्ध्व गति होने के कारण ऊपर लोक की सीमा पर्यन्त पहुँच जाता है। आलोकाकाश में धर्मास्तिकाय के न रहने के कारण जीव, लोक के परे नहीं जा सकता।[1] वह पुन: लौट कर संसार में नहीं आता है और न मुक्त जीव परमात्मा के साथ एकाकार ही होता है। वह सिद्धशिला में अनंत काल के लिये वास करता है।

जीव में पुद्गल का आस्रव जीव के अन्तर्निहित कषायों (क्रोध, मान, माया, लोभ) के कारण होता है। इन कषायों का कारण अज्ञान है। अर्थात् आत्माओं तथा अन्य द्रव्यों का यथार्थ ज्ञान प्राप्त न होने के कारण ही हमारे मन में क्रोध, मान, माया और लोभ की उत्पत्ति होती है। अज्ञान का नाश ज्ञान-प्राप्ति से ही हो सकता है। अत: जैन दार्शनिक सम्यक् ज्ञान को अधिक महत्त्व देते हैं। सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति पूर्ण ज्ञानी तीर्थंकरों या मुक्त महात्माओं के उपदेशों के मनन से होता है। साथ-साथ यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा का होना भी आवश्यक है। इसे सम्यग्दर्शन कहते हैं। कुछ लोगों में यह स्वभावत: विद्यमान रहता है और कुछ इसे विद्योपार्जन एवं अभ्यास के द्वारा भी सीख सकते हैं। सम्यक् चरित्र भी इसके लिये एक आवश्यक साधन है। सम्यक् चरित्र के अनुसार हमें वासना, इन्द्रिय, मन, वचन तथा कर्म को संयत करना पड़ता है। परिणामत: नये कर्मों का संचय बन्द हो जाता और पुराने कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। फलस्वरूप उन पुद्गलों का भी नाश ही जाता है जिनके कारण जीव बन्धन में पड़ा रहता है। जैन दार्शनिक सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन तथा सम्यक् चरित्र को ही मोक्ष का मार्ग बताते हैं—"सम्यग्दर्शनज्ञानचरित्राणि मोक्षमार्ग:।"[2] इन तीनों के सम्मिलित होने पर ही मोक्ष मिलता है।

सांख्य-दर्शन में त्रिविध दु:खों—आध्यामिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक—से आत्यन्तिक निवृत्ति को अपवर्ग या मोक्ष कहा गया है। इसके अनुसार कर्म के द्वारा मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। क्योंकि अच्छे कर्म से स्वर्ग की तथा बुरे कर्म से नरक की प्राप्ति होती है और दोनों ही बन्धन की अवस्था है। मोक्ष की प्राप्ति ज्ञान से ही संभव है। क्योंकि बन्धन का मूल कारण अज्ञान है। अन्य पदार्थों से आत्मा के पृथक्त्व का जब ज्ञान हो जाता है, तब बन्धन के नष्ट होने से मोक्ष की प्राप्ति होती है। सांख्यकारिका में कहा गया है—

> "एवं तत्त्वाभ्यासान् नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।
> अविपर्ययाद्विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥"[3]

---

१. तत्त्वार्थसूत्र १०।५

२. तत्त्वार्थाधिगमसूत्र १।२।३—उमास्वामी

३. सांख्यकारिका—६४

सांख्य-दर्शन जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति स्वीकार करता है। ज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर भी प्रारब्ध कर्म के कारण जीव शरीर धारण किये रहता है। यह जीवन्मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था में वह ऐहिक जीवन से वितृष्ण रहता है। अतएव उसके कर्मों का फल संचित नहीं होता है।

"सम्यग्ज्ञानाधिगमात् धर्मादीनामकारणप्राप्तौ ।
तिष्ठति संस्कारवशात् चक्रभ्रमिवद् धृतशरीरः ।।[1]

मृत्यु के अनन्तर विदेहमुक्ति होती है—

प्राप्ते शरीरभेदे चरितार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ ।
ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभयं कैवल्यमाप्नोति ।।[2]

सांख्य के अनुसार मुक्ति की अवस्था सुख-दुःख से रहित है, क्योंकि सुख और दुःख सापेक्ष हैं। सुख सत्त्व गुण का परिणाम है और मुक्ति की अवस्था में तीनों गुणों का समापन हो जाता है। इसके अनुसार बन्धन और मुक्ति का विषय प्रकृति है, पुरुष नहीं। पुरुष न तो कभी बन्धन में पड़ता है और न कभी मुक्त होता है—

"तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ।।[3]

योगदर्शन मोक्ष के स्थान पर "कैवल्य" मानता है। पुरुष के गुणों से आत्यन्तिक वियोग को कैवल्य कहा जाता है। इस अवस्था में पुरुष या चितिशक्ति स्वच्छ, ज्योतिर्मय अपने स्वरूप में केवली होकर प्रतिष्ठित हो जाती है। "सत्त्वपुरुषयोः शुद्धिसाम्ये कैवल्यमिति"[4] अर्थात् विवेकज ज्ञान प्राप्त होने पर या न होने पर बुद्धिसत्त्व तथा पुरुष की जो शुद्धि एवं सादृश्य है, वही कैवल्य है।

न्यायवैशेषिक दर्शन मोक्ष विषयक विचार में भी अपनी समानतंत्रता का निर्वाह करते हैं। मोक्ष का पर्याय "अपवर्ग" के रूप में (न्यायदर्शन) अथवा निःश्रेयस (वैशेषिक दर्शन) के रूप में इन दर्शनों में स्वीकार किया गया है। दोनों ही दर्शन अपवर्ग की विशुद्ध निषेधरूपता के आग्रही हैं। गौतम ने बाधना या पीड़ा के रूप में दुःख का लक्षण मानकर[5] उससे आत्यन्तिकरूप से विमुक्त हो जाने को अपवर्ग स्वीकार किया है।[6] वात्स्यायन ने आत्यन्तिक दुःखाभाव के अर्थ में ही आगमोक्त

---

१ सांख्य०—६७

२. सांख्य०—६८

३. सांख्य०—६२

४. पतञ्जलि—योगसूत्र—३।५५

५. न्यायसूत्र—१।१।२१—
"बाधनालक्षणं दुःखम् ।"

६. वही १।१।२२—"तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः ।"

सुख की सिद्धि की है।[1] मोक्ष की स्थिति में आत्मा के सभी गुण नष्ट हो जाते हैं। इसीलिए किसी प्रकार के अनुभव की सत्ता नैयायिकों को अपवर्गावस्था में स्वीकार्य नहीं है।

वैशेषिकदर्शन भी न्याय के समान निःश्रेयस की निषेधरूपता स्वीकार करता है। शंकरमिश्र ने वैशेषिक दर्शन (१।१।४) के अपने उपस्कार-भाष्य में इस विषय का विशेष रूप से प्रदर्शन किया है कि आत्यन्तिकी दुःखनिवृत्ति ही निःश्रेयस हैं। अन्य मोक्षसिद्धान्त उन्हें अमान्य है।

मीमांसा-दर्शन के अनुसार तीन प्रकार से प्रपञ्च अर्थात् संसार मनुष्य को बन्धन में डालता है—भोगायतन शरीर, भोगसाधन इन्द्रियाँ तथा शब्द, स्पर्श, रूप आदि भोग्य विषय। इन तीनों के द्वारा मनुष्य सुख तथा दुःख के विषय का साक्षात् अनुभव करता हुआ बन्धन में पड़ा रहता है। इन तीनों के आत्यन्तिक नाश होने से मुक्ति मिलती है।

"त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयो मोक्षः।।[2]

पूर्व में उत्पन्न शरीर, इन्द्रियाँ तथा विषयों का नाश एवं भविष्यत् काल में होने वाले शरीर, इन्द्रियों तथा विषयों का पुनः न होना आत्यन्तिक नाश कहलाता है। सुख तथा दुःख से रहित होकर मुक्त पुरुष स्वस्थ हो जाता है। अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म तथा संस्कार से रहित हो कर पुरुष अपने स्वरूप में स्थित रहता है। भट्टमीमांसकों के मत में पंचस्कन्धविलय ही मोक्ष है। मोक्षावस्था में जीव में न सुख है, न ज्ञान है—

"तस्मात् निःसम्बन्धो निरानन्दश्च मोक्षः"[3]

प्रभाकर-मत में धर्म तथा अधर्म का निःशेष रूप में नाश होने से देह के आत्यन्तिक नाश को मोक्ष कहा गया है :—

"आत्यन्तिकस्तु देहोच्छेदो मोक्षः।"[4]

मुक्तावस्था में जीव की सत्ता मात्र रहती है।

वेदान्त दर्शन में निर्वाण का समानार्थक शब्द "मुक्ति" है। शांकर-

---

१. द्रष्टव्य वात्स्यायनभाष्य—१।१।२२—"यद्यपि कश्चिदागमः स्यात् मुक्तस्यात्यन्तिकं सुखमिति। सुखशब्द आत्यन्तिके दुःखाभावे प्रयुक्त इत्येवमुपपद्यते। दृष्टो हि दुःखाभावे सुखशब्दप्रयोगो बहुलं लोके।"

२. शास्त्रदीपिका—पृ० १२५

३. शास्त्रदीपिका—पृ० १२५-३०

४. प्रकरणपञ्चिका, पृ० १५६

वेदान्त (अद्वैत वेदान्त) के अनुसार जीव और ब्रह्म का ऐक्य ही मुक्ति है। ब्रह्मसाक्षात्कार के साथ समस्त अज्ञान तथा उसके कार्यों का नाश हो जाता है। पुनः ब्रह्म को छोड़ कर और कुछ नहीं बचता। जीव और ब्रह्म के ऐक्य हो जाने से तथा उस जीव के लिये माया के विलीन हो जाने से इस श्रुति-वाक्य का उसे बोध हो जाता है—

"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म नेह नानास्ति किञ्चन।"[1]

मुक्ति दो प्रकार की होती है—जीवन्मुक्ति और मुक्ति। संचित और क्रियमाण कर्मों के नाश होने पर जीवितावस्था में ही तत्त्वज्ञान हो जाने पर जीव प्रारब्ध कर्म के क्षयपर्यन्त शरीर को पूर्ववत् धारण किये रहता है। इस अवस्था को जीवन्मुक्ति कहते हैं। प्रारब्ध कर्म के क्षय होने पर शरीर का पतन होता है। उस अवस्था को मुक्ति कहते हैं।

भास्कर वेदान्त उपाधियों से मुक्त होकर जीव के अपने स्वाभाविक स्वरूप-धारण करने को मुक्ति कहता है। इसके अनुसार मुक्ति के दो भेद हैं-सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति। साक्षात्कारणस्वरूप ब्रह्म की उपासना करने पर मिलने वाली मुक्ति सद्योमुक्ति है। क्योंकि यह तत्क्षण प्राप्त होती है।

कार्यस्वरूप ब्रह्म के द्वारा प्राप्त मुक्ति क्रममुक्ति है। अच्छे कार्य करने से मरने पर देवयान मार्ग से अनेक लोकों में घूमते हुए हिरण्यगर्भ के साथ जीव मोक्ष पाते हैं इसके अनुसार जीवन्मुक्ति की अवस्था नहीं होती। क्योंकि शरीरपतन के उपरान्त ही मुक्ति होती है।

गीता-दर्शन में मुक्ति दो प्रकार की बतायी गयी है—परा गति और अपरा गति। जो लोग बहुत ही पवित्र कार्य करते हैं, जिन्हें ज्ञान की प्राप्ति हो गयी हे और जिनके कर्म ज्ञान के तेज से दग्ध होकर भविष्य में फल देने में असमर्थ हैं, उन लोगों के मरने पर उनकी जीवात्मा देवयान मार्ग से सूर्य की रश्मि को पकड़ कर ऊपर की ओर जाती है और वहाँ से लौट कर पुनः इस संसार में नहीं आती है।[2] उनके कर्मों का भोग समाप्त हो जाता है। उन्हें मुक्ति मिल जाती है। इसे परा गति कहते हैं।

जो लोग साधारण रूप से अपना कर्म करते हैं, कुछ पुण्य और मृत्यु के पश्चात् उनकी जीवात्मा पितृयान मार्ग से चल कर चन्द्रलोक को जाती है, और कुछ समय तक वहाँ रह कर पुनः अवशिष्ट कर्म वासनाओं का भोग करने के लिए इस संसार में लौट आती है।[3] इसे अपरा गति कहते हैं।

---

१. आध्यात्मोपनिषद्—६३

२. श्रीमद्भगवद्गीता १५।६—"यद् गत्वा न निवर्तन्ते तद्धाम परमं मम।"

३. "ते तं मुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।"

—श्रीमद्भग० ६।२१

मुक्ति की दो अवस्थायें बतलायी गयी हैं—जीवन्मुक्ति और विदेहमुक्ति। ज्ञान प्राप्त करने पर भी जीव जब इसी संसार में रहता है और परमात्मा का साक्षात्कार करता है, तब उसकी वह अवस्था जीवन्मुक्ति कही जाती है। प्रारब्ध कर्म के अनुसार जब वर्त्तमान शरीर का सभी भोगों को समाप्त करने के बाद क्षय होता है; तब वह जीवन्मुक्त जीव स्वतंत्र होकर अनन्त धाम में भगवान में मिल जाता है। ऐसे जीव जब शरीर से रहित हो जाते हैं, तब उनकी अवस्था विदेहमुक्ति कहलाती है।

पुनर्जन्म सिद्धान्त—

निर्वाण के सिद्धान्त की आवश्यकता तभी संभव हो सकती है, जब पुनर्जन्म का सिद्धान्त स्वीकार किया जाय। इसलिए प्राचीन काल से ही भारतीय दार्शनिकों ने पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार कर इस पर पर्याप्त विचार किया है।

वेदों में जीव के तीन जन्म स्वीकार किये गए हैं। प्रथमतः शिशु के रूप में, द्वितीयतः आध्यात्मिक शिक्षा की प्राप्ति के द्वारा और तृतीयतः मृत्यु के अनन्तर। आत्मा को जीवनचक्र से सम्बद्ध माना गया है।

पुनर्जन्म के सिद्धान्त का प्रारम्भिक रूप शतपथ ब्राह्मण में दिखाई पड़ता है। इसके अनुसार जिन्हें सम्यक् ज्ञान है तथा जो अपने कर्त्तव्यों का पालन उचित रूप से करते हैं, मृत्यु के उपरान्त अमरत्वप्राप्ति के लिए उनका पुनर्जन्म होता है। इसके विपरीत जो अज्ञानी हैं तथा अपने कर्त्तव्यों की अवहेलना करते हैं, उन्हें मृत्यु का शिकार बनने के लिए बार-बार जन्मग्रहण करना पड़ता है।

उपनिषदों में पुनर्जन्म का अस्तित्व इहलोक में माना गया है। अच्छे एवं बुरे कार्यों का प्रतिफल दो रूपों में प्राप्त होता है। (१) परलोक में और (२) पुनः इस पृथ्वी पर जन्मग्रहण करने पर।

"अथैनमग्नये हरन्ति तस्याग्निरेवाग्निर्भवति समित्समिद्धमो धूमोऽर्चिरर्चिरङ्गारा अङ्गारा विस्फुलिङ्गा विस्फुलिङ्गास्तस्मिन्नेतस्मिन्नौ देवाः पुरुषं जुह्वति तस्या आहुत्यै पुरुषो भास्वरवर्णः संभवति ॥[1]

पुनर्जन्म के विषय में प्राचीनतम वर्णन छान्दोग्योपनिषद् और बृहदारण्यकोपनिषद् में प्राप्त होता है।

ब्रह्म से ऐक्य की अवस्था उत्तम प्रकार का अमरत्व है। जब हम इस अवस्था से च्युत होते हैं। तब संसार में एक जन्म से दूसरे जन्म में भटकने लगते हैं। इस जीवन में किए गए कर्मों के अनुसार हमारा अगला जन्म निर्धारित होता है।

---

१. बृहदा० ६।२।१४

"आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं ँ स आत्मा प्रजापतेः सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशो विशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्क ँ श्येतं लिन्दुमाऽभिगां लिन्दु माऽभिगाम् ॥"[1]

अच्छे कर्म करने वाले मृत्यु के उपरान्त शीघ्र ही अच्छा जन्म—ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य का जन्म पाते हैं; किन्तु जिनका आचरण बुरा होता है, वे मरणोपरान्त शीघ्र बुरे जन्म श्वान या चाण्डाल का जन्म पाते हैं।

"तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह यत्ते रमणीयां योनिमापद्येरँन् ब्राह्मणयोनिं वा क्षत्रिययोनिं वा वैश्ययोनिं वाऽथ य इह कपूयचरणा अभ्याशो ह यत्ते कपूयां योनिमापद्येरञ्श्वयोनिं वा सूकरयोनिं वा चण्डालयोनिं वा ॥[2]

छान्दोग्य कौषीतकि की तरह बृहदारण्यक उपनिषद् की कुछ उत्तरवर्ती पंक्तियों में आत्मा का प्रवेश पशुयोनि में भी निर्दिष्ट है। यह विचार संभवतः यहाँ आर्येतर जातियों से आया प्रतीत होता है। संसार के प्रायः सभी अविकसित जातियों के बीच यह धारणा रही है कि मानव आत्मा पशुयोनि में स्थानान्तरित हो सकती है।

आत्मा अपने कृतकर्मों के फल भुगतने के लिए मृत्यु के पश्चात् दो मार्गों से पार हो सकती है—

(१) देवयानमार्ग (प्रकाशमार्ग)
(२) पितृयानमार्ग, (धूममार्ग अर्थात् तमःमार्ग)

प्रथम मार्ग अग्नि आदि विभिन्न लोकों से होकर ब्रह्म या सत्य लोकों को जाता है जहाँ से पुनरावर्त्तन नहीं होता। पितृयान धूमरात्रि आदि विभिन्न लोकों से होते हुए चन्द्रलोक को ले जाता है जहाँ से अपने सुकर्मों का फल भोगने के उपरान्त जीव को पुनः इस संसार में आना पड़ता है।[3]

---

१. छादोग्य० ८।१४।१

२. छान्दोग्य० ५।१०।७

३. "अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥
शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुनः ॥" —श्रीमद्भगवद्० ८।२४-२६

कौषीतकि उपनिषद् के अनुसार मृत्यु के उपरान्त सभी चन्द्रलोक को जाते हैं जहाँ कुछ पितृमार्ग होते हुए ब्रह्म तक पहुँचते हैं जब कि शेष अपने कर्म और ज्ञान के अनुसार मानव से लेकर कीट पर्यन्त विभिन्न योनियों में जन्मग्रहण कर संसार में लौट आते हैं।

एक तीसरे आनन्दविहीन तिमिराच्छन्न लोक को ले जाने वाले मार्ग का भी निर्देश है—

"पीतोदका जग्धतृणा दुग्धदोहा निरिन्द्रियाः।
अनन्दा नाम ते लोकास्तान् स गच्छति ता ददत्।"[१]

अर्थात् जो (अन्तिम बार) जल पी चुकी हैं, जिनका घास खाना समाप्त हो चुका है, जिनका दूध भी दुह लिया गया है और जिनमें प्रजनन शक्ति का भी अभाव हो गया है उन गाँओं का दान देने वाला अनन्दलोकों को जाता है।

यह वह मार्ग है जहाँ जीव कीट पतंग आदि निकृष्ट योनियों में गुजरता हुआ जन्म-मृत्यु का शिकार होता है।[२]

मुक्त मानव, जो ब्रह्म से अपना ऐक्य समझ लेता है, उसे मुक्ति के लिए कहीं भटकने की आवश्यकता नहीं है। जहाँ कहीं वह रहता है वह ब्रह्म का साक्षात् अनुभव करता है।

गीता-दर्शन स्पष्ट शब्दों में पुनर्जन्म के सिद्धान्त को स्वीकार करता है। अर्जुन को उपदेश देते हुए स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं :—

"बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परंतप॥"[३]

अर्थात् हे परंतप (शत्रुतापन) अर्जुन, मेरे और तुम्हारे अनेक जन्म व्यतीत हो चुके हैं जिन्हें मैं तो जानता हूँ किन्तु तुम नहीं।

पुनः द्वितीय अध्याय में वे कहते हैं—

"जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च॥[४]

अर्थात् प्रत्येक जन्म लेने वाले की मृत्यु और मरने वाला का जन्म लेना निश्चित है। जन्मने और मरने की क्रियायें अनादि काल से जारी है और तब तक जारी रहेगी जब तक यह सृष्टि रहेगी।

---

१. कठोपनिषद् १।१।३
२. "ते कीटाः पतङ्गाः यदिदं दन्दशूकम्।" बृहदा० ६।२।१६
३. श्रीमद्भग०—४।५
४. वही—२।२७

आत्मा के स्वरूप के प्रतिपादन क्रम में कहा गया है कि जिस प्रकार मनुष्य जीर्ण वस्त्र का परित्याग कर नवीन वस्त्र धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा भी एक शरीर छोड़ कर दूसरे शरीर को धारण करती है :—

"वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।"[1]

मनुष्य का भावी जन्म उसके गुणों के आधार पर निर्धारित होता है। सत्त्व गुण के उत्कर्ष में मृत्यु प्राप्त करने वाले प्राणी स्वर्ग आदि निर्मल लोक को प्राप्त होते हैं। रजो-गुण की प्रबलता में मरने वालों को अगले जन्म में इसी संसार में आकर उन्हीं कर्मों में फँसना पड़ता है, जिनमें वे पहले लिप्त थे। तमो-गुण धारी मनुष्य का सारा जीवन इन्द्रियों के लालन-पालन में ही बीतता है। अतएव मरणोपरान्त इनकी सद्गति का तो प्रश्न ही नहीं उठता। इन्हें कीट-पतंग इत्यादि निकृष्ट योनियों में जन्म-ग्रहण करना पड़ता है, जहाँ ज्ञानरूपी सूर्य के प्रकाश का सर्वथा अभाव रहता है—

"यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान्प्रतिपद्यते।।
रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।[2]

जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा तभी मिलता है जब कर्म-बन्धन का नाश हो जाता है और ज्ञान से ही यह कर्म-बन्धन नष्ट होता है—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।[3]

अर्थात् जैसे अच्छी प्रकार से प्रज्ज्वलित अग्नि काष्ठ-समूह को भस्मरूप कर देता है, वैसे ही ज्ञान-रूप अग्नि सब कर्मों को भस्मरूप अर्थात् निर्बीज कर देता है।

जगत् की सारी लीलायें त्रिगुणात्मक (सत्त्व-रज-तमात्मक) हैं तथा इनके आधार रूप जो आत्मतत्त्व है, वह इनसे सर्वथा भिन्न, त्रिगुणातीत, निर्विकार और सच्चिदानन्द स्वरूप है। इस रहस्य का ज्ञान जब मनुष्य को हो जाता है तो वह सम्पूर्ण विश्व में परम पिता परमात्मा को ही देखता, सुनता और पाता है। सृष्टि के रंगमंच पर अपना अभिनय करता हुआ वह उसके विकारों से अलिप्त रहता

---

१. श्रीमद्भग०—२।२२
२. वही—१४।१४-१५
३. वही—४।३७

है तथा सदा परमात्मा में ही रमण करता है। ऐसा व्यक्ति तीनों गुणों से परे होकर जन्म, मृत्यु और जरा के दुःखों से विमुक्त हो जाता तथा मोक्ष की प्राप्ति करता है—

"गुणानेतानतीत्य त्रीन्देही देहसमुद्भवान् ।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ॥"[१]

तत्त्व रूप से भगवान के दिव्य जन्म तथा कर्मों को जान लेने वाले व्यक्ति को शरीर त्याग के अनन्तर पुनः इस संसार में आना नहीं पड़ता है—

"जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः ।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन ॥"[२]

राग, भय और क्रोध से रहित होकर भगवान के परायण हुए अनेक लोगों ने इस प्रकार ज्ञान रूप तप से शुद्ध होकर भगवत्भाव को प्राप्त किया है—

"वीतरागभयक्रोधाः मन्मया मामुपाश्रिताः ।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः ॥"[३]

मरण-काल में विष्णु का स्मरण करता हुआ शरीर त्याग करने वाला मनुष्य निस्सन्देह परम पद को प्राप्त करता है—

"अन्तकाले च मामेव स्मरन्मुक्त्वा कलेवरम् ।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः ॥[४]

परमात्मभाव को प्राप्त व्यक्ति का पुनर्जन्म नहीं होता है—

"मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते ।"[५]

बौद्धमत में पुनर्जन्म

यद्यपि आत्मा के जन्म-जन्मान्तर में स्थानान्तरण के उपनिषदों के सिद्धान्त को बौद्ध-दर्शन स्वीकार नहीं करता है, तथापि पुनर्जन्म के सिद्धान्त को यह स्वीकार करता है। इसके अनुसार पुनर्जन्म का सिद्धान्त वस्तुतः भव-चक्र पर आधारित है। उत्पत्ति-प्रक्रिया ही भव-चक्र है। कर्म से तथा अविद्या आदि क्लेशों से अभिसंस्कृत पंचस्कन्ध ही पूर्वभव सन्तति-क्रम में एक प्रदीप से दूसरे प्रदीप के जलने की तरह गर्भ में प्रवेश पाता है।

ऐसे कारण, जिनके होने पर जरा-मरण रूप दुःख उत्पन्न होता है, बुद्ध ने बारह बतलाये हैं—

---

१. श्रीमद्भग० १४।२०
२. वही ४।९
३. वही ४।१०
४. श्रीमद्भग० ८।५
५. वही ८।१६

१—अविद्या
२—संस्कार } —भूत-जीवन।

३—विज्ञान
४—नाम-रूप
५—षडायतन
६—स्पर्श
७—वेदना
८—तृष्णा
९—उपादान
१०—भव
११—जाति } —वर्त्तमान जीवन

१२—जरा-मरण } भविष्य जीवन

बुद्ध का कथन है कि जीव का वर्त्तमान जीवन से भी पहले कोई जन्म अवश्य था, जिसके कारण मनुष्य अनादिकाल से अज्ञान (अविद्या) के अन्धकार में पड़ा हुआ है। उन कर्मों को भोगने के लिए मनुष्य इस जन्म में आया। इसका रहस्य विज्ञान बताता है। जन्म-धारण करने के बाद मनुष्य को नाम-रूप अर्थात् भौतिक और मानसिक स्वरूप मिले। इसके बाद छः इन्द्रियों का समावेश हुआ और इसको षडायतन कहा गया। इन्द्रियों के प्राप्त हो जाने पर जीव में बाह्यजगत् के रूपों का आधान हुआ जिसके फलस्वरूप उसको वेदना का अनुभव हुआ। इन्द्रिय तथा विषयों का संयोग होने के बाद उसमें तृष्णा का आधान हुआ, जिससे उसकी सुखप्रद वस्तुओं के प्रति रुचि हुई। इसी को उपादान या आसक्ति कहा जाता है। इस प्रकार वह भव के अच्छे बुरे कार्यों की ओर प्रवृत्त हुआ। इन कर्मों के परिणामस्वरूप उसको दूसरे जन्म में लिप्त होना पड़ा, जिसका परिणाम मृत्यु अर्थात् जरा-मरण है।

इस दृष्टि से पुनर्जन्म का सम्बन्ध भूत, वर्त्तमान और भविष्य तीनों कालों से है। बुद्ध का कहना है कि मनुष्य या जीव तब तक इस भवचक्र में घूमता रहता है, जब तक उसका वह अज्ञान नष्ट न हो जाय जो तृष्णा का कारण है। अविद्या-तृष्णा के नाश होने तक अच्छा बुरा कर्म ही उसका सब कुछ है। भगवान् बुद्ध का उपदेश है :—

"कम्मस्सकोम्हि, कम्मदायादो, कम्मयोनि, कम्मबन्धु, कम्मपरिसरणो, यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं वा, तस्स दायादो भविस्सामिति अभिण्हं पच्च-वेक्खतब्बं गहट्ठेन वा पब्बजितेन वा।"[1]

अर्थात् सभी को इस बात पर सदा मनन करना चाहिये कि मेरा जो कुछ भी है, कर्म ही है, कर्म ही दायाद है, कर्म से ही उत्पत्ति है। कर्म ही बन्धु है, कर्म ही शरण स्थान है। जो मैं अच्छा बुरा कर्म करूँगा उसका मैं उत्तराधिकारी होऊँगा।"

---

१. अंगुत्तरनिकाय—पंचक निपात (२।१।७)

अतीत जीवन के कर्म ही वर्त्तमान और भविष्य जीवन की स्थिति के निर्धारक होते हैं।

"कर्मों की भिन्नता के कारण ही सभी मनुष्य समान नहीं होते हैं। कुछ मनुष्य दीर्घायु होते हैं और कुछ अल्पायु; कुछ स्वस्थ तथा कुछ रुग्ण।"[1]

तृष्णा का क्षय हो जाने पर कर्म का भी क्षय हो जाता है और पुनर्जन्म का भी। किन्तु जब तक तृष्णा का क्षय नहीं होता, तब तक तो जीव को जन्म-जामान्तर तक जन्मों के चक्कर में रहना ही पड़ता है। बुद्ध ने जब उरुबेला के निकट बोधि-वृक्ष के नीचे ज्ञान प्राप्त किया, उस समय इन्होंने सर्वप्रथम यही कहा—

"अनेकजातिसंसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं।
गहकारकं गवेस्सन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसङ्खतं।
विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥"[2]

अर्थात् दुःखदायी जन्म बार-बार लेना पड़ा। मैं संसार में (शरीर-रूपी गृह को बनाने वाले) गृहकारक को पाने की खोज में निष्फल भटकता रहा। लेकिन गृहकारक! अब मैंने तुझे देख लिया। अब तू फिर गृह-निर्माण न कर सकेगा। तेरी सब कड़ियाँ टूट गयीं। गृह-शिखर बिखर गया। चित्त निर्वाण प्राप्त हो गया। तृष्णा का क्षय हो गया।

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान इन पाँच स्कन्धों का ही यह व्यक्ति वा संसार बना है। उन पञ्चस्कन्धों की धारा अच्छे बुरे कर्मानुसार बहती रहती है और तब तक बहती रहेगी, जब तक कोई भी व्यक्ति तृष्णा का सम्पूर्ण क्षय नहीं कर लेता।

अपनी प्रारम्भिक अवस्था में बौद्धधर्म ने जातक-कथाओं के द्वारा पुनर्जन्म के सिद्धान्त को अधिक लोकप्रिय बनाया, जिनमें बुद्ध के पूर्वजन्मों के उन सुकर्मों का वर्णन है, जिनके द्वारा उन्होंने अपने आपको बोधिवृक्ष के नीचे निर्वाणप्राप्ति के योग्य बनाया था।

———

१. मज्झिम—३, २०३
बुद्धघोष—अट्ठसालिनी—पृ० ८८
२. धम्मपद, जरावग्ग १५३, १५४

चतुर्थ अध्याय

संस्कृत-साहित्य में जातकमाला की पृष्ठभूमि

संस्कृत साहित्य में कठिन एवं गम्भीर विषयों का विवेचन तथा नीतिशास्त्र जैसे दुरूह शास्त्रों का उद्देश्य एवं साधारण कथाओं के व्याज से उपदेश की परम्परा सुदूर पूर्वकाल से पायी जाती है। पूर्व में सूत्रशैली का अवलम्बन कर समास में ही जीवन को उन्नत करने के लिए अपेक्षित उपदेशों का निदर्शन मिलता है। दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या कथोपकथन एवं सुन्दर हृदयग्राही कथाओं के उदाहरणों से उपनिवद्ध मिलती है। जैसे—छान्दोग्योपनिषद् में आत्मतत्त्व को समझाने के लिए इन्द्रविरोचन के प्रजापति के पास गमन के उपाख्यान को बहुत ही सुन्दर शब्दों में संगृहीत किया गया हैं। प्रजापति ने किसी समय कहा कि जो आत्मा पापशून्य, जरारहित, मृत्युहीन, विशोक, क्षुधारहित, पिपासारहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उसका अन्वेषण करना चाहिए। उस आत्मतत्त्व को विशेषरूप से जानने की इच्छा करनी चाहिए। शास्त्र और आचार्य के उपदेशों से उसका ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।[1] इस आत्मतत्त्व की उपलब्धि के लिए हृदय पुण्डरीक को स्थान कहा गया है, वहाँ पर अविद्या—मिथ्या से अपिहित सत्यकाम अवस्थित है। उस सत्यस्वरूप को आवृत कर अज्ञान अपनी विक्षेपशक्ति के द्वारा जगत्-प्रपञ्च को प्रदर्शित करती है। उस आत्मतत्त्व की प्राप्ति अर्थात् स्वसम्बन्ध-तत्त्व की प्राप्ति के द्वारा समस्त लोकों के भोगों एवं सर्वात्मरूप की प्राप्ति हो जाती है। उस व्यापक तत्त्व-आत्मा के सर्वात्मरूप की उपलब्धि के अनन्तर कोई भी वस्तु उससे अतिरिक्त शेष ही नहीं रह जाती है। अतः सकल कामनाओं की प्राप्ति का एकमात्र साधन आत्मतत्त्व ही है। यह बात कदाचित् सुर और असुर के मध्य में कही गयी थी।

यह बात स्वतः सिद्ध है कि कामना की प्राप्ति के लिए सतृष्ण व्यक्ति के सम्मुख सकल कामनाओं की पूर्त्ति का साधन हो, तो उसकी प्राप्ति से अपने को विमुख कौन कर सकता है? इस गहन आत्मतत्त्व विवेचन के लिए उपनिषद् में इन्द्रविरोचन को प्रजापति के समक्ष उपस्थित कर बहुत ही सरल उदाहरणों के द्वारा आत्मतत्त्व के क्रमिक उपदेश देने की चेष्टा की गई है। तदनन्तर भोग की प्राप्ति के लिए प्रतिरूप को विसर्जन करने वाले इन्द्र और विरोचन अपनी भोग सामग्रियों का परित्याग कर तथा हाथ में समिधाओं का आश्रयण कर उनके समक्ष उपस्थित

---

१. "य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्य स विजिज्ञासितव्यः स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्यस्तमात्मानमनुविद्य विजानातीति।"

—छान्दो० ८।७।१

हुए। इस गमन के प्रकार की सूचना से एक अमिट छाप हृदयपटल पर अंकित हो जाती है कि गुरु के समीप मनुष्य को किस रूप में जाना चाहिए एवं तृष्णा का अवसान इन्द्रत्व प्राप्ति के बाद भी सम्भव नहीं है। बत्तीस वर्षों तक ब्रह्मचर्य-धारण कराने के उपरान्त प्रजापति ने कहा—किस कामना की पूर्त्ति के लिए आपलोग यहाँ उपस्थित हुए हैं ? तब उन लोगों ने उस आत्मा के विषय में पूछा जिसकी प्राप्ति से समस्त लोक एवं समस्त कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। प्रजापति ने ब्रह्मचर्य के द्वारा एवं योग्य व्यक्ति समझ कर उन्हें आत्मा का उपदेश दिया कि पुरुष के नेत्रों में जो द्रष्टा पुरुष दिखाई देता है, वही पूर्वोक्त आत्मा है।[1] इसका ज्ञान होने पर सम्पूर्ण कामनाओं की प्राप्ति हो जाती है। उन लोगों ने छायापुरुष को ही आत्मा समझ कर जिज्ञासा की कि जल में, दर्पण में, तलवार आदि स्वच्छ पदार्थों में जो प्रतिबिम्ब दिखाई देता है, इनमें आत्मा कौन है।[2] इस जिज्ञासा के उत्तर में ब्रह्मा ने कहा—वह इन सबों क भीतर दिखाई देता है।[3] रहस्य यह है कि ब्रह्मा ने द्रष्टा को आत्मा बताया और इन लोगों ने दृश्य को आत्मा समझा। जलपूर्ण पात्र में उन लोगों ने देखा। तब प्रजापति ने जिज्ञासा की कि तुम क्या देखते हो। उनलोगों ने कहा—नख और लोमपर्यन्त को देखते हैं।[4] पुनः प्रजापति ने कहा—अलंकृत होकर सुन्दर वस्त्र पहन कर जल में देखो। उन लोगों ने वैसा ही किया। तब प्रजापति ने जिज्ञासा की कि अब क्या देखते हो ? उन्होंने कहा—जिस प्रकार से अलंकृत रूप में हम लोग हैं, उसी रूप में आत्मा को देखते हैं।[5] प्रजापति ने कहा—वही आत्मा है।[6] वे दोनों शान्तचित्त से चले गये। विरोचन असुरों के पास पहुँचा और देह ही आत्मा है, यही पूजनीय है, यही सेवनीय है, इसकी सूचना दे दी। यही कारण है कि आज भी शुभ कर्म न करने वाले, मात्र शरीर के भोगविलास में रत व्यक्ति को आसुरी भाव सम्पन्न कहा जाता है।[7] ऐसे व्यक्ति शव को अलंकृत करने के समान ही अपने को अलंकृत कर सन्तुष्ट होकर चले जाते हैं, किन्तु देवत्व के समीप नहीं पहुँच सकते हैं। इन्द्र आत्मचिन्तन करता हुआ इस निष्कर्ष पर पहुँचा कि यह आत्मा अलंकृत करने पर अलंकृत होता है, अन्धे होने पर अन्धा होता है और शरीर के नाश होने पर नष्ट हो जाता है। अतः पूर्वोक्त आत्मा तो नहीं हो सकता। अतएव

---

१. "य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मेति।"—छान्दो० ८।७।४

२. "योऽयं भगवोऽप्सु परिख्यायते यश्चायमादर्शे कतम एष इति।"—छान्दो० ८।७।४

३. "एष उ एवैषु सर्वेष्वन्तेषु परिख्यायत इति।" —छान्दो० ८।७।४

४. "सर्वमेवेदमावां भगव आत्मानं पश्याव आ लोमभ्य आ नखेभ्यः प्रतिरूपमिति।" —छान्दो० ८।८।१

५. "यथैवेदमावां भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृतौ स्व एवमेवेमौ भगवः साध्वलंकृतौ सुवसनौ परिष्कृताविति।" —छान्दो०—८।८।३

६. "एष आत्मेति······एतदमृतमभयमेतद्ब्रह्मेति।" —छान्दो० ८।८।३

७. "तस्मादप्यद्येहाददानमश्रद्दधानमयजमानमाहुरासुरो०।" —छान्दो० ८।८।५

छाया-दर्शन से असन्तुष्ट वह पुनः प्रजापति के समक्ष उपस्थित हुआ। प्रजापति ने पूछा – तुम तो विरोचन के साथ शान्तचित्त होकर गया था, फिर क्यों लौटा ? उसने शरीर को आत्मा मानने पर अपनी चिन्ता व्यक्त की[1] और पुनः इस अजर-अमर आत्मा के उपदेश के लिए आग्रह किया। ब्रह्मा ने पुनः बत्तीस वर्ष ब्रह्मचर्य धारण करने का निर्देश दिया।

ब्रह्मचर्य के बाद प्रजापति के सम्मुख उपस्थित होने पर प्रजापति ने "स्वप्न में जो अनेक प्रकार के भोगों का अनुभव करता है, वही आत्मा है।", यह निर्देश किया। यह सत्य है कि स्वप्न-शरीर इस शरीर के अन्धादि होने पर भी अन्धा नहीं होता है। इस देह के वध होने से उसका नाश नहीं होता है। फिर भी उसके उत्पीड़न, रुदन की अनुभूति आदि वह करता है। अतः इस आत्म-दर्शन से किसी फल की अनुभूति मैं नहीं देखता हूँ; यह सोचता हुआ इन्द्र पुनः प्रजापति के पास पहुँच कर पूर्वोक्त निवेदन किया। प्रजापति ने पुनः बत्तीस वर्षों के ब्रह्मचर्यव्रत का निर्देश किया। इस प्रकार क्रमिक सुप्तादिपुरुष में आत्मोपदेश कर अन्त में सत्यज्ञान का उपदेश दिया।

इसी तरह सहज बोधगम्य कथाओं के माध्यम से कठिन विषयों के उपदेश करने की परम्परा बृहदारण्यकोपनिषद् में यत्र-तत्र मिलती है। याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी-संवाद इसका सुन्दर उदाहरण है। एक समय याज्ञवल्क्य ने मैत्रेयी से कहा कि मैं दूसरे आश्रम में (गार्हस्थ्य से संन्यास में) जाना चाहता हूँ। अतः तुमको कात्यायनी से अलग कर देना चाहता हूँ। इसके उत्तर में मैत्रेयी ने कहा—कि भगवन् धन से पूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी यदि मुझे प्राप्त हो जाय तो क्या मुझे अमरत्व की प्राप्ति हो सकती है ?[2] याज्ञवल्क्य ने कहा नहीं। अनेक भोग सामग्रियों के रहने पर जैसा जीवन व्यतीत होता है, वैसा ही जीवन तुम्हारा भी व्यतीत होगा। अमरत्व की प्राप्ति धन के द्वारा नहीं हो सकती।[3] इस विषय में अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर आत्मज्ञान को समझाया गया। उपनिषदों में मकरी, वृषभ आदि की अनेक गाथायें कठिन विषयों की उपलब्धि के लिए कही गयी हैं।

कथाओं के माध्यम से उपदेश की परम्परा ब्राह्मण ग्रंथों में भी पायी जाती है। उदाहरण के लिए ऐतरेय ब्राह्मण के तैंतीसवें अध्याय में वर्णित हरिश्चन्द्रो-

---

१. "यथैव खल्वयं भगवोऽस्मिञ्छरीरे साध्वलंकृते साध्वलंकृतो भवति सुवसने सुवसनः परिष्कृते परिष्कृत एवमेवायमस्मिन्नन्धेऽन्धो भवति स्रामे स्रामः परिवृक्णे परिवृक्णो-ऽस्यैव शरीरस्य नाशमन्वेष नश्यति नाहमत्र भोग्यं पश्यामीति।"
—छान्दो० ८।९।२

२. 'यन्नु, म इयं भगोः सर्वा पृथिवी वित्तेन पूर्णा स्यात् कथं तेनामृता स्याम्।'
—बृहदा० २।४।२

३. "नेति···यथैवोपकरणवतां जीवितं तथैव ते जीवितं स्यादमृतत्वस्य तु नाऽशास्ति वित्तेनेति।"—बृहदा० २।४।२

पाख्यान को लिया जा सकता है। पुत्र एवं श्रमण के महत्त्व को प्रतिपादित करने में यह कहानी कही गयी है। इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हरिश्चन्द्र नामक एक राजर्षि थे। एक दिन पर्वत एवं नारद नामक दो महर्षि इनके यहाँ उपस्थित हुए। सन्तान सुख से वंचित राजा हरिश्चन्द्र ने नारद से पुत्र के महत्त्व के विषय में प्रश्न किया—"ज्ञानी और अज्ञानी सभी पुत्र की कामना करते हैं, आखिर इस पुत्र में क्या रखा है।"[१] इस पर नारद ने दश गाथाओं (श्लोकों) के द्वारा पुत्र के महत्त्व का वर्णन किया। पृथ्वी, अग्नि और जल से अधिक सुखद या उपकारी कोई भी क्या हो सकता है, किन्तु पुत्र का महत्त्व इनसे भी अधिक उन्होंने बताया—

"यावन्तः पृथिव्यां भोगा यावन्तो जातवेदसि।
यावन्तो अप्सु प्राणिनां भूयान्पुत्रे पितुस्ततः॥"[२]

अनन्तर राजा के जिज्ञासा करने पर उन्होंने पुत्रप्राप्ति के लिए बताया कि तुम वरुण की प्रार्थना करो कि मुझे पुत्र हो जाय तो मैं उससे आपका यज्ञ करूँ। राजा के वैसा ही करने पर वरुण ने प्रसन्न होकर कहा—तुम्हें पुत्र का मुख तो देखने को मिलेगा; किन्तु जन्म लेते ही उसे तुम्हें मुझे बलिरूप में दे देना होगा। राजा ने यह शर्त मान ली; क्योंकि "अपुत्रस्य गतिर्नास्ति" वाली बात थी। कुछ समय के उपरान्त उसे रोहित नामक पुत्र उत्पन्न हुआ। तब वरुण ने उपस्थित होकर कहा—"अब तुम्हें पुत्र उत्पन्न हो गया है, इससे मेरा यज्ञ करो।"[३] राजा ने कहा—जब पशु दश दिनों का हो जाता है, तभी वह यज्ञ के योग्य होता है; क्योंकि गर्भ के मल को दूर होने में इतने दिन लगते हैं। कहा भी गया है—

अजा गावो महिष्यश्च ब्राह्मणी च प्रसूतिका।
दशरात्रेण शुध्यन्ति ··· ··· ··॥

अतः उसे दश दिनों का होने दीजिये, तब उससे आपका यज्ञ करूँगा। ऐसा ही हो कह कर वरुणदेव उस समय तो चले गये। पर दश दिनों के बाद पुनः आ पहुँचे। तब राजा ने पशु के दाँत उगने का बहाना बनाया। अनन्तर वरुणदेव से राजा ने क्रमशः पशु के दाँत गिरने, उसके फिर उगने और क्षत्रिय के अपनी रक्षा के लिए योग्य होने का बहाना बनाया। तब वरुण-देव एक दिन अचानक आ गये। उस दिन राजा कोई बहाना नहीं बना सका। पुत्र को बुला कर उसने अपनी समस्या बतलाई। बलि दिये जाने की बात सुनते ही रोहित तुरत धनुष लेकर वहाँ से जंगल की ओर भाग गया। उसके भाग जाने पर हरिश्चन्द्र को ही वरुणदेव ने

---

१. "यं न्विमं पुत्रमिच्छन्ति ये विजानन्ति ये च न।
किं स्वित्पुत्रेण विन्दते तन्म आचक्ष्व नारद॥इति॥
—हरिश्चन्द्रो० अ० ३३।१

२. हरिश्चन्द्रो०—अ० ३३।१।३

३. "अजनि वै ते पुत्रो, यजस्व माऽनेनेति"—हरिश्चन्द्रो० ३३।१।

पकड़ा। उसे जलोदर[1] रोग हो गया। रोहित ने कुछ दिनों के बाद जब यह सुना तो घर लौट आने का विचार किया, किन्तु इन्द्र ने मनुष्य का रूप धारण कर उसे भ्रमण करने का ही उपदेश दिया। "चरेवेति" का अमूल्य उपदेश उसके हृदय में बैठ गया इसका प्रभाव वर्ष भर रहा। पुन: दूसरे, तीसरे, चौथे, पाँचवें एवं छठे वर्ष भी इन्द्र ने उसे भ्रमण का उपदेश दिया। इस प्रकार कुल ६ वर्षों तक वह वन में भ्रमण करता रहा। भ्रमणशील व्यक्ति का भाग्य भी भ्रमण करता रहता है।[2] रोहित के भाग्य में भी इस भ्रमण से परिवर्तन आया। भ्रमण क्रम में वन में उसने सौयवसि अजीगर्त्त नामक एक भूखे ब्राह्मण परिवार को पाया जिसके तीन पुत्र थे – शुन:पुच्छ, शुन:शेप और शुनो लांगूल। उनमें से शुन:शेप को रोहित ने वलि देने के लिए दम्पति को एक सौ गायें देकर खरीद लिया और घर लौटा। छः वर्षों से जलोदर रोग से पीड़ित पिता समाचार जान कर परम प्रसन्न हुए एवं तुरत वरुणदेव से वलि लेने के लिए उसने निवेदन किया। वरुण ने राजसूय यज्ञ करने तथा उसमें अभिषेक के दिन पुरुष-पशु को वलिदान करने का आदेश दिया। उनके आदेशानुसार यथासमय राजसूय यज्ञ की तैयारी हुई। अभिषेक के दिन वलि-पशु को स्वीकार करने के बाद खूँटे में बाँधने के लिए कोई तैयार नहीं हुआ। तब लोभासक्त अजीगर्त ही पुन: सौ गायों के दिये जाने पर उस निन्दनीय कर्म के लिए तैयार हुआ। बाँधने के बाद मारने के लिए भी कोई तैयार नहीं हुआ। पुन: एक सौ गायों के लोभ पर अजीगर्त अपने-पुत्र को अपने ही हाथों से बध करने के लिए भी तैयार हो गया। सच है--"लोभः पापस्य कारणम्।" तलवार की धार तेज करते हुए निकट आते अपने पिता को देख कर शुन:शेप से रहा न गया और अधीर होकर वह देवताओं की शरण में गया। क्रमश: प्रजापति, अग्नि, सविता, वरुण पुन: अग्नि, विश्वेदेव, इन्द्र, अश्विनों आदि की प्रार्थना करने के उपरान्त उसने तीन ऋचाओं से उषा की स्तुति की और अन्तिम ऋचा के उच्चारण होते ही एक ओर शुन:शेप मुक्त हो गया तथा दूसरी ओर हरिश्चन्द्र नीरोग हो गया। शुन:शेप के इस प्रभाव को देख पुरोहितों ने उसे ही उस यज्ञ का अध्यक्ष बना यज्ञ सम्पन्न कराया तथा यज्ञ-समाप्ति के बाद विश्वामित्र ने उसे अपना पुत्र वनाया।

---

१. जलोदर रोग का लक्षण आयुर्वेद में इस प्रकार है—

"य: स्नेहपीतोऽप्यनुवासितोऽपि वान्तो निरक्तोऽप्यथवा निरूढः।
पिबेज्जलं शीतलमाशु तस्य स्रोतांसि दुष्यन्ति हि तद्वहानि॥
स्नेहोपलिप्तेष्वथवापि तेषूदकोदरं पूर्ववदभ्युपैति।
स्निग्धं महत्तत्परिवृत्तनाभि समानतं पूर्णमिवाम्बुना च॥
यथा दृतिः क्षुभ्यति कम्पते च शब्दायते चाप्युदकोदरं तत्।"

—शब्दकल्पद्रुमः, पृ० २६२

२. "आस्ते भग आसीनस्योर्ध्वस्तिष्ठति तिष्ठतः।
शेते निपद्यमानस्य चराति चरतो भगः॥

—ऐतरेयब्राह्मण ३३।१।३

इस तरह के अनेकानेक उपाख्यानों के द्वारा ब्राह्मणग्रंथों में उपदेशपूर्ण एवं दार्शनिक तत्त्वों की व्याख्या हुई है।

भारतीय साहित्यिक धारा में सुदूर पूर्वकाल से ही कठिन विषयों की अवगति के लिए कथाओं एवं उदाहरणों का आश्रयण होता आ रहा है, यह पूर्व पृष्ठों से स्पष्ट होता है। महाभारत एवं रामायण में आध्यात्मिक तथा राजनैतिक तत्वों को सहज सुबोध रीति से बुद्धिगम्य करने के लिए अनेक पशु-पक्षियों की कथाओं का आश्रयण किया गया है। उदाहरणार्थ महाभारत शान्तिपर्व के एक सौ तिरपनवें अध्याय की एक कथा यहाँ उद्धृत की जाती है।

किसी ब्राह्मण का शिशु अकाल कालकवलित हो गया था। उस शिशु को लेकर उसके बन्धुवर्ग श्मशानघाट पर उपस्थित होते हैं। बालक के पूर्व-भाषणों का स्मरण कर वे लोग अत्यधिक व्यथित हो जाते हैं और पृथ्वी पर उस बालक को निक्षिप्त कर लौट जाने में समर्थ नहीं होते हैं। उन लोगों के करुण-क्रन्दन को सुन गृध्र उपस्थित होता है और उस बालक को छोड़ कर जाने के प्रसंग में अनेक प्रकार से उपदेश देता है। वह कहता है—हजारों पुरुष, हजारों स्त्रियाँ काल द्वारा ग्रसित होकर यहाँ आयीं और बन्धुवर्ग उनको छोड़ कर चले गये। यह संसार सुख दुःख से परिपूर्ण है। संयोग और वियोग यहाँ आता ही रहता है। अतः इस भयंकर, कंकालपूर्ण गृध्र और गोमायु से युक्त श्मसान में रहने की आवश्यकता नहीं है। प्रिय हो या अप्रिय कोई भी काल के आ जाने पर जीवित नहीं रह सकता है। यह मर्त्यलोक है। अतः सबों को एक दिन जाना है। यमराज के द्वारा निहत व्यक्ति को कौन जिला सकता है?[1] अनन्तर गोमायु अनेक प्रकार के मृदु भाषणों से उन लोगों को भास्कर के स्थितिकाल तक रुकने के लिए कहता है। इस संसार में किस मुहूर्त में क्या होगा, यह कौन जानता है। संभव है कोई ऐसा भी मुहूर्त आ जाय

---

१. "अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहुले रौद्रे सर्वप्राणिभयंकरे॥
न पुनर्जीवितः कश्चित् कालधममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी॥
सर्वेण खलु मर्त्तव्यं मर्त्यलोके प्रसूयता।
कृतान्तविहिते मार्गे मृतं को जीवयिष्यति॥
कर्मान्तविरते लोके अस्तं गच्छति भास्करे।
गम्यतां स्वमधिष्ठानं सुतस्नेहं विसृज्य वै॥"

—म० भा० शा० प० १५३।११-१४

जिसमें यह बालक जीवित हो जाय।[1] तत्पश्चात् गृध्र बहुत सुन्दर उपदेश देकर शीघ्र ही लौट जाने के लिए बाध्य करता है। इन लोगों के परस्पर कथनों से अनेक प्रकार की शिक्षाओं की प्राप्ति होती है।

पञ्चतंत्र जीवजन्तुओं की कथाओं का एक अभूतपूर्व संग्रह है। भारतीय संस्कृति के अनुसार जीवन को उदात्त और उन्नत बनाने के लिए अपेक्षित सभी सामग्रियाँ इसमें उपलब्ध होती हैं। इस ग्रंथ में राजनीति के प्राथमिक ज्ञान के लिए अनेक कठिन शास्त्रों से विषयों का संग्रह कर उन सामग्रियों को सन्निहित किया गया है, जिनके आधार पर मानव चरित्र उन्नत हो सकता है। मनुष्य सदाचार से परिपूत जीवन बिता सकता है तथा जीवन के चरम प्रयोजन की उपलब्धि कर सकता है। इसके अनुरूप आचरण करने से मानवता का पूर्ण विकास संभव है। साथ ही मर्यादित जीवन व्यतीत करने के लिए अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं आन्विक्षिकी आदि विद्याओं के सभी गुणों का निर्देश इसमें किया गया है। संसार में सहजीवन व्यतीत करने अर्थात् जीवलोक में सामाजिक तथा लोकतांत्रिक जीवन व्यतीत करने के लिए किस नीति का अवलम्बन और कैसा आचार अपेक्षित है, इसकी सहज सुबोध शिक्षा यदि कहीं उपलब्ध होती है तो पंचतंत्र में ही होती है। अनेक पशुओं के उपाख्यानों का अवलम्बन कर विरुद्ध दिशाओं की ओर चलने वाले पशुओं का सहवास, यहाँ तक कि भक्ष्य और भक्षक की सहस्थिति का भी सुन्दर और सजीव चित्र इन शब्दराशियों में अंकित हुआ है। इसका साक्षी विश्व-साहित्य में अनेकानेक भाषाओं में अनूदित यह ग्रंथ ही वर्तमान है। इसकी आचार-शिक्षा एवं सहज सुबोध शैली से आकृष्ट होकर ही संसार के मनीषियों ने इसे अपना बनाने का प्रयास किया और लोगों को सहजनीति का उपदेश देकर कैसे विरुद्ध प्राणियों की सह-स्थिति संभव होती है, इस उदाहरण से सामाजिक जीवन व्यतीत करने के लिए प्रेरणा प्रदान की। इसे किसी भी रूप में अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सांसारिक जीव एक दूसरे का भक्ष्य है। सृष्टि का कण-कण सृजन के साथ ही किसी की भक्ष्य-सामग्री बन जाती है; किन्तु सृष्टि का कभी भी विलोप तो नहीं होता है। पंचतंत्रकार ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि विज्ञान-कोष से

---

१. "आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेह कुरुत मा भयम्।
बहुरूपो मुहूर्त्तश्च जीवेदपि कदाचन॥
भूयो भूमौ विनिक्षिप्य पुत्रस्नेहविनाकृताः।
श्मशाने सुतमुत्सृज्य कस्माद् गच्छत निर्घृणाः॥
न वोऽस्त्यस्मिन् सुते स्नेहो बाले मधुरभाषिणि।
यस्य भाषितमात्रेण प्रसादमधिगच्छत॥
ते पश्यत सुतस्नेहो यादृशः पशुपक्षिणाम्।
न तेषां धारयित्वा तान् कश्चिदस्ति फलागमः॥"

—म० भा० शा० प० १५३।१६-२२

पूर्ण प्राणी की तो बात ही क्या, जिनमें विज्ञान का पूर्ण विकास नहीं हुआ है, वह भी कतिपय नीतियों के आधार पर एकत्र रखे जा सकते हैं। सामाजिक एवं राजनैतिक व्यवस्थित जीवन व्यतीत करने के लिए पंचतंत्र की कथायें चिरकाल तक सक्षम बनी रहेगी।

बौद्धदर्शन में अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को सामान्यजनों तक पहुँचाने के लिए अनेक मार्गों का अवलम्बन किया गया है। उन लोगों ने उसी भाषा को उपदेश का माध्यम बनाया, जिसके द्वारा उनके सिद्धान्त जन-मानस का विषय बन सके। यही कारण था कि उनके सिद्धान्त बहुधा पालि भाषा में ही उपनिबद्ध हुए। शैली की दृष्टि से उन लोगों ने शास्त्रीय शैली को अपने सिद्धान्त विश्लेषण का माध्यम नहीं बनाया, वरन् उस काव्य शैली को अपनाया जिसमें सरल ढंग से विषयों की अवगति हो सके। भाषा की सरलता, छन्दों की हृदयग्राहकता तथा सामान्य पशु और प्रसिद्ध पौराणिक व्यक्तियों का कथानक के रूप में अवलम्बन यहाँ मिलता है। सामान्यतया ये सभी वैशिष्ट्य राजनीति और सदाचार के उन्नायक पंचतंत्र में उपलब्ध होते हैं। यहाँ कवि ने न तो कादम्बरी के सघन अलङ्कारों से बोझिल तथा कठिन पदावलियों एवं निरन्तर श्लेषों से युक्त गद्यों को अपनी भावाभिव्यक्ति का माध्यम बनाया है और न भारवि एवं भवभूति की तरह कठिन पद्यों को ही अपनी विषयाभिव्यक्ति के लिए अवलम्बन किया है। यही कारण है कि अनेक भाषाओं में अनुवादों की उपलब्धि होने पर भी इस सरल सुबोध ग्रंथ की अर्थावगति के लिए किसी टीका की आवश्यकता आज तक किसी ने नहीं समझी। कवि ने अपनी विषयाभिव्यक्ति के लिए प्रसादगुणगुम्फित छोटे-छोटे गद्यों को ही अपने काव्य में उपनिबद्ध किया है। परिणामतः भाषा एवं शब्द की ओर दृष्टि निक्षिप्त करने की अपेक्षा अर्थ की ओर ही पाठकों की दृष्टि केन्द्रित हुई और पंचतंत्र के रचयिता में उत्थित भावों का अवलम्बन करने वाले कोमलकान्त पदावलियों के द्वारा पाठक के मनोमुकुर में वे भाव सदा के लिए एक अमिट छाप देकर स्थिर हो गये। साथ ही कवि ने उन विषयों की सुदृढ़ता के लिए ऐसे उदाहरणों को अपनाया जिनकी फलश्रुति सदाचार के आचरण की ओर दृढ़प्रतिज्ञ होने के लिए वाध्य किया।

पंचतंत्र एक ऐसा काव्य है जिसकी मधुर छाया में कुछ क्षणों तक अवस्थित होने से मनुष्य सभी अनुचित आचरण-जन्यश्रम से शून्य हो एक नवीन चेतना, नवीन दृष्टि से प्रभावित हो ऐसे कर्तव्य-पथ का पथिक हो जाता है जिस पथ पर पग-पग पर विकसित पुष्पों की मन्द-गन्ध से सरस तथा मन्द-मलयानिल से आन्दोलित होता हुआ स्निग्ध आर्य जनोचित कर्तव्य-कल्पतरु की छाया में बढ़ता हुआ वह एक दिन उस शान्ति की प्राप्ति कर लेता है जिसके लिए देव-दानव सभी लालायित रहते हैं और अपने मर्त्यलोक के आगमन को भी सर्वथा सार्थक कर लेता है। इसमें कवि कर्तव्य-पथ पर आरूढ़ होने के लिए अनेक मनीषियों द्वारा रचित नीतिशास्त्र के सारों को संगृहीत कर तथा हृदयावर्जक पशु-पक्षी की कथाओं द्वारा उन्हें संयोजित

कर एक सुन्दर मार्ग पर चलने का निर्देश प्रदान करता है। उस मार्ग पर चलने से मनुष्य लौकिक एवं पारलौकिक दोनों सफलताओं को प्राप्त करता हुआ जीवन सार्थक कर लेता है। न उसे वेदान्त की कठोर चपेटिका को वहन करना पड़ता है और न उसके कठोर सिद्धान्तों के पालन के लिए अनेक कठिन ग्रंथों के अध्ययन की ओर प्रवृत्त ही होना पड़ता है। वह कर्तव्य-सिद्धान्तों को वेद, धर्मशास्त्र, पुराणादि के अध्ययन के बिना ही समझ लेता है। आचार्यों ने जो काव्य के फलों के निर्देश क्रम में—''यशसे अर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये''[1] एवं धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष में विचक्षणता[2] आदि जिन फलों का वर्णन किया है, वस्तुतः उन फलों की ओर अभिनिवेश इन काव्यों के अध्ययन से सहसा ही हो जाता है।'' रामादिवत् प्रवर्तव्यं न रावणादिवत्'' यह जो काव्य के फल की श्रुति आलङ्कारिकों ने दी है, वह एकान्ततः इसी ग्रंथ के अध्ययन से सार्थक होती है। बौद्धकवियों ने भी जातकादि-ग्रंथों में इसी शैली को अपनाया है। जातकमाला तो इसका एक ज्वलन्त उदाहरण है।

जातकमाला बुद्ध की कीर्त्ति-गाथाओं एवं अनवद्य चरित्रों का एक मनोहर संकलन है। आर्यशूर ने कोमलकान्त पदावलियों में गाथाओं की कुसुमांजलि विश्व के समक्ष उपस्थित करने का एक सफल प्रयास किया है। सुबन्धु और वाणभट्ट की कठोर एवं समस्त पदावलियाँ यहाँ नहीं मिलती हैं। यह एक सरल संस्कृतनिष्ठ प्रसादगुणगुम्फित मनोहर काव्य है। कान्तासम्मित उपदेश के रूप में हृदय को आह्लादित करती हुई, सुन्दर मार्ग पर चलने की शिक्षा देना इसका प्रधान उद्देश्य है। सुन्दर अभिधा वृत्ति के द्वारा अर्थ को प्रतिपादित करनेवाले शब्दों की योजना इसमे सुन्दर ढंग से हुई है। कवि ने वैदर्भी रीति का अधिक आश्रयण तथा प्रसाद गुण का सर्वाधिक ग्रहण इसमें किया है। कवि ने ग्रंथ के उपक्रम में ही अपने काव्य के प्रतिपाद्य विषय के सम्बन्ध में कहा है कि स्तुत्य मार्ग के चिह्न स्वरूप कर्मों से बोधिमार्ग का उपदेश एवं सभी व्यक्तियों को प्रसन्नतापूर्वक धर्मकथाओं की अवगति इसका उद्देश्य है।[3] आगे उन्होंने कहा है कि मैं लोक-कल्याण के उद्देश्य से परम्परा

---

१. ''काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृत्तये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे॥''
—का० प्र० १।२

२. ''धर्मार्थकाममोक्षेपु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिञ्च साधुकाव्यनिषेवणम्॥''
—भामह० १।२

३. ''श्लाघ्यैरमीभिरभिलक्षितचिह्नभूतै-
रादेशितो भवति यत्सुगतत्वमार्गः।
स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः॥
—जातक०—२॥

और शस्त्रसम्मत पद्धति के अनुसार लोकोत्तम बुद्ध के उत्तम चरित्रों का वर्णन करने का प्रयत्न कर रहा हूँ और इस कार्य के द्वारा अपनी काव्य-प्रतिभा को श्रुतिप्रिय बनाने का यत्न करूँगा।[1] बुद्ध के चरित्र की महत्ता इस काव्य के लेखन से अणुमात्र भी वृद्धि नहीं प्राप्त करेगी; किन्तु इतना सत्य है कि सदाचरण के अनुकरण की ओर प्रवृत्त कराने में यह ग्रंथ अवश्य सहायक होगा। कवि ने छोटे-छोटे गद्यों एवं सरल श्लोकों के द्वारा सच्चरित्र की गाथाओं की माला समुपस्थित करने का प्रयास किया है। आरम्भ से ही सहज क्रियाओं का प्रयोग एवं छोटे-छोटे वाक्य बरबस अर्थों की परिचिति के लिए अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं। इनकेग्रंथ को देख कर जयदेव की वे पंक्तियाँ बरबस स्मृति-पथ पर आ जाती हैं :—

"यदि हरिस्मरणे सरसं मनो
यदि विलासकलासु कुतूहलम्।
मधुरकोमलकान्तपदावलिं
शृणु तदा जयदेवसरस्वतीम्॥"[2]

जातकमाला में भी वही स्थिति है। इन्होंने बुद्ध के संस्मरणों को सरस कोमलकान्त पदों में हम लोगों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयास किया है। इसमें उन्हें पूरी सफलता भी मिली है। इतनी सरस, एवं सरल शैली अन्यत्र सुदुर्लभ है। अश्वघोष एवं कालिदास की प्रतिभा से ही ऐसे सरस एवं कोमल पद्य निःसृत हुए हैं। शूर के वे पद्य यहाँ द्रष्टव्य हैं जो उन्होंने उन सन्तानों के मुख से कहलाये हैं, जिनके पिता ने असाधारण उदारतावश उन्हें दान कर दिया है तथा निर्दयतापूर्वक ब्राह्मण उन्हें खींच कर ले जा रहा है। पुत्री कृष्णाजिना कहती है :—

"अयं मां ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दयः।
न चायं ब्राह्मणो व्यक्तं धार्मिका ब्राह्मणाः किल॥
यक्षोऽयं ब्राह्मणच्छद्मा नूनं हरति खादितुम्।
नीयमानौ पिशाचेन तात किं नावुपेक्षसे॥"[3]

अनन्तर पुत्र जाली सरल किन्तु करुण शब्दों में जो कहता है वह है :—

"नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः।
नापश्यमम्बां यत्वद्य तद्विदारयतीव माम्॥

---

१. "लोकार्थमित्यभिसमीक्ष्य करिष्यतेऽयं
श्रुत्यार्षयुक्त्यविगुणेन पथा प्रयत्नः।
लोकोत्तमस्य चरितातिशयप्रदेशैः
स्वं प्रातिभं गमयितुं श्रुतिवल्लभत्वम्॥"
—जातकमाला मं० ३

२. गीतगोविन्द—३

३. जातक०—९।६५-६६

रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी॥
अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम्॥
इव नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये।
अतोऽर्द्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति॥
वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा।
दुर्लभं हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम्॥
एहि कृष्णे मरिष्यावः को न्वर्थो जीवितेन नौ।
दत्तावावां नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे॥"[1]

अधिक प्रयाससापेक्ष विषयों में भी आर्यशूर इसी प्रकार प्रसादयुक्त हैं जैसे न्यायप्रिय राजा के शासन के वर्णन में—

"समप्रभावा स्वजने जने च
धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीतिः।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं
सोपानमालेव दिवो बभूव॥"[2]

जातकमाला पर प्रभाव डालनेवाली शैलियों में शिलालेख साहित्य का उल्लेख न करना असंगत है। यद्यपि संस्कृत का प्रथम शिलालेख ७८ ई० में उत्कीर्ण मथुरा का लेख है किन्तु उसका शैलीगत महत्त्व नहीं है। इसके अनन्तर गिरिनगर के शकवंशीय क्षत्रप रुद्रदामन् (१५० ई०) का शिलालेख आता है, जिसका संस्कृत साहित्य में पर्याप्त महत्त्व अंकित किया गया है। सम्पूर्ण लेख गद्य में होने के कारण तात्कालिक गद्य शैली के विकास का अध्ययन करने के लिए इसका महत्त्व बहुत अधिक है। शब्दयोजना, वाक्य-विन्यास, समासप्रयोग, अलङ्कारप्रयोग इत्यादि की दृष्टि से रुद्रदामन् का यह शिलालख आर्यशूर की शैली का मानो अग्रदूत है। इनके निम्नलिखित कतिपय वाक्यखंडों का उदाहरण अनपेक्षित न होगा—

(१) "सर्वक्षत्राविस्कृतवीरशब्दजातोत्सेकाविधेयानां यौधेयानाम्".........

(२) "कनकरजतवज्रवैडूर्यरत्नोपचयविष्यन्दमानकोशेन............"

(३) "शब्दार्थगान्धर्वन्यायाद्यानां विद्यानां महतीनां पारणधारणविज्ञानप्रयोगावाप्त विपुलकीर्त्तिना···(रुद्रदाम्ना)"[3]

---

१. जातक ९।६७-७२

२. जातक० १३।२

३. उत्कीर्णलेखाञ्जलिः पृ० ९-११

इन पंक्तियों की छाप हम जातकमाला में स्पष्ट देख सकते हैं, जहाँ बोधिसत्त्व के आरम्भिक वर्णनों में ऐसी ही शैली एवं भावों का भी प्रयोग हुआ है।[1] इससे अनुमान होता है कि १०० ई० के निकट संस्कृत भाषा में अलंकृत गद्यलेखन की प्रणाली आ गयी थी, यद्यपि अभी कोमल कान्तपदावली तथा अलंकारों का मसृण-विन्यास आने में शताब्दियों की देर थी। तात्पर्य यह कि गद्य की रुक्षता अभी भी यथापूर्व विद्यमान थी।

शिलालेख का दूसरा उदाहरण हमें समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भलेख के रूप में मिलता है, जो जातकमाला की गद्यपद्यात्मक शैली का समुचित अग्रदूत माना जा सकता है। समुद्रगुप्त के जीवनवृत्त सम्बन्धी तथ्यों के आधार पर कुल ८+२ श्लोकों तथा यथेष्ट गद्य से युक्त यह शिलालेख अलङ्करण का आदर्श है। इसके श्लोकों की प्रसादपूर्ण शैली जातकमाला के श्लोकों की शैली से बहुत कुछ मिलती है। समुद्रगुप्त के युवराजपद पाने का इतिवृत्त विशुद्ध गद्यात्मक रूप में श्लोकबद्ध किया गया है—

आर्यो हीत्युपगुह्य भावपिशुनैरुत्कर्णितै रोमभिः
सभ्येषूच्छ्वसितेषु तुल्यकुलजम्लानाननोद्वीक्षितः।
स्नेहव्याकुलितेन बाष्पगुरुणा तत्त्वेक्षिणा चक्षुषा
यः पित्राभिहितो निरीक्ष्य निखिलां पाह्येवमुर्वीमिति॥[2]

प्रस्तुत श्लोक में अनेक तथ्यों से परिपूर्ण एक संसृष्ट वाक्य की रचना की गई है, जो लेखक हरिषेण की प्रतिभा का परिचायक है। आर्यशूर में ऐसे श्लोक प्रचुर संख्या में मिलते हैं, किन्तु वाक्य की संसृष्टता उतनी अधिक नहीं। उदाहरण के लिए—

दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम्॥[3]

वाक्यों की सरलता की पृष्ठभूमि में व्यक्ति और विषय की सरलता काम करती है। इसलिए आर्यशूर पर अक्षमता का दोष नहीं लगाया जा सकता। अन्यथा गद्य के

---

१. (क) "चाधिगतविपुलधनसमृद्धिरविषमव्यवहारशीलत्वाल्लोके बहुमाननिकेतनभूत उदाराभिजनवाननेकविद्याकलाविकल्पाधिगमविमलतरमतिर्गुणमाहात्म्यात्…………
—जातक० ४।१ के पहले का गद्य

(ख) अथ बोधिसत्त्वो नैकशतसहस्रसंख्यं मणिकनकरजतपरिपूर्णकोशं विविधधन-धान्यनिचयवन्ति कोशकोष्ठागाराणि दासीदासयानवाहनवसनपरिच्छदादि च सर्वमर्थिभ्यो यथार्हमतिसृज्य…………"—जातक ६।४३ के बाद का गद्य

२. समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भलेख श्लोकसंख्या ४

३. जातक० ३।२१

उदाहरणों में जब हम आर्यशूर की असाधारण वाक्यविन्यास शक्ति देखते हैं; तो हरिषेण का गद्य महत्त्वपूर्ण नहीं लगता। यह दूसरी बात है कि हरिषेण ने अपने शिलालेख में समुद्रगुप्त द्वारा पराजित राजाओं की सूची देने में बहुत लम्बे समस्तपद का प्रयोग किया है।[1]

दशपुर शिलालेख के पद्यों का स्पष्ट प्रभाव जातकमाला के पद्यों में परिलक्षित होता है।

> च-त्पताकान्यबलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि ।
> तडिल्लताचित्रसिताभ्रकूटतुल्योपमानानि गृहाणि यत्र ॥[2]

जातकमाला के अधोलिखित श्लोक पर इसका प्रभाव है—

> निर्जनान्यनुपमुक्तसरित्तृणि नानाविहङ्गविरुतानि मृगाकुलानि ।
> वैडूर्यकुट्टिमनोहरशाद्वलानि क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि ॥[3]

जातकमाला की शैली बौद्धेतर साहित्य से तो प्रभावित है ही, यदि हम ध्यान से देखें तो बौद्ध संस्कृत साहित्य का प्रभाव भी इस पर कम नहीं है। महायान बौद्धधर्म के नौ धर्मों[4] में जो अष्टसाहसिकाप्रजापारमिता, गण्डव्यूहसूत्र इत्यादि

---

१. P E. A–P. 28
कौसलकमहेन्द्रमाहाकान्तारकव्याघ्रराजकैरलकमण्डराजपैष्टपुरकमहेन्द्रगिरिकौट्टूरकस्वामिदत्तैरगण्डपल्लकदमनकाञ्चेयकविष्णुगोपावमुक्तकनीलराजवैंगेयकहस्तिवर्मपालक्क-कोग्रसेनदेवराष्टककुवेरकौस्यलपुरकधनञ्जयप्रभृतिसर्वदक्षिणापथराजग्रहणमोक्षानुग्रहजनितप्रतापोन्मिश्रमहाभाग्यस्य, रुद्रदेवमतिलनागदत्तचन्द्रवर्मगजपतिनागनागसेनाच्युतनन्दिबलवमद्यिनेकार्यावर्तराजप्रसभोद्धरणोद्वृत्तप्रभावमहतः ।

२. दशपुर शिलालेख सं० ५२९ श्लो० १०

३ जातक० ६।३३

४. नवधर्मा :—

१. ललितविस्तर:
२. समाधिराजसूत्रम्
३. लंकावतारसूत्रम्
४. अष्टसाहस्रिका (प्रज्ञापारमिता)
५. गणडव्यूहसूत्रम्
६. सद्धर्मपुण्डरीकसूत्रम्
७. दशभूमिकसूत्रम्
८. सुवर्णप्रभाससूत्रम्
९. तथागतगुह्यकम्

—पृ० ३४५ ललित

आते हैं, इनका प्रभाव जातकमाला की शैली पर बहुत अधिक है, इनमें ललितविस्तर की गद्यपद्यमयीशैली की तुलना जातकमाला के कई अंशों से की जा सकती है। यह ध्यातव्य है कि ललितविस्तर में भी यद्यपि बुद्ध का जीवनचरित धर्मचक्रप्रवर्तनपर्यन्त चम्पूशैली में निबद्ध है किन्तु प्रथम पांच परिवर्त्तों में उनके जन्म के पूर्व की कथा भी वर्णित है। बोधिसत्त्व की कल्पना से प्रत्येक परिवर्त्त ग्रन्थित है। ललितविस्तर के सभी परिवर्त्त भिक्षुओं को सम्बोधित है तथा बुद्ध को भी बोधिसत्त्व के रूप में स्थापित करके परिवर्त्तों का आरम्भ किया गया है। हमें स्थान-स्थान पर "इतिभिक्षवः बोधिसत्वेन" इत्यादि शब्द मिलते हैं। इस प्रसंग में वह भी ज्ञातव्य है कि ललितविस्तर की भाषा विशुद्ध संस्कृत नहीं है। न तो इसमें अश्वघोष के काव्यग्रन्थों के समान पाणिनीय व्याकरण का अनुमरण दिखलाई पड़ता है और न जातकमाला के समान ही परम्परित बौद्धेतर संस्कृत रचनाशैली के दर्शन होते हैं। इसकी भाषा संकरसंस्कृत (Hybrid Sanskrit) कहलाती है, तथा ऐसे बहुत कम स्थल हैं जहाँ पालि भाषा के प्रभाव से संस्कृत के विकृतरूप दृष्टिगोचर होते हैं।

ललितविस्तर भी गद्यपद्यात्मक चम्पूशैली में निबद्ध संस्कृतग्रन्थ है और जातकमाला की भी यही स्थिति है। ललितविस्तर में जहाँ प्रदर्शन की भावना बहुत अधिक है, जातकमाला इससे सर्वथा शून्य है। यदि हम ललितविस्तर के द्वितीय समुत्साह परिवर्त्त के आरम्भ में स्थित प्रायः दो पृष्ठों के लम्बे वाक्य[1] का अवलोकन करें, तो ज्ञात होगा कि बाणभट्ट की कादम्बरी की शैली की पूर्वकल्पना बहुत पहले ही हो चुकी थी, यद्यपि इस शैली में बाण के विपरीत इतिवृत्तात्मक रूप मात्र रख कर शब्दों का केवल संग्रह किया गया था। कोई काव्यचमत्कृति इसमें नहीं मिलती, फिर भी कुछ शब्दों का चयन बहुत अलङ्करण प्रधान है, जैसे—

"गम्भीरवीर्यसलिलाभिषिक्तस्य उपायकौशलकर्णिकस्य बोध्यङ्गध्यानकेशरस्य समाधिकिञ्जल्कस्य गुणगणविमलसरसिसुजातस्य विगतमदमानपरिवाहशशिविमलविस्तीर्णपत्रस्य (बोधिसत्त्वस्य)"[2]

दूसरी ओर ललितविस्तर में पालिवाङ्मय में बहुधा प्राप्त "परियायों" का निवेश करने में भी संकोच नहीं किया गया है। उदाहरण के लिए कुलपरिशुद्धि-परिवर्त्त नामक तीसरे परिवर्त्त में एक लम्बा उद्धरण देखा जा सकता है[3] जिसमें प्रत्येक का अन्त "तत्कुलम् भवति" से होता है। इस सन्दर्भ में चौंसठ आकारों या रूपों से किसी के कुल की सम्पन्नता बतलायी गयी है, जिसमें चरमभविक (अंतिम-जन्य) बोधिसत्त्व का जन्म हो सकता है। इस तरह के उदाहरण ललितविस्तर में

---

१. द्रष्टव्य ललित० पृ० ७-८

२. ललित० पृ० ७

३. ललित, पृ० १६-१९।

कई स्थानों पर मिलते हैं। उक्त परिवर्त में ही जो ललित गद्य में शुद्धोदन की पत्नी माया देवी का वर्णन किया गया है, वह शीलसौन्दर्य से परिपूर्ण है—

"नवतरुणी रूपयौवनसम्पन्ना अप्रसूता अपगतपुत्रदुहितृका........दर्शनीया देवकन्येव सर्वालङ्कारभूषिता अपगतमातृग्रामदोषा सत्यवादिनी.........कोकिलस्वरा..........समसंहतशिरःकर्णनासा भ्रमरवरसदृशकेशी....... स्मितमुखी......... श्लक्ष्णमधुरवचना ....मृदुतरुणहस्तपादा.................चारुदशना.................गजभुजसमसमाहितसदृशोरु ऐणेयमृगसदृशजङ्घा ."[१]

गद्य और पद्य में शैली का पार्थक्य स्पष्ट है। ललितविस्तर के पद्य गद्य की अपेक्षा अधिक अपाणिनीय हैं। गद्य की अपेक्षा पद्य प्राचीन हैं, यह कुछ लोगों का कहना है।[२] विशेष रूप से इसकी शैली और पाणिनीय व्याकरण के प्रति उनके दृष्टिकोण के आधार पर ऐसा कहा जा सकता है। ललितविस्तर का समय प्रायः दूसरी शताब्दी ई० है।[३] इससे जातकमाला पर इसका स्पष्ट प्रभाव पड़ना सम्भव है। यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि आर्यशूर ने ललितविस्तर के गद्य का तो अधिकाधिक अनुकरण किया है, किन्तु इसके पद्यों में जो पालि वाङ्मय की छाप है, तथा संस्कृत के अशुद्ध प्रयोग हैं, उनकी प्रतिक्रिया में आर्यशूर ने जातकमाला में अपने मौलिक श्लोक लिख कर यह दिखलाया है कि पालि की गाथाओं को किस प्रकार सफलतापूर्वक संस्कृत में उतारा जा सकता है।

जातकमाला के लेखक ने ललितविस्तर का अनुकरण करते हुए भी अपनी गद्यशैली को कहीं भी प्रदर्शन का विषय नहीं बनाया है। सर्वत्र एक समान अल्पसमासयुक्त गद्य की धारा बहती रही है। ललितविस्तर में जहाँ बाण के समान शब्दचित्र खींचने का प्रयास हुआ है,[४] जातकमाला में ऐसे स्थल नहीं हैं। गद्य केवल कथा का विस्तार करता है। शब्दों का संग्रह करने की प्रवृत्ति जो ललितविस्तर के गद्य में दिखलाई पड़ती है, उसकी अनुकृति जातकमाला की इन पंक्तियों में स्पष्ट देखी जा सकती है—

"बोधिसत्त्वः किल सालबकुलपियालहिन्तालतमालनक्तमालविदुलनिचुलक्षुपबहुले शिंशपातिनिशशमीपलाशशाककुशवंशशरवणगहने कदम्बसर्जार्जुनधवखदिरकुटजनिचिते विविधवल्लीप्रतानावगुण्ठितबहुतरुविटपे रुरुपृषतसृमरचमरगजगवयमहिषहरिणन्यङ्कुवराहद्वीपितरक्षुव्याघ्रवृकसिंहर्क्षादिमृगविचरिते मनुष्यसम्पातविरहिते महत्यरण्यवनप्रदेशे।"[५]

---

१. ललित०, पृ० १८

२. ललित० P. IX—"It is suggested by some scholars that portions in verse constitute older stratum, while prose portions are added later."

3. ललित० P. XII—"It must have been in existence in the first or second century A. D., the age of the composition or Compilation of the Mahayanasutras in general."

४. ललित० पृ० १४६

५. जातक० २६।१ के पहले का गद्यांश

इस पूरे सन्दर्भ में अरण्य का वर्णन करते हुए जीव-जन्तुओं तथा पेड़-पौधों के नाम गिनाने में ही आर्यशूर कृतकृत्य मालूम पड़ते हैं।

संवादों का निरूपण करते हुए आर्यशूर एकाध स्थानों पर समासरहित शैली का भले ही प्रयोग करते हैं, किन्तु ललितविस्तर की वह सरलता नहीं छू सकते, जिसमें "इह ते बाला बध्यन्ते कपय इव लेपेन"[1] जैसे वाक्य कहे गए हैं। कुल मिला कर इनकी विशुद्धोक्ति अक्षुण्ण रह जाती है। इस प्रकार गद्य के विषय में आर्यशूर की शैली में हम निम्नलिखित तथ्य पाते हैं—

१—ललितविस्तर जैसे ग्रन्थों से इनकी गद्यशैली प्रभावित है, किन्तु क्लिष्ट और सरल इन दोनों विपरीत शैलियों का मिश्रण कर इन्होंने एक मध्यम मार्गीय शैली आविष्कृत की है।

२—इनके गद्य में मुख्यत: कथावस्तु का इतिवृत्तात्मक रूप आगे बढ़ता है। धर्मोपदेश या चिन्तन नहीं होता। तात्पर्य यह है कि गद्य में आर्यशूर स्वयं बोलते हैं।

३—इनका गद्य सर्वत्र एकरूप है, कहीं भी आरोह-अवरोह की शैली नहीं है।

४—किसी भी कथांश में साहित्यिक या रसमय वातावरण आने पर ये उनकी सर्वथा उपेक्षा नहीं करते। प्रचलित प्रणाली तथा शब्दावली में उसका चित्र खींचते हैं।

जहाँ तक आर्यशूर की पद्यशैली का प्रश्न है, इसका विषय गद्य से भिन्न है। पद्यों में जातकमाला के पात्रों का चिन्तन, भाषण, धर्मोपदेश इत्यादि मिलते हैं। आर्यशूर इन पद्यों में स्वयं प्रत्यक्षत: नहीं उतरते। उनका तथ्य-कथ्य पात्रों के माध्यम से होता है। इस विषय वस्तु की पृष्ठभूमि में पद्यों की शैली विचारणीय है। आर्यशूर के पूर्व अश्वघोष की शैली बौद्ध-संस्कृत साहित्य में अत्यधिक प्रचलित रही होगी। इनकी प्रसन्न शैली का प्रभाव जातकमाला की रचना पर भी अवश्य पड़ा होगा। दूसरी ओर ललितविस्तर में जो पालिवाङ्मय की गाथाओं को संस्कृत में रखने की पद्धति पायी जाती है, उससे भी आर्यशूर पर उद्वेगमूलक प्रभाव पडा होगा। कदाचित् उन्होंने इसीलिए संस्कृत की स्वाभाविक शैली में (न कि पालि की छाया छूते हुए) उन गाथाओं को मौलिकरूप से नवजीवन देकर लिखने का प्रयास किया होगा। इसमें दो मत नहीं हो सकते कि उन्हें पर्याप्त सफलता मिली है तथा संस्कृत नीति-कथाओं के श्लोकों के समान जातकमाला के पद्यों में भी नैसर्गिक प्रवाह प्राप्त होता है। न तो कहीं छन्दोभंग है और न कहीं अपाणिनीय प्रयोग। भाषा की स्वच्छता तथा रमणीयता तो अश्वघोष से भी कहीं अधिक है। निम्नलिखित श्लोक में भाषा का नैसर्गिक प्रवाह होने के साथ-साथ समुचित उपमा का प्रयोग आर्यशूर की स्वाभाविक शैली का अच्छा आदर्श प्रस्तुत करता है :—

---

१. ललित० पृ० १४९ पं० २४

"पापं समाचरति वीतघृणे जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्ति
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः।[१]"

इस प्रसंग में ललितविस्तर के छन्दोभंग स्मरणीय हैं। केवल लय पर आश्रित छन्द का यह उदाहरण प्रस्तुत है जो द्रुतविलम्बित छन्द में निबद्ध है, किन्तु छन्द की रक्षा प्रथम दो चरणों में नहीं हो सकी है—

"अतिमोहतमावृत दुर्मति कामगुणैर्निगुणैगुणसञ्ज्ञिनः।
विहगपञ्जरमध्यगता यथा न हि लभन्ति कदाचि विनिःसृतिम्॥[२]

इसमें "कदाचित्" का "कदाचि" तथा "लभन्ते" का "लभन्ति" निश्चितरूप से पालिप्रभाव है। किन्तु इस प्रकार के प्रयोग जातकमाला में कहीं भी नहीं हैं। यदि यह मालूम न हो कि जातकमाला पालिजातक पर आश्रित है, तो कहा भी नहीं जा सकता कि यह मौलिक नहीं है। इन पद्यों में भी कई स्थलों पर लालित्यपूर्ण तथा सौन्दर्यवर्णन के तथ्य प्राप्त होते हैं, जैसे—

"कनकगिरिशिलाविशालवक्षाः
शरदमलेन्दुमनोज्ञवक्त्रशोभः।
कनकपरिघपीनलम्बबाहु-
र्वृषभनिभेक्षणविक्रमो नरेन्द्रः॥"[३]

(सुवर्णपर्वत की शिला के समान विशाल वक्षस्थल वाला, शरद ऋतु के विमलचन्द्र के समान मुखवाला, सुवर्णदण्ड के समान मोटी और लम्बी भुजाओं वाला, साँढ़ की-सी दृष्टि और पराक्रमवाला, हमारा राजा है)।

"ततश्चकम्पे सधराधरा धरा
व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनिःस्वना:
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम्॥"[४]

(उस समय पर्वतों सहित पृथ्वी काँपी, सागर अपने तीर का अतिक्रमण कर आगे बढ़ा और लगातार गम्भीर एवं मनोरम ध्वनि करती हुई देव दुन्दुभियाँ बजीं)।

इस प्रकार इनके पद्यभाग में विषयवस्तु के अनुरूप भाषा-प्रवाह, प्रसाद-गुण, एवं सौम्यशैली का रूप मिलता है। इन पद्यों में वाल्मीकि की चित्रात्मकता,

---

१. जातक० ११।१८

२. ललित० पृ० १४६-१५।२७

३. जातक० ८।११

४. जातक० २।३८

भास की सरलता तथापि चतन्त्र का प्रवाह भी समवेत है। इनकी भाषा में वैसे सामान्यतया पालि वाङ्मय का प्रभाव बहुत अधिक नहीं है, किन्तु अपेक्षित शास्त्रीय शब्दावली का प्रयोग करने से ये विमुख नहीं रहे हैं। इसीलिए विनय-विषयक अनेक शब्द कथाओं के आरम्भ और अन्त में आए हैं, जैसे—

रत्नत्रय[1], गुणप्रतिपत्ति[2], प्रज्ञापरिग्रह[3], पोषध[4], इत्यादि। इसी प्रकार उत्साह, मन्त्र, प्रसाद इन तीन शक्तियों का भी उल्लेख एक स्थान पर किया है।[5] कतिपय अप्रचलित शब्दों का भी प्रयोग जातकमाला में प्राप्त होता है—प्रक्ष्वेडित[6], खट्वङ्कता[7], कुहनी[8], शीभर[9], कुचेल[10], जातिस्मर[11], तिनिश[12], प्रत्येकबुद्ध[13], हालहलम्[14], शौटीर्यम्[15], इत्यादि।

जातकमाला की भाषा कादम्बरी और पंचतंत्र के बीच की है। पंचतंत्र से इसका अधिक साम्य है। जातकमाला गद्य-पद्य मिश्रित संस्कृत में है। गद्य से कथा का आरम्भ कर पद्य में इसका विस्तार हुआ है। कभी एक और कभी बहुत-से पद्यों से मिश्रित गद्य में लिखी हुई इनकी कथाओं के स्वरूप का ऐतिहासिक महत्व है। इस शैली के प्रयोग में इन्होंने कुमारलात एवं अन्य पूर्ववर्त्ती लेखकों का अनुकरण किया है। कहीं-कहीं जातकमाला के गद्य के वाक्य बड़े-बड़े हैं और उनमें लम्बे समासों का प्रयोग भी हुआ है, किन्तु सर्वत्र अर्थ स्पष्ट है और सरलता वर्तमान है। जैसे।

"अथ तस्य राज्ञः क्रमात्संरूढनयनव्रणस्यावगीतप्रतनूभूतान्तःपुरपौरजानपदशोकस्य प्रविवेककामत्वादुद्यानपुष्करिण्यास्तीरे कुसुमभरावनतरुचिरतरुवरनिचिते मृदुसुरभिशिशिरसुखपवने मधुकरगणोपकूजिते पर्यङ्केण निषण्णस्य शक्रो देवेन्द्रः पुरस्तात्प्रादुरभवत्।"[16]

---

१. जातक० १।४ के बाद का गद्य
२. वही १।४ के बाद का गद्य
३. वही १।४
४. वही ६।५
५. वही २।१ के पहले का गद्य
६. वही ८।६ के बाद का गद्य
७. वही १।३६
८. वही १।१०
९. वही २२।८२
१०. वही १८।६, २२
११. वही २९।८
१२. वही २६।१ के पहले का गद्य
१३. वही ७।३९ के पहले का गद्य
१४. वही ३१।६७
१५. वही २।३२ के बाद का गद्य
१६. वही २।३१ के बाद का गद्य

जातकमाला एक कलाकार की कृति है। इसकी शैली उदात्त, ओजस्वी और अलंकृत है। आर्यशूर ने इसमें विविध छन्दों का सफल प्रयोग किया है जिसका दिग्दर्शन पंचम अध्याय में प्रस्तुत है। इसकी भाषा में यत्र-तत्र पालि का प्रभाव दिखाई पड़ता है, किन्तु इससे भाषा की शुद्धता में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। इसकी भाषा पाणिनीय व्याकरण की अनुगामिनी है।

—०—

पञ्चम अध्याय

जातकमाला और संस्कृत-आलोचना के सिद्धान्त

इस अध्याय में जातकमाला का संक्षिप्त विवेचन कर संस्कृत आलोचना के उपादान-भूत रस, रीति, गुण तथा अलङ्कारों के अनुसार इसका साहित्यिक मूल्यांकन करना अभीष्ट है। काव्य-साहित्य विभिन्न दुरूह विषयों (जैसे धर्म मीमांसा आदि) को जनसाधारण के हृदय तक सरलतम रीति से पहुँचाने में समर्थ है।[1] अतएव धर्मप्रचारक मनीषियों ने अत्यन्त प्राचीनकाल से ही अपने धर्म के प्रचार-प्रसार के लिए काव्य की सहायता ली है। उनमें अश्वघोष एवं आर्यशूर ने बौद्ध-धर्म के तत्त्वों को काव्य द्वारा जन-मानस तक पहुँचाने का सुन्दर प्रयास किया है।

आर्यशूर की दिगन्तविश्रुत कीर्त्ति का महास्तम्भ इनका एकमात्र ग्रंथ जातकमाला है, जिसमें सुन्दर परिष्कृत काव्य-शैली का प्रयोग तथा भव्य संस्कृत साहित्यिक भाषा का संगुम्फन हुआ है। इसमें चौंतीस जातक हैं, जिनके आधार पर भगवान् बुद्ध को "चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञः" (चतुस्त्रिंशत् जातकानि व्याघ्रीप्रभृतीनि जानातीति सः) कहा गया है :—

"बुद्धस्तु सुगतो धर्मधातुस्त्रिकालविज्जिनः।
बोधिसत्त्वो महाबोधिरार्यः शास्ता तथागतः॥
पञ्चज्ञानः षडभिज्ञो दशार्हो दशभूमिगः।
चतुस्त्रिंशज्जातकज्ञो दशपारमिताधरः॥"[2]

ये जातक पालि-जातकों के आधार पर तथा प्राचीन बौद्ध अनुश्रुति पर अवलम्बित हैं। बौद्ध-देशना के प्रचार की भव्य-भावना ने ही प्रधान रूप से आर्यशूर की वाणी को काव्यमय बनाने का सौभाग्य प्रदान किया। अपने उद्देश्य का प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थ के प्रारम्भ में उन्होंने कहा है—

"स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो
धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः।"[3]

---

१. तुल०—(क) धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्त्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिबन्धनम्॥ भामह० १।२
(ख) चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निगद्यते॥—सा० द० १।२

२. अभिधान०—२।१४६-४७

३. जातक०—मं० २

अर्थात् इससे रूक्ष जन-मानस को भी प्रसन्नता होगी और धार्मिक कथाएँ अधिक रमणीय होंगी।

बौद्ध-कथाओं को काव्यात्मक तथा रोचक शैली में जातकमाला में उपनिबद्ध कर कवि ने अपने उद्देश्य में पूर्ण सफलता प्राप्त की है। पालि-जातक बौद्ध-कथाओं का विशाल भाण्डागार है। उस भाण्डागार से चुनी हुई उपदेशमयी कथाओं का रत्न रूप से संग्रह कर आर्यशूर ने संस्कृत में इस प्रकार की गद्य-पद्यात्मक रचना की है, जो पालि जातकों का अनुवाद न होकर एक सर्वविद्वन्मान्य स्वतंत्र ग्रन्थ हो गया है। इनकी "जातकमाला" एक आख्यानग्रन्थ है, जिसका उद्देश्य सरलतम भाषा, सहज शैली तथा उपदेशात्मक चरितोपन्यास के द्वारा अधिक से अधिक पाठकों को आकृष्ट करना है। इस अवस्था में उसकी साहित्यिक विशेषताओं के अन्वेषण में अधिक उपलब्धि की संभावना बहुत कम है। इसलिए परवर्त्ती साहित्यिक आचार्यों ने आर्यशूर को विशुद्धोक्ति के लिए ही स्मरण किया है—

"सुबन्धौ भक्तिर्नः क इह रघुकारे न रमते
धृतिर्दाक्षीपुत्रे हरति हरिचन्द्रोऽपि हृदयम्।
विशुद्धोक्तिः शूरः प्रकृतिमधुरा भारविगिर-
स्तथाप्यन्तर्मोदं कमपि भवभूतिर्वितनुते॥"[1]

विशुद्धोक्ति शब्द से उनका तात्पर्य अनलंकृत तथा अकृत्रिम भाषा से ही रहा है। यहाँ "शुद्धि" से व्याकरण की शुद्धि-मात्र विवक्षित नहीं है; क्योंकि वह तो भाषा का जीवन ही है। उसके बिना भाषा भाषा ही नहीं हो सकती। ऐसी स्थिति में विशेष रूप से रस, रीति, गुण, अलंकार—इन चार साहित्यिक तत्त्वों पर आर्यशूर ने विशेष ध्यान न दिया हो, यह स्वाभाविक है। आर्यशूर की शैली से यह स्पष्ट है कि उन्होंने जान-बूझ कर भाषा को अनलंकृत रखा है। "जातकमाला" लिखते समय उनका ध्यान साधारण पाठकों पर था, जिनका आवर्जन सरलतम भाषा के द्वारा ही संभव था। इसमें वर्णन की प्रधानता है; फिर भी सरल सुबोध शैली में सरसता की कमी नहीं है।

"रसो वै सः", "रसं ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति", इन श्रुतियों से स्पष्ट होता है कि काव्य में रसानुभूति होने पर ही सहृदय पाठकजन लोकोत्तर आह्लाद से चमत्कृत हो सकते हैं। रसानुभूति की प्रक्रिया में आलम्बन एवं उद्दीपन विभावों को उसका बाह्य कारण तथा स्थायी भाव को आन्तरिक एवं मुख्य कारण माना गया है। स्थायी भाव मन के भीतर स्थिर रूप से रहनेवाला वासनात्मक संस्कार है, जो स्वानुकूल आलम्बन एवं उद्दीपन स्वरूप उद्बोधक साधनों को प्राप्त कर

---

१. (क) सदुक्ति०—५।२६।५
(ख) सुभाषित०—१६६६

अभिव्यक्त हो जाया करता है। स्थायी भाव की अभिव्यक्ति होने पर सहृदय पाठकों के हृदय में लोकोत्तर आह्लाद की अनुभूति होने लगती है। अत: भरत के अनुयायी रस-सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक अभिनवगुप्त आदि आचार्यों ने स्थायी भाव की अभिव्यक्ति को ही रसास्वादन में प्रधान समझ कर "रस" शब्द से व्यवहृत किया है। इसी आशय को आचार्य मम्मट प्रकट करते हैं—

"कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः।
व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायी भावो रसः स्मृतः।"[1]

इन कारिकाओं से स्पष्ट किया है। व्यवहारदशा में सहृदय पाठकों को जिस प्रकार की अनुभूतियाँ होती हैं, उन्हीं को ध्यान में रखकर रस-सम्प्रदाय के आचार्यों ने स्थायी भाव की गणना करते हुए इसके नव भेद कहे हैं। शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्त—इन नवविध रसों के क्रमशः रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय और निर्वेद स्थायी भाव होते हैं।

जिस "रस" शब्द से शृङ्गार आदि नव रसों का ग्रहण होता है, उससे "रस्यते इति रस:" इस व्युत्पत्ति के द्वारा भाव का भी ग्रहण होता है।[2]

भाव की परिभाषा करते हुए आचार्यों ने कहा है—

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः"[3]

अर्थात् देव, मुनि, गुरु, नृप, पुत्र, शिष्य आदि के विषय में उत्पन्न होनेवाली रति (प्रीति) और प्रधानतया प्रकटीकृत अथवा व्यक्त व्यभिचारी को भाव कहते हैं। जैसे—

"शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंस्थुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः।
आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥"[4]

(हिमाचल के कन्यादान के समय पार्वती के कर-स्पर्श से रोमाञ्चादि सात्त्विक विकारों के उदय होने पर विधिभंग से व्याकुल होकर बात छिपाने के लिए, "अहो

---

१. का० प्र०—४।२७-२८
२. सा० द०—१।३—"रस्यते इति रसः" इति व्युत्पत्तियोगाद्भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।"
३. का० प्र०—४।३५
४. सा० द०—१०।९२ में उद्धृत

हिमाचल के हाथों में बड़ी ठण्ड है", यह कहते हुए और उसी समय हिमालय के अन्त:पुर में स्थित मातृमण्डल से स्मितपूर्वक देखे गये शिवजी तुम्हारी रक्षा करें।)

विवाह के समय शिवजी ने जब पार्वती का हाथ पकड़ा तो सात्त्विक भाव—रोमाञ्च और कम्प का आविर्भाव हुआ। इससे उस समय की पूजन आदि विधि में कुछ गड़बड़ी हुई। इससे व्याकुल होकर शिवजी ने असली बात छिपाने के लिये ठण्ड का बहाना किया। उधर अन्त:पुर में बैठी हुई देवमातायें—जो यह जानती थीं कि इस रोमाञ्च और कम्प का कारण शीताधिक्य नहीं, कुछ और ही है—शिवजी के—"आः शैत्यम्"—इस बहाने को सुनकर इनकी ओर कुछ मुस्करा कर देखने लगीं।

इस श्लोक में शृङ्गार रस की पूरी सामग्री वर्त्तमान है, तथापि रसात्मकता नहीं है। वह कविनिष्ठ शिवविषयक भाव का ही पोषक है। ऐसे स्थल में शृंगारादि रस प्रधान नहीं हो पाने के कारण रस-संज्ञा नहीं प्राप्त कर सकते हैं।

जातकमाला में भाव ही प्रधान है। इस ग्रन्थ में भगवान् बुद्ध के प्रति जो कवि के हृदय में रति वर्तमान है, वही भाव रस-स्थानीय है। ऐसी स्थिति में अन्यान्य रसों की कल्पना करना अनुचित है। कथाविशेष में, वर्णनक्रम में, जो शृंगारादिरस आपातत: प्रतीत होते हैं, उन्हें विश्रान्तिधाम न होने के कारण रस नहीं कहा जा सकता है। वे तो भाव के पोषकमात्र होते हैं। जैसे—

"स्वार्थोद्यतैरपि परार्थचरस्य यस्य
नैवान्वगम्यत गुणप्रतिपत्तिशोभा।
सर्वज्ञ इत्यवितथाक्षरदीप्तकीर्तिं
मूर्ध्ना नमे तमसमं सहधर्मसंघम्॥"[1]

(स्वार्थ में तत्पर रहनेवाले लोग जिन लोकोपकारी के सुन्दर सदाचरण का अनुकरण न कर सकें तथा "सर्वज्ञ" इस सार्थक शब्द से जिनकी कीर्ति प्रज्वलित है, धर्म और संघ के साथ उस अनुपम मुनि के आगे सिर नवाता हूँ।)

इस श्लोक में भगवान् बुद्ध के प्रति रति का वर्णन है। भाव का दूसरा उदाहरण निम्नलिखित श्लोक हो सकता है—

"अल्पेच्छभावात्कुहनानभिज्ञ-
स्त्यक्तस्पृहो लाभयश:सुखेषु।
स देवतानामपि मानसानि
प्रसादभक्तिप्रवणानि चक्रे॥"[2]

---

१. जातक० १।४।

२. जातक० १।१०

इसी प्रकार—

'अनेन नाथेन सनाथतां गतं
न शोचितव्यं खलु साम्प्रतं जगत् ।
पराजयाशङ्कितजातसम्भ्रमो
ध्रुवं विनिश्वासपरोऽद्य मन्मथः ॥''[1]

इस प्रकार के अनेकानेक श्लोक इसके उदाहरण हो सकते हैं। जातकमाला में जितनी कथायें हैं, उनमें कहीं श्रृंगार, कहीं दानवीर, कहीं भयानक रस प्रतीत होते हैं, परन्तु उन सबों का तात्पर्य कविनिष्ठ बुद्धविषयक भाव के पोषण में ही विश्रान्त होता है। अत: उन्हें रस न मानकर खण्ड-रस मानना ही शास्त्रानुमोदित होगा।

रीति

कवि अपनी रुचि तथा स्वभाव के अनुसार अपने हृदय के भावों को प्रकट करता है। कोई साधारण अर्थ के प्रतिपादन के लिए असाधारण शब्दों का प्रयोग करता है, तो कोई विशिष्ट अर्थों को प्रकट करने के लिए सामान्य शब्दों का ही व्यवहार करता है। अपने मनोगत भावों को अभिव्यक्त करने के लिए प्रत्येक लेखक एवं कवि एक विशिष्ट मार्ग का अवलम्बन किया करता है। इसी विशिष्ट लेखन-प्रकार को शैली या रीति कहते हैं। दण्डी तथा भामह ने इसे ही "मार्ग" शब्द से अभिहित किया है। प्रत्येक लेखक एवं कवि की अपनी विशिष्ट शैली या रीति होती है, जिसका प्रयोग वह अपने लेखों में करता है। इसलिए कवि की संख्या के अनुपात में रीतियाँ भी हैं। दण्डी ने इसी कारण कहा है कि रीतियाँ अनन्त हैं तथा इनका परस्पर भेद भी बहुत ही सूक्ष्म होता है,[2] जिसका सम्यक् प्रतिपादन कठिन है। अतएव आचार्यों ने रीति के स्वरूप तथा प्रकार का सामान्य विवेचन ही प्रस्तुत किया है।

भोजराज ने "रीति" शब्द की निरुक्ति गमनार्थक "री" धातु से मानी है[3]—**रीणन्ति गच्छन्त्यस्यां गुणा इति, रीयते क्षरत्यस्यां वाङ्मधुधारेति वा रीतिः।** अत: "रीति" शब्द "मार्ग" शब्द का ही पर्याय है। आचार्य वामन "विशेष प्रकार की पदरचना" को रीति कहते हैं और "विशेष" का अर्थ गुणस्थिति करते हैं।[4]

रीतियाँ मुख्यत: तीन प्रकार की होती हैं—वैदर्भी, गौड़ी और पाञ्चाली।[5]

---

१. जातक० १।३७।

२. "अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।"—काव्यादर्श १।४०

३. "वैदर्भादिकृतः पन्थाः काव्ये मार्ग इति स्मृतः।
रीङ् गताविति धातोः सा व्युत्पत्त्या रीतिरुच्यते।"—सरस्वतीकण्ठाभरण २।५१

४. 'विशिष्टा पदरचना रीतिः', "विशेषो गुणात्मा"—का० सू० वृ० १।२।७-८

५. "सा त्रिधा वैदर्भी, गौडीया पाञ्चाली चेति।।'—का० सू० वृ० १।२।६

काव्य-दोषों से सर्वथा रहित, समग्र गुणों से समन्वित तथा वीणा के स्वर के समान श्रवणसुभगा रीति वैदर्भी कहलाती है :—

"अस्पृष्टा दोषमात्राभिः समग्रगुणगुम्फिता ।
विपञ्चीस्वरसौभाग्या वैदर्भी रीतिरिष्यते ॥"[1]

इसकी प्रशंसा में कहा गया है—

"सति वक्तरि सत्यर्थे सति शब्दानुशासने ।
अस्ति तन्न विना येन परिस्रवति वाङ्मधु ॥"[2]

अर्थात् सुकवि वक्ता, सुवर्ण्य अर्थ और शब्दशास्त्र पर अधिकार रहने पर भी जिसके बिना कवि-वाणी से मधु का क्षरण नहीं होता है, वही वैदर्भी रीति है। उदाहरण—

"गाहन्तां महिषा निपानसलिलं शृङ्गैर्मुहुस्ताडितं
छायाबद्धकदम्बकं मृगकुलं रोमन्थमभ्यस्यतु ।
विस्रब्धं कुरुतां वराहवितिर्मुस्ताक्षतिं पल्वले
विश्रान्तिं लभतामिदं च शिथिलज्याबन्धमस्मद्धनुः ।"[3]

समासबहुल, अत्यन्त उग्र पदों से युक्त तथा ओज एवं कान्ति गुणों से समन्वित रीति को गौडी रीति कहते हैं :—

"समस्तात्युद्भटपदामोजःकान्तिगुणान्विताम् ।
गौडीयामिति गायन्ति रीतिं रीतिविचक्षणाः ॥"[4]

जैसे—

"दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
ष्टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमितब्रह्माण्डभाण्डोदर-
भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो नाऽद्यापि विश्राम्यति ।"[5]

गाढत्वहीन एवं असमासबहुल तथा मधुर एवं सुकुमार पदों से युक्त रीति पाञ्चाली कहलाती है—

"अश्लिष्टश्लथभावां तां पूरणच्छायया श्रिताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥"[6]

---

१. "का० स० वृ० १।२।११ वृत्ति
२. का० सू० वृ० १।२।११ वृ०
३. अभिज्ञानशाकुन्तलम्—२।६
४. का० सू० वृ०—१।२।१२
५. महावीरचरितम् १।५४
६. का० सू० वृ० १।२।१३ वृ०

जैसे—

"ग्रामेऽस्मिन् पथिकाय नैव वसतिः पान्थाऽधुना दीयते
रात्रावत्र विहारमण्डपतले पान्थः प्रसुप्तो युवा ।
तेनोत्थाय खलेन गर्जति घने स्मृत्वा प्रियां तत् कृतं
येनाद्यापि करंकदण्डपतनाशंकी जनस्तिष्ठति ।।"[1]

दण्डी तथा वामन ने वैदर्भी रीति को सर्वाधिक महत्त्व दिया और कहा कि उक्त तीनों रीतियों में वैदर्भी ही ग्राह्य है शेष दो नहीं। क्योंकि वैदर्भी में सभी गुण मिलते हैं शेष दो में कम :—

"तासां पूर्वा ग्राह्या गुणसाकल्यात् । न पुनरितरे, स्तोकगुणत्वात् ।।"[2]

वह वैदर्भी भी यदि समासरहित हो तो शुद्ध या उत्कृष्ट वैदर्भी कहलाती है :—

"साऽपि समासाभावे शुद्धवैदर्भी ।।"[3]

इस प्रकार की शुद्ध वैदर्भी में अर्थगुण सम्पत्ति आस्वादयोग्य होती है। इतना ही नही, इसके सहारे अर्थ का लेश (सामान्य अर्थ) मात्र भी आस्वाद योग्य होता है।[4] जैसा कि कहा भी गया है—

"किन्त्वस्ति काचिदपरैव पदानुपूर्वी
यस्यां न किञ्चिदपि किञ्चिदिवावभाति ।
आनन्दयत्यथ च कर्णपथं प्रयाता
चेतः सतामभृतवृष्टिरिव प्रविष्टा ।।"[5]

अर्थात् वह वैदर्भी रीति कोई विलक्षण ही पदरचना है जिसमें असत् विषय भी असत् की तरह नहीं प्रतीत होता है। सहृदयों के कर्णगोचर होकर वह वैदर्भी इस तरह चित्त को आनन्दित करती है, मानो अमृत की वर्षा होती हो।

"वचसि यमधिगम्य स्पन्दते वाचकश्री-
वितथमवितथत्वं यत्र वस्तु प्रयाति ।
उदयति हि स तादृक् क्वापि वैदर्भरीतौ
सहृदयहृदयानां रञ्जकः कोऽपि पाकः ।।"[6]

---

१. शार्ङ्गधरपद्धति० श्लोक संख्या ३८३६
२. का० सू० वृ० १।२।-१४, १५
३. का० सू० वृ० १।२।१६
४. तस्यामर्थगुसम्पदास्वाद्या। तदुपारोहादर्थगुणलेशोऽपि
—का० सू० वृ० १।२।२०, २१
५. का० सू० वृ० १।२।२१ वृ०
६. का० सू० वृ० १।२।२१ वृ०

अर्थात् काव्यरूप वाक्य में जिस वैदर्भी रीति को प्राप्त कर शब्द-सौन्दर्य स्पन्दित होने लगता है, नीरस पदार्थ भी सरस हो जाता है, सहृदय-हृदयों को आनन्दित करनेवाला कोई ऐसा शब्दपाक उस वैदर्भी रीति में उदित हो जाता है जो सहृदयाह्लादकारक बन जाता है।

जातकमाला में वैदर्भी रीति का ही पोषण किया गया है। समस्त पदों का इसमें अल्पमात्रा में ही प्रयोग हुआ है, वह भी अनिवार्य होने पर ही। अतः गौडी आदि रीतियाँ यहाँ अपना स्थान नहीं बना सकी हैं। इसकी रचना-शैली प्रसाद-गुणगुम्फित है। कथानक के मार्मिक-स्थानों का सुबोध शैली में प्रकाशन इसकी विशिष्टता है। उदाहरणार्थ, विश्वन्तर जातक में राजकुमार विश्वन्तर की पत्नी वन-गमन के समय तपोवन-सौन्दर्य का जो वर्णन करती है, वह बहुत ही सरस एवं सरल होकर आर्यशूर की लेखनी से प्रवाहित होता है :—

"निर्दुर्जनान्यनुपभुक्तसरित्तरूणि
नानाविहंगविरुतानि मृगाकुलानि।
वैडूर्यकुट्टिममनोहरशाद्वलानि
क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि॥

अपि च देव,

अलंकृताविमौ पश्यन्कुमारौ मालभारिणौ।
क्रीडन्तौ वनगुल्मेषु न राज्यस्य स्मरिष्यसि॥
ऋतुप्रयत्नरचिता वनशोभा नवा नवाः।
वने त्वां रमयिष्यन्ति सरित्कुञ्जाश्च सोदकाः॥
चित्रं विरुतवादित्रं पक्षिणां रतिकाङ्क्षिणाम्।
मदाचार्योपदिष्टानि नृत्तानि च शिखण्डिनाम्॥
माधुर्यानवगीतं च गीतं मधुपयोषिताम्।
वनेषु कृतसंगीतं हर्षयिष्यति ते मनः॥
आस्तीर्यमाणानि च शर्वरीषु
ज्योत्स्नादुकूलेन शिलातलानि।
संवाहमानो वनमारुतश्च
लब्धाधिवासः कुसुमद्रुमेभ्यः॥
चलोपलप्रस्खलितोदकानां
कला विरावाश्च सरिद्वधूनाम्।
विभूषणानामिव संनिनादाः
प्रमोदयिष्यन्ति वने मनस्ते॥"[1]

---

१. जातक० ९।२३-२९।

इस सरस सुन्दर तपोवन-वर्णन में मयूरों का मनोरम नृत्य, मधुकरियों का मधुर संगीत, कुसुमवृक्षों के परिमल से सुगंधित पवन एवं नदियों की कोमल कल-कल ध्वनि का वर्णन रूक्ष जन-मानस के लिए भी परम आकर्षक है।

इनकी रचना-शैली में लंबे समासों का प्रयोग बहुत ही कम है। समासयुक्त वर्णन में भी कहीं क्लिष्टता का अनुभव नहीं होता।[1] इनका गद्य-भाग जिस तरह सुश्लिष्ट, सुन्दर एवं सरस रूप में प्रस्फुटित हुआ है, उसी तरह पद्य-भाग भी। आर्यशूर स्वाभाविक सौन्दर्य के प्रेमी हैं। अत: वे कृत्रिम तथ्यों से कोसों दूर रहते हैं तथा किसी वस्तु का वर्णन स्वाभाविक ढंग से करते हैं। गद्य-पद्य मिश्रित आख्यान शैली में रचित इनकी जातकमाला एक आदर्श ग्रंथ है। उनके समय तक गद्य-मिश्रित पद्य-काव्य की शैली इस तरह परिमार्जित होकर उतनी विकसित नहीं हो पायी थी। अत: इनका यह ग्रंथ निदर्शन के रूप में उपस्थित हुआ है। जातकमाला में वर्णन की प्रधानता है, फिर भी सरल सुबोध शैली में सरसता की कमी नहीं है।

गुण

जिस प्रकार शूरता, वीरता, सत्यवादिता आदि गुणों के कारण व्यक्ति समाज में आदर पाता है, उसी प्रकार काव्य भी माधुर्य आदि गुणों के कारण प्रशंसनीय होता है तथा सहृदय श्रोताओं के चित्त को आकृष्ट करता है। इस कारण अति प्राचीन काल से ही संस्कृत साहित्यशास्त्र के प्रधान आचार्यों ने इस पर पर्याप्त विचार किया है।

गुण काव्य के उत्कर्षसाधक तत्त्व हैं, इसे सभी सहृदय समालोचक स्वीकार करते हैं। किन्तु दण्डी तथा वामन[2] इन्हें शब्दार्थाश्रित मानते हैं, जबकि भरत, आनन्दवर्धन[3], मम्मट[4] तथा विश्वनाथ[5] इन्हें रसाश्रित मानते हैं। वास्तविकता यह

---

१. जैसे :—

"अथ कदाचित् स राजा.................................पुष्पोपहारशबलभूमिभागधवलं प्रवृत्तनृत्तगीतहास्यलास्यवादित्रं पुष्पधूपचूर्णवासमाल्यासवस्नानानुलेपनामोदप्रसृतसुरभिगन्धि प्रसारितविविधरुचिरपण्यं तुष्टपुष्टोज्ज्वलतरवेषपौरजानपदसंबाधराजमार्गं पुरवरमनुविचरंस्तस्यामात्यस्य भवनसमीपमुपजगाम।"

—जातक० १३।१ के बाद का गद्य

२. "ये खलु शब्दार्थयोर्धर्माः काव्यशोभां कुर्वन्ति ते गुणाः।"

—का० सू०—३।१।१ वृत्ति

३. "तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।"

—ध्वन्या०—२।६

४. "ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मना।
उत्कर्षहेतवस्ते स्युरचलस्थितयो गुणाः॥"—का० प्र० ८।६६

५. "रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा गुणाः॥"

—सा० द०—८।१

है कि गुण मुख्यत: रस के धर्म हैं, साथ ही वे शब्दार्थ से सर्वथा असम्बद्ध नहीं हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने इस तथ्य को स्पष्टत: स्वीकार किया है। मम्मट और विश्वनाथ ने भी माधुर्यादि का वर्णों से स्पष्ट सम्बन्ध माना है। माधुर्यादि के स्वरूप-निर्धारण में वर्णगुम्फ तथा शब्दगुम्फ का आधार सदा ही निश्चयपूर्वक ग्रहण किया गया है। अतएव गुणों को रस के धर्म तो मानना ही चाहिये, किन्तु शब्दार्थ के धर्म मानने में भी आपत्ति नहीं करनी चाहिये। शौर्यादि की उपमा भी इस मंतव्य को पुष्ट करती है। क्योंकि वे मूलत: आत्मा के अन्तरङ्ग व्यक्तित्व के धर्म हैं, परन्तु बाह्य व्यक्तित्व से उनका कोई सम्बन्ध ही न हो, यह भी नहीं माना जा सकता। मधुर अथवा ओजस्वी व्यक्तित्व के लिए आत्मा के ही माधुर्य अथवा ओज की अपेक्षा नहीं होती, आकृति के माधुर्य और तेज की भी आवश्यकता होती है।

अत: गुण काव्य के उन उत्कर्षसाधक तत्वों को कहते हैं, जो मुख्य रूप से रस के और गौण रूप से शब्दार्थ के नित्य धर्म हैं।

गुणों की संख्या—

आचार्य भरत, दण्डी तथा वामन ने दश गुणों का प्रतिपादन किया था।[1] जिनका खण्डन कर भामह, मम्मट, आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त तथा विश्वनाथ आदि अलंकारशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्यों ने केवल तीन गुणों का अस्तित्व स्वीकार किया। तीन गुण विद्वानों को मान्य हुए। काव्यास्वादन की स्थिति में चित्त की तीन अवस्थायें होती हैं—द्रुति, दीप्ति और व्यापकत्व। गुण भी तदनुसार तीन हुए—माधुर्य, ओज और प्रसाद।[2]

चित्त का द्रुति-स्वरूप आह्लाद जिसमें अन्त:करण अद्भुत सुकुमारता से भर उठे ऐसा आनन्दविशेष माधुर्य कहलाता है। इसमें चित्त एकदम पिघला सा बन जाता है। संभोग शृंगार, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्त रसों में यह क्रमश: बढ़ा हुआ रहता है।[3]

---

१. (क) "श्लेष: प्रसाद: समता समाधि: माधुर्यमोज: पदसौकुमार्यम्।
अर्थस्य च व्यक्तिरुदारता च कान्तिश्च काव्यस्य गुणा दशैते॥"
ना० शा० २।९२

(ख) "श्लेष: प्रसाद: समता माधुर्यं सुकुमारता।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोज: कान्ति: समाधय:॥"—काव्यादर्श-१।४१

२. "माधुर्यौज:प्रसादाख्यास्त्रयस्ते न पुनर्दश॥"
—का० प्र०—८।६८

३. "चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते।
संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात्॥"
—सा० द० ८।२

माधुर्य के व्यंजक वर्ण हैं—अपने वर्ग के अन्तिम वर्ण से संयुक्त स्पर्श वर्ण, तथा लघु र, ण। समास का सर्वथा अभाव होता हं अथवा छोटा समास होता है। रचना मधुर होती है,[1] जैसे—

"अनङ्गरङ्गप्रतिमं तदङ्गं
भङ्गीभिरङ्गीकृतमानताङ्ग्याः।
कुर्वन्ति यूनां सहसा यथैताः
स्वान्तानि शान्तापरचिन्तनानि।"[2]

यहाँ माधुर्यस्रोत के रूप में विप्रलम्भ शृंगार रस विराजमान है।

चित्त का विस्तारस्वरूप दीप्तत्व ओज गुण कहलाता है। वीर, बीभत्स और रौद्र रसों में क्रमशः इसकी अधिकता होती है।[3] इसके अभिव्यंजक हैं— वर्ग के प्रथम वर्ण का द्वितीय से और तृतीय का चतुर्थ से योग (जैसे पुच्छ, बद्ध आदि में), रेफ का ऊपर, नीचे अथवा दोनों ओर से किसी वर्ण से संयोग (जैसे कि वक्त्र निर्ह्लाद आदि में), समान वर्णों का परस्पर संयोग (जैसे वित्त, चित्त आदि में), ट, ठ, ड, ढ, श, ष का प्रयोग, दीर्घ समास तथा उद्धत पदसंघटना।[4] जैसे :—

"चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघात-
संचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणि-
रुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि भीमः॥"[5]

जैसे सूखे इन्धन में अग्नि झट से व्याप्त होती है, उसी प्रकार जो गुण चित्त में सद्यः व्याप्त हो, उसे प्रसाद कहते हैं। यह गुण सभी रसों और सम्पूर्ण रचना में रह सकता है।

---

१. "मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः॥
अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा॥"—सा० द० ८।३

२. का० प्र०—८।७४ में उद्धृत।

३. "ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते।
वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु॥"—सा० द० ८।४

४. "योग आद्यतृतीयाभ्यामन्त्ययो रेण तुल्ययोः।
टादिः शषौ वृत्तिदैर्घ्यं गुम्फ उद्धत ओजसि॥
—का० प्र०—८।७५

५. वेणीसंहारनाटक—१।२१

सुनते ही जिनका अर्थ प्रतीत हो जाय, ऐसे सुबोध और सरल पद प्रसाद के व्यंजक होते हैं।[1] जैसे—

"परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयत-
स्तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनभप्राप्य हरितम्।
इदं व्यस्तन्यासं श्लथभुजलताक्षेपवलनैः
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति विसनीपत्रशयनम्॥"[2]

यहाँ माधुर्योचित वर्ण, मध्यम समास सब के सब प्रसाद के ही अभिव्यंजन करते लग रहे हैं।

जातकमाला में गुणों की चर्चा करते समय यह ध्यान में रखना है कि इसका उद्देश्य सरलतम भाषा में भगवान् बुद्ध के पूर्व जन्मों की आख्यायिकाओं का वर्णन है। ऐसी स्थिति में प्रसाद के अतिरिक्त गुण का अन्वेषण यहाँ व्यर्थ है। प्रसाद गुण के लिए जिस सरलता की आवश्यकता होती है, वही इस रचना का आधार है। बिना अन्वय किये प्रकरण का प्रकरण अपने अर्थ को कहता चला जाता है। इसीलिए प्रसाद गुण की मात्रा इसमें पर्याप्त है। आर्यशूर और अश्वघोष के पद्य कुछ अधिक सरल हैं। कहीं-कहीं शूर के पद्य भी अत्यन्त सरल हैं। देखिये उन पद्यों को जो उन्होंने उन सन्तानों के मुख से कहलाये हैं जिनके पिता ने असाधारण उदारतावश उन्हें दान कर दिया है तथा निर्दयतापूर्वक ब्राह्मण उन्हें खींच कर ले जा रहा है। पुत्री कृष्णाजिना कहती है :—

"अयं मां ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दयः।
न चायं ब्राह्मणो व्यक्तं धार्मिका ब्राह्मणाः किल॥
यक्षोऽयं ब्राह्मणच्छद्मा नूनं हरति खादितुम्।
नीयमानौ पिशाचेन तात किं नावुपेक्षसे॥"[3]

अनन्तर पुत्र जाली सरल किन्तु करुण शब्दों में जो कहता है, वह है—

"नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः।
नापश्यमम्बां यत्त्वद्य तद्विदारयतीव माम्॥
रोदिष्यति चिरं नूनमम्बाशून्ये तपोवने।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी॥
अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम्॥

---

१. "चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः।
सः प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च॥
शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधका श्रुतिमात्रतः॥" —सा० द० ८।७-८

२. रत्नावलीनाटिका—१।१३

३. जातक०—९।६५-६६

इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च मे।
अतोऽर्द्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति॥
वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा।
दुर्लभं हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम्॥
एहि कृष्णे मरिष्शवः कोन्वर्थो जीवितेन नौ।
दत्तावावां नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे॥"[1]

अधिक गहन तथा दुरूह विषयों में भी आर्यशूर इसी प्रकार प्रसादयुक्त हैं, जैसे न्यायप्रिय राजा के शासन के वर्णन में—

"समप्रभावा स्वजने जने च
धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीतिः।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं
सोपानमालेव दिवो बभूव॥"[2]

जातकमाला में प्रसाद गुण की पुष्टि के लिए लेखक ने यथासंभव प्रचलित छन्दों का ही प्रयोग किया है। मुख्यतः अनुष्टुप्, उपजाति, इन्द्रवज्रा तथा वसन्ततिलका का अधिक प्रयोग किया गया है। ये छन्द सरलता के लिए प्रसिद्ध हैं। इन छन्दों के चुनाव के द्वारा श्री आर्यशूर ने प्रसाद गुण को पुष्ट करते रहने की भावना दृढ़ रखी है। जातकमाला में कुल मिला कर सत्ताईस तरह के छन्द प्रयुक्त हुए हैं जो इस प्रकार हैं :—

१—अनुष्टुभ् (अनुष्टुप्) या श्लोक[3]—

जैसे :—

"महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम्॥"[4]

लगभग ४१९ श्लोकों में इस छन्द का प्रयोग जातकमाला में हुआ है।

२—इन्द्रवज्रा[5] जैसे—

"तर्पं विनिन्येऽर्थिजनस्तमेत्य
न स्वर्थिनः प्राप्य स दानशौण्डः।
न ह्यस्य दानव्यवसायमर्थी
याच्ञाप्रमाणेन शशाक जेतुम्॥"[6]

---

१. जातक०—९।६७-७२

२. जातक० १३।२

३. श्लोके षष्ठं गुरु ज्ञेयं सर्वत्र लघु पञ्चमम्।
द्विचतुष्पादयोर्ह्रस्वं सप्तमं दीर्घमन्ययोः॥—श्रुतबोध-१०

४. जातक० १।१७

५. स्यादिन्द्रवज्रा यदि तौ जगौ गः।"—वृत्तरत्नाकर ३।३०

६. जातक० २।७

लगभग ८५ श्लोकों में वह प्रयुक्त हुआ है।

३—उपजाति[1] जैसे—

"येनाभ्युपेतोऽसि मनोरथेन
तमेव ते ब्राह्मण पूरयामि।
आकाङ्क्षमाणाय मदेकमक्षि
ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहं ते॥"[2]

लगभग ४६१ श्लोक इस छन्द में हैं।

४—वसन्ततिलका[3] जैसे—

"पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः।
प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्तिं
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः॥"[4]

११३ श्लोकों में यह छन्द प्रयुक्त हुआ है।

५—वंशस्थ[5] (वंशस्थविल) जैसे—

"सुखानुलोमे गुणबाधिनि क्रमे
गुणानुकूले च सुखोपरोधिनि।
नरोऽपि तावद्गुणपक्षसंश्रया-
द्विराजते किम्वथ तिर्यगाकृतिः॥"[6]

६—द्रुतविलम्बित[7] जैसे—

"उपकृतं किल न मे वेत्ति परस्-
तदपकारमिति प्रकरोति यः
ननु विशोध्य गुणैः स यशस्तनुं
द्विरदवृत्तिमभिप्रतिपद्यते॥"[8]

---

१. "अनन्तरोदीरितलक्ष्मभाजौ, पादौ यदीयावुपजातयस्ताः।
इत्थं किलान्यस्वपि मिश्रितासु वदन्ति जातिस्त्विदमेव नाम॥"—वृत्तरत्ना० २।३२

२. जातक० २।१३

३. "उक्ता वसन्ततिलका तभजा जगौ गः।"—वृत्तरत्नाकर ३।७८

४. जातक० ११।१८

५. "जतौ तु वंशस्थमुदीरितं जरौ।"—वृत्तरत्नाकर ३।४७

६. जातक० ६।४

७. "द्रुतविलम्बितमाह नभौ भरौ।"—वृत्तरत्नाकर ३।५०

८. जातक० ३४।२०

७—पुष्पिताग्रा[१] जैसे—

"अभयमभयदो ददाति राजा
स्थिरशुचिशीलधनाय सज्जनाय ।
अविनयनिरतैः प्रजाहितार्थं
नरपशुभिस्तु सहस्रसो यियक्षुः ।।"[२]

इसमें लगभग १६ श्लोक हैं ।

८—भुजङ्गप्रयात[३] जैसे—

"समुत्कृत्तसर्वत्वचो वेदनार्ता
विमांसीकृताः केचिदस्थ्यस्थिशेषाः ।
न चायान्ति नाशं धृता दुष्कृतैः स्वै-
स्तथा चापरे खण्डशश्छिद्यमानाः ।।"[४]

९—शार्दूलविक्रीडित[५] जैसे—

"दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः ।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम् ।।"[६]

लगभग १५ श्लोक इस छन्द में हैं ।

१०—शालिनी[७] जैसे—

"सारादानं दानमाहुर्धनाना-
मैश्वर्याणां दानमाहुर्निदानम् ।
दानं श्रीमत्सज्जनत्वावदानं,
बाल्यप्रज्ञैः पांसुदानं सुदानम् ।।"[८]

---

१. "अयुजि नयुगरेफतो यकारो ।
युजि च नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।।" वृत्त० ४।१०
२. जातक० १०।१७
३. "भुजङ्गप्रयातं चतुर्भिर्यकारैः ।"—छन्दोमञ्जरी २।११६
४. जातक० २९।२६
५. "सूर्याश्वैर्मसजस्तताः सगुरवः शार्दूलविक्रीडितम् ।।" वृत्त० ३।९९
६. जातक० ३।२१
७. "शालिन्युक्ता म्तौ तगौ गोऽब्धिलोकैः ।" वृत्त० ३।३५
८. जातक० ३।२३

लगभग ११ श्लोक इस छन्द में हैं।

११—मालिनी[1] जैसे—

"न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि
प्रतनुफलविभूतिर्यच्छ्रुतं केवलं प्राक् ।
तदिदमलवणायाः शुष्करूक्षारुणायाः
फलविभवमहत्वं पश्य कुल्माषपिण्ड्याः ॥"[2]

लगभग ५ श्लोक इस छन्द में हैं।

१२—शिखरिणी[3] जैसे—

"दयालुर्नोद्वेगं जनयति परेषामुपशमा-
द्दयावान् विश्वास्यो भवति जगतां बान्धव इव ।
न संरम्भक्षोभः प्रभवति दयाधीरहृदये
न कोपाग्निश्चित्ते ज्वलति हि दयातोयशिशिरे ॥"[4]

शिखरिणी ४ श्लोकों में प्रयुक्त हुआ है।

१३—प्रहर्षिणी[5] जैसे—

"यत्पीत्वा वमथुसमुद्गतान्नलिप्ता
निःशङ्कैः श्वभिरवलिह्यमानवक्त्राः ।
निःसंज्ञा नृपतिपथिष्वपि स्वपन्ति
प्रक्षिप्तं क्रयसुभगं तदत्र कुम्भे ॥"[6]

४ श्लोक इसमें है।

१४—प्रमिताक्षरा[7] जैसे—

"मदमानमोहभुजगोपलयं
प्रशमाभिरामुखविप्रलयम् ।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं
बहुतीव्रदुःखनिलयं निलयम् ॥"[8]

---

१. "ननमयययुतेयं मालिनी भोगिलोकैः ।"—वृत्त० ३।८३

२. जातक० ३।४

३. "रसैः रुद्रैश्छिन्ना यमनसभलागः शिखरिणी ।"—वृत्तरत्नाकर ३।९१

४. जातक० २६।४३

५. "म्नौ ज्रौ गस्त्रिदशयतिः प्रहर्षिणीयम् ।"—वृत्तरत्नाकर ३।७

६. जातक० १७।१६

७. प्रमिताक्षरा सजससैरुदिता ।"—वृत्तरत्नाकर ३।६१

८. जातक० १८।२० ।

लगभग ६ श्लोक इसमें हैं।

१५—उपेन्द्रवज्रा[1] जैसे—

"पटुत्वहीनेऽपि मतिप्रभावे
जडप्रकारेष्वपि चेन्द्रियेषु।
विनोपदेशात्प्रतिपद्यते य-
त्प्रसूतमात्रः स्तनपानयत्नम्॥"[2]

१६—आर्या[3] जैसे—

"स्वाधीनसुलभमेतन्निरवद्यं विद्यते ममैव खलु।
अतिथिजनप्रतिपूजनसमर्थरूपं शरीरधनम्॥"[4]

४ श्लोक इस छन्द में हैं।

१७—तोटक[5] जैसे—

"यदि कारणमीश्वर एव विभु-
र्जगतो निखिलस्य तवाभिमतः।
ननु नार्हसि मय्यधिरोपयितुं
विहितं विभुना कपिराजवधम्॥"[6]

१८—वियोगिनी[7] जैसे—

"ह्रियमाणमनाथमप्लवं
सरितोदीर्णजलौघवेगया।
अभिधावत दीनवत्सलाः
कृपणं तारयितुं जवेन माम्॥"[8]

१२ श्लोक इस छन्द में हैं।

---

१. "उपेन्द्रवज्रा जतजास्ततो गौ।"—वृत्तरत्ना० ३।३१

२. जातक० २६।१२

३. यस्याः पादे प्रथमे, द्वादश मात्रास्तथा तृतीयेऽपि।
अष्टादश द्वितीये चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या॥—श्रुतबोध ४

४. जातक० ६।१६

५. "वद तोटकमब्धि सकारयुतम्।"—छन्दोमञ्जरी २।१२१

६. जातक० २३।४०

७. "विषमे ससजा गुरुः समे सभरा लोऽथ गुरुर्वियोगिनी।"—छन्दसारः ८

८. जातक २६।२

१६—पृथ्वी[1] जैसे—

"दयामृदुषु दुर्जनः पटुतरावलेपोद्धवः
परां व्रजति विक्रियां नहि भयं ततः पश्यति।
यतस्तु भयशङ्कया मुकुरयापि संस्पृश्यते-
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्धवः।।"[2]

२ श्लोक इस छन्द में हैं।

२०—वैतालीय[3] जैसे—

"व्रजति गुणपथेन च स्वयं
नयति परानपि तेन वर्त्मना।
वचनमपि न रुक्षमक्षमां
जनयति तस्य हितोपसंहितम्।"[4]

लगभग २० श्लोक इस छन्द में हैं।

२१—औपच्छन्दसिक[5] जैसे—

"स्वगुणातिशयोदितैर्यशोभि-
र्जगदावर्जनदृष्टशक्तियोगः।
रचनागुणमात्रसत्कृतेषु
ज्वलयत्येव परेष्वमर्षवह्निम्।।"[6]

इस छन्द में ७ श्लोक हैं।

२२—मत्तमयूर[7] जैसे—

"आत्मार्थः स्याद्यस्य गरीयान् परकार्या-
त्तेनापि स्याद्‌ यमनादृत्य समृद्धिम्।
नैति प्रीतिं तां हि महत्यापि विभूत्या
दानैस्तुष्टिं लोभजयाद्यामुपभुङ्क्ते।।"[8]

---

१. "जसौ जसयला वसुग्रहयतिश्च पृथ्वी गुरुः।"—वृत्तरत्नाकर ३।९२
२. जातक० ३३।४
३. षड् विषमेऽष्टौ समे कलाः ताश्च समे स्युर्नो निरन्तराः।
न समाऽत्र पराश्रिता कला, वैतालीयेऽन्ते रलौ गुरुः।।"—वृत्तरत्नाकर २।१२
४. जातक ७।३०
५. "पर्यन्ते र्यौ तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्।।"—वृत्तरत्नाकर २।१३
६. जातक० २३।४
७. वेदैरन्ध्रैर्म्तौ यसगा मत्तमयूरम्।"—वृत्त० ३।७२
८. जातक० ५।२२

५ श्लोक इस छन्द में हैं।

२३—वक्त्र[1] :—जैसे—

"पुष्पमालाहस्तकण्ठमिमं भरितमाकण्ठम् ।
अवतंसकृताकुम्भं कर्तुमिच्छति कः कुम्भम् ।।"[2]

२४—रुचिरा[3] :—जैसे—

"न वेत्ति चेदुपकृतमातुरः परो
न योक्ष्यतेऽपि स गुणकातया श्रिया ।
सचेतसः पुनरथ को भवेत्क्रमः
समुच्छ्रितं प्रमथितुमात्मनो यशः ।।"[4]

२ श्लोक इस छन्द में हैं।

२५—उद्धता[5] :—जैसे—

"त्वत्कृताथ यदीज्या न त्वसो तदकर्ता ।
आत्मनो हि विभूत्या यः करोति स कर्त्ता ।।"[6]

२६—आर्यागीति (या स्कन्धक)[7], जैसे—

"प्रातं पराभवं तं दुःखानि महान्ति कस्तदानुभवन्तम् ।
याचेद्दणं भवन्तं प्रतिवचनमपि प्रदातुमप्रभवन्तम् ।।"[8]

२७—उष्णिग् जाति :—उद्यता[9], जैसे—

"ईश्वरः कुरुते चेत्पातकान्यखिलानि ।
तत्र भक्तिनिवेशः कं गुणं नु समीक्ष्य ।।"[10]

---

१. "वक्त्रं नाद्यान्नसौ स्यातामब्धेर्योऽनुष्टुभि ख्यातम् ।"
—वृत्त० २।२१

२. जातक०—१७।५

३. "जभौ सजौ गिति "रुचिरा" चतुर्ग्रहैः ।"
—छन्दोमंजरी २।१६३

४. जातक० ३४।२१

५. "सौगि उद्धता ।"
—हेमचन्द्रकृतं छन्दोऽनुशासनम्—२।८६

६. जातक० २३।३५

७. "आर्यापूर्वार्द्धं यदि गुरुणैकेनाधिकेन निधने युक्तम् ।
इतरतद्वन्निखिलं यदीयमुदितेवमार्यागीतिः ।।"—वृत्त० २।११

८. जातक० २६।४२

९. "उद्यता पौ"—छन्दो विवृति ४।१७

१०. जातक० २३।३६

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आर्यशूर विविध छन्दों के विषयानुरूप प्रयोग में अत्यधिक प्रवीण हैं।

अब जातकमाला में प्रयुक्त अलंकारों पर विचार करना है। यह पहले कहा जा चुका है कि जातकमाला यथासंभव अलंकारों से बच कर लिखी गई है। फिर भी शब्द एवं अर्थ जहाँ प्रयुक्त होंगे वहाँ अलंकारों से बच कर रहना साधारण कार्य नहीं होता है। अत: इस ग्रन्थ में भी यत्र-तत्र स्वाभाविक रूप में अर्थ की अभिव्यंजना के लिए नितान्त अपेक्षित हो जाने पर अलंकार आ ही गए हैं। कुछ उदाहरणों के द्वारा जातकमाला में प्रयुक्त अलंकारों के स्वरूप का यहाँ दिग्दर्शन कराया जाता है। जैसे—

१—यमक[१] :—

"ततश्चकम्पे सधराधरा धरा
व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनिस्वनाः
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम् ॥"[२]

"धरा" का तीन बार प्रयोग दिखा कर यमक अलंकार तथा "ससारसागर:" में अनुप्रासजन्य माधुर्य का प्रयोग सौन्दर्यपूर्ण है। एक दूसरा उदाहरण—

"मदमानमोहभुजगोपलयं
प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम्।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं
बहुतीव्रदुःखनिलयं निलयम् ॥"[३]

यहाँ प्रथम तीन चरणों के अन्त में "लयम्" का अन्त्यानुप्रसास तथा अंतिम चरण में "निलयम्" शब्द के द्वि:प्रयोगजन्य यमक का निवेश माधुर्यपूर्ण है। इनके गद्य में भी कहीं-कहीं यमक का प्रयोग मिलता है, जैसे—

"स्वा इव प्रजाः प्रजाः पालयति स्म।"[४]

२—अनुप्रास[५] :—

गद्य में अनुप्रास का प्रयोग ग्रन्थारम्भ में ही परिलक्षित हो जाता है—

---

१. "सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यंजनसंहतेः।
क्रमेण तेनेवावृत्तिः यमकं विनिगद्यते ॥"—सा० द० १०।८

२. जातक० २।३८

३. जातक १८।२०

४. जातक० २।१ के पहले का गद्य

५. "वर्णसाम्यमनुप्रास:"—का० प्र० ६।७६

"रत्नत्रयगुरुभिः प्रतिपत्तिगुणाभिराधितगुरुभिर्गुणप्रविचयगुरुभिरस्मद्गुरुभिः परिकीर्त्यमानमिदं भगवतः पूर्वजन्मावदानम् ।।"[१]

श्रुत्यनुप्रास[२] :—जैसे

"परिक्षामेक्षणयुगां क्षुधा छाततरोदरीम् ।
आहारमिव पश्यन्तीं बालान् स्वतनयानपि ।।"[३]

३—उपमा[४] :—

यह अलंकारों का शिरोरत्न है ।[५] जिस प्रकार नाट्य रंगमंच पर नटी अनेक भूमिका-भेद से नृत्य करती हुई प्रेक्षकों का मनोरंजन करती है, उसी प्रकार उपमा रूपी नटी अनेक उक्ति-वैचित्र्य से नृत्य करती हुई काव्य-मर्मज्ञों को मनोमुग्ध करती है ।[६] आर्यशूर ने जातकमाला में उपमालंकार का प्रचुर प्रयोग किया है । कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(क) "दानोद्भवः कीर्तिमयः सुगन्ध-
स्तस्यार्थिनां वागनिलप्रकीर्णः ।
मदं जहारान्यनराधिपानां
गन्धद्विपस्येव परद्विपानाम् ।।"[७]

(दान से उत्पन्न होनेवाली उनकी (शिविराज की) कीर्त्तिमय सुगन्ध ने, जिसे याचकों ने अपनी वाणीरूपी वायु से दिशाओं में फैलाया, दूसरे राजाओं के मद का अपहरण किया, जिस प्रकार गन्ध-कुंजर की सुगन्ध हवा में फैल कर दूसरे हाथियों का अभिमान चूर्ण किरती है ।)

---

१. जातक १।४ के बाद का गद्य ।

२. "उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके ।
साहृश्यं व्यज्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ।।"—सा० द० १०।५

३. जातक० १।१४

४. "साहृश्यप्रयोजकसाधारणधर्मसम्बन्धो ह्युपमा ।"
—का० प्र० १०।८७ बालबोधिनी व्याख्या

५. "अलङ्कारशिरोरत्नं सर्वस्वं काव्यसम्पदाम् ।
उपमाकविवंशस्य मातैवेति मतिर्मम ।।"
—अलंकारशेखर ११।३ में राजशेखर के नाम से उद्धृत

६. "उपमैषा शैलूषी सम्प्राप्ता चित्रभूमिकाभेदान् ।
रञ्जयति काव्यरङ्गे नृत्यन्ती तद्विदां चेतः ।।"
—चित्रमीमांसा—उपमाप्रकरणारम्भ

७. जातक० २।६

यहाँ राजा की उपमा "गन्धकुंजर" (मतवाला हाथी) से दी गई है।

(ख) "अथ क्षितीशस्य तमत्युदारं
गात्रेष्वपि स्वेषु निवृत्तसङ्गम्।
विज्ञाय दानाश्रयिणं वितर्कं
पतिप्रिया स्त्रीव मही चकम्पे ॥"[1]

(अंगों से भी आसक्ति हटा कर दान देने के सम्बन्ध में राजा के उस उदार विचार को जान कर पति से प्रेम करनेवाली स्त्री की भाँति पृथ्वी काँपी।)

यहाँ "पतिप्रिया स्त्री" से "मही" की उपमा देकर कवि ने सुन्दर कल्पना की है। इस उपमा में लिंग एवं वचन तक का साम्य है।

(ग) "सत्यां च शक्तौ मम यद्युपेक्षा
स्यादाततायिन्यपि दुःखमग्ने।
कृत्वेव पापं मम तेन चित्तं
दह्येत कक्षं महताग्निनेव ॥"[2]

(यदि अत्याचारी भी दुःख में पड़ा हो और शक्ति के रहते मैं उसकी उपेक्षा करूँ तो मानो पाप करके उस पाप से मेरा चित्त ऐसे जलेगा जैसे अग्नि-पुंज से तृण जल जाय।)

यहाँ दुःख में पड़े आततायी के प्रति भी किये गये उपेक्षा-भाव में पाप की उत्प्रेक्षा कर महान् अग्नि से उसकी उपमा दी गयी है। अतएव उत्प्रेक्षा पर आधारित उपमा होने के कारण यह अंगांगिभाव संकर अलंकार की शोभा से सुशोभित है।

(घ) अनुप्रास की छटा से युक्त उपमा का गद्य में उदाहरण :—

"नीलोत्पलदलशकलरुचिरकान्तिनयनम्।"[3]

(नील-कमल की पंखुड़ी के समान मनोहर कान्तिमान् नेत्र………।)

यहाँ "ल" वर्ण की आवृत्ति से उत्पन्न अनुप्रास की छटा से मंडित समासगत उपमा की शोभा विलक्षण आनन्ददायिनी है। राजा के नेत्र की उपमा नील-कमल की पंखुड़ी से देकर कवि ने मनोहर कल्पना की है।

---

१. जातक० २।८
२. जातक० १।२४
३. जातक० २।२८ के बाद का गद्य

(ङ) अनुप्रास के साथ उपमा का पद्य में उदाहरण :—

"अथ मुदितजनप्रहासनादा
प्रविततपाण्डुरशीतचारुपक्षा ।
सलिलनिधिगता रराज सा नौ-
र्गतजलदे नभसीव राजहंसी ॥"[१]

(तब सफेद पाल के सुन्दर पंख फैल गये । प्रसन्न यात्रियों के हास्य से जहाज गूँज उठा । समुद्र में चलता हुआ जहाज ऐसे शोभित हुआ जैसे मेघमुक्त निर्मल आकाश में उड़ता हुआ राजहंस ।)

यहाँ समुद्र में चलते हुए जहाज ("सलिलनिधिगता नौः") की उपमा आकाश में चल रहे राजहंस (नभसि राजहंसी) से दी गयी है । यह उपमा "ल-ल" "र-र" तथा "सी-सी" से उत्पन्न अनुप्रास की शोभा से शोभित है ।

(च) यमक की छटा से मंडित उपमा :—

"ततः स राजा नयने प्रदाय
विपद्मपद्माकरतुल्यवक्त्रः ।
पौरैरसाधारणतुष्टिरासीत्
समग्रचक्षुर्ददृशे द्विजश्च ॥"[२]

(जब राजा ने अपने दोनों नेत्र दे दिये तब उनका मुख कमल-रहित सरोवर के समान कान्ति-हीन हो गया और उस ब्राह्मण के नेत्र अखण्ड दिखाई पड़े । इससे राजा को असाधारण आनन्द हुआ ।)

यहाँ नेत्र-रहित राजा के मुख (वक्त्र) की उपमा कमलरहित सरोवर (विपद्मपद्माकर) से दी गयी है । यह उपमा समासगत रहने पर भी "पद्म" शब्द में यमक के कारण अत्यन्त मनोहारिणी है ।

(छ) वाक्यगा श्रौती उपमा का उदाहरण—

"परीत्य कृत्स्नं मनसा नृलोक-
मन्येष्वलब्धप्रणयावकाशाः ।
तमर्थिनः प्रीतमुखाः समीयु-
र्महाह्रदं वन्यगजा इवैव ।"[३]

(चित्त द्वारा सम्पूर्ण मनुष्य-लोक में विचरण कर और दूसरों के यहाँ याचना करने का अवसर न पाकर याचकगण उनके ही समीप गये जैसे जंगल के हाथी महासरोवर के पास जा रहे हों ।)

---

१. जातक० १४।३२

२. जातक० २।२६

३. जातक० २।४

यहाँ बोधिसत्त्व शिविराज ("तम्") उपमेय, महासरोवर (महाह्लदं") उपमान, प्रसन्न मुख से जाना ("प्रीतमुखाः समीयुः") सामान्य धर्म और 'यथा" उपमावाचक शब्द है। इस प्रकार उपमेय, उपमान, सामान्य-धर्म एवं उपमावाचक शब्द – इन सबके उपस्थित रहने के कारण यह पूर्णोपमा का उदाहरण हुआ। साथ ही यह वाक्य में है तथा श्रवणमात्र से बोध करानेवाली है। अतएव यह वाक्यगा श्रौती उपमा है।

(ज) वाक्यगा श्रौती उपमा का एक अन्य उदाहरण—

"यतः प्रदानैरभिवर्ष याचकान्
ह्लदान् महामेघ इवाभिपूरयन्।
धनक्षयं नाप्स्यसि मत्परिग्रहा-
दिदं क्षमेथाश्च विचेष्टितं मम॥"[1]

(सरोवरों को जल से भरते हुए महामेघ के समान याचकों पर दान की वृष्टि करें। मेरी कृपा से आपका धन कभी क्षीण न होगा। आप मेरे इस आचरण को क्षमा करें।)

यहाँ बोधिसत्त्वभूत श्रेष्ठी की उपमा महामेघ से दी गयी है। 'महामेघ" उपमान है; वृष्टि करना (जल की और दान की) सामान्य धर्म है तथा 'इव" उपमा-वाचक शब्द है; किन्तु उपमेय का स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अतः यह लुप्तोपमा का उदाहरण है।

(झ) एक ही स्थल में कभी कभी उपमा-समूह का प्रयोग भी जातकमाला में दिखाई पड़ता है। जैसे मैत्रीबल-जातक में बोधिसत्त्व मैत्रीबल राजा के अपने ही शरीर के मांस और रक्त से यक्षों के रूप में आये अतिथि की सेवा करने का निश्चय जान कर पृथ्वी काँप उठी और सुमेरु पर्वत प्रकम्पित हो गये, जिससे वहाँ के वृक्षों से पुष्पवृष्टि होने लगी। उन पुष्पों का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते हैं—

"तदभ्रवद्व्योमनि मारुतेरितं
पतत्रिसङ्घेनेव वितानवत्क्वचित्।
विसृत्य माला ग्रथितेव कुत्रचित्-
समं समन्तान्नृपतेर्व्यकीर्यत॥"[2]

(हवा से प्रेरित होते वे फूल आकाश में कहीं बादल के समान, कहीं पक्षियों के झुण्ड के समान, कहीं चँदोबे के समान, कहीं गुंथी हुई विशाल माला के समान दिखाई पड़े और एक साथ ही राजा के चारों ओर आकर फैल गये।)

---

१. जातक० ५।३३
२. जातक० ८।६२

यहाँ हवा से प्रेरित पुष्पों की उपमा बादल, पक्षियों के झुण्ड, चँदोवा तथा गुंथी हुई माला से दी गयी है। उपमेय तथा उपमान दोनों प्रकृति से गृहीत हैं। अतएव यह उपमा स्वाभाविक सौन्दर्य से युक्त है।

(ञ) वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा का एक सुन्दर उदाहरण—चुड्डबोधि-जातक" में क्रोध के दोषों का वर्णन करते हुए बोधिसत्त्व कहते हैं—

"विस्मृत्य चात्मक्षमसिद्धिपक्षं
रोषात्प्रयात्येव तदुत्पथेन ।
निहीयते येन यशोऽर्थसिद्ध्या
तामिस्रपक्षेन्दुरिवात्मलक्ष्म्या ॥"[1]

(क्रोध के कारण मनुष्य अपने योग्य कल्याणपक्ष को भूल कर कुमार्गगामी हो जाता है, जिससे वह कीर्त्ति-हीन होता है, जैसे कृष्ण-पक्ष का चन्द्रमा श्रीहीन होता है।)

यहाँ क्रोध के कारण कुमार्गगामी एवं कीर्त्तिहीन मनुष्य की उपमा कृष्ण-पक्ष के श्रीहीन चन्द्रमा से दी गयी है। मनुष्य उपमेय, चन्द्रमा उपमान, हीनता (कीर्त्ति एवं श्री की) सामान्य धर्म एवं इव उपमावाचक शब्द—इन चारों के स्पष्ट उल्लेख होने के कारण यह पूर्णोपमा का उदाहरण है। साथ ही यह पूरे वाक्य में है तथा श्रवणमात्र से ही बोध होनेवाली है। अतएव वाक्यगा श्रौती पूर्णोपमा है।

(४) उत्प्रेक्षा[2] :—

आर्यशूर उपमा के बाद उत्प्रेक्षलाङ्कार का सर्वाधिक प्रयोग करते हैं। कुछ उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं :—

(क) वर्तकापोतक-जातक में दावाग्नि की विभीषिका का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं :—

"चण्डानिलास्फालनचञ्चलानि
भयद्रुतानीव वने तृणानि ।
सोऽग्निः ससंरम्भ इवाभिपत्य
स्फुरत्स्फुलिङ्गप्रकरो ददाह ॥

---

१. जातक० २१।३०

२. "सम्भावनमथोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य समेन यत् ।"—का० प्र० १०/९२
उत्प्रेक्षावाची शब्द :—
"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादिभिः ।
उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः ॥"—काव्यादर्श २।२३४

भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गसार्थं
परिभ्रमद्भीतमृगं समन्तात् ।
धूमौघमग्नं पटुवह्निशब्दं
वनं तदार्त्येव भृशं ररास ॥"[1]

(प्रचण्ड वायु के स्पर्श से काँपते हुए या उड़ते हुए, मानो भय से भागते हुए, तृणों को क्रोध से पकड़ कर वह अग्नि अपनी चमकती हुई चिनगारियों से दग्ध कर रहा था । भय से व्याकुल होकर भागते हुए पक्षियों से युक्त, भयभीत होकर चारों ओर दौड़ते हुए जानवरों मे भरा हुआ, धूम-राशि में डूबा हुआ तथा अग्नि के तीक्ष्ण शब्द से युक्त वह जंगल मानो पीड़ा से कराह रहा था । यहाँ प्रथम श्लोक में प्रचण्ड वायु के स्पर्श से उड़ हुए वन के तृणों में दावाग्नि के कारण भयभीत होकर भागने की उत्प्रेक्षा की गयी है तथा द्वितीय श्लोक में दावाग्नि के तीक्ष्ण शब्द में जंगल के पीड़ा से कराहने की उत्प्रेक्षा की गयी है ।

(ख) व्याघ्री-जातक में बोधिसत्त्व के प्रव्रजित होकर वन-गमन का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते हैं—

"स तत्र निःसङ्गतया तया च
प्रज्ञावदातेन शमेन चैव ।
प्रत्यादिदेशेव कुकार्यसङ्ग-
द्विश्लिष्टशिष्टोपशमं नृलोकम् ॥"[2]

(वहाँ उन्होंने अपनी अनासक्ति और प्रज्ञा-विमल शान्ति के द्वारा मनुष्य-लोक को, जो कुकार्यों में आसक्त होने के कारण सज्जनों की शान्ति से वंचित था, मानो तिरस्कृत और लज्जित किया ।)

यहाँ मनुष्य लोक को छोड़ दिया, इस व्यापार को "तिरस्कृत और लज्जित किया", इस रूप में संभावित कल्पना द्वारा कहा गया है । अतः यह क्रियास्वरूपोत्प्रेक्षा का उदाहरण है ।

(ग) शिबि-जातक में महाराज शिबि के गुणों का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते हैं :—

"तस्मिंस्त्रिवर्गानुगुणा गुणौघाः
संहर्षयोगादिव संनिविष्टाः ।
समस्तरूपा विबभुर्न चासु
विरोधसंक्षोभविपन्नशोभाः ॥"[3]

---

१. जातक० १६।५-६
२. जातक० १।७
३. जातक० २।१

(त्रिवर्ग—अर्थ, धर्म और काम की सिद्धि के अनुरूप सकल गुणगण मानो आनन्दातिरेक से उनमें प्रविष्ट हुए। एक साथ रहते हुए वे शोभित हुए, पारस्परिक विरोध-जन्य क्षोभ के अभाव से उनकी शोभा नष्ट नहीं हुई।)

सकल गुणों से युक्त होना इस क्रिया को आनन्दातिरेक से प्रविष्ट होना रूप में संभावित किया गया है। अत: यहाँ भी क्रियोत्प्रेक्षा है।

(घ) गद्य में उत्प्रेक्षा का उदाहरण—

व्याघ्री-जातक में पवित्र शील वाले ब्राह्मण वंश में उत्पन्न बोधिसत्त्व के प्रव्रजित होने का वर्णन करते हुए कवि कहते हैं—

"अथ कदाचित् स महात्मा परिनिष्पन्नभूयिष्ठे पृथूभूते शिष्यगणे प्रतिष्ठापितेऽस्मिन्कल्याणे वर्त्मन्यवतारिते नैष्क्रम्यसत्पथं लोके संवृत्तेष्विवापायद्वारेषु राजमार्गीकृतेष्विव सुगतिमार्गेषु दृष्टधर्मसुखविहारार्थं तत्कालशिष्येणाजितेनानुगम्यमानो योगानुकूलान् पर्वतदरीनिकुञ्जाननुविचचार।'[1]

(जब उनकी शिष्यमण्डली बहुत बढ़ गयी और उनमें से अनेकों ने सिद्धि प्राप्त कर ली, संसार में कल्याण-मार्ग स्थापित हो गया और लोग वैराग्य के सन्मार्ग पर आरूढ़ हो गये, दुर्गति के द्वार मानो बन्द हो गये और सुगति के मार्ग मानो राज-मार्ग की तरह प्रशस्त, समतल और सुगम बन गये, तब एक बार वह महात्मा इसी जन्म में सुखपूर्वक विहार करने के लिए अपने तत्कालीन शिष्य अजित के साथ योग के अनुकूल पर्वतकन्दराओं और निकुंजों में घूमने लगे।

५—रूपक[2] :—

"वर्तकापोतक-जातक" में दावाग्नि की भयंकरता का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते हैं—

(क) "स मारुताघूर्णितविप्रकीर्ण-
ज्वालाभुजैर्नृत्तविशेषचित्रैः।
वल्गन्निव व्याकुलधूमकेशः
सस्वान तेषां धृतिमाददानः॥"[3]

(वह दावाग्नि वायु-द्वारा संचालित ज्वालारूपी भुजाओं को फैलाता हुआ, बिखरे हुए धुआँ रूपी बालों को हिलाता हुआ, विशेष प्रकार का नृत्य करता हुआ, उछल-उछल कर आगे बढ़ता हुआ उन पशु-पक्षियों और वनस्पतियों का धैर्य हरण कर रहा था)

---

१. जातक० १।१२ के बाद का गद्य

२. "तद्रूपकमभेदो य उपमानोपमेययोः।"—का० प्र० १०।९३

३. जातक० १६।४

यहाँ ज्वाला उपमेय तथा भुजा उपमान है; इसी प्रकार धुआँ उपमेय तथा केश उपमान है। दोनों उपमेय तथा उपमान शब्द द्वारा कहे गये हैं। अतएव यह समस्तवस्तुविषयक[1] सांगरूपक है।

(ख) निरंग रूपक[2] का उदाहरण—

शिवि जातक में महाराज शिवि के नेत्र-दान का निश्चय जान कर घबराहट और दुःख से व्याकुल अमात्यगण उन्हें वैसा करने से रोकते हुए कहते हैं—

"एकस्यार्थे द्विजस्यास्य मा नः सर्वान्पराकृथाः।
अलं शोकाग्निना दग्धुं सुखं संवर्धिताः प्रजाः॥"[3]

(इस एक द्विज के लिए आप हम सबकी उपेक्षा न करें। सुख में पली हुई प्रजा को आप शोक-रूपी अग्नि से न जलायें।)

यहाँ केवल शोक-रूप उपमेय को अग्नि-रूप उपमान बनाया गया है और उसके किसी अप्रधान वस्तु का पोषक रूप से निर्देश नहीं किया गया है। अतएव अंगों से रहित होने के कारण यह निरंग (शुद्ध) रूपक का उदाहरण है।

(ग) गद्य में रूपक का उदाहरण :—

"प्रादुर्भूते च तस्मिन्नयनाश्चर्ये प्रमुदितमनाः स राजा पुनरपि शक्रमुवाच।"[4]

(नेत्र रूपी आश्चर्य के प्रकट होने पर प्रसन्नचित्त राजा ने पुनः शक्र से कहा।)

यहाँ नेत्ररूप उपमेय को आश्चर्य रूप उपमान बनाया गया है तथा उसके किसी अंग का वर्णन नहीं हुआ है। अतएव यह भी निरंग (शुद्ध) रूपक है।

६—अर्थान्तरन्यास[5] :—जैसे—

(क) व्याघ्री जातक में भूख की ज्वाला से व्याकुल हो अपने सद्यःप्रसूत शिशु को भी आहार बनाने के लिए उद्यत व्याघ्री की दयनीय दशा से द्रवीभूत बोधिसत्त्व का वर्णन करते हुए आर्यशूर कहते हैं :—

---

१. "समस्तवस्तुविषयं श्रौता आरोपिता यदा।—का० प्र० १०।९३
२. "निरङ्गन्तु शुद्धम्।"—का० प्र० १०।९४
३. जातक० २।१६
४. जातक० २।३६ के बाद का गद्य
५. "सामान्यं वा विशेषेण विशेषस्तेन वा यदि॥
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते।
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः॥"—सा० द० १०।६१-६२

"बोधिसत्त्वस्तु तां दृष्ट्वा धीरोऽपि करुणावशात् ।
चकम्पे परदुःखेन महीकम्पादिवाद्रिराट् ॥
महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः ।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ॥"[1]

(उस बाघिन को देख कर धीर होने पर भी बोधिसत्त्व करुणा के वशीभूत हो गये और दूसरे के दुःख से ऐसे काँपने लगे जैसे भूकम्प से गिरिराज काँप रहा हो ।

दयालु व्यक्ति अपने भारी दुःखों में भी धैर्य धारण करते हैं और दूसरे के हल्के दुःख से भी विचलित हो जाते हैं, यह आश्चर्य है ।)

यहाँ प्रथम वाक्य विशेष है और उसका समर्थन दूसरे सामान्य वाक्य से किया गया है । अतः विशेष का सामान्य से समर्थन-रूप अर्थान्तरन्यास है ।

(ख) कारण का कार्य से समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास—जैसे—

विश्वन्तर जातक में विश्वन्तर के अद्भुत दान-कर्म की परीक्षा के लिए आये हुए देवराज इन्द्र ब्राह्मण का रूप धारण कर उनसे पत्नी की याचना करते हुए कहते हैं—

"महाह्रदेष्वम्भ इवोपशेषं
न दानधर्मः समुपैति सत्सु ।
याचे ततस्त्वां सुरसन्निभा या
भार्यामिमामर्हसि तत्प्रदातुम् ॥"[2]

(जैसे बड़े-बड़े सरोवरों का जल नहीं सूखता है, वैसे ही सज्जनों का दान-धर्म बन्द नहीं होता है । अतः मेरी प्रार्थना है कि आपकी देवता-तुल्य जो यह पत्नी है, इसे आप मुझे दान कर दें ।)

यहाँ पूर्वार्ध कारण रूप वाक्य का उत्तरार्ध कार्यरूप वाक्य के द्वारा समर्थन हुआ है । अतएव कारण का कार्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास है । साथ ही पूर्वार्ध में उपमा है ।

(घ) कार्य का कारण से समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास का उदाहरण :—

"चुकोप मद्री न तु नो रुरोद
विवेद सा तस्य हि तं स्वभावम् ।
अपूर्वदुःखातिभरातुरा तु
तं प्रेक्षमाणा लिखितेव तस्थौ ॥"[3]

---

१. जातक० १।१६-१७

२. जातक० ९।६२

३. जातक० ९।६४

(पति के द्वारा ब्राह्मण रूपधारी इन्द्र को दान कर दिये जाने पर विश्वन्तर की पत्नी मद्री न क्रुद्ध हुई और न रोई; इसलिए कि वह अपने पति के स्वभाव से परिचित थी। किन्तु अभूतपूर्व दुःख के भारी दुःख से दुःखी होकर उनकी ओर देखती हुई वह चित्रलिखित सी खड़ी रही।)

यहाँ प्रथम चरण के कार्यरूप वाक्य का द्वितीय चरण के कारण-रूप वाक्य के द्वारा समर्थन किया गया है। अतएव कार्य का कारण से समर्थन रूप अर्थान्तर-न्यास अलंकार है।

(ङ) विशेष का सामान्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास; जैसे—

विश्वन्तर-जातक में ही ब्राह्मण रूप में बोधिसत्त्व विश्वन्तर के अद्भुत दान-कर्म की परीक्षा लेकर देवराज इन्द्र अपने वास्तविक रूप में प्रकट होते हैं और प्रसन्न होकर उससे कहते हैं :—

'तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्रीं भार्यामिमामहम्।
व्यतीत्य नहि शीतांशुं चन्द्रिका स्थातुमर्हति ॥"[1]

(मैं आपकी पत्नी इस मद्री को आपको ही वापस दे रहा हूँ। चन्द्रमा को छोड़ कर चन्द्रिका और कहाँ रह सकती है ?)

यहाँ पूर्वार्ध विशेष का उत्तरार्ध सामान्य से समर्थन किया गया है। अतएव विशेष का सामान्य से समर्थन रूप अर्थान्तरन्यास अलंकार है।

— —

१. जातक० ९।९९

उपसंहार

बौद्ध संस्कृत-साहित्य के अन्यतम रत्न जातकमाला पर किया गया यह अध्ययन मुख्यतः साहित्यपरक है। तथापि आनुषंगिक रूप में, विशेषतः उक्त ग्रन्थ को दार्शनिक पृष्ठभूमि के प्रतिपालन के लिए महायान बौद्ध धर्म की न्यूनाधिक चर्चा की गई है। महायान बौद्धधर्म की तत्त्वविवेचनात्मक (Metaphysical) स्थिति के निरूपण से यथासाध्य पृथक् रहते हुए भी यह दिखलाने का प्रयास हुआ है कि जातकमाला में महायान-सम्प्रदाय का आचारशास्त्रीय पक्ष तो प्रस्फुटित हुआ ही है, उसका तत्त्वविवेचनात्मक पक्ष भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। वस्तुतः दर्शनशास्त्र की विविधशाखायें (आचारशास्त्र, तत्त्व-मीमांसा तथा धर्म) बौद्ध-साहित्य में इस प्रकार घुल मिल गई है कि इन्हें अनन्य या एकान्तभाव से निरूपित करना अत्यन्त कठिन है।

मूलरूप से जातकमाला बोधिसत्त्व की कल्पना का चरम उत्कर्ष प्रकट करती है, जिसमें बुद्ध के बुद्धत्वलाभ के पूर्व जन्मों की कथाओं का निदर्शन है। बुद्ध के बोधिसत्त्वरूप में जो सिद्धि-लाभ के प्रति उन्मुखता या उत्कट उत्सुकता होनी चाहिए, वह इन अवदान-कथाओं में नहीं मिलती। लोक-कल्याण और परोपकार बोधिसत्त्व के जीवन का चरमलक्ष्य (Summum bonum) प्रतीत होता है। इस तथ्य का निरूपण प्रस्तुत कृति में सम्यक् प्रकार से किया गया है। इतना ही नहीं निर्वाण और पुनर्जन्म के विषय में आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन सम्प्रदायों के अन्तर्गत जो विवेचन हुए हैं, उन्हें भी बुद्धसम्मत निर्वाण के परिप्रेक्ष्य में देखने का प्रयास हुआ है।

वास्तव में किसी भी अध्ययन के मूल में दर्शनशास्त्र की विवेचना ही पृष्ठ-भूमि में काम करती है। मानव जीवन स्वयं एक दर्शन है। हम जो कुछ करते हैं, सोचते हैं, सबके पीछे एक निश्चित नियम है। बोधिसत्त्व के आचरणों में भी इसी दार्शनिकता का परिचय प्राप्त होता है। इसे जातकमाला का प्रत्येक जातक आर-म्भिक तथा अंतिम पंक्तियों में प्रकट करता है। इसलिए इस प्रबन्ध में दार्शनिक परिवेश का विवरण देकर यह सिद्ध किया गया है कि तथाकथित काव्यग्रन्थ के मूल में भी किस प्रकार दर्शन की पीठिका रहती है और जो ग्रन्थ दर्शन प्रधान काव्य हो, उसका तो कहना ही क्या ?

काल का निर्णय करना भारतीय इतिहास में बहुत ही दुःसाध्य तथा अनेकान्त व्यापार माना गया है। जातकमाला के लेखक के काल का निर्णय भी आनुमानिक ही है जो विशुद्ध बहिरंग प्रमाणों पर आश्रित है। इसके बाद इत्सिंग द्वारा उल्लेख तथा अजन्ता में कतिपय जातकों के भित्तिचित्र के आधार पर जो काल निर्णय किया गया है (४०० ई०), वह कभी भी एकान्त ज्ञान नहीं दे सकता, तथापि अधिक स्पष्ट

प्रमाणों के अभाव में यही स्वीकार करना पड़ा है। आर्यशूर की कृतियाँ, संख्या में कई होने पर भी कुछ केवल तिब्बती अनुवाद में ही उपलब्ध हैं। जातकमाला, सुभाषितरत्नकरण्डककथा तथा पारमितासमास ये तीन कृतियाँ ही मूल संस्कृत में उपलब्ध होती हैं। इन तीनों की शैली में समानता नहीं है, जिससे इनके एककर्त्तृत्व पर आशंका उठायी गई है। इससे प्रबन्ध में हमने सकारण निर्देश किया है कि जातकमाला ही आर्यशूर की एकमात्र प्रामाणिक कृति है।

आर्यशूर के व्यक्तित्व के विषय में यही अनुमान होता है कि वे एक प्रबुद्ध विद्वान् तथा उत्साही धर्मप्रचारक थे, जिन्होंने अश्वघोष के समान ही बौद्ध साहित्य को हृदय बना कर संस्कृत भाषा में उपनिबद्ध किया। बहुधा कहा जाता है कि किसी की शैली से उसके व्यक्तित्व का ज्ञान होता है। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि आर्यशूर सरल चित्तवृत्ति के व्यक्ति थ, जिन्हें अपने जीवन, कला तथा शैली में भी आर्जव प्रिय था।

प्रबन्ध का मुख्य वल जातकमाला के साहित्यिक अध्ययन पर रहा है। इसके सामग्री का उपयोग किया गया है। जातकमाला जिस प्रकार की शली म लिखी गई है, उसका प्रचार आर्यशूर के अनुमानित काल में पर्याप्त था। यह दिखलाया गया है कि किस प्रकार संस्कृत भाषा की तात्कालिक शैली ने आर्यशूर को प्रभावित किया है। प्रभावक शली दो विभिन्न दिशाओं से आती प्रतीत होती है। एक तो बौद्ध संस्कृत-साहित्य और दूसरी बौद्धेतर संस्कृत साहित्य। बौद्ध संस्कृत-साहित्य में भगवान् बुद्ध के जीवन चरित्र से सम्बद्ध ललितविस्तर का सविस्तर प्रभाव आर्यशूर की शली पर दिखलाया गया है। इसमें यह भी स्पष्ट किया गया है कि मुख्यत: गद्य शैली ही आर्यशूर को प्रभावित करती रही है। ललितविस्तर के पद्यों से आर्यशूर के पद्यों की कोई तुलना ही नहीं। वे उससे बहुत आगे बढ़े हुए हैं।

बौद्धेत्तर साहित्य के अन्तर्गत कई प्रकार की सामग्री पाते हैं। एक तो पंचतंत्र जैसे ग्रन्थों की कथा कहने वाली शैली जिसने भाव और कला दोनों ही दृष्टियों से जातकमाला को प्रभावित किया है। कथा का मुख्य सूत्र बढ़ाने वाले गद्य तथा सम्वाद अथवा भाषणपरक पद्य जिस प्रकार पंचतन्त्र में आये हैं, उसी प्रकार जातकमाला में भी। अत: संरचना (Structure) की दृष्टि से पंचतंत्र का प्रभाव जातकमाला पर सर्वाधिक है। किन्तु दानों में एक मुख्य अन्तर यह है कि जातकमाला की प्रत्येक कथा स्वतंत्र एवं पूर्ण है, जब कि पंचतंत्र में कथायें परस्पर उलझायी हुई हैं।

संस्कृत का शिलालेखीय साहित्य भी कदाचित् आर्यशूर को प्रभावित करने में पीछे नहीं रहा होगा। शिलालेख की शैली अपने समय की साहित्यिक शैली की परिचायिका होती है। अत: रुद्रदामन् का गिरनार शिलालेख या वासुदेव का मथुराशिलालेख या समुद्रगुप्त का प्रयागस्तम्भलेख अवश्य ही तात्कालिक शैली का

आदर्श है। इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि गद्य में समासभूयस्त्व के सन्निवेश के लिए आर्यशूर ने इन बौद्धेतर संस्कृत शैलियों का भी निरीक्षण किया होगा।

आर्यशूर के काल का जो निरूपण हमने किया है, उस काल में काव्यशास्त्र का कितना विकास हुआ था, कहना कठिन है, किन्तु काव्यशास्त्रीय मौलिक सिद्धान्त विशेषत: अलंकार, गुण, रीति दोष इत्यादि के विचार उस समय तक आकार ग्रहण कर चुके थे, भले ही उनका पल्लवन नहीं हुआ हो। अत: आर्यशूर अवश्य ही काव्यशास्त्रीय तथ्यों से परिचित होंगे। तथापि ऐसा प्रतीत नहीं होता कि ये किसी लक्षणग्रन्थ को दृष्टि में रख कर जातकमाला की रचना कर रहे हों। इनकी रचना का उद्देश्य धर्म के प्रति लोगों की श्रद्धा उत्पन्न करना तथा बोधिसत्त्व के अद्भुत चरित्रों के प्रति काव्यकुसुमांजलि का अर्पण करना था। अत: इनकी जातकमाला में जो कुछ भी काव्यशास्त्रीय तत्त्व यत्र-यत्र बिखरे हुए मिलते हैं, वे सायास उपनिबद्ध नहीं हुए हैं। इस प्रबन्ध में एक पूरा अध्याय ही काव्यशास्त्रीय तत्त्वों के संदर्भ में जातकमाला के अध्ययन में लगाया गया है। संस्कृत आलोचना के जो भी सिद्धान्त समय-समय पर प्रस्तुत किए गये हैं तथा काव्य की आत्मा का स्वरूप निर्धारण किया गया है, उन सबों की पृष्ठभूमि में यदि हम देखें, तो जातकमाला में रीति तथा अलंकारों का ही निवेश मिलता है। काव्यशास्त्र के उदात्ततर तत्त्व—जैसे ध्वनि, रस, तथा मम्मट-सम्मत रस धर्म रूप गुण इसमें नहीं मिलते। यही कारण है कि आर्यशूर की शैली को विशुद्धोक्ति से पूर्ण माना गया है, किन्तु यह विशुद्धोक्ति कालिदास की शैली के निकट इन्हें नहीं पहुँचाती, क्योंकि कालिदास में सरल उक्तियों के पीछे रस और ध्वनि की उदारपरियोजना है। यहाँ तक कि अश्वघोष में भी धर्मप्रचारक का रूप मुखर होने पर भी हृदयतत्त्व का अभाव नहीं है, किन्तु आर्यशूर के वर्णन आधुनिक भाषा में इतिवृत्तात्मक कहे जा सकते हैं, जहां हृदयतत्त्व या प्राणतत्त्व के लिए कोई स्थान नहीं। विशुद्ध का अर्थ उस विदग्ध आलोचक के हृदय में यही रहा होगा कि आर्यशूर की भाषा, रस आदि तत्त्वों से सर्वथा रहित है। वस्तु का वर्णन करना ही उसका उद्देश्य है।

काव्यशास्त्र के आधार पर फिर भी जातकमाला को अत्यन्त निकृष्ट काव्य नहीं कहा जा सकता। विशुद्ध शैली में लिखे गये गद्य और पद्य निबद्ध में यह प्रबन्ध काव्य तो है ही, इसे हम चम्पूकाव्य का प्रारूप कहें तो कोई आपत्ति नहीं। यह सत्य है कि संस्कृत-साहित्य में नीतिकथापरक चम्पू नहीं लिखे गये। संस्कृत के सभी चम्पू काव्य किसी महापुरुष के जीवनचरित से ही सम्बद्ध हैं तथापि प्राय: जीवनचरित से ही सम्बन्ध रखने पर भी जातकमाला की दिशा दूसरी है। पंचतंत्र से प्रेरित उस शैली को काव्यात्मक करनेवाली जातकमाला का स्थान वस्तुत: संस्कृत-साहित्य के इतिहास में एक दृढ़ भूमिका पर अवस्थित है तथा परवर्त्ती साहित्यिक विकास के ऐतिहासिक अध्ययन में इसका योगदान महत्वपूर्ण है।

जातकमाला में जो सबसे प्रेषणीय वस्तु है, वह प्रकृति-चित्रण है। मानव-प्रकृति हो अथवा मानवेतर—दोनों का ही इसमें समान स्थान है। यह अवश्य है

कि मानवप्रकृति अध्यात्मपरक है। किसी भी जातक में आनेवाले बोधिसत्त्व को अध्यात्मवादी मानव तथा उनके विरोधी शक्र को ईर्ष्यालु मानव के रूप में प्रदर्शित किया गया है। शक्र के द्वारा ली गई कठिन-परीक्षा में भी बोधिसत्त्व की आध्यात्मिक दृष्टि सर्वथा निष्कलुष रहती है। दूसरी ओर कथावस्तु का विस्तार करने के लिए मानवेतर प्रकृति का भी उपन्यास किया गया है जिसमें प्रकृति के घोर तथा रमणीय दोनों ही पक्षों का सुरम्य चित्रण है। वस्तुतः कवि-कल्पना वह सुरम्य प्रासाद है, जिसमें जाकर प्रत्येक वस्तु चमत्कारपूर्ण बन जाती है। इस प्रकार जातकमाला के लेखक को अपने धर्मप्रचाररूप उद्देश्य में काव्यविधा का माध्यम अपनाने से पूर्ण सफलता मिली है।

—०—

परिशिष्ट १

विशेष शब्दानुक्रमणी

परिशिष्ट—२

सन्दर्भ-ग्रन्थ

(अ) जातक विषयक :—

जातकमाला — आर्यशूर—सं० प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरी, संस्कृत भवन, पूर्णिया, १९५२ ई० ।

जातकमाला — आर्यशूर—सं० परशुराम वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९ ई० ।

जातकमाला — आर्यशूर—सं० प्रो० श्री सूर्यनारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसी दास, पटना, १९७१ ई० ।

जातकमाला — आर्यशूर—सं० पं० श्री वटुकनाथ शास्त्री, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, बनारस, सं० १९९७ ।

जातक — सं० भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, छः खंड, १९४१-४२ ई० ।

जातककालीन भारतीय संस्कृति — मोहनलाल महतो वियोगी, विहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५८ ई० ।

जातककथा — आनन्द कौसल्यायन—सस्ता साहित्य मण्डल प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५० ई० ।

जातकमाला — रामचन्द्र वर्मा—साहित्य रत्नमाला कार्यालय, बनारस सिटी, सं० १९८१ ।

पालिजातकरत्नावलिः — सं० पं० श्री वटुकनाथ शास्त्री, मास्टर खेलाड़ी लाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, कचौड़ी गली, बनारस सिटी, १९४० ई० ।

The Jatakamala — Aryasura—Ed. by H. Kern, Harvard University Press, 1943.

The Jatakamala of Aryasura — Ed. by R. C. Dwivedi, Motilal Banarsidass, Benaras, 1965.

The Jatakamala or Garland of Birth-stories — Aryasura tr. by J. S. Speyer, Motilal Banarsidass, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi-7, 1971.

A Study of the Jatakas — Analytical and Critical—M. L. Feer, Sushil Gupta (India) Private Ltd. 22/3-c, Galiff Street, Calcutta-4, 1963.

Significance of Jatakas — Gokul Das De, Calcutta University, 1951.

Studies in Jataka in Connection with Bodhisattva Idea — T. Sugimoto, Ph.D. Thesis of Patna University, 1966.

(आ) बौद्ध दर्शन :—

बोधिचर्यावतार — सं० डॉ० पी० एल्० वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६० ई०।

बौद्धधर्म दर्शन — आचार्य नरेन्द्र देव—बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना-४, १९७१ ई०।

बौद्ध-दर्शन — बलदेव उपाध्याय—शारदा मंदिर, काशी, १९४६ ई०।

बौद्ध-दर्शन और वेदान्त — डॉ० चन्द्रधर शर्मा, स्टूडेन्ट्स फ्रेन्ड्स, बनारस, १९४९ ई०।

बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक — परशुराम चतुर्वेदी, साहित्य-भवन (प्रा० लिमिटेड), इलाहाबाद, १९५८ ई०।

बौद्ध-संस्कृति — राहुल संकृत्यायन, आधुनिक पुस्तक भवन, ३०-३१, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता-७, १९५२ ई०।

बुद्ध और बौद्ध-धर्म — आचार्य चतुरसेन शास्त्री, हिन्दी साहित्य मंडल, बाजार सीताराम, देहली, १९४७ ई०।

बुद्ध-धर्म के उपदेश — भिक्षु धर्मरक्षित, अजन्ता प्रेस लिमिटेड, पटना-४, १९५१ ई०।

बुद्ध-वचनामृत — सं० शासन श्री महास्थविर महाबोधिसभा, सारनाथ, वाराणसी, १९५६ ई०।

महायानसूत्र-संग्रह (प्र० खण्ड) — सं० परशुराम वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५९ ई०।

मिलिन्दपञ्हो (मिलिन्दप्रश्न) — संस्कृतच्छायाकार एवं सं० डॉ० जगन्नाथ पाठक, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, १९६० ई०।

ललितविस्तरः — सं० परशुराम वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९५८ ई०।

अभिधर्मकोश — वसुबन्धु, अनु०—आचार्य नरेन्द्रदेव, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १९५८ ई०।

धम्मपदं — सं० श्री सत्कारि शर्मा वङ्गीय, चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी, १९६८ ई०।

भगवान बुद्ध — धर्मानन्द कोसम्बी, राजकमल प्रकाशन लिमिटेड, बम्बई, १९५६ ई०।

थेरगाथा — भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, बनारस, १९५५ ई०।

अपदानपालि (खुद्दकनिकाय भाग ६) — सं० भिक्खु जगदीस कस्सपो, पालि प्रकाशन समिति, नालन्दा, पटना, १९५९ ई०।

तत्त्वसंग्रहः (प्रथमो भागः)	—	आचार्य शान्तरक्षितविरचितः श्री कमलशीलकृतपञ्जिकोपेतः, बौद्ध भारती, वाराणसी, १९६८ ई० ।
The Conception of Buddhist Nirvan	—	Th. Scherbatsky, Bharatiya Vidya Prakashan, P. Box 108, Kachauri gali, Varanasi–I
Bodhisattvabhumi	—	Ed. by Nalinaksha Dutta, K. P. Jayaswal Research Institute, Patna, 1966
The Bodhisattva Doctrine in Buddhist Sanskrit Literature	—	Har Dayal, Motilal Banarasidass, Bungalow Road, Jawahar Nagar, Delhi–7, 1970.
The History and Literature of Buddhism	—	T. W. Rhys Davids, Sushil Gupta (India) Ltd., Calcutta–12, 1952.
Buddhist Philosophy in India and Cylon	—	A. B. Keith. The Chowkhamba Sanskrit Series Office, Varanasi–1, 1963.
The Buddhist Conception of Sprits	—	Bimala Churan Law, Luzac & Co. 46, Great Russell Street, London, W. C 9, 1936.
The Way to Nirvana	—	L.De La Vallee Poussin, Cambridge University Press, London, 1917.
Dialogues of the Buddha (Sacred Books of the Buddhists Vol. III)	—	T. W. and C. A. F. Rhys Davids, London, Oxford University Press, Amen Corner, E C, 1910.
The Cullaniddesa. (Khuddaka Nikaya Vol. IV, Pt. II)	—	Ed. Bhikkhu J. Kashyap, Pali Publication Board, Bihar, Nalanda, Patna. 1959.
The SamyuttaNikaya of the Sutta-pitaka P.. I–IV	—	Ed. by M. L. Feer, Pt. VI–Index—Ed. by Mrs. Rhys Davids, Pali Text Society, London, 1884-98.
The Apadana (II Buddhavamsa–Cariya. Pitaka (Khuddaka N.kaye Vol. VII)	—	Ed. Bhikkhu J. Kashyap, Pali Publication Board, Bihar, Govt. Nalanda, Patna, 1959.

(इ) अन्य दर्शन

भारतीय दर्शन (भाग १, २)	—	डॉ० राधाकृष्णन्, अनु० नन्द किशोर गोमिल, राजपाल एण्ड संस दिल्ली–६, १९६९ ई० ।
भारतीय दर्शन	--	वाचस्पति गैरोला, लोकभारती प्रकाशन, १५-ए, महात्मा गाँधी मार्ग, इलाहाबाद, १९६२ ई० ।
भारतीय दर्शन	—	श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं श्री धीरेन्द्र मोहन दत्त, अनु०—श्री हरिमोहन झा एवं श्री नित्यानन्द मिश्र, पुस्तक-भंडार, पटना–४, द्वि० सं० ।

भारतीय दर्शन	—	म० म० उमेश मिश्र—हिन्दी समिति, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६४ ई० ।
भारतीय दर्शन	—	बलदेव उपाध्याय शारदा मंदिर, १९/१७, गणेश दीक्षित लेन, वनारस, १९४५ ई० ।
भारतीय दर्शन की रूपरेखा	—	प्रो० हरेन्द्र प्रसाद सिन्हा, बुकलैण्ड प्राइवेट लिमिटेड, १, शंकर घोष लेन, कलकत्ता–६, १९६५ ई० ।
सर्वदर्शन-संग्रह	—	श्री माधवाचार्य—सं० श्री वासुदेव शास्त्री अभ्यंकर, भाण्डारकर ओरियेन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९५१ ई० ।
सर्वदर्शन-संग्रह	—	श्री माधवाचार्य—आनन्दाश्रम संस्कृत ग्रन्थावली, १९२८ ई० ।
सर्वदर्शन-संग्रह	—	श्री माधवाचार्य—भाष्यकार डॉ० उमाशंकर शर्मा "ऋषि", चौखम्बा विद्या भवन, वाराणसी–१, १९६४ ई० ।
छान्दोग्योपनिषत्	—	गीता प्रेस, गोरखपुर, संवत् २०२३ ।
छान्दोग्योपनिषत्	—	सं० हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९०२ ई० ।
बृहदारण्यकोपनिषत्	—	सं० हरिनारायण आप्टे, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, १९०२ ई० ।
बृहदारण्यकोपनिषत् (शांकरभाष्यसहित)	—	गीता प्रेस, गोरखपुर संवत् २०१४ ।
ईशादिविंशोत्तर-शतोपनिषद्	—	निर्णयसागर मुद्रणालयम्, मुंबई–२, १९४८ ई० ।
श्रीमद्भगवद्गीता (शांकरभाष्य सहित)	—	अनु० हरेकृष्ण दास गोयन्दका, गीताप्रेस, गोरखपुर, संवत् २०१८ ।
श्रीमद्भगवद्गीता	—	सं० श्री वासुदेव लक्ष्मण पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९३६ ई० ।
सांख्यतत्त्वकौमुदी	—	प्रभा—व्याख्याकार प्रो० डॉ० आद्या प्रसाद मिश्र, प्रेम प्रकाशन, इलाहाबाद, १९६९ ई० ।
न्यायसूत्रम् (वात्स्यायन न्याय-भाष्यसहितम्)	—	गौतममुनि सं० महामहोपाध्याय डॉ० गङ्गानाथ झा, ओरिएंटल बुक एजेंसी, पूना, १९३९ ई० ।
Indian Philosophy (Vol. I)	—	Radha Krishnan, George Allen & Unwin Ltd. London, 1966.
History of Indian Philosophy (Vol.–1)	—	J. N. Sinha--Sinha Publishing House, 39, S. R. Dass Road, Cal -26, 1956.

(ई) काव्यशास्त्र एवं छन्दःशास्त्र :—

हिन्दी काव्यालंकार-सूत्राणि — वामन—सं० प्रो० डॉ० बेचन झा, अध्यक्ष संस्कृत विभाग, पटना विश्वविद्यालय, पटना, चौखम्बा सीरिज आफिस, वाराणसी–१, १९७१ ई०।

साहित्य दर्पण — विश्वनाथ—सं० श्री शालिग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, बंगला रोड, जवाहरनगर, दिल्ली–६, १९६१ ई०।

काव्यप्रकाश (वामन झलकीकर व्याख्या सहित) — मम्मट—सं० रघुनाथ दामोदर कर्मकार, भाण्डारकर ओरियन्टल रीसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९२१ ई०।

काव्यादर्श — आचार्य दण्डी—व्याख्या० एवं सं० पं० रङ्गाचार्य शास्त्री, भाण्डारकार ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, पूना, १९३८ ई०।

काव्यादर्श — दण्डी—व्याख्या० आचार्य श्री रामचन्द्र मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी-१, १९५८ ई०।

काव्यलक्षणम् — दण्डी—सं० प्रो० श्री अनन्तलाल ठाकुर, मिथिला संस्कृत शोध संस्थान, दरभंगा, १९५७ ई०।

दशरूपक — धनञ्जय—हिन्दी व्याख्या० डॉ० भोलाशंकर व्यास, चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी–१, १९६७ ई०।

चित्र-मीमांसा — श्री अप्पय दीक्षित प्रणीत—सं० पं० श्री शिवदत्त शर्मा तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई०।

नाट्यशास्त्र (खण्ड १-३) — भरत—जी० ओ० एस०, बरोदा, १९२६-१९५४ ई०।

काव्यशास्त्रीयनिबन्ध — डॉ० सत्यदेव चौधरी—वासुदेव प्रकाशन, दिल्ली–९, १९६३ ई०।

भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका — डॉ० नगेन्द्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९६३ ई०।

संस्कृत आलोचना — बलदेव उपाध्याय—प्रकाशन ब्यूरो, सूचना विभाग, १९५७ ई०।

अलंकारशेखर — केशव मिश्र—सं० पं० शिवदत्त, पाण्डुरंग जावजी, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १९२६ ई०।

वृत्तरत्नाकरम् — भट्टकेदार—सं० श्रीधरानन्द शास्त्री, पंजाब संस्कृत पुस्तकालय, सैदमिट्ठा बाजार, लाहौर, १ ज्येष्ठ, सं० १९९४।

वृत्तरत्नाकरम् तथा छन्दोमंजरी	—	केदार भट्ट तथा गंगादास—कलकत्ता, १८१५ ई० ।
वाग्वल्लभः	—	श्रीदुःखभंजन—चौखम्वा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस सिटी, १८३३ ई० ।
सभाष्या रत्नमञ्जूषा	—	सं० हरिदामोदर वेलनकर, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस सिटी, सितम्बर १८४८ ई० ।
छन्दस्सारः	—	पं० जगन्नाथ पाण्डेय—चौखम्त्रा संस्कृत सीरिज ऑफिस बनारस, १८३० ई० ।
श्रुतबोध	—	कालिदास—चोखम्त्रा संस्कृत सीरिज ऑफिस, बनारस ।
छन्दःसूत्रम्	—	पिङ्गलमुनि ।
पाश्चात्य साहित्यालोचन	—	श्री लीलाधर गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, १८५२ ई० ।
Jayadaman	—	Ed. by H. D. Velankar Haritosha, Samiti, Bombay.
Matravritti	—	S. K. Vel Valkar, Poona, 1924.
Janasrayl Chandovlciti	—	Curator, The University Manuscript Library, Trivendram, 1949.
Literary Criticism	—	Leigh Hunt, Columbia University Press, New York, 1956.
Kavyadarsa	—	Dandin—Ed. by V. Ramaswami, Shastrulu & Sons, 292, Netajee Subhaschandra Bose, Road Post Box 1372, Madras, 1952.

(उ) विविधविषयक :—

सदुक्तिकर्णामृत	—	श्रीहर्ष—सं० म०म० पं० रामावतार शर्मा, पंजाब संस्कृत बुक डिपो, सैदमीठा स्ट्रीट, लाहौर, १८३३ ई० ।
अभिधान चिन्तामणि	—	हेमचन्द्र—व्याख्या०—श्री हरगोविन्द शास्त्री, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी–१, १८६० ई० ।
अभिधान चिन्तामणि	—	निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८२५ ई० ।
हरिश्चन्द्रोपाख्यानम्	—	सं० डॉ० उमाशंकर शर्मा 'ऋषि" चौखम्त्रा विद्याभवन, वाराणसी–१, १८६३ ई० ।
हिन्दी विश्वकोश (खण्ड १)	—	नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १८६० ई० ।
रामायणम्	—	१. वाल्मीकि—सं० श्री वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री पणशीकर, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, १८३० ई० । २. सं०—रामतेज पाण्डेय, पंडित पुस्तकालय, काशी, सं० २०१३ ।

श्रीमन्महाभारतम् (तृतीय भाग) — महर्षि श्री कृष्णद्वैपायन--गीताप्रेस, गोरखपुर, विक्रमाब्द १९१४।

उत्कीर्णलेखाञ्जलिः — श्री जयचन्द्र विद्यालंकार, मास्टर खेलाड़ीलाल एण्ड सन्स, संस्कृत बुक डिपो, कचौड़ी गली, बनारस सिटी, १९३६ ई०।

ऋग्वेदभाष्यभूमिका — व्याख्या० डॉ० जगन्नाथ पाठक—चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी-१, १९६० ई०।

अभिज्ञानशाकुन्तलम् (चतुर्थ संस्करण) -- कालिदास--सं० डॉ० बाबूराम त्रिपाठी, रतन प्रकाशन मन्दिर, अस्पताल मार्ग, आगरा ३।

The Dynamics of Faith — Khagendra Nath Mitra, University of Calcutta, 1952.

A Short History of Indian Literature — E. Horrwitz, London, T. Fisher Unwin, Adel Phi Terrace, 1907.

The Panchatantra -- Vishnu Sharma, Ed. by Dr. Johannes Hertel, Harvard University, 1908.

Pillar Edicts of Ashoka — Dr. Umashankar Sharma, Pt. Sasthi Prasad Sharma (at & p. o 1, Pondil. Gaya. (Bihar)

Hindu Polity -- Dr. K P. Jayaswal, the Bangalore Printing & Publishing Corporation Ltd., Bangalore City, 1943.

Gita Govinda -- Jaideo--Ed. by V. M. Kulkarni, Lalbhai Delpat bhai, Bhartiya Sanskrit Vidyamandir, Ahmedabad-9, Dece. 1965.

Ratnavali -- Shree Harsha Deo--Ed. by M. R. Kale--Gopal Narayan & Co. Kalabadevi Road, Bombay, 1925.

Collected Works of Sir R. G. Bhandarkar (Vol. 1) -- Ed. by Narayan Bapujee Utgilkar & by Vasudev Gopal Paranipe--Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona, 1933.

Benisanharam -- Bhatta Narayan, Ed. by Dr. G. V. Devasthali, Bombay, June, 1953.

The Pilgrim's Progress -- John Bunyan--Macmillan and Co, Limited. St. Martins Street, London, 1923.

Studies in the Literary aspects of the Bhagvata Purana" -- S. S. Prasad, Ph. D. Thesis P. U. 1962

The Buddhacarita (Part I & II) — Ed. by E. H. Johnston–The University of Punjab, Lahore, 1935, 1936.

Shrimadvalmiki-Ramayanam (Vol. I & II) -- Published--R. Narayana Swami. Madras Law Journal Press, Myalapore, Madras 1933.

Sadukti Karnamrita	—	Shridhardasa, Ed. by Suresh Chandra Banerjee. Firma K. L. Mukhopadhyaya, Calcutta—1965.
National Library, India Catalogue of Periodicals, News-papers & Gazette	—	Govt. of India Press, Calcutta, 1956.
Indian Antiquary Vol.–XXXII	—	1903—Bombay, Education Society's Press, Byculla. P–326–29.
University of Calcutta Journal of the Department of Letters	—	Vol–XX. Calcutta University Press, 1930. P–1–170.
The Calcutta Review	—	University of Calcutta. Vol–XXXIV, January 1930, P. 78–97, Vol–XXXVI, July 1930, P–65–84, 299–321

तृतीयं परिशिष्टम्

बोधिसत्त्वावदानमालापरपर्याया

जातकमाला

आर्यशूरविरचिता

डॉ० कमलाकान्तमिश्रेण डॉ० जगन्नाथपाठकेन

च

सम्पादिता

जातकानुक्रमणिका

———

जातकमाला

ॐ नमः श्रीसर्वबुद्धबोधिसत्त्वेभ्यः ।।

श्रीमन्ति सद्गुणपरिग्रहमङ्गलानि कीर्त्यास्पदान्यनवगीतमनोहराणि ।
पूर्वप्रजन्मसु मुनेश्चरिताद्भुतानि भक्त्या स्वकाव्यकुसुमाञ्जलिनार्चयिष्ये ।। १ ।।
श्लाघ्यैरमीभिरभिलक्षितचिह्नभूतैरादेशितो भवति यत्सुगतत्वमार्गः ।
स्यादेव रूक्षमनसामपि च प्रसादो धर्म्याः कथाश्च रमणीयतरत्वमीयुः ।। २ ।।
लोकार्थमित्यभिसमीक्ष्य करिष्यतेऽयं श्रुत्यार्षयुक्त्यविगुणेन पथा प्रयत्नः ।
लोकोत्तमस्य चरितातिशयप्रदेशैः स्वं प्रातिभं गमयितुं श्रुतिवल्लभत्वम् ।। ३ ।।
स्वार्थोद्यतैरपि परार्थचरस्य यस्य नैवान्वगम्यत गुणप्रतिपत्तिशोभा ।
सर्वज्ञ इत्यवितथाक्षरदीप्तकीर्तिं मूर्ध्ना नमे तमसमं सहधर्मसंघम् ।। ४ ।।

१ व्याघ्री-जातकम्

सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः ।।

तद्यथानुश्रूयते—रत्नत्रयगुरुभिः प्रतिपत्तिगुणाभिराधितगुरुभिर्गुणप्रविचयगुरुभिरस्मद्गुरुभिः परिकीर्त्यमानमिदं भगवतः पूर्वजन्मावदानम् ।

बोधिसत्त्वः किलायं भगवान्भूतः प्रतिज्ञातिशयसदृशैर्दानप्रियवचनार्थचर्याप्रभृतिभिः प्रज्ञापरिग्रहनिरवद्यैः कारुण्यनिस्यन्दैर्लोकमनुगृह्णन् स्वधर्माभिरत्युपनतशुचिवृत्तिन्युदितोदिते महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार। स कृतसंस्कारक्रमो जातकर्मादिभिरभिवर्धमानः प्रकृतिमेधावित्वात्सानाथ्यविशेषाज्ज्ञानकौतूहलादकौसीद्याच्च नचिरेणैवाष्टादशसु विद्यास्थानेषु स्वकुलक्रमाविरुद्धासु च सकलासु कलास्वाचार्यकं पदमवाप ।

स ब्रह्मवद् ब्रह्मविदां बभूव राजेव राज्ञां बहुमानपात्रम् ।
साक्षात्सहस्राक्ष इव प्रजानां ज्ञानार्थिनामर्थचरः पितेव ।। ५ ।।

तस्य भाग्यगुणातिशयसमावर्जितो महाँल्लाभसत्कारयशोविशेषः प्रादुरभूत् । धर्माभ्यासभावितमतिः कृतप्रव्रज्यापरिचयस्तु बोधिसत्त्वो न तेनाभिरेमे ।

स पूर्वचर्यापरिशुद्धबुद्धिः कामेषु दृष्ट्वा बहुदोषजातम् ।
गार्हस्थ्यमस्वास्थ्यमिवावधूय कंचिद्वनप्रस्थमलंचकार ।। ६ ।।
स तत्र निःसङ्गतया तया (च) प्रज्ञावदातेन शमेन चैव ।
प्रत्यादिदेशेव कुकार्यसङ्गाद्विश्लिष्टशिष्टोपशमं नृलोकम् ।। ७ ।।
मैत्रीमयेण प्रशमेन तस्य विस्यन्दिनेवानुपरीतचित्ताः ।
परस्परद्रोहनिवृत्तभावास्तपस्विवद् व्यालमृगा विचेरुः ।। ८ ।।
आचारशुद्ध्या निभृतेन्द्रियत्वात्संतोषयोगात्करुणागुणाच्च ।
असंस्तुतस्यापि जनस्य लोके सोऽभूत् प्रियस्तस्य यथैव लोकः ।। ९ ।।

अल्पेच्छभावात्कुहनानभिज्ञस्त्यक्तस्पृहो लाभयशःसुखेषु ।
स देवतानामपि मानसानि प्रसादभक्तिप्रवणानि चक्रे ॥ १० ॥
श्रुत्वाथ तं प्रव्रजितं मनुष्या गुणैस्तदीयैरवबद्धचित्ताः ।
विहाय बन्धूंश्च परिग्रहांश्च तच्छिष्यतां सिद्धिमिवोपजग्मुः ॥ ११ ॥
शीले शुचाविन्द्रियभावनायां स्मृत्यप्रमोषे प्रविविक्ततायाम् ।
मैत्र्यादिके चैव मनःसमाधौ यथाबलं सोऽनुशशास शिष्यान् ॥ १२ ॥

अथ कदाचित्स महात्मा परिनिष्पन्नभूयिष्ठे पृथूभूते शिष्यगणे प्रतिष्ठापितेऽस्मिन्कल्याणे वर्त्मन्यवतारिते नैष्क्रम्यसत्पथं लोके संवृतेष्विवापायद्वारेषु राजमार्गीकृतेष्विव सुगतिमार्गेषु दृष्टधर्मसुखविहारार्थं तत्कालशिष्येणाजितेनानुगम्यमानो योगानुकूलान् पर्वतदरीनिकुञ्जाननुविचचार ।

अथात्र व्याघ्रवनितां ददर्श गिरिगह्वरे ।
प्रसूतिक्लेशदोषेण गतां निस्पन्दमन्दताम् ॥ १३ ॥
परिक्षामेक्षणयुगां क्षुधा छाततरोदरीम् ।
आहारमिव पश्यन्तीं बालान्स्वतनयानपि ॥ १४ ॥
स्तन्यतर्षादुपसृतान्मातृविस्रम्भनिर्व्यथान् ।
रोरूयितरवैः क्रूरैर्भर्त्सयन्तीं परानिव ॥ १५ ॥
बोधिसत्त्वस्तु तां दृष्ट्वा धीरोऽपि करुणावशात् ।
चकम्पे परदुःखेन महीकम्पादिवाद्रिराट् ॥ १६ ॥
महत्स्वपि स्वदुःखेषु व्यक्तधैर्याः कृपात्मकाः ।
मृदुनाप्यन्यदुःखेन कम्पन्ते यत्तदद्भुतम् ॥ १७ ॥

अथ स बोधिसत्त्वः ससंभ्रमाम्रेडितपदं स्वभावातिशयव्यञ्जकं करुणाबलसमाहिताक्षरं शिष्यमुवाच—वत्स वत्स !

पश्य संसारनैर्गुण्यं मृग्येषा स्वसुतानपि ।
लङ्घितस्नेहमर्यादा भोक्तुमन्विच्छति क्षुधा ॥ १८ ॥
अहो बतातिकष्टेयमात्मस्नेहस्य रौद्रता ।
येन मातापि तनयानाहारयितुमिच्छति ॥ १९ ॥
आत्मस्नेहमयं शत्रुं को वर्धयितुमर्हति ।
येन कुर्यात् पदन्यासमीदृशेष्वपि कर्मसु ॥ २० ॥

तच्छीघ्रमन्विष्यतां तावत्कुतश्चिदस्याः क्षुद्दुःखप्रतीकारहेतुर्यावन्न तनयानात्मानं चोपहन्ति। अहमपि चैनां प्रयतिष्ये साहसादस्मान्निवारयितुम् । स तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रक्रान्तस्तदाहारान्वेषणपरो बभूव। अथ बोधिसत्त्वस्तं शिष्यं सव्यपदेशमतिवाह्य चिन्तामापेदे ।

संविद्यमाने सकले शरीरे कस्मात्परस्मान्मृगयामि मांसम् ।
याद‍ृच्छिकी तस्य हि लाभसंपत् कार्यात्ययः स्याच्च तथा ममायम् ॥ २१ ॥

अपि च

निरात्मके भेदिनि सारहीने दुःखे कृतघ्ने सततामुचौ च ।
देहे परस्मायुपयुज्यमाने न प्रीतिमान्यो न विचक्षणः सः ॥ २२ ॥

स्वसौख्यसङ्गेन परस्य दुःखमुपेक्ष्यते शक्तिपरिक्षयाद्वा ।
न चान्यदुःखे सति मेऽस्ति सौख्यं सत्यां च शक्तौ किमुपेक्षकः स्याम् ॥ २३ ॥
सत्यां च शक्तौ मम यद्युपेक्षा स्यादाततायिन्यपि दुःखमग्ने ।
कृत्वेव पापं मम तेन चित्तं दह्येत कक्षं महताग्निनेव ॥ २४ ॥
तस्मात्करिष्यामि शरीरकेण तटप्रपातोद्गतजीवितेन ।
संरक्षणं पुत्रवधाच्च मृग्या मृग्याः सकाशाच्च तदात्मजानाम् ॥ २५ ॥

किं च भूयः—

सदर्शनं लोकहितोत्सुकानामुत्तेजनं मन्दपराक्रमाणाम् ।
संहर्षणं त्यागविशारदानामाकर्षणं सज्जनमानसानाम् ॥ २६ ॥
विषादनं मारमहाचमूनां प्रसादनं बुद्धगुणप्रियाणाम् ।
व्रीडोदयं स्वार्थपरायणानां मात्सर्यलोभोपहतात्मनां च ॥ २७ ॥
श्रद्धापनं यानवराश्रितानां विस्मापनं त्यागकृतस्मयानाम् ।
विशोधनं स्वर्गमहापथस्य त्यागप्रियाणामनुमोदि नृणाम् ॥ २८ ॥
कदा नु गात्रैरपि नाम कुर्यां हितं परेषामिति यश्च मेऽभूत् ।
मनोरथस्तत्सफलीक्रियां च संबोधिमग्र्यामपि चाविदूरे ॥ २९ ॥

अपि च ।

न स्पर्धया नैव यशोऽभिलाषान्न स्वर्गलाभान्न च राज्यहेतोः ।
नात्यन्तिकेऽप्यात्मसुखे यथायं ममादरोऽन्यत्र परार्थसिद्धेः ॥ ३० ॥
तथा ममानेन समानकालं लोकस्य दुःखं च सुखोदयं च ।
हर्तुं च कर्तुं च सदास्तु शक्तिस्तमः प्रकाशं च यथैव भानोः ॥ ३१ ॥
दृष्टे गुणेऽनुस्मृतिमागतो वा स्पृष्टः कथायोगमुपागतो वा ।
सर्वप्रकारं जगतो हितानि कुर्यामजस्रं सुखसंहितानि ॥ ३२ ॥
एवं स निश्चित्य परार्थसिद्ध्यै प्राणात्ययेऽप्यापतितप्रमोदः ।
मनांसि धीराण्यपि देवतानां विस्मापयन्स्वां तनुमुत्ससर्ज ॥ ३३ ॥

अथ सा व्याघ्री तेन बोधिसत्त्वस्य शरीरनिपातशब्देन समुत्थापितकौतूहलामर्षा विरम्य स्वतनयवैशसोद्यमात्ततो नयने विचिक्षेप । दृष्ट्वैव च बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं सहसाभिसृत्य भक्षयितुमुपचक्रमे ।

अथ स तस्य शिष्यो मांसमनासाद्यैव प्रतिनिवृत्तः कुत्रोपाध्याय इति विलोकयंस्तद्बोधिसत्त्वशरीरमुद्गतप्राणं तया व्याघ्रयुवत्या भक्ष्यमाणं ददर्श । स तत्कर्मातिशयविस्मयात्प्रतिव्यूढशोकदुःखावेगस्तद्गुणाश्रयबहुमानमिवोद्गिरन्निदमात्मगतं ब्रुवाणः शोभेत ।

अहो दयास्य व्यसनातुरे जने स्वसौख्यनैःसङ्ग्यमहो महात्मनः ।
अहो प्रकर्षं गमिता स्थितिः सतामहो परेषां मृदिता यशःश्रियः ॥ ३४ ॥
अहो पराक्रान्तमपेतसाध्वसं गुणाश्रयं प्रेम परं प्रदर्शितम् ।
अहो नमस्कारविशेषपात्रतां प्रसह्य नीतास्य गुणातनुस्तनुः ॥ ३५ ॥

निसर्गसौम्यस्य वसुंधराधृतेरहो परेषां व्यसनेष्वमर्षिता ।
अहो मदीया गमिता प्रकाशतां खट्वङ्कता विक्रमसंपदानया ।। ३६ ।।
अनेन नाथेन सनाथतां गतं न शोचितव्यं खलु सांप्रतं जगत् ।
पराजयाशङ्कितजातसंभ्रमो ध्रुवं विनिश्वासपरोऽद्य मन्मथः ।। ३७ ।।

सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय सर्वभूतशरण्यायातिविपुलकारुण्यायाप्रमेयसत्त्वाय भूतार्थबोधिसत्त्वाय महासत्त्वायेति । अथ स तमर्थं सब्रह्मचारिभ्यो निवेदयामास ।

तत्कर्मविस्मितमुखैरथ तस्य शिष्यैर्गन्धर्वयक्षभुजगैस्त्रिदशाधिपैश्च ।
माल्याम्बराभरणचन्दनचूर्णवर्षैश्छन्ना तदस्थिवसुधा वसुधा बभूव ।।३८।।

तदेवं सर्वसत्त्वेष्वकारणपरमवत्सलस्वभावः सर्वभूतात्मभूतः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति बुद्धे भगवति परः प्रसादः कार्यः । जातप्रसादैश्च बुद्धे भगवति परा प्रीतिरुत्पादयितव्या । एवमायतनगतो नः प्रसाद इत्येवमप्युन्नेयम् । तथा सत्कृत्य धर्मः श्रोतव्यः। एवं दुष्करशतसमुदानीतत्वात् करुणावर्णेऽपि वाच्यमेवं स्वभावातिशयस्य निष्पादिका परानुग्रहप्रवृत्तिहेतुः करुणेति ।

इति व्याघ्रीजातकं प्रथमम्

———

२. शिबि-जातकम्

दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवानपरिमितकालाभ्यासात्सात्मीभूतोपचितपुण्यकर्मा कदाचिच्छिबीनां राजा बभूव। स बाल्यात्प्रभृत्येव वृद्धोपासनरतिर्विनयानुरक्तोऽनुरक्तप्रकृतिः प्रकृतिमेधावित्वादनेकविद्याधिगमविपुलतरमतिरुत्साहमंत्रप्रभाव-[प्रभुत्व]-शक्तिदैवसंपन्नः स्वा इव प्रजाः प्रजाः पालयति स्म ।

तस्मिंस्त्रिवर्गानुगुणा गुणौघाः संहर्षयोगादिव संनिविष्टाः ।
समस्तरूपा विबभुर्न चासुर्विरोधसंक्षोभविपन्नशोभाः ।।१।।
विडम्बनेवाविनयोद्धतानां दुर्मेधसामापदिवातिकष्टा ।
अल्पात्मनां या मदिरेव लक्ष्मीर्बभूव सा तत्र यथार्थनामा ।।२।।
उदारभावात्करुणागुणाच्च वित्ताधिपत्याच्च स राजवर्यः ।
रेमेऽर्थिनामीप्सितसिद्धिहर्षादक्लिष्टशोभानि मुखानि पश्यन् ।।३।।

अथ स राजा दानप्रियत्वात्समन्ततो नगरस्य सर्वोपकरणधनधान्यसमृद्धा दानशालाः कारयित्वा स्वमाहात्म्यानुरूपं यथाभिप्रायसंपादितं सोपचारं मनोहरमनतिक्रान्तकालसुभगं दानवर्षं कृतयुगमेघ इव ववर्ष। अन्नमन्नार्थिभ्यः, पानं पानार्थिभ्यः, शयनासनवसनभोजनगन्धमाल्यरजतसुवर्णादिकं तत्तदर्थिभ्यः। अथ तस्य राज्ञः प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मितप्रमुदितहृदया नानादिगभिलक्षितदेशनिवासिनः पुरुषास्तं देशमुपजग्मुः ।

परीत्य कृत्स्नं मनसा नृलोकमन्येष्वलब्धप्रणयावकाशाः ।
तमर्थिनः प्रीतमुखाः समीयुर्महाह्लदं वन्यगजा यथैव ॥ ४ ॥

अथ स राजा समन्ततः समापततो लाभाशाप्रमुदितमनसः पथिकजननेपथ्यप्रच्छादितशोभस्य वनीपकजनस्य

विप्रोषितस्येव सुहृज्जनस्य संदर्शनात्प्रीतिविजृम्भिताक्षः ।
याच्ञां प्रियाख्यानमिवाभ्यनन्दद्दत्त्वा च तुष्ट्यार्थिजनं जिगाय ॥ ५ ॥
दानोद्भवः कीर्तिमयः सुगन्धस्तस्यार्थिनां वागनिलप्रकीर्णः ।
मदं जहारान्यनराधिपानां गन्धद्विपस्येव परद्विपानाम् ॥ ६ ॥

अथ कदाचित्स राजा दानशालाः समनुविचरंस्तृप्तत्वादर्थिजनस्य प्रविरलं याचकजनसंपातमभिसमीक्ष्य दानधर्मस्यानुत्सर्पणान्न तुष्टिमुपजगाम ।

तर्षं विनिन्येऽर्थिजनस्तमेत्य न त्वर्थिनः प्राप्य स दानशौण्डः ।
न ह्यस्य दानव्यवसायमर्थी याच्ञाप्रमाणेन शशाक जेतुम् ॥ ७ ॥

तस्य बुद्धिरभवत्—अतिसभाग्यास्ते सत्पुरुषविशेषा ये विस्रम्भनिर्यन्त्रणप्रणयमर्थिभिः स्वगात्राण्यपि याच्यन्ते । मम पुनः प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरवचनसंतर्जित इवार्थिजनो धनमात्रकेऽप्रगल्भप्रणयः संवृत्त इति ।

अथ क्षितीशस्य तमत्युदारं गात्रेष्वपि स्वेषु निवृत्तसङ्गम् ।
विज्ञाय दानाश्रयिणं वितर्कं पतिप्रिया स्त्रीव मही चकम्पे ॥ ८ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः क्षितितलचलनादकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पतितवितर्कस्तस्य राज्ञ इमं वितर्कातिशयं धरणीतलचलननिमित्तमवेत्य विस्मयावर्जितहृदयश्चिन्तामापेदे ।

दानातिहर्षोद्धतमानसेन वितर्कितं किं स्विदिदं नृपेण ।
आबध्य दानव्यवसायकक्ष्यां स्वगात्रदानस्थिरनिश्चयेन ॥ ९ ॥

तन्मीमांसिष्ये तावदेनमिति । अथ तस्य राज्ञः पर्षदि निषण्णस्यामात्यगणपरिवृतस्य समुचितायां कृतायामर्थिजनस्य कः किमिच्छतीत्याह्वानावघोषणायामुद्धाट्यमानेषु कोशाध्यक्षाधिस्थितेषु मणिकनकरजतधननिचयेषु विश्लेष्यमाणासु पुटासु विविधवसनपरिपूर्णगर्भासु समुपावर्त्यमानेषु विनीतविविधवाहनस्कन्धप्रतिष्ठितयुगेषु विचित्रेषु यानविशेषेषु प्रवृत्तसंपातेऽर्थिजने शक्रो देवानामिन्द्रो वृद्धमन्धं ब्राह्मणरूपमभिनिर्माय राज्ञश्चक्षुःपथे प्रादुरभवत् । अथ तस्य राज्ञः कारुण्यमैत्रीपरिभावितया धीरप्रसन्नसौम्यया प्रत्युद्गत इव परिष्वक्त इव च दृष्ट्या केनार्थ इत्युपनिमन्त्र्यमाणः क्षितिपानुचरैर्नृपतिसमीपमुपेत्य जयाशीर्वचनपुरःसरं राजानमित्युवाच—

दूरादपश्यन्स्थविरोऽभ्युपेतस्त्वच्चक्षुषोऽर्थी क्षितिपप्रधान ।
एकेक्षणेनापि हि पङ्कजाक्ष गम्येत लोकाधिप लोकयात्रा ॥ १० ॥

अथ स बोधिसत्त्वः समभिलषितमनोरथप्रसिद्ध्या परं प्रीत्युत्सवमनुभवन् किंस्विदिदं सत्यमेवोक्तं ब्राह्मणेन स्यादुत विकल्पाभ्यासान्मयैवमवधारितमिति जातविमर्शश्चक्षुर्याच्ञाप्रियवचनश्रवणतृषितमतिस्तं चक्षुर्याचनकमुवाच—

केनानुशिष्टस्त्वमिहाभ्युपेतो मां याचितुं ब्राह्मणमुख्य चक्षुः ।
सुदुस्त्यजं चक्षुरिति प्रवादः संभावना कस्य मयि व्यतीता ॥ ११ ॥

अथ स ब्राह्मणवेषधारी शक्रो देवेन्द्रस्तस्य राज्ञ आशयं विदित्वोवाच—

शक्रस्य शक्रप्रतिमानुशिष्टया त्वां याचितुं चक्षुरिहागतोऽस्मि ।
संभावनां तस्य ममैव चाशां चक्षुःप्रदानात्सफलीकुरुष्व ॥ १२ ॥

अथ स राजा शक्रसंकीर्तनान्नूनमस्य ब्राह्मणस्य भवित्री देवतानुभावादनेन विधिना चक्षुःसंपदिति मत्वा प्रमोदविशदाक्षरमेनमुवाच—

येनाभ्युपेतोऽसि मनोरथेन तमेष ते ब्राह्मण पूरयामि ।
आकाङ्क्षमाणाय मदेकमक्षि ददामि चक्षुर्द्वयमप्यहं ते ॥ १३ ॥

स त्वं विबुद्धनयनोत्पलशोभितास्यः
संपश्यतो व्रज यथाभिमतं जनस्य ।
स्यात् किं नु सोऽयमुत नेति विचारदोला-
लोलस्य सोऽयमिति चोत्थितविस्मयस्य ॥ १४ ॥

अथ तस्य राज्ञोऽमात्याश्चक्षुःप्रदानावसायमवेत्य ससंभ्रमावेगविषादव्यथितमनसो राजानमूचुः—

दानातिहर्षादनयमसमीक्ष्याहितोदयम् ।
प्रसीद देव मा मैवं न चक्षुर्दातुमर्हसि ॥ १५ ॥
एकस्यार्थे द्विजस्यास्य मा नः सर्वान्पराकृथाः ।
अलं शोकाग्निना दग्धुं सुखं संवर्धिताः प्रजाः ॥ १६ ॥

धनानि लक्ष्मीप्रतिबोधनानि श्रीमन्ति रत्नानि पयस्विनीर्गाः ।
रथान् विनीतांश्च युजः प्रयच्छ मदोर्जितश्रीललितान् द्विपान्वा ॥ १७ ॥
समुच्चरन्नूपुरनिस्वनानि शरत्पयोदाभ्यधिकद्युतीनि ।
गृहाणि सर्वर्तुसुखानि देहि मा दाः स्वचक्षुर्जगदेकचक्षुः ॥ १८ ॥

विमृश्यतामपि च तावन्महाराज !

अन्यदीयं कथं नाम चक्षुरन्यत्र योज्यते ।
अथ देवप्रभावोऽयं त्वच्चक्षुः किमपेक्ष्यते ॥ १९ ॥

अपि च देव !

चक्षुषा किं दरिद्रस्य पराभ्युदयसाक्षिणा ।
धनमेव यतो देहि देव मा साहसं कृथाः ॥ २० ॥

अथ स राजा तानमात्यान्सानुनयमधुराक्षरमित्युवाच—

अदाने कुरुते बुद्धिं दास्यामीत्यभिधाय यः ।
स लोभपाशं प्रभ्रष्टमात्मनि प्रतिमुञ्चति ॥ २१ ॥
दास्यामीति प्रतिज्ञाय योऽन्यथा कुरुते मनः ।
कार्पण्यानिश्चितमतेः कः स्यात्पापतरस्ततः ॥ २२ ॥
स्थिरीकृत्यार्थिनामाशां दास्यामीति प्रतिज्ञया ।
विसंवादनरूक्षस्य वचसो नास्ति निष्कृतिः ॥ २३ ॥

यदपि चेष्टं देवतानुभावादेव चक्षुरस्य किं न संभवतीत्यत्र श्रूयताम्—

नैककारणसाध्यत्वं कार्याणां ननु दृश्यते ।
कारणान्तरसापेक्षः स्याद्दैवोऽपि विधिर्यतः ॥ २४ ॥

तन्न मे दानातिशयव्यवसाये विघ्नाय व्यायन्तुमर्हन्ति भवन्त इति ।

अमात्या ऊचुः—धनधान्यरत्नानि देवो दातुमर्हति न स्वचक्षुरिति विज्ञापितमस्माभिः । तन्न देवं वयमतीर्थे प्रतारयामः । राजोवाच—

यदेव याच्येत तदेव दद्यान्नानीप्सितं प्रीणयतीह दत्तम् ।
किमुह्यमानस्य जलेन तोयैर्दास्याम्यतः प्रार्थितमर्थमस्मै ॥ २५ ॥

अथ तस्य राज्ञो दृढतरविस्रम्भप्रणयः स्नेहावेगादनपेक्षितोपचारोऽमात्यमुख्यस्तं राजानमित्युवाच—मा तावद् भोः !

या नाल्पेन तपःसमाधिविधिना संप्राप्यते केनचिद्
यामासाद्य च भूरिभिर्मखशतैः कीर्तिं दिवं चाप्नुयात् ।
संप्राप्तामतिपत्य तां नृपतितां शक्रर्द्धिविस्पर्धिनीं
किं दृष्ट्वा नयने प्रदित्सति भवान्कोऽयं कुतस्त्यो विधिः ॥ २६ ॥

लब्धावकाशस्त्रिदशेषु यज्ञैः कीर्त्या समन्तादवभासमानः ।
नरेन्द्रचूडाद्युतिरञ्जिताङ्घ्रिः किं लिप्समानो नु ददासि चक्षुः ॥ २७ ॥

अथ स राजा तममात्यं सानुनयमित्युवाच—

नायं यत्नः सार्वभौमत्वमाप्तुं नैव स्वर्गं नापवर्गं न कीर्तिम् ।
त्रातुं लोकानित्ययं त्वादरो मे याच्ञाक्लेशो मा च भूदस्य मोघः ॥ २८ ॥

अथ स राजा नीलोत्पलदलशकलरुचिरकान्ति नयनमेकं वैद्यपरिदृष्टेन विधिना शनकैरक्षतमुत्पाट्य परया प्रीत्या चक्षुर्याचनकाय प्रायच्छत् । अथ शक्रो देवेन्द्रस्तादृशमृद्ध्यभिसंस्कारं चक्रे यथा ददर्श स राजा सपरिजनस्तत्तस्य चक्षुश्चक्षुःस्थाने प्रतिष्ठितम् । अथोन्मिषितैकचक्षुषं चक्षुर्याचनकमभिवीक्ष्य स राजा परमेण प्रहर्षेण समापूर्णहृदयो द्वितीयमप्यस्मै नयनं प्रायच्छत् ।

ततः स राजा नयने प्रदाय विपद्मपद्माकरतुल्यवक्त्रः ।
पौरैरसाधारणतुष्टिरासीत्समग्रचक्षुर्ददृशे द्विजैश्च ॥ २९ ॥

अन्तःपुरेऽथ मनुजाधिपतेः पुरे च
शोकाश्रुभिर्वसुमती सिषिचे समन्तात् ।
शक्रस्तु विस्मयमवाप परां च तुष्टिं
संबोधये नृपमकम्प्यमतिं समीक्ष्य ॥३०॥

अथ शक्रस्य विस्मयावर्जितहृदयस्यैतदभवत्—

अहो धृतिरहो सत्त्वमहो सत्त्वहितैषिता ।
प्रत्यक्षमपि कर्मेदं करोतीव विचारणाम् ॥ ३१ ॥

तन्नायमाश्चर्यसत्त्वश्चिरमिमं परिक्लेशमनुभवितुमर्हति । यतः प्रयतिष्ये चक्षुरस्योपायप्रदर्शनादुत्पादयितुम् ।

अथ तस्य राज्ञः क्रमात्संरूढनयनव्रणस्यावगीतप्रतनूभूतान्तःपुरपौरजानपदशोकस्य प्रविवेककामत्वादुद्यानपुष्करिण्यास्तीरे कुसुमभरावनतरुचिरतरुवरनिचिते मृदुसुरभिशिशिरसुखपवने मधुकरगणोपकूजिते पर्यङ्केण निषण्णस्य शक्रो देवेन्द्रः पुरस्तात्प्रादुरभवत्। क एष इति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत्—

शक्रोऽहमस्मि देवेन्द्रस्त्वत्समीपमुपागतः।

राजोवाच। स्वागतम्। आज्ञाप्यतां केनार्थ इति। स उपचारपुरःसरमुक्तो राजानं पुनरुवाच—

वरं वृणीष्व राजर्षे यदिच्छसि तदुच्यताम्॥ ३२॥

अथ स राजा प्रदानसमुचितत्वादनभ्यस्तयाच्ञाकार्पण्यमार्गो विधृत्य विस्मयशौटीर्यमेनमुवाच—

प्रभूतं मे धनं शक्र शक्तिमच्च महद् बलम्।
अन्धभावात्त्विदानीं मे मृत्युरेवाभिरोचते॥ ३३॥

कृत्वापि पर्याप्तमनोरथानि प्रीतिप्रसादाधिकलोचनानि।
मुखानि पश्यामि न याचकानां यत्तेन मृत्युर्दयितो ममेन्द्र॥ ३४॥

शक्र उवाच—अलमलमनेन ते व्यवसायेन। सत्पुरुषा एवेदृशान्यनुप्राप्नुवन्ति। अपि च पृच्छामि तावद् भवन्तम्।

इमामवस्थां गमितस्य याचकैः कथं नु ते संप्रति तेषु मानसम्।
प्रचक्ष्व तत्तावदलं निगूहितुं व्रजेश्च संप्रत्यपनीय तां यथा॥ ३५॥

राजोवाच—कोऽयमस्मान् विकत्थयितुमत्रभवतो निर्बन्धः? अपि च देवेन्द्र श्रूयताम्—

तदैव चैर्तार्हि च याचकानां वचांसि याच्ञानियताक्षराणि।
आशीर्मयाणीव मम प्रियाणि यथा तथोदेतु ममैकमक्षि॥ ३६॥

अथ तस्य राज्ञः सत्याधिष्ठानबलात् पुण्योपचयविशेषाच्च वचनसमनन्तरमेवेन्द्रनीलशकलाक्रान्तमध्यमिव नीलोत्पलदलसदृशमेकं चक्षुः प्रादुरभवत्। प्रादुर्भूते च तस्मिन्नयनाश्चर्ये प्रमुदितमनाः स राजा पुनरपि शक्रमुवाच—

यश्चापि मां चक्षुरयाचतैकं तस्मै मुदा द्वे नयने प्रदाय।
प्रीत्युत्सवैकाग्रमतिर्यथासं द्वितीयमप्यक्षि तथा ममास्तु॥ ३७॥

अथाभिव्याहारसमनन्तरमेव तस्य राज्ञो विस्पर्धमानमिव तेन नयनेन द्वितीयं चक्षुः प्रादुरभवत्।

ततश्चकम्पे सधराधरा धरा व्यतीत्य वेलां प्रससार सागरः।
प्रसक्तगम्भीरमनोज्ञनिस्वनाः प्रसस्वनुर्दुन्दुभयो दिवौकसाम्॥ ३८॥
प्रसादरम्यं ददृशे वपुर्दिशां रराज शुद्धया शरदीव भास्करः।
परिभ्रमच्चन्दनचूर्णरञ्जितं पपात चित्रं कुसुमं नभस्तलात्॥ ३९॥
समाययुर्विस्मयफुल्ललोचना दिवौकसस्तत्र सहाप्सरोगणाः।
ववौ मनोज्ञात्मगुणः समीरणो मनस्सु हर्षो जगतां व्यजृम्भत॥ ४०॥

उदीरिता हर्षपरीतमानसैर्महर्द्धिभिर्भूतगणैः सविस्मयैः ।
नृपस्य कर्मातिशयस्तवाश्रयाः समन्ततः शुश्रुविरे गिरः शुभाः ॥ ४१ ॥
अहो बतौदार्यमहो कृपालुता विशुद्धता पश्य यथास्य चेतसः ।
अहो स्वसौख्येषु निरुत्सुका मतिर्नमोऽस्तु तेऽभ्युद्गतधैर्यविक्रम ॥ ४२ ॥
सनाथतां साधु जगद्गतं त्वया पुनर्विबुद्धेक्षणपङ्कजश्रिया ।
अमोघरूपा बत पुण्यसञ्चयाश्चिरस्य धर्मेण खलूर्जितं जितम् ॥ ४३ ॥

अथ शक्रः साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य पुनरुवाच—

न नो न विदितो राजंस्तव शुद्धाशयाशयः ।
एवं नु प्रतिदत्ते ते मयेमे नयने नृप ॥ ४४ ॥
समन्ताद्योजनशतं शैलैरपि तिरस्कृतम् ।
द्रष्टुमव्याहता शक्तिर्भविष्यत्यनयोश्च ते ॥ ४५ ॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैव चान्तर्दधे ।

अथ बोधिसत्त्वो विस्मयपूर्णमनोभिर्मन्दमन्दनिमेषप्रविकसितनयनैरमात्यैरनुयातः पौरैश्चाभिवीक्ष्यमाणो जयाशीर्वचनपुरःसरैश्च ब्राह्मणैरभिनन्द्यमानः पुरवरमुच्छ्रितध्वजविचित्रपताकं प्रवितन्यमानाभ्युदयशोभमभिगम्य पर्षदि निषण्णः सभाजनार्थमभिगतस्यामात्यप्रमुखस्य ब्राह्मणवृद्धपौरजानपदस्यैवमात्मोपनायिकं धर्मं देशयामास—

को नाम लोके शिथिलादरः स्यात् कर्तुं धनेनार्थिजनप्रियाणि ।
दिव्यप्रभावे नयने ममेमे प्रदानपुण्योपनते समीक्ष्य ॥ ४६ ॥
अनेकशैलान्तरितं योजनानां शतादपि ।
अदूरस्थितविस्पष्टं दृश्यं पश्यामि सर्वतः ॥ ४७ ॥
परानुकम्पाविनयाभिजाताद्दानात्परः कोऽभ्युदयाभ्युपायः ।
यन्मानुषं चक्षुरिहैव दत्त्वा प्राप्तं मयाऽमानुषदिव्यचक्षुः ॥ ४८ ॥
एतद्विदित्वा शिबयः प्रदानैर्भोगेन चार्थान् सफलीकुरुध्वम् ।
लोके परस्मिन्निह चैष पन्थाः कीर्तिप्रधानस्य सुखोदयस्य ॥ ४९ ॥
धनस्य निःसारलघोः स सारो यद्दीयते लोकहितोन्मुखेन ।
निधानतां याति हि दीयमानमदीयमानं निधनैकनिष्ठम् ॥ ५० ॥

तदेवं दुष्करशतसमुदानीतोऽयमस्मदर्थं तेन भगवता सद्धर्म इति सत्कृत्य श्रोतव्यः । तथागतमाहात्म्ये पूर्ववच्च करुणावर्णेऽपि वाच्यम्-इहैव पुण्यफलप्रदर्शने चैवं सत्कृत्योपचितानि पुण्यानीहैव पुष्पमात्रमात्मप्रभावस्य कीर्तिसंततिमनोहरं प्रदर्शयन्तीति ॥

इति शिविजातकं द्वितीयम् ।

---

३. कुल्माषपिण्डी-जातकम्

चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान्कोशलाधिपतिर्बभूव। तस्योत्साहमन्त्रप्रभु [त्व]-शक्तिसम्पत्प्रभृतीनां प्रकर्षिणामपि राजगुणानां विभूतिमतिशिश्ये दैवसम्पद्गुणशोभा।

गुणास्तस्याधिकं रेजुर्दैवसम्पद्विभूषणाः।
किरणा इव चन्द्रस्य शरदुन्मीलितश्रियः॥ १॥

तत्याज दृप्तानपि तस्य शत्रून् रक्तेव रेमे तदपाश्रितेषु।
इत्यास तस्यान्यनराधिपेषु कोपप्रसादानुविधायिनी श्रीः॥ २॥

धर्मात्मकत्वान्न च नाम तस्य परोपतापाशिवमास चेतः।
भृत्यानुरागस्तु तथा जजृम्भे द्विषत्सु लक्ष्मीर्न यथास्य रेमे॥ ३॥

सोऽनन्तरातीतां स्वजातिमनुसस्मार। तदनुस्मरणाच्च समुपजातसंवेगो विशेषवत्तरं श्रमणब्राह्मणकृपणवनीपकेभ्यः सुखहेतुनिदानं दानमदाच्छीलसंवरमनवरतं पुपोष पोषधनियमं च पर्वदिवसेषु समाददे। अभीक्ष्णं च राजा पर्षदि स्वस्मिंश्चान्तःपुरे पुण्यप्रभावोद्भावनाल्लोकं श्रेयसि नियोक्तुकामः प्रतीतहृदयो गाथाद्वयमिति नियतार्थं बभाषे—

न सुगतपरिचर्या विद्यते स्वल्पिकापि
प्रतनुफलविभूतिर्यच्छ्रुतं केवलं प्राक्।
तदिदमलवणायाः शुष्करूक्षारुणायाः
फलविभवमहत्त्वं पश्य कुल्माषपिण्ड्याः॥ ४॥

रथतुरगविचित्रं मत्तनागेन्द्रनीलं
बलमकृशमिदं मे मेदिनी केवला च।
बहु धनमनुरक्ता श्रीरुदाराश्च दाराः
फलसमुदयशोभां पश्य कुल्माषपिण्ड्याः॥ ५॥

तममात्या ब्राह्मणवृद्धाः पौरमुख्याश्च कौतूहलाघूर्णितमनसोऽपि न प्रसहन्ते स्म पर्यनुयोक्तुं किमभिसमीक्ष्य महाराजो गाथाद्वयमिदमभीक्ष्णं भाषत इति। अथ तस्य राज्ञो वाग्मित्यत्वादव्याहततरप्रणयप्रसरा देवी समुत्पन्नकौतूहला संकथाप्रस्तावागतं पर्षदि पर्यपृच्छदेनम्।

नियतमिति नरेन्द्र भाषसे हृदयगतां मुदमुद्गिरन्निव।
भवति मम कुतूहलाकुलं हृदयमिदं कथितेन तेन ते॥ ६॥

तदर्हति श्रोतुमयं जनो यदि प्रचक्ष्व तत्किं न्विति भाषसे नृप।
रहस्यमेवं च न कीर्त्यते क्वचित्प्रकाशमस्माच्च मयापि पृच्छ्यते॥ ७॥

अथ स राजा प्रीत्यभिस्निग्धया दृष्ट्या समभिवीक्ष्य देवीं स्मितप्रविकसितवदन उवाच—

अविभाव्य निमित्तार्थं श्रुत्वोद्गारमिमं मम।
न केवलं तवैवात्र कौतूहलचलं मनः॥ ८॥

समन्तमप्येतदमात्यमण्डलं कुतूहलाघूर्णितलोलमानसम्।
पुरं च सान्तःपुरमत्र तेन मे निशाम्यतां येन मयैवमुच्यते॥ ९॥

सुप्तप्रबुद्ध इव जातिमनुस्मरामि
यस्यामिहैव नगरे भृतकोऽहमासम् ।
शीलान्वितोऽपि धनमात्रसमुच्छ्रितेभ्यः
कर्माभिराधनसमर्जितदीनवृत्तिः ॥ १० ॥

सोऽहं भृतिं परिभवश्रमदैन्यशालां
त्राणाशयात्स्वयमवृत्तिभयाद्विविक्षुः ।
भिक्षार्थिनश्च चतुरः श्रमणानपश्यं
वश्येन्द्रियाननुगतानिव भिक्षुलक्ष्म्या ॥ ११ ॥

तेभ्यः प्रसादमृदुना मनसा प्रणम्य
कुल्माषमात्रकमदां प्रयतः स्वगेहे ।
तस्याङ्कुरोदय इवैष यदन्यराज-
चूडाप्रभाश्चरणरेणुषु मे निषक्ताः ॥ १२ ॥

तदेतदभिसन्धाय मयैवं देवि कथ्यते ।
पुण्येन च लभे तृप्तिमर्हतां दर्शनेन च ॥ १३ ॥

अथ सा देवी प्रहर्षविस्मयविशालाक्षी सबहुमानमुदीक्षमाणा राजानमित्युवाच । उपपन्नरूपः पुण्यानामयमेवंविधो विपाकाभ्युदयविशेषः । पुण्यफलप्रत्यक्षिणश्च महाराजस्य यदयं पुण्येष्वादरः । तदेवमेव पापप्रवृत्तिविमुखः पितेव प्रजानां सम्यक्परिपालनसुमुखः पुण्यगणार्जनाभिमुखः ।

यशःश्रिया दानसमृद्धया ज्वलन्प्रतिष्ठिताज्ञः प्रतिराजमूर्धसु ।
समीरणाकुञ्चितसागराम्बरां चिरं महीं धर्मनयेन पालय ॥ १४ ॥

राजोवाच - किं ह्येतद्देवि न स्यात् ?

सोऽहं तमेव पुनराश्रयितुं यतिष्ये
श्रेयःपथं समभिलक्षितरम्यचिह्नम् ।
लोकः प्रदित्सति हि दानफलं निशम्य
दास्याम्यहं किमिति नात्मगतं निशम्य ॥ १५ ॥

अथ स राजा देवीं देवीमिव श्रिया ज्वलन्तीमभिस्निग्धमवेक्ष्य श्रीसम्पत्तिहेतुकुतूहलहृदयः पुनरुवाच—

चन्द्रलेखेव ताराणां स्त्रीणां मध्ये विराजसे ।
अकृथाः किं नु कल्याणि ! कर्मातिमधुरोदयम् ॥ १६ ॥

देव्युवाच—अस्ति देव किञ्चिदहमपि पूर्वजन्मवृत्तिं समनुस्मरामीति । कथय कथयेदानीमिति च सादरं राज्ञा पर्यनुयुक्तोवाच—

बाल्येऽनुभूतमिव तत्समनुस्मरामि
दासी सती यदहमुद्धृतभक्तमेकम् ।
क्षीणास्रवाय मुनये विनयेन दत्त्वा
सुप्तेव तत्र समवापमिह प्रबोधम् ॥ १७ ॥

एतत्स्मरामि कुशलं नरदेव! येन
त्वन्नाथतामुपगतास्मि समं पृथिव्या।
क्षीणास्रवेषु न कृतं तनु नाम किञ्चि-
दित्युक्तवानसि यथैव मुनिस्तथैव ॥ १८ ॥

अथ स राजा पुण्यफलप्रदर्शनात्पुण्येषु समुत्पादितबहुमानामभिप्रसन्नमनसं पर्षदं विस्मयैकाग्रामवेत्य नियतमीदृशं किञ्चित्समनुशशास—

अल्पस्यापि शुभस्य विस्तरमिमं दृष्ट्वा विपाकश्रियः
स्यात्को नाम न दानशीलविधिना पुण्यक्रियातत्परः।
नैव द्रष्टुमपि क्षमः स पुरुषः पर्याप्तवित्तोऽपि सन्
यः कार्पण्यतमिस्रयावृतमतिर्नाप्नोति दानैर्यशः ॥ १९ ॥

त्यक्तव्यं विवशेन यन्न च तथा कस्मैचिदर्थाय यत्
तन्न्यायेन धनं त्यजन्यदि गुणं कञ्चित्समुद्भावयेत्।
कोऽसौ तत्र भजेत मत्सरपथं जानन्गुणानां रसं
प्रीत्याद्या विविधाश्च कीर्त्यनुसृता दानप्रतिष्ठागुणाः ॥ २० ॥

दानं नाम महानिधानमनुगं चौराद्यसाधारणं
दानं मत्सरलोभदोषरजसः प्रक्षालनं चेतसः।
संसाराध्वपरिश्रमापनयनं दानं सुखं वाहनं
दानं नैकसुखोपधानसुमुखं सन्मित्रमात्यन्तिकम् ॥ २१ ॥

विभवसमुदयं वा दीप्तमाज्ञागुणं वा
त्रिदशपुरनिवासं रूपशोभागुणं वा।
यदभिलषति सर्वं तत्समाप्नोति दाना-
दिति परिगणितार्थः को न दानानि दद्यात् ॥ २२ ॥

सारादानं दानमाहुर्धनानामैश्वर्याणां दानमाहुर्निदानम्।
दानं श्रीमत्सज्जनत्वावदानं बाल्यप्रज्ञैः पांसुदानं सुदानम् ॥ २३ ॥

अथ सा पर्षत्तस्य राज्ञस्तद्ग्राहकं वचनं सबहुमानमभिनन्द्य प्रदानादिप्रतिपत्त्यभिमुखी बभूव।

तदेवं चित्तप्रसादोद्गतं पात्रातिशयप्रतिपादितं च नाल्पकं नाम दानमस्ति विपाकमहत्त्वादिति प्रसन्नचित्तेनानुत्तरे पुण्यक्षेत्र आर्यसंघे दानं ददता परा प्रीतिरुत्पादयितव्या। अदूरे ममाप्येवंविधा अतो विशिष्टतराश्च सम्पत्तय इति।

इति कुल्माषपिण्डी-जातकं तृतीयम्।

---

४. श्रेष्ठि-जातकम्

अत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः। केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात्? तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान्भाग्यातिशयगुणादुत्थानसम्पदा चाधिगतविपुलधनसमृद्धिरविषमव्यवहारशीलत्वाल्लोके बहुमाननिकेतभूत उदाराभिजनवा-

ननेकविद्याकलाविकल्पाधिगमविमलतरमतिर्गुणमाहात्म्याद्राज्ञा समुपहृतसम्मानः प्रदानशीलत्वाल्लोकसाधारणविभवः श्रेष्ठी बभूव ।

अर्थिभिः प्रीतहृदयैः कीर्त्यमानमितस्ततः ।
त्यागशौर्योन्नतं नाम तस्य व्याप दिशो दश ॥ १ ॥

दद्यान्न दद्यादिति तत्र नासीद्विचारदोलाचलमानसोऽर्थी ।
ख्यातावदाने हि बभूव तस्मिन्विस्रम्भधृष्टप्रणयोऽर्थिवर्गः ॥ २ ॥
नाऽसौ जुगोपात्मसुखार्थमर्थं न स्पर्द्धया लोभपराभवाद्वा ।
सत्त्वार्थिदुःखं न शशाक सोढुं नास्तीति वक्तुं च ततो जुगोप ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य भोजनकाले स्नातानुलिप्तगात्रस्य कुशलोदारसूदोपकल्पिते समुपस्थिते वर्णगन्धरसस्पर्शादिगुणसमुदिते विचित्रे भक्ष्यभोज्यादिविधौ तत्पुण्यसम्भाराभिवृद्धिकामो ज्ञानाग्निनिर्दग्धसर्वक्लेशेन्धनः प्रत्येकबुद्धस्तद्गृहमभिजगाम भिक्षार्थी । समुपेत्य च द्वारकोष्ठके व्यतिष्ठत ।

अशङ्कितोचञ्चलधीरसौम्यमवेक्षमाणो युगमात्रमुर्व्याः ।
तत्रावतस्थे प्रशमाभिजातः स पात्रसंसक्तकराग्रपद्मः ॥ ४ ॥

अथ मारः पापीयान्बोधिसत्त्वस्य तां दानसम्पदममृष्यमाणस्तद्विघ्नार्थमन्तरा च तं भदन्तमन्तरा च द्वारदेहलीं प्रचलज्ज्वालाकरालोदरमनेकपौरुषमतिगम्भीरं भयानकदर्शनं सप्रतिभयनिर्घोषं नरकमभिनिर्ममे विस्फुरद्भिरनेकैर्जनशतैराचितम् ।

अथ बोधिसत्त्वः प्रत्येकबुद्धं भिक्षार्थिनमभिगतमालोक्य पत्नीमुवाच—भद्रे ! स्वयमार्याय पर्याप्तं पिण्डपातं देहीति । सा तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय प्रस्थिता । नरकमालोक्य द्वारकोष्ठकसमीपे भयविषादचञ्चलाक्षी सहसा न्यवर्तत । किमेतदिति च भर्त्रा पर्यनुयुक्ता समापतितसाध्वसापिहितकण्ठी तत्कथञ्चित्तस्मै कथयामास ।

अथ बोधिसत्त्वः कथमयमार्यो मद्गृहादनवाप्तभिक्ष एव प्रतियास्यतीति ससम्भ्रमं तत्तस्याः कथितमनादृत्य स्वयमेव च प्रणीतं भक्ष्यभोज्यमादाय तस्य महात्मनः पिण्डपातं प्रतिपादयितुकामो द्वारकोष्ठकसमीपमभिगतस्तमतिभीषणमन्तरा नरकं ददर्श । तस्य किं स्विदिदमिति समुत्पन्नवितर्कस्य मारः पापीयान्भवनभित्तेर्विनिःसृत्य संदृश्यमानदिव्याद्भुतवपुरन्तरिक्षे स्थित्वा हितकाम इव नामाब्रवीत्--गृहपते महारौरवनामायं महानरकः ।

अर्थिप्रशंसावचनप्रलुब्धा दित्सन्ति दानव्यसनेन येऽर्थान् ।
शरत्सहस्राणि बहूनि तेषामस्मिन्निवासोऽसुलभप्रवासः ॥ ५ ॥
अर्थस्त्रिवर्गस्य विशेषहेतुस्तस्मिन्हते केन हतो न धर्मः ।
धर्मं च हत्वार्थनिबर्हणेन कथं नु न स्यान्नरकप्रतिष्ठः ॥ ६ ॥

दानप्रसङ्गेन च धर्ममूलं घ्नता त्वयार्थं यदकारि पापम् ।
त्वामत्तुमभ्युद्गतमेतदस्माज्ज्वालाग्रजिह्वं नरकान्तकास्यम् ॥ ७ ॥
तत्साधु दानाद्विनियच्छ बुद्धिमेवं हि सद्यःपतनं न ते स्यात् ।
विचेष्टमानैः करुणं रुदद्भिर्मा दातृभिर्गाः समताममीभिः ॥ ८ ॥

प्रतिग्रहीता तु जनोऽभ्युपैति निवृत्तदानापनयः सुरत्वम् ।
तत्स्वर्गमार्गावरणाद्विरम्य दानोद्यमात्संयममाश्रयस्व ।। ९ ।।

अथ बोधिसत्त्वो नूनमस्यैतद्दुरात्मनो मम दानविघ्नाय विचेष्टितमित्यवगम्य सत्त्वावष्टम्भधीरं विनयमधुराविच्छेदं नियतमित्यवोचदेनम् ।

अस्मद्धितावेक्षणदक्षिणेन विदर्शितोऽयं भवतार्यमार्गः ।
युक्ता विशेषेण च दैवतेषु परानुकम्पानिपुणा प्रवृत्तिः ।। १० ।।
दोषोदयात्पूर्वमनन्तरं वा युक्तं तु तच्छान्तिपथेन गन्तुम् ।
गते प्रयासं ह्युपचारदोषैर्व्याधौ चिकित्साप्रणयो विघातः ।। ११ ।।
इदं च दानव्यसनं मदीयं शङ्के चिकित्साविषयव्यतीतम् ।
तथा ह्यनादृत्य हितैषितां ते न मे मनः सङ्कुचति प्रदानात् ।। १२ ।।
दानादधर्मं च यदूचिवांस्त्वमर्थं च धर्मस्य विशेषहेतुम् ।
तन्मानुषी नेयमवैति बुद्धिर्दानादृते धर्मपथो यथार्थः ।। १३ ।।
निधीयमानः स नु धर्महेतुश्चौरैः प्रसह्याथ विलुप्यमानः ।
ओघोदरान्तर्विनिमग्नमूर्तिर्हुताशनस्याशनतां गतो वा ।। १४ ।।
यच्चात्थ दाता नरकं प्रयाति प्रतिग्रहीता तु सुरेन्द्रलोकम् ।
विवर्धितस्तेन च मे त्वयाऽयं दानोद्यमः संयमयिष्यतापि ।। १५ ।।
अनन्यथा चास्तु वचस्तवेदं स्वर्गं च मे याचनका व्रजन्तु ।
दानं हि मे लोकहितार्थमिष्टं नेदं स्वसौख्योदयसाधनाय ।। १६ ।।

अथ स मारः पापीयान्पुनरपि बोधिसत्त्वं हितैषीव धीरहस्तेनोवाच—

हितोक्तिमेतां मम चापलं वा समीक्ष्य येनेच्छसि तेन गच्छ ।
सुखान्वितो वा बहुमानपूर्वं स्मर्तासि मां विप्रतिसारवान्वा ।। १७ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—मर्ष ! मर्षयतु भवान् ।

कामं पतामि नरकं स्फुरदुग्रवह्नि
ज्वालावलीढशिथिलावनतेन मूर्ध्ना ।
न त्वर्थिनां प्रणयदर्शितसौहृदानां
सम्मानकालमवमाननया हरिष्ये । १८ ।।

इत्युक्त्वा बोधिसत्त्वः स्वभाग्यबलावष्टम्भाज्जानानश्च निरत्ययतां दानस्य निवारणैकरसमवधूय स्वजनपरिजनं साध्वसानभिभूतमतिरभिवृद्धदानाभिलाषो नरकमध्येन प्रायात् ।

पुण्यानुभावादथ तस्य तस्मिन्नपङ्कजं पङ्कजमुद्बभूव ।
अवज्ञयेवावजहास मारं यच्छुक्लया केशरदन्तपङ्क्त्या ।। १९ ।।

अथ बोधिसत्त्वः पद्मसंक्रमेण स्वपुण्यातिशयनिर्जातेनाभिगम्य प्रत्येकबुद्धं प्रसादसंहर्षापूर्णहृदयः पिण्डपातमस्मै प्रायच्छत् ।

मनःप्रसादप्रतिबोधनार्थं तस्याथ भिक्षुर्वियदुत्पपात ।
वर्षञ्ज्वलंश्चैव स तत्र रेजे सविद्युदुद्द्योतपयोदलक्ष्म्या ।। २० ।।

अवमृदितमनोरथस्तु मारो द्युतिपरिमोषमवाप्य वैमनस्यात् ।
तमभिमुखमुदीक्षितुं न सेहे सह नरकेण ततस्तिरोबभूव ॥ २१ ॥

तत्किमिदमुपनीतम् ? एवमत्ययमप्यविगणय्य दित्सन्ति सत्पुरुषाः । केन नाम स्वस्थेन न दातव्यं स्यात् ? न सत्त्ववन्तः शक्यन्ते भयादप्यगतिं गमयितुमित्येवमप्युन्नेयम् ।

इति श्रेष्ठिजातकं चतुर्थम् ।

---

५. अविषह्यश्रेष्ठि-जातकम्

न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषाः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवांस्त्यागशीलकुलविनयश्रुतज्ञानाविस्मयादिगुणसमुदितो धनदायमानो विभवसंपदा सर्वातिथित्वादनुपरतदानसत्रो लोकहितार्थप्रवृत्तो दायकश्रेष्ठः श्रेष्ठी बभूव मात्सर्यादिदोषाविषह्योऽविषह्य इति प्रकाशनामा ।

इष्टार्थसंपत्तिविमर्शनाशात् प्रीतिप्रबोधस्य विशेषहेतुः ।
यथार्थिनां दर्शनमास तस्य तथार्थिनां दर्शनमास तस्य ॥ १ ॥

देहीति याच्ञानियतार्थमुक्तो नास्तीति नासौ गदितुं शशाक ।
हृतावकाशा हि बभूव चित्ते तस्यार्थसक्तिः कृपया महत्या ॥ २ ॥

तस्यार्थिभिर्निर्ह्रियमाणसारे गृहे बभूवाभ्यधिकप्रहर्षः ।
विवेद स ह्युग्रघनाननर्थानकारणक्षिप्रविरागिणोऽर्थान् ॥ ३ ॥

भवन्ति लोकस्य हि भूयसार्था लोभाश्रयाद् दुर्गतिमार्गसार्थाः ।
परात्मनोरभ्युदयावहत्वादर्थास्तदीयास्तु बभुर्यथार्थाः ॥ ४ ॥

अथ तस्य महासत्त्वस्य यथाभिलषितैरक्लिष्टैः शिष्टोपचारविभूषणैर्विपुलैरर्थविसर्गैर्याचनकजनं समन्ततः संतर्पयतः प्रदानौदार्यश्रवणाद्विस्मयावर्जितमनाः शक्रो देवेन्द्रः प्रदानस्थिरनिश्चयमस्य जिज्ञासमानः प्रत्यहं धनधान्यरत्नपरिच्छदजातं तत्तदन्तर्धापयामास । अपि नामायं विभवपरिक्षयाशङ्कयापि मात्सर्याय प्रतार्येतेति । प्रदानाधिमुक्तस्य तु पुनर्महासत्त्वस्य

यथा यथा तस्य विनेशुरर्थाः सूर्याभिसृष्टा इव तोयलेशाः ।
तथा तथैनान् विपुलैः प्रदानैर्गृहात्प्रदीप्तादिव निर्जहार ॥ ५ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्त्यागपरायणमेव तं महासत्त्वमवेत्य प्रक्षीयमाणविभवसारमपि विस्मिततरमतिस्तस्यैकरात्रेण सर्वं विभवसारमन्तर्धापयामासान्यत्र रज्जुकुण्डलाद्दात्राच्चैकस्मात् । अथ बोधिसत्त्वः प्रभातायां रजन्यां यथोचितं प्रतिविबुद्धः पश्यति स्म धनधान्यपरिच्छदपरिजनविभवशून्यं निष्कूजदीनं स्वभवनं राक्षसैरिवोद्वासितमनभिराममदर्शनीयं, किमिति च समुत्थितवितर्कः समनुविचरंस्तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च केवलमत्र ददर्श । तस्य चिन्ता प्रादुरभवत्—यदि तावत् केनचिद्याचितुमनुचितवचसा स्वविक्रमोपार्जितोपजीविना मद्गृहे प्रणय एवं दर्शितः, सूपयुक्ता एवमर्थाः । अथ त्विदानीं मद्भाग्यदोषादुच्छ्रयमसहमानेन केनचिदनुपयुक्ता एव विद्रुतास्तत्कष्टम् ।

चलं सौहृदमर्थानां विदितं पूर्वमेव मे।
अर्थिनामेव पीडा तु दहत्यत्र मनो मम ॥ ६ ॥
प्रदानसत्कारसुखोचिताश्चिरं
विविक्तमर्थैरभिगम्य मद्गृहम्।
कथं भविष्यन्ति नु ते ममार्थिनः
पिपासिताः शुष्कमिवागता ह्रदम् ॥ ७ ॥

अथ स बोधिसत्त्वः स्वधैर्यावष्टम्भादनास्वादितविषाददैन्यस्तस्यामप्यवस्थाया-मनभ्यस्तयाच्ञाक्रमत्वात् परान् याचितुं परिचितानपि न प्रसेहे। एवं दुष्करं याचितु-मिति च तस्य भूयसी याचनकेष्वनुकम्पा बभूव। अथ स महात्मा याचनकजनस्वा-गतादिक्रियावेक्षया स्वयमेव तद्रज्जुकुण्डलकं दात्रं च प्रतिगृह्य प्रत्यहं तृणविक्रयोपल-ब्धया विभवमात्रयार्थिजनप्रणयसम्माननां चकार। अथ शक्रो देवेन्द्रस्तस्येमामविषादितां परमेऽपि दारिद्र्ये प्रदानाभिमुखतां चावेक्ष्य सविस्मयबहुमानः संदृश्यमानदिव्याद्भुत-वपुरन्तरिक्षे स्थित्वा दानाद्विच्छन्दयंस्तं महासत्त्वमुवाच—गृहपते !

सुहृन्मनस्तापकरीमवस्थामिमामुपेतस्त्वमतिप्रदानैः।
न दस्युभिर्नैव जलानलाभ्यां न राजभिः संह्रियमाणवित्तः ॥ ८ ॥
तत्त्वां हितावेक्षितया ब्रवीमि नियच्छ दाने व्यसनानुरागम्।
इत्थंगतः सन्नपि चेन्न दद्या यायाः पुनः पूर्वसमृद्धिशोभाम् ॥ ९ ॥
शश्वत् कृशेनापि परिव्ययेण कालेन दृष्ट्वा क्षयमर्जनानाम्।
चयेन वल्मीकसमुच्छ्रयांश्च वृद्ध्यर्थिनः संयम एव पन्थाः ॥ १० ॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रदानाभ्यासमाहात्म्यं विदर्शयञ्छक्रमुवाच—

अनार्यमार्येण सहस्रनेत्र सुदुष्करं सुष्ठ्वपि दुर्गतेन।
मा चैव तद्भून्मम शक्र वित्तं यत्प्राप्तिहेतोः कृपणाशयः स्याम् ॥ ११ ॥
इच्छन्ति याच्ञामरणेन गन्तुं दुःखस्य यस्य प्रतिकारमार्गम्।
तेनातुरान् कः कुलपुत्रमानी नास्तीति शुष्काशनिनाभिहन्यात् ॥ १२ ॥
तन्मद्विधः किं स्विदुपाददीत रत्नं धनं वा दिवि वापि राज्यम्।
याच्ञाभितापेन विवर्णितानि प्रसादयेन्नार्थिमुखानि येन ॥ १३ ॥
मात्सर्यदोषोपचयाय यः स्यान्न त्यागचित्तं परिबृंहयेद्वा।
स त्यागमेवार्हति मद्विधेभ्यः परिग्रहच्छद्ममयो विघातः ॥ १४ ॥
विद्युल्लतानृत्तचले धने च साधारणे नैकविघातहेतौ।
दाने निदाने च सुखोदयानां मात्सर्यमार्यः क इवाश्रयेत ॥ १५ ॥
तद्दर्शिता शक्र मयि स्वतेयं हिताभिधानादनुकम्पितोऽस्मि।
स्वभ्यस्तहर्षं तु मनः प्रदानैस्तदुत्पथे केन धृतिं लभेत ॥ १६ ॥
न चात्र मन्योरनुवृत्तिमार्गे चित्तं भवानर्हति संनियोक्तुम्।
न हि स्वभावस्य विपक्षदुर्गमारोढुमल्पेन बलेन शक्यम् ॥ १७ ॥

शक्र उवाच—गृहपते ! पर्याप्तविभवस्य परिपूर्णकोशकोष्ठागारस्य सम्यक्-

प्रवृत्तविविधविपुलकर्मान्तस्य विरूढायतेर्लोके वशीकृतैश्वर्यस्यायं क्रमो नेमां दशामभिप्रपन्नस्य। पश्य—

स्वबुद्धिविस्पन्दसमाहितेन वा यशोऽनुकूलेन कुलोचितेन वा।
समृद्धिमाकृष्य शुभेन कर्मणा सपत्नतेजांस्यभिभूय भानुवत् ॥ १८ ॥
जने प्रसङ्गेन वितस्य सद्गतिं प्रबोध्य हर्षं ससुहृत्सु बन्धुषु।
अवाप्तसंमानविधिर्नृपादपि श्रिया परिष्वक्त इवाभिकामया ॥ १९ ॥
अथ प्रदाने प्रविजृम्भितक्रमः सुखेषु वा नैति जनस्य वाच्यताम्।
अजातपक्षः खमिवारुरुक्षया विघातभाक्केवलया तु दित्सया ॥ २० ॥
यतो धनं संयमनैभृताश्रयादुपार्ज्यतां तावदलं प्रदित्सया।
अनार्यतात्यत्र च नाम का भवेन्न यत्प्रदद्या विभवेष्वभाविषु ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलमतिनिर्बन्धेनात्रभवतः।

आत्मार्थः स्याद्यस्य गरीयान् परकार्यात्
तेनापि स्याद्द्येयमनादृत्य समृद्धिम्।
नैति प्रीतिं तां हि महत्यापि विभूत्या
दानैस्तुष्टिं लोभजयाद्यामुपभुङ्क्ते ॥ २२ ॥
नैति स्वर्गं केवलया यच्च समृद्ध्या
दानेनैव ख्यातिमवाप्नोति च पुण्याम्।
मात्सर्यादीन्नाभिभवत्येव च दोषां-
स्तस्या हेतोर्दानमतः को न भजेत ॥ २३ ॥
त्रातुं लोकान्यस्तु जरामृत्युपरीता-
नप्यात्मानं दित्सति कारुण्यवशेन।
यो नास्वादं वेत्ति सुखानां परदुःखैः
कस्तस्यार्थस्त्वद्गतया स्यादपि लक्ष्म्या ॥ २४ ॥

अपि च देवेन्द्र

संपत्तिरिव वित्तानामध्रुवा स्थितिरायुषः।
इति याचनकं लब्ध्वा न समृद्धिरवेक्ष्यते ॥ २५ ॥
एको रथश्च भुवि यद्विदधाति वर्त्म
तेनापरो व्रजति धृष्टतरं तथान्यः।
कल्याणमाद्यमिममित्यवधूय मार्गं
नासत्पथप्रणयने रमते मनो मे ॥ २६ ॥
अर्थश्च विस्तरमुपैष्यति चेत्पुनर्मे
हर्ता मनांसि नियमेन स याचकानाम्।
एवंगतेऽपि च यथाविभवं प्रदास्ये
मा चैव दाननियमे प्रमदिष्म शक्र ॥ २७ ॥

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्रः समभिप्रसादितमनाः साधु साध्वित्येनमभिसंराध्य सबहुमानस्निग्धमवेक्षमाण उवाच—

यशःसपत्नैरपि कर्मभिर्जनः समृद्धिमन्विच्छति नीचदारुणैः ।
स्वसौख्यसङ्गादनवेक्षितात्ययः प्रतार्यमाणश्चपलेन चेतसा ॥ २८ ॥
अचिन्तयित्वा तु धनक्षयं त्वया स्वसौख्यहानिं मम च प्रतारणाम् ।
परार्थसंपादनधीरचेतसा महत्त्वमुद्भावितमात्मसंपदः ॥ २९ ॥
अहो बतौदार्यविशेषभास्वतः प्रमृष्टमात्सर्यतमिस्रता हृदः ।
प्रदानसंकोचविरूपतां गतं धने प्रनष्टेऽपि न यत्तदाशया ॥ ३० ॥
न चात्र चित्रं परदुःखदुःखिनः कृपावशाल्लोकहितैषिणस्तव ।
हिमावदातः शिखरीव वायुना न यत्प्रदानादसि कम्पितो मया ॥ ३१ ॥
यशः समुद्भावयितुं परीक्षया धनं तवेदं तु निगूढवानहम् ।
मणिर्हि शोभानुगतोऽप्यतोऽन्यथा न संस्पृशेद्रत्नयशोमहार्घताम् ॥ ३२ ॥
यतः प्रदानैरभिवर्ष याचकान् ह्रदान् महामेघ इवाभिपूरयन् ।
धनक्षयं नाप्स्यसि मत्परिग्रहादिदं क्षमेथाश्च विचेष्टितं मम ॥ ३३ ॥

इत्येनमभिसंराध्य शक्रस्तच्चास्य विभवसारमुपसंहृत्य क्षमयित्वा च तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं न विभवक्षयावेक्षया समृद्ध्याशया वा प्रदानवैधुर्यमुपयान्ति सत्पुरुषा इति ।

इत्यविषह्यश्रेष्ठि-जातकं पञ्चमम् ।

———

६. शशजातकम्

तिर्यग्गतानामपि सतां महात्मनां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा । केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात् ? तद्यथानुश्रूयते—

कस्मिंश्चिदरण्यायतनप्रदेशे मनोज्ञवीरुत्तृणतरुगहननिचिते पुष्पफलवति वैडूर्यनीलशुचिवाहिन्या सरिता विभूषितपर्यन्ते मृदुशाद्वलास्तरणसुखसंस्पर्शदर्शनीयधरणीतले तपस्विजनविचरिते बोधिसत्त्वः शशो बभूव ।

स सत्त्वयोगाद्वपुषश्च संपदा बलप्रकर्षाद्विपुलेन चौजसा ।
अतर्कितः क्षुद्रमृगैरशङ्कितश्चचार तस्मिन्मृगराजलीलया ॥ १ ॥

स्वचर्माजिनसंवीतः स्वतनूरुहवल्कलः ।
मुनिवत्तत्र शुशुभे तुष्टचित्तस्तृणाङ्कुरैः ॥ २ ॥
तस्य मैत्र्यवदातेन मनोवाक्कायकर्मणा ।
आसुर्जृम्भितदौरात्म्याः प्रायः शिष्यमुखा मृगाः ॥ ३ ॥

तस्य गुणातिशयसंभृतेन स्नेहगौरवेण विशेषवत्तरमवबद्धहृदयास्तु ये सहाया बभूवुरुद्रः शृगालो वानरश्च, ते परस्परसंबन्धनिबद्धस्नेहा इव बान्धवा अन्योन्यप्रणयसंमाननाविरूढसौहार्दा इव च सुहृदः संमोदमानास्तत्र विहरन्ति स्म । तिर्यक्स्वभावविमुखाश्च प्राणिषु दयानुवृत्त्या लौल्यप्रशमाद्विस्मृतस्तेयप्रवृत्त्या धर्माविरोधिन्या च यशोऽनुवृत्त्या पटुविज्ञानत्वाद्विनियमधीरया च सज्जनेष्टया चेष्टया देवतानामपि विस्मयनीया बभूवुः ।

सुखानुलोमे गुणबाधिनि क्रमे गुणानुकूले च सुखोपरोधिनि ।
नरोऽपि तावद्गुणपक्षसंश्रयाद्विराजते किम्वथ तिर्यगाकृतिः ॥ ४ ॥
अभूत्स तेषां तु शशाकृतिः कृती परानुकम्पाप्रतिपद्गुरुर्गुरुः ।
स्वभावसंपच्च गुणक्रमानुगा यशो यदेषां सुरलोकमप्यगात् ॥ ५ ॥

अथ कदाचित् स महात्मा सायाह्नसमये धर्मश्रवणार्थमभिगतैः सबहुमानमुपास्यमानस्तैः सहायैः परिपूर्णप्रायमंडलमादित्यविप्रकर्षाद्व्यवदायमानशोभं रूप्यदर्पणमिव त्सरुविरहितमीषत्पार्श्वापवृत्तबिम्बं शुक्लपक्षचतुर्दशीचन्द्रमसमुदितमभिसमीक्ष्य सहायानुवाच—

असावापूर्णशोभेन मण्डलेन हसन्निव ।
निवेदयति साधूनां चन्द्रमाः पोषधोत्सवम् ॥ ६ ॥

तद्व्यक्तं श्वः पञ्चदशी । यतो भवद्भिः पोषधनियममभिसंपादयद्भिर्न्याय्योपलब्धेनाहारविशेषेण कालोपनतमतिथिजनं प्रतिपूज्य प्राणसंधारणमनुष्ठेयम् । पश्यन्तु भवन्तः ।

यत्संप्रयोगा विरहावसानाः समुच्छ्रयाः पातविरूपनिष्ठाः ।
विद्युल्लताभङ्गुरलोलमायुस्तेनैव कार्यो दृढमप्रमादः ॥ ७ ॥
दानेन शीलाभरणेन तस्मात् पुण्यानि संवर्धयितुं यतध्वम् ।
विवर्तमानस्य हि जन्मदुर्गे लोकस्य पुण्यानि परा प्रतिष्ठा ॥ ८ ॥
तारागणानामभिभूय लक्ष्मीं विभाति यत्कान्तिगुणेन सोमः ।
ज्योतींषि चाक्रम्य सहस्ररश्मिर्यद्दीप्यते पुण्यगुणोच्छ्रयः सः ॥ ९ ॥
दृप्तस्वभावाः सचिवा नृपाश्च पुण्यप्रभावात् पृथिवीश्वराणाम् ।
सदश्ववृत्त्या हतसर्वगर्वाः प्रीता इवाज्ञाधुरमुद्वहन्ति ॥ १० ॥
पुण्यैर्विहीनाननुयात्यलक्ष्मीर्विस्पन्दमानानपि नीतिमार्गे ।
पुण्याधिकैः सा ह्यवभर्त्स्यमाना पर्येत्यमर्षादिव तद्विपक्षान् ॥ ११ ॥
दुःखप्रतिष्ठादयशोऽनुबद्धादपुण्यमार्गादुपरम्य तस्मात् ।
श्रीमत्सु सौख्योदयसाधनेषु पुण्यप्रसङ्गेषु मतिं कुरुध्वम् ॥ १२ ॥

ते तथेत्यस्यानुशासनां प्रतिगृह्याभिवाद्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं स्वान्स्वानालयानभिजग्मुः । अचिरगतेषु च तेषु सहायेषु स महात्मा चिन्तामापेदे ।

अतिथेरभ्युपेतस्य संमानं येन तेन वा ।
विधातुं शक्तिरस्त्येषामत्र शोच्योऽहमेव तु ॥ १३ ॥
अस्मद्दन्ताग्रविच्छिन्नाः परितिक्तास्तृणाङ्कुराः ।
शक्या नातिथये दातुं सर्वथा धिगशक्तिताम् ॥ १४ ॥
इत्यसामर्थ्यदीनेन को न्वर्थो जीवितेन मे ।
आनन्दः शोकतां यायाद्यस्यैवमतिथिर्मम ॥ १५ ॥

तत्कुत्रेदानीमिदमतिथिपरिचर्यावैगुण्ये निःसारं शरीरकमुत्सृज्यमानं कस्यचिदुपयोगाय स्यादिति विमृशन्स महात्मा स्मृतिं प्रतिलेभे ।

अये !

स्वाधीनसुलभमेतन्निरवद्यं विद्यते ममैव खलु ।
अतिथिजनप्रतिपूजनसमर्थरूपं शरीरधनम् ॥ १६ ॥

तत्किमहं विषीदामि ?

समधिगतमिदं मयातिथेयं हृदय विमुञ्च यतो विषाददैन्यम् ।
समुपनतमनेन सत्करिष्याम्यहमतिथिप्रणयं शरीरकेण ॥ १७ ॥

इति विनिश्चत्य स महासत्त्वः परममिव लाभमधिगम्य परमप्रीतमनास्तत्रावतस्थे ।

वितर्कातिशये तस्य हृदये प्रविजृम्भिते ।
आविश्चक्रे प्रसादश्च प्रभावश्च दिवौकसाम् ॥ १८ ॥

ततः प्रहर्षादिव साचला चला मही बभूवानिभृतार्णवांशुका ।
वितस्तनुः खे सुरदुन्दुभिस्वना दिशः प्रसादाभरणाश्चकाशिरे ॥ १९ ॥

प्रसक्तमन्दस्तनिताः प्रहासिनस्तडित्पिनद्धाश्च घनाः समन्ततः ।
परस्पराश्लेषविकीर्णरेणुभिः प्रसक्तमेनं कुसुमैरवाकिरन् ॥ २० ॥

समुद्वहन्धीरगतिः समीरणः सुगन्धि नानाद्रुमपुष्पजं रजः ।
मुदा प्रविद्धैरविभक्तभक्तिभिस्तमर्चयामास कृशांशुकैरिव ॥ २१ ॥

तदुपलभ्य प्रमुदितविस्मितमनोभिर्देवताभिः समन्ततः परिकीर्त्यमानं तस्य वितर्काद्भुतं शक्रो देवेन्द्रः समापूर्यमाणविस्मयकौतूहलेन मनसा तस्य महासत्त्वस्य भावजिज्ञासया द्वितीयेऽहनि गगनतलमध्यमभिलङ्घमाने पटुतरकिरणप्रभावे सवितरि प्रस्फुलितमरीचिजालवसनासु भास्वरातपविसरावगुण्ठितास्वनालोकनक्षमासु दिक्षु संक्षिप्यमाणच्छायेष्वभिवृद्धचीरीविरावोन्नादितेषु वनान्तरेषु विच्छिद्यमानपक्षिसंपातेषु घर्मक्लमापीतोत्साहेष्वध्वगेषु शक्रो देवानामधिपतिर्ब्राह्मणरूपो भूत्वा मार्गप्रनष्ट इव क्षुत्तर्षश्रमविषाददीनकण्ठः सस्वरं प्ररुदन्नातिदूरे तेषां विचुक्रोश ।

एकं सार्थात्परिभ्रष्टं भ्रमन्तं गहने वने ।
क्षुच्छ्रमक्लान्तदेहं मां त्रातुमर्हन्ति साधवः ॥ २२ ॥

मार्गामार्गज्ञाननिश्चेतनं मां दिक्संमोहात्क्वापि गच्छन्तमेकम् ।
कान्तारेऽस्मिन्घर्मतर्षक्लमार्तं मा भैः शब्दैः को नु मां ह्लादयेत ॥ २३ ॥

अथ ते महासत्त्वास्तस्य तेन करुणेनाक्रन्दितशब्देन समाकम्पितहृदयाः ससंभ्रमा द्रुततरगतयस्तं देशमभिजग्मुः । मार्गप्रनष्टाध्वगदीनदर्शनं चैनमभिसमीक्ष्य समभिगम्योपचारपुरःसरं समाश्वासयन्त ऊचुः—

कान्तारे विप्रनष्टोऽहमित्यलं विभ्रमेण ते ।
स्वस्य शिष्यगणस्येव समीपे वर्तसे हि नः ॥ २४ ॥

तदद्य तावदस्माकं परिचर्यापरिग्रहात् ।
विधायानुग्रहं सौम्य श्वो गन्तासि यथेप्सितम् ॥ २५ ॥

अथोद्रस्तस्य तूष्णींभावादनुमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य हर्षसंभ्रमत्वरितगतिः सप्त रोहितमत्स्यान्समुपनीयावोचदेनम्—

मीनारिभिर्विस्मरणोज्झिता वा त्रासोत्प्लुता वा स्थलमभ्युपेताः ।
खेदप्रसुप्ता इव सप्त मत्स्या लब्धा मयैतान्निवसेह भुक्त्वा ॥ २६ ॥

अथ शृगालोऽप्येनं यथोपलब्धमन्नजातमुपसंहृत्य प्रणामपुरःसरं सादरमित्युवाच—

एका च गोधा दधिभाजनं च केनापि संत्यक्तमिहाध्यगच्छम् ।
तन्मे हितावेक्षितयोपयुज्य वनेऽस्तु तेऽस्मिन्गुणवास वासः ॥ २७ ॥

इत्युक्त्वा परमप्रीतमनास्तदस्मै समुपजहार ।

अथ वानरः परिपाकगुणादुपजातमार्दवानि मनःशिलाचूर्णरञ्जितानीवातिपिञ्जराण्यतिरक्तबन्धनमूलानि पिण्डीगतान्याम्रफलान्यादाय साञ्जलिप्रग्रहमेनमुवाच—

आम्राणि पक्वान्युदकं मनोज्ञं छाया च सत्संगमसौख्यशीता ।
इत्यस्ति मे ब्रह्मविदां वरिष्ठ भुक्त्वैतदत्रैव तवास्तु वासः ॥ २८ ॥

अथ शशः समुपसृत्यैनमुपचारक्रियानन्तरं सबहुमानमुदीक्षमाणः स्वेन शरीरेणोपनिमन्त्रयामास—

न सन्ति मुद्गा न तिला न तण्डुला वने विवृद्धस्य शशस्य केचन ।
शरीरमेतत्त्वनलाभिसंस्कृतं ममोपयुज्याद्य तपोवने वस ॥ २९ ॥
यदस्ति यस्येप्सितसाधनं धनं स तन्नियुङ्क्तेऽर्थिसमागमोत्सवे ।
न चास्ति देहादधिकं च मे धनं प्रतीच्छ सर्वस्वमिदं यतो मम ॥ ३० ॥

शक्र उवाच—

अन्यस्यापि वधं तावत्कुर्यादस्मद्विधः कथम् ।
इति दर्शितसौहार्दे कथा कैव भवद्विधे ॥ ३१ ॥

शश उवाच—उपपन्नरूपमिदमासन्नानुक्रोशे ब्राह्मणे । तदिहैव तावद्भवानास्तामस्मदनुग्रहापेक्षया यावत्कुतश्चिदात्मानुग्रहोपायमासादयामीति । अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य भावमवेत्य तप्ततपनीयवर्णं स्फुरत्प्रतनुज्वालं विकीर्यमाणविस्फुलिङ्गप्रकरं निर्धूममङ्गारराशिमभिनिर्ममे । अथ शशः समन्ततोऽनुविलोकयंस्तमग्निस्कन्धं ददर्श । दृष्ट्वा च प्रीतमनाः शक्रमुवाच—समधिगतोऽयं मयात्मानुग्रहोपायः । तदस्मच्छरीरोपयोगात्सफलामनुग्रहाशां मे कर्तुमर्हसि । पश्य महाब्राह्मण ।

देयं च दित्साप्रवणं च चित्तं भवद्विधेनातिथिना च योगः ।
नावाप्तुमेतद्धि सुखेन शक्यं तत्स्यादमोघं भवदाश्रयान्मे ॥ ३२ ॥
इत्यनुनीय स महात्मा संमाननादरादतिथिप्रियतया चैनमभिवाद्य,
ततः स तं वह्निमभिज्वलन्तं निधिं धनार्थी सहसैव दृष्ट्वा ।
परेण हर्षेण समारुरोह तोयं हसत्पद्ममिवैकहंसः ॥ ३३ ॥

तद्दृष्ट्वा परमविस्मयावर्जितमतिर्देवानामधिपतिः स्वमेव वपुरास्थाय दिव्यकुसुमवर्षपुरःसरीभिर्मनःश्रुतिसुखाभिर्वाग्भिरभिपूज्य तं महासत्त्वं कमलपलाशलक्ष्मीसमृद्धाभ्यां भासुराङ्गुलीभूषणालंकृताभ्यां पाणिभ्यां स्वयमेव चैनं परिगृह्य त्रिदशेभ्यः

संदर्शयामास। पश्यन्त्वत्रभवन्तस्त्रिदशालयनिवासिनो देवाः, समनुमोदन्तां चेदमतिविस्मयनीयं कर्मावदानमस्य महासत्त्वस्य।

त्यक्तं बतानेन यथा शरीरं निःशङ्कमद्यातिथिवत्सलेन।
निर्माल्यमप्येवमकम्पमाना नालं परित्यक्तुमधीरसत्त्वाः॥ ३४॥
जातिः क्वेयं तद्विरोधि क्व चेदं त्यागौदार्यं चेतसः पाटवं च।
विस्पष्टोऽयं पुण्यमन्दादराणां प्रत्यादेशो देवतानां नृणां च॥ ३५॥
अहो बत गुणाभ्यासवासितास्य यथा मतिः।
अहो सद्वृत्तवात्सल्यं क्रियौदार्येण दर्शितम्॥ ३६॥

अथ शक्रस्तत्कर्मातिशयविख्यापनार्थं लोकहितावेक्षी शशबिम्बलक्षणेन वैजयन्तस्य प्रासादवरस्य सुधर्मायाश्च देवसभायाः कूटागारकर्णिके चन्द्रमण्डलं चाभ्यलंचकार।

सम्पूर्णेऽद्यापि तदिदं शशबिम्बं निशाकरे।
छायामयमिवादर्शे राजते दिवि राजते॥ ३७॥
ततः प्रभृति लोकेन कुमुदाकरहासनः।
क्षणदातिलकश्चन्द्रः शशाङ्क इति कीर्त्यते॥ ३८॥

तेऽप्युद्रशृगालवानरास्ततश्च्युत्वा देवलोक उपपन्नाः कल्याणमित्रं समासाद्य।

तदेवं तिर्यग्गतानामपि महासत्त्वानां शक्त्यनुरूपा दानप्रवृत्तिर्दृष्टा। केन नाम मनुष्यभूतेन न दातव्यं स्यात्? तथा तिर्यग्गता अपि गुणवात्सल्यात् संपूज्यन्ते सद्भिरिति गुणेष्वादरः कार्य इत्येवमप्युन्नेयम्।

इति शश-जातकं षष्ठम्।

---

७. अगस्त्य-जातकम्

तपोवनस्थानामप्यलंकारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवाँल्लोकहितार्थं संसाराध्वनि वर्तमानश्चारित्रगुणविशुद्ध्यभिलक्षितं क्षितितलतिलकभूतमन्यतमं महद् ब्राह्मणकुलं गगनतलमिव शरदमलपरिपूर्णमण्डलश्चन्द्रमाः समुत्पतन्नेवाभ्यलंचकार। स यथाक्रमं श्रुतिस्मृतिविहितानवाप्य जातकर्मादीन् संस्कारानधीत्य साङ्गान्वेदान्कृत्स्नं च कल्पं व्याप्य विद्यायशसा मनुष्यलोकं गुणप्रियैर्दातृभिरभ्यर्थ्य प्रतिगृह्यमाणविभवत्वात् परां धनसमृद्धिमभिजगाम।

स बन्धुमित्राश्रितदीनवर्गान्संमाननीयानतिथीन्गुरूंश्च।
प्रह्लादयामास तथा समृद्ध्या देशान्महामेघ इवाभिवर्षन्॥ १॥
विद्वत्तया तस्य यशः प्रकाशं तत्त्यागशौर्यादधिकं चकाशे।
निशाकरस्येव शरद्विशुद्धं समग्रशोभाधिककान्ति बिम्बम्॥ २॥

अथ स महात्मा कुकार्यव्यासङ्गदोषसंवाधं प्रमादास्पदभूतं धनार्जनरक्षणप्रसङ्गव्याकुलमुपशमविरोधिव्यसनशरशतलक्ष्यभूतमपर्यन्तकर्मान्तानुष्ठानपरिग्रहश्रममतृप्तिजनकं कृशास्वादं गार्हस्थ्यमवेत्य तद्दोषविविक्तसुखां च धर्मप्रतिपत्त्यनुकूलां मोक्षधर्मारम्भाधिष्ठानभूतां प्रव्रज्यामनुपश्यन् महतीमपि तां धनसमृद्धिमपरिक्लेशाधिगतां लोकसंनतिमनोहरां तृणवदपास्य तापसप्रव्रज्याविनयनियमपरो वभूव। प्रव्रजितमपि तं महासत्त्वं यशःप्रकाशत्वात् पूर्वसंस्तवानुस्मरणात् संभावितगुणत्वात् प्रशमाभिलक्षितत्वाच्च श्रेयोऽर्थी जनस्तद्गुणगणावर्जितमतिस्तथैवाभिजगाम। स तं गृहिजनसंसर्गं प्रविवेकसुखप्रमाथिनं व्यासङ्गविक्षेपान्तरायकरमबहुमन्यमानः प्रविवेकाभिरामतया दक्षिणसमुद्रमध्यावगाढमिन्द्रनीलभेदाभिनीलवर्णैरनिलवलाकलितैरूर्मिमालाविलासैराच्छुरितपर्यन्तं सितसिकतास्तीर्णभूमिभागं पुष्पफलपल्लवालंकृतविटपैर्नानातरुभिरुपशोभितं विमलसलिलाशयप्रतीरं काराद्वीपमध्यासनादाश्रमपदश्रिया संयोजयामास।

सुतनुस्तपसा तत्र स रेजे तपसातनुः।
नवचन्द्र इव व्योम्नि कान्तत्वेनाकृशः कृशः॥ ३॥
प्रशमनिभृतचेष्टितेन्द्रियो व्रतनियमैकरसो वने वसन्।
मुनिरिति तनुबुद्धिशक्तिभिर्मृगविहगैरपि सोऽन्वगम्यत॥ ४॥

अथ स महात्मा प्रदानोचितत्वात्तपोवनेऽपि निवसन् कालोपनतमतिथिजनं यथासंनिहितेन मूलफलेन शुचिना सलिलेन हृद्याभिश्च स्वागताशीर्वादपेशलाभिस्तपस्विजनयोग्याभिर्वाग्भिः संपूजयति स्म। अतिथिजनोपयुक्तशेषेण च यात्रामात्रार्थमभ्यवहृतेन तेन वन्येनाहारेण वर्तयामास। तस्य तपःप्रकर्षात् प्रविसृतेन यशसा समावर्जितहृदयः शक्रो देवेन्द्रः स्थैर्यजिज्ञासया तस्य महासत्त्वस्य तस्मिन्नरण्यायतने तापसजनोपभोगयोग्यं मूलफलमनुपूर्वेण सर्वमन्तर्धापयामास। बोधिसत्त्वोऽपि ध्यानप्रसृतमानसतया संतोषपरिचयादनधिमूर्च्छितत्वादाहारे स्वशरीरे चानभिष्वङ्गान्न तमन्तर्धानहेतुं मनसि चकार। स तरुणानि तरुपर्णान्यधिश्राय तैराहारप्रयोजनमभिनिष्पाद्यातृष्यमाण आहारविशेषानुत्सुकः स्वस्थमतिस्तथैव विजहार।

न क्वचिद् दुर्लभा वृत्तिः संतोषनियतात्मनाम्।
कुत्र नाम न विद्यन्ते तृणपर्णजलाशयाः॥ ५॥

विस्मिततरमनास्तु शक्रो देवेन्द्रस्तस्य तेनावस्थानेन स्थिरतरगुणसंभावनस्तत्परीक्षानिमित्तं तस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निदाघकालानिलवत्समग्रं वीरुत्तृणतरुगणं पर्णसमृद्ध्या वियोजयामास। अथ बोधिसत्त्वः प्रत्यार्द्रतराणि शीर्णपर्णानि समाहृत्य तैरुदकस्विन्नैरनुत्कण्ठितमतिर्वर्तमानो ध्यानसुखप्रीणितमनास्तत्रामृततृप्त इव विजहार।

अविस्मयः श्रुतवतां समृद्धानाममत्सरः।
संतोषश्च वनस्थानां गुणशोभाविधिः परः॥ ६॥

अथ शक्रस्तेन तस्याद्भुतरूपेण संतोषस्थैर्येण समभिवृद्धविस्मयः सामर्ष इव तस्य महासत्त्वस्य व्रतकाले हुताग्निहोत्रस्य परिसमाप्तजप्यस्यातिथिजनदिदृक्षया

व्यवलोकयतो ब्राह्मणरूपमास्थायातिथिरिव नाम भूत्वा पुरस्तात्प्रादुरभूत् । स प्रीतमनाः समभिगम्य चैनं बोधिसत्त्वः स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरेणाहारकालनिवेदनेनोपनिमन्त्रयामास । तूष्णींभावात्तु तस्याभिमतमुपनिमन्त्रणमवेत्य स महात्मा

दित्साप्रहर्षविकसन्नयनास्यशोभः
स्निग्धैर्मनःश्रुतिसुखैरभिनन्द्य वाक्यैः ।
कृच्छ्रोपलब्धमपि तच्छ्रपणं समस्तं
तस्मै ददौ स्वयमभूच्च मुदेव तृप्तः ॥ ७ ॥

स तथैव प्रविश्य ध्यानागारं तेनैव प्रीतिप्रामोद्येन तमहोरात्रमतिनामयामास । अथ शक्रस्तस्य द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमेऽपि चाहनि तथैव व्रतकाले पुरतः प्रादुरभूत् । सोऽपि चैनं प्रमुदिततरमनास्तथैव प्रतिपूजयामास ।

दानाभिलाषः साधूनां कृपाभ्यासविवर्धितः ।
नैति संकोचदीनत्वं दुःखैः प्राणान्तिकैरपि ॥ ८ ॥

अथ शक्रः परमविस्मयाविष्टहृदयस्तपःप्रकर्षादस्य प्रार्थनामात्रापेक्षं त्रिदशपतिलक्ष्मीसंपर्कमवगम्य समुत्पतितभयाशङ्कः स्वमेव वपुर्दिव्याद्भुतशोभमभिप्रपद्य तपःप्रयोजनमेनं पर्यपृच्छत् ।

बन्धून्प्रियानश्रुमुखान्विहाय परिग्रहान्सौख्यपरिग्रहांश्च ।
आशाङ्कुशं नु व्यवसृज्य कुत्र तपःपरिक्लेशमिमं श्रितोऽसि ॥ ९ ॥
सुखोपपन्नान्परिभूय भोगाँच्छोकाकुलं बन्धुजनं च हित्वा ।
न हेतुनाल्पेन हि यान्ति धीराः सुखोपरोधीनि तपोवनानि ॥ १० ॥
वक्तव्यमेतन्मयि मन्यसे चेत्कौतूहलं नोऽर्हसि तद्विनेतुम् ।
किं नाम तद्यस्य गुणप्रवेशवशीकृतैवं भवतोऽपि बुद्धिः ॥ ११ ॥
बोधिसत्त्व उवाच—श्रूयतां मार्ष यन्निमित्तोऽयं मम प्रयत्नः ।
पुनः पुनर्जातिरतीव दुःखं जराविपद्व्याधिविरूपताश्च ।
मर्तव्यमित्याकुलता च बुद्धेर्लोकानतस्त्रातुमिति स्थितोऽस्मि ॥ १२ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रो नायमस्मद्गतां श्रियमभिकामयत इति समाश्वासितहृदयः सुभाषितेन तेन चाभिप्रसादितमतिर्युक्तमित्यभिपूज्य तदस्य वचनं वरप्रदानेन बोधिसत्त्वमुपनिमन्त्रयामास—

अत्र ते तापसजनप्रतिरूपे सुभाषिते ।
ददामि काश्यप वरं तद्वृणीष्व यदिच्छसि ॥ १३ ॥

अथ बोधिसत्त्वो भवभोगसुखेष्वनास्थः प्रार्थनामेव दुःखमवगच्छन्सात्मीभूतसंतोषः शक्रमुवाच—

दातुमिच्छसि चेन्मह्यमनुग्रहकरं वरम् ।
वृणे तस्मादहमिमं देवानां प्रवरं वरम् ॥ १४ ॥
दारान्मनोऽभिलषितांस्तनयान्प्रभुत्व-
मर्थानभीप्सितविशालतरांश्च लब्ध्वा ।

येनाभितप्तमतिरेति न जातु तृप्तिं
लोभानलः स हृदयं मम नाभ्युपेयात् ॥ १५ ॥

अथ शक्रस्तया तस्य संतोषप्रवणमानसतया सुभाषिताभिव्यञ्जितया भूयस्या मात्रया संप्रसादितमतिः पुनर्बोधिसत्त्वं साधु साध्विति प्रशस्य वरेणोपच्छन्दयामास—

अत्रापि ते मुनिजनप्रतिरूपे सुभाषिते।
प्रतिप्राभृतवत्प्रीत्या प्रयच्छाम्यपरं वरम् ॥ १६ ॥

अथ बोधिसत्त्वः क्लेशवियोगस्यैव दुर्लभतामस्य प्रदर्शयन्वरयाच्ञापदेशेन पुनरप्यस्मै धर्मं देशयामास—

ददासि मे यदि वरं सद्गुणावास वासव।
वृणे तेनेममपरं देवेन्द्रानवरं वरम् ॥ १७ ॥
अर्थादपि भ्रंशमवाप्नुवन्ति वर्णप्रसादाद्यशसः सुखाच्च।
येनाभिभूता द्विषतेव सत्त्वाः स द्वेषवह्निर्मम दूरतः स्यात् ॥ १८ ॥

तच्छ्रुत्वा शक्रो देवानामधिपतिर्विस्मयवशात् साधु साध्वित्येनमभिप्रशस्य पुनरुवाच—

स्थाने प्रव्रजितान्कीर्तिरनुरक्तेव सेवते।
तद्वरं प्रतिगृह्णीष्व मदत्रापि सुभाषिते ॥ १९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः क्लेशप्रातिकूल्यात् क्लिष्टसत्त्वसंपर्कविगर्हां व्रतिसंप्रतिग्रहापदेशेन कुर्वन्नित्युवाच—

शृणुयामपि नैव जातु बालं न च वीक्षेय न चैनमालपेयम्।
न च तेन निवासखेददुःखं समुपेयां वरमित्यहं वृणे त्वाम् ॥ २० ॥

शक्र उवाच—

अनुकम्प्यो विशेषेण सतामापद्गतो ननु।
आपदां मूलभूतत्वाद्बाल्यं चाधममिष्यते ॥ २१ ॥
करुणाश्रयभूतस्य बालस्यास्य विशेषतः।
कृपालुरपि सन्कस्मान्न दर्शनमपीच्छसि ॥ २२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अगत्या मार्ष। पश्यत्वत्रभवान्।

कथंचिदपि शक्येत यदि बालश्चिकित्सितुम्।
तद्धितोद्योगनिर्यत्नः कथं स्यादिति मद्विधः ॥ २३ ॥

इत्थं चैष चिकित्साप्रयोगस्यापात्रमिति गृह्यताम्।

सुनयवदनयं नयत्ययं परमपि चात्र नियोक्तुमिच्छति।
अनुचितविनयार्जवक्रमो हितमपि चाभिहितः प्रकुप्यति ॥ २४ ॥
इति पण्डितमानमोहदग्धे हितवादिष्वपि रोषरूक्षभावे।
रभसे विनयाभियोगमान्द्याद्वद कस्तत्र हितार्पणाभ्युपायः। २५ ॥

इत्यगत्या सुरश्रेष्ठ करुणाप्रवणैरपि।
बालस्याद्रव्यभूतस्य न दर्शनमपीष्यते ॥ २६ ॥

तच्छ्रुत्वा शक्रः साधु साध्वित्येनमभिनन्द्य सुभाषिताभिप्रसादितमतिः पुनरुवाच—

न सुभाषितरत्नानामर्घः कश्चन विद्यते ।
कुसुमाञ्जलिवत्प्रीत्या ददाम्यत्रापि ते वरम् ॥ २७ ॥

अथ बोधिसत्त्वः सर्वावस्थासुखतां सज्जनस्य प्रदर्शयञ्छक्रमुवाच—

वीक्षेय धीरं शृणुयां च धीरं स्यान्मे निवासः सह तेन शक्र ।
संभाषणं तेन सहैव भूयादेतं वरं देववर प्रयच्छ ॥ २८ ॥

शक्र उवाच—अतिपक्षपात इव खलु ते धीरं प्रति । तदुच्यतां तावत् ।

किं नु धीरस्तवाकार्षीद्वद काश्यप कारणम् ।
अधीर इव येनासि धीरदर्शनलालसः ॥ २९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः सज्जनमाहात्म्यमस्य प्रदर्शयन्नुवाच—श्रूयतां मार्ष, येन मे धीरदर्शनमेवाभिलषते मतिः ।

व्रजति गुणपथेन च स्वयं नयति परानपि तेन वर्त्मना ।
वचनमपि न रूक्षमक्षमां जनयति तस्य हितोपसंहितम् ॥ ३० ॥
अशठविनयभूषणः सदा हितमिति लम्भयितुं स शक्यते ।
इति मम गुणपक्षपातिनी नमति मतिर्गुणपक्षपातिनि ॥ ३१ ॥

अथैनं शक्रः साधूपपन्नरूपमिदमिति चाभिनन्द्य समभिवृद्धप्रसादः पुनर्वरेणोपनिमन्त्रयामास—

कामं संतोषसात्मत्वात्सर्वत्र कृतमेव ते ।
मदनुग्रहबुद्ध्या तु ग्रहीतुं वरमर्हसि ॥ ३२ ॥
उपकाराशया भक्त्या शक्त्या चैव समस्तया ।
प्रयुक्तस्यातिदुःखो हि प्रणयस्याप्रतिग्रहः ॥ ३३ ॥

अथ तस्य परामुपकर्तुकामतामवेक्ष्य बोधिसत्त्वस्तत्प्रियहितकामतया प्रदानानुतर्षप्राबल्यमस्मै प्रकाशयन्नुवाच—

त्वदीयमन्नं क्षयदोषवर्जितं मनश्च दित्साप्रतिपत्तिपेशलम् ।
विशुद्धशीलाभरणाश्च याचका मम स्युरेतां वरसंपदं वृणे ॥ ३४ ॥

शक्र उवाच—सुभाषितरत्नाकरः खल्वत्रभवान् । अपि च—

यदभिप्रार्थितं सर्वं तत्तथैव भविष्यति ।
ददामि च पुनस्तुभ्यं वरमस्मिन्सुभाषिते ॥ ३५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

वरं ममानुग्रहसंपदाकरं ददासि चेत्सर्वदिवौकसां वर ।
न माभ्युपेयाः पुनरित्यभिज्वलन्निमं वरं दैन्यनिसूदनं वृणे ॥ ३६ ॥

अथ शक्रः सामर्षवदेनमतिविस्मयमान उवाच—मा तावद्भोः !

जपव्रतेज्याविधिना तपःश्रमैर्जनोऽयमन्विच्छति दर्शनं मम ।
भवान्पुनर्नेच्छति केन हेतुना वरप्रदित्साभिगतस्य मे सतः ॥ ३७ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलं ते मन्युप्रणयेन। समनुनेष्याम्यहमत्रभवन्तं देवराज! न ह्यसावदाक्षिण्यानुवृत्तिर्न चाप्यबहुमानविचेष्टितमसमवधानकाम्यता वा भवति भवताम्। किं तु

निरीक्ष्य ते रूपममानुषाद्भुतं प्रसन्नकान्ति ज्वलितं च तेजसा।
भवेत्प्रमादस्तपसीति मे भयं प्रसादसौम्यादपि दर्शनात्तव॥ ३८॥

अथ शक्रः प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधे। प्रभातायां च रजन्यां बोधिसत्त्वः शक्रप्रभावोपहृतं प्रभूतं दिव्यमन्नपानं ददर्श। शक्रोपनिमन्त्रणाहूतानि चानेकानि प्रत्येकबुद्धशतानि व्यायताबद्धपरिकरांश्च परिवेषणसज्जाननेकांश्च देवकुमारान्।

तेनान्नपानविधिना स मुनिर्महर्षीन्
संतर्पयन्मुदमुदारतरामवाप।
वृत्त्या च तापसजनोचितयाभिरेमे
ध्यानाप्रमाणनियमेन शमेन चैव॥ ३९॥

तदेवं तपोवनस्थानामप्यलंकारस्त्यागशौर्यं प्रागेव गृहस्थानामिति त्यागशौर्येणालंकर्तव्य एवात्मा सत्पुरुषेणेति। दानपतिसंप्रहर्षणायामप्युन्नेयं लोभद्वेषमोहबाल्यविगर्हायां कल्याणमित्रसंपर्कगुणे संतोषकथायां तथागतमाहात्म्ये च। एवं पूर्वजन्मस्वपि सुभाषितरत्नातिशयाकरः स भगवान् प्रागेव संबुद्ध इति।

इत्यगस्त्य-जातकं सप्तमम्।

---

८. मैत्रीबल-जातकम्

न परदुःखातुराः स्वसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिकाः। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल स्वमाहात्म्यकारुण्याभिप्रपन्नो जगत्परित्राणाध्याशयः, प्रदानदमनियमसौरत्यादिभिर्लोकानुग्रहानुकूलैर्गुणातिशयैरभिवर्धमानः सर्वसत्त्वमैत्रमना मैत्रबलो नाम राजा बभूव।

दुःखं सुखं वा यदभूत्प्रजानां तस्यापि राज्ञस्तदभूत्तथैव।
अतः प्रजारक्षणदक्षिणोऽसौ शस्त्रं च शास्त्रं च परामर्मश॥ १॥
नरेन्द्रचूडाधृतशासनस्य तस्य त्वलङ्कारवदास शस्त्रम्।
विस्पष्टरूपं ददृशे च शास्त्रं नयेषु लोकस्य हितोदयेषु॥ २॥
विनिग्रहप्रग्रहयोः प्रवृत्तिर्धर्मोपरोधं न चकार तस्य।
हिताशयत्वान्नयनैपुणाच्च परीक्षकस्येव पितुः प्रजासु॥ ३॥

तस्यैवं धर्मेण प्रजाः पालयतः सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिश्च परहितपरिणामनात्सविशेषोदात्तक्रमैर्बोधिसम्भारविधिभिरभिवर्धमानस्य कदाचित्कस्मिंश्चिदपराधे यक्षाणामधिपतिना स्वविषयात्प्रव्राजिता ओजोहाराः पञ्च यक्षाः परवधदक्षास्तद्विषयमभिजग्मुः। व्यपगतसर्वोपद्रवत्वाच्च नित्यप्रवृत्तविविधोत्सवं परया सम्पदा

समुपेतरूपं प्रमुदिततुष्टपुष्टजनमभिसमीक्ष्य तद्विषयं तन्निवासिनां पुरुषाणामोजांस्यपहर्तुं तेषामभिलाषो बभूव।

ते परेणापि यत्नेन सम्प्रवृत्ताः स्वकर्मणि।
नैव तद्विषयस्थानां हर्तुमोजः प्रसेहिरे ॥ ४ ॥

तस्य प्रभावातिशयान्नृपस्य ममेति यत्रैव बभूव बुद्धिः।
सैवास्य रक्षा परमास तस्मादोजांसि हर्तुं न विषेहिरे ते ॥ ५ ॥

यदा च परमपि प्रयत्नं कुर्वन्तो नैव शक्नुवन्ति स्म कस्यचिद्विषयनिवासिनो जनस्यौजोऽपहर्तुमथ तेषां परस्परमवेक्ष्यैतदभूत्। किं नु खल्विदं मार्षाः !

अस्मत्प्रभावप्रतिघातयोग्या विद्यातपःसिद्धिमया विशेषाः।
न सन्ति चैषामथ चाद्य सर्वे व्यर्थाभिधानत्वमुपागताः स्मः ॥ ६ ॥

अथ ते यक्षा ब्राह्मणवर्णमात्मानमभिनिर्माय समनुचरन्तो ददृशुः प्रत्यरण्यचरमन्यतमं गोपालकं सशाद्वले छायाद्रुममूले सोपानत्कं संनिषण्णं सपल्लवैर्वनतरुकुसुमैर्विरचितां मालामुद्वहन्तं दक्षिणतो विन्यस्तदण्डपरशुमेकाकिनं रज्जुवर्तनव्यापृतं प्रक्ष्वेडितविलासेन गायन्तमासीनम्। समुपेत्य चैनमूचुः—थथथददकाकाकाका। भो गवां संरक्षाधिकृत ! एवं विविक्ते निर्जनसम्पातेऽस्मिन्नरण्ये विचरन्नेवमेकाकी कथं न बिभेषीति। स तानालोक्याब्रवीत्—कुतो वा भेतव्यमिति। यक्षा ऊचुः—किं त्वया न श्रूतपूर्वा यक्षराक्षसानां पिशाचानां वा निसर्गरौद्रा प्रकृतिरिति ?

सहायमध्येऽपि हि वर्तमानो विद्यातपःस्वस्त्ययनैरुपेतः।
येभ्यः कथञ्चित्परिमोक्षमेति शौर्यादवज्ञातभयोऽपि लोकः ॥ ७ ॥
तेभ्यो नृमेदःपिशिताशनेभ्यः कथं भयं तेऽस्ति न राक्षसेभ्यः।
विविक्तगम्भीरभयानकेषु सहायहीनस्य वनान्तरेषु ॥ ८ ॥

इत्युक्ते स गोपालकः प्रहस्यैनानुवाच—

जनः स्वस्त्ययनेनायं महता परिपाल्यते।
देवेन्द्रेणाप्यशक्योऽयं किं पुनः पिशिताशनैः ॥ ९ ॥
तेन गेह इवारण्ये रात्रावपि यथा दिवा।
जनान्त इव चैकोऽपि निर्भयो विचराम्यहम् ॥ १० ॥

अथैनं ते यक्षाः कुतूहलप्राबल्यात्सादरमुत्साहयन्त इवोचुः—

तत्कथय कथय तावद्भद्र कीदृशोऽयं युष्माकं स्वस्त्ययनविशेष इति। स तान्प्रहसन्नुवाच—श्रूयतां यादृशोऽयमस्माकमत्यद्भुतः स्वस्त्ययनविशेषः।

कनकगिरिशिलाविशालवक्षाः शरदमलेन्दुमनोज्ञवक्त्रशोभः।
कनकपरिघपीनलम्बबाहुर्वृषभनिभेक्षणविक्रमो नरेन्द्रः ॥ ११ ॥

ईदृशोऽस्माकं स्वस्त्ययनविशेषः। इत्युक्त्वा सामर्षविस्मयस्तान् यक्षानवेक्षमाणः पुनरुवाच—आश्चर्यं बतेदम्।

एवं प्रकाशो नृपतिप्रभावः कथं नु वः श्रोत्रपथं न यातः।
अत्यद्भुतत्वादथवा श्रुतोऽपि भवत्सु विप्रत्ययतो न रूढः ॥ १२ ॥

शङ्के गुणान्वेषणविक्लवो वा देशी जनोऽसावकुतूहलो वा।
विवर्जितो भाग्यपरिक्षयाद्वा कीर्त्या नरेन्द्रस्य यतोऽभ्युपैत ॥ १३ ॥

तदस्ति वो भाग्यशेषं यत्तादृशाद्देशकान्तारादिहागताः स्थ। यक्षा ऊचुः— भद्रमुख! कथय किंकृतोऽयमस्य राज्ञः प्रभावो यदस्यामानुषा न प्रसहन्ते विषयवासिनं जनं हिंसितुमिति। गोपालक उवाच -स्वमाहात्म्याधिगतः प्रभावोऽयमस्माकं महाराजस्य। पश्यत महाब्राह्मणाः!

मैत्री तस्य बलं ध्वजाग्रशबलं त्वाचारमात्रं बलं
नाऽसौ वेत्ति रुषं न चाऽऽह परुषं सम्यक् च गां रक्षति।
धर्मस्तस्य नयो न नीतिनिकृतिः पूजार्थमर्थः सता-
मित्याश्चर्यमयोऽपि दुर्जनधनं गर्वं च नालम्बते ॥१४॥

एवमादिगुणशतसमुदितोऽयमस्माकं स्वामी। तेनास्य न प्रसहन्ते विषयनिवासिनं जनं हिंसितुमुपद्रवाः। अपि च। कियदहं वः शक्ष्यामि वक्तुम्। नृपतिगुणश्रवणकौतूहलैस्तु भवद्भिर्नगरमेव युक्तं प्रवेष्टुं स्यात्। तत्र हि भवन्तः स्वधर्मानुरागाद्व्यवस्थितार्यमर्यादं नित्यक्षेमसुभिक्षत्वात्प्रमुदितसमृद्धमनुद्धतोदात्तवेषमभ्यागतातिथिजनविशेषवत्सलं नृपतिगुणाक्षिप्तहृदयं तत्कीर्त्याश्रयाः स्तुतीर्मङ्गलमिव स्वस्त्ययनमिव च प्रहर्षादभ्यस्यन्तं जनं दृष्ट्वा राज्ञो गुणविस्तरमनुमास्यन्ते। सत्यां च गुणबहुमानोद्भावनायां तद्दिदृक्षया यूयमवश्यं तद्गुणप्रत्यक्षिणो भविष्यथेति। अथ ते यक्षाः स्वप्रभावप्रतिघातात्तस्मिन्राजनि सामर्षहृदया भावप्रयुक्तयापि युक्तया तया तद्गुणकथया नैव मार्दवमुपजग्मुः।

प्रायेण खलु मन्दानाममर्षज्वलितं मनः।
यस्मिन्वस्तुनि तत्कीर्त्या तद्विशेषेण दह्यते ॥ १५ ॥

प्रदानप्रियतां तु समभिवीक्ष्य तस्य राज्ञस्ते यक्षास्तदपकारचिकीर्षवः समभिगम्य राजानं सन्दर्शनकाले भोजनमयाचन्त। अथ स राजा प्रमुदितमनास्तदधिकृतान्पुरुषान्समादिदेश—क्षिप्रमभिरुचितं भोजनं ब्राह्मणेभ्यो दीयतामिति। अथ ते यक्षाः समुपहृतं राजार्हमपि भोजनं हरिततृणमिव व्याघ्रा नैव प्रत्यगृह्णन्नैवंविधं भोजनं वयमश्नीम इति। तच्छ्रुत्वा स राजा समभिगम्यैनानब्रवीत्- अथ कीदृशं भोजनं युष्माकमुपशेते? यावत्तादृशमन्विष्यतामिति। यक्षा ऊचुः—

प्रत्यग्रोष्माणि मांसानि नराणां रुधिराणि च।
इत्यन्नपानं पद्माक्ष! यक्षाणामक्षतव्रत ॥ १६ ॥

इत्युक्त्वा दंष्ट्राकरालवदनानि दीप्त-पिङ्गल-केकर-रौद्रनयनानि स्फुटितचिपिटविरूपघोणानि ज्वलदनलकपिलकेशश्मश्रूणि सजलजलधरान्धकाराणि विकृतभीषणानि स्वान्येव वपूंषि प्रत्यपद्यन्त। समभिवीक्ष्य चैनान्स राजा—पिशाचाः खल्विमे न मानुषास्तेनास्मदीयमन्नपानं नाभिलषन्तीति निश्चयमुपजगाम।

अथ तस्य नरेन्द्रस्य प्रकृत्या करुणात्मनः।
भूयसी करुणा तेषु समभूच्छुद्धचेतसः ॥ १७ ॥

करुणैकतानहृदयश्च तान्यक्षाननुशोचन्नियतमीदृशमर्थं चिन्तयामास ।

दयावतस्तावदिदमन्नपानं सुदुर्लभम् ।
प्रत्यहं च तदन्वेष्यं किन्नु दुःखमतः परम् ॥ १८ ॥
निर्दयस्याप्यशक्तस्य विघातैकरसः श्रमः ।
शक्तस्याप्यहिताभ्यासात् किंस्वित्कष्टतरं ततः ॥ १९ ॥
एवंविधाहारपरायणानां कारुण्यशून्याशिवमानसानाम् ।
प्रत्याहमेषां दहतां स्वमर्थं दुःखानि यास्यन्ति कदा नु नाशम् ॥ २० ॥

तत्कथमिदानीमहमेषामीदृशाहारसम्पादनादेकाहमपि तावत्परहिंसाप्राणविघातं कुर्याम् ?

न हि स्मराम्यर्थितयागतानामाशाविपर्याहतप्रभाणि ।
हिमानिलम्लापितपङ्कजानां समानदैन्यानि मुखानि कर्तुम् ॥ २१ ॥

भवतु । दृष्टम् ।

स्वतः शरीरात्स्थिरपीवराणि दास्यामि मांसानि सशोणितानि ।
अतोऽन्यथा को हि मम क्रमः स्यादित्यागतेष्वर्थिषु युक्तरूपः ॥ २२ ॥
स्वयंमृतानां हि निरूष्मकाणि भवन्ति मांसानि विशोणितानि ।
प्रियाणि चैषां न हि तानि सम्यग् बुभुक्षया पीडितविग्रहाणाम् ॥ २३ ॥

जीवतोऽपि च कुतोऽहमन्यस्मान्मांसमादास्ये मामभिगम्य चैते तथैव क्षुत्तर्षपरिक्षामनयनवदना निष्फलाशाप्रणयत्वादधिकतरविघातातुरमनसः कथं नाम प्रतियास्यन्ति ? तदिदमत्र प्राप्तकालम् ।

दुष्टव्रणस्येव सदातुरस्य कडे(ले)वरस्यास्य रुजाकरस्य ।
करोमि कार्यातिशयोपयोगादत्यर्थरम्यं प्रतिकारखेदम् ॥ २४ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रहर्षोद्गमस्फीतीकृतनयनवदनशोभः स्वं शरीरमुपदर्शयंस्तान्यक्षानुवाच—

अमूनि मांसानि सशोणितानि धृतानि लोकस्य हितार्थमेव ।
यद्यातिथेयत्वमुपेयुरद्य महोदयः सोऽभ्युदयो मम स्यात् ॥ २५ ॥

अथ ते यक्षा जानन्तोऽपि तस्य राज्ञस्तमध्याशयमत्यद्भुतत्वादश्रद्दधाना राजानमूचुः—

अर्थिनात्मगते दुःखे याच्ञादैन्येन दर्शिते ।
ज्ञातुमर्हति दातैव प्राप्तकालमतः परम् ॥ २६ ॥

अथ राजा-अनुमतमिदमेषामिति प्रमुदितमनाः सिरामोक्षणार्थं वैद्या आज्ञाप्यन्तामिति समादिदेश । अथ तस्य राज्ञोऽमात्याः स्वमांसशोणितप्रदानव्यवसायमवेत्य सम्भ्रमामर्षव्याकुलहृदया व्यक्तमीदृशं कञ्चिदर्थं स्नेहवशादूचुः—नार्हति देवः प्रदानहर्षातिशयादनुरक्तानां प्रजानां हिताहितक्रममनवेक्षितुम् । न चैतदविदितं देवस्य । यथा—

यद्यत्प्रजानामहितोदयाय तत्तत्प्रियं मानद ! राक्षसानाम् ।
परोपरोधार्जितवृत्तितुष्टिरेवंस्वभावानघ जातिरेषाम् ॥ २७ ॥

सुखेष्वसक्तश्च बिभर्षि देव! राज्यश्रमं लोकहितार्थमेव।
स्वमांसदानव्यवसायमस्मात्त्वनिश्चयोन्मार्गमिमं विमुञ्च ॥ २८ ॥
असंशयं न प्रसहन्त एते त्वद्वीर्यगुप्तं नरदेव लोकम्।
अनर्थपाण्डित्यहतास्तथा हि नयेन वाञ्छन्त्यनयं प्रजानाम् ॥ २९ ॥
मेदोवसाद्यैस्त्रिदशा मखेषु प्रीतिं हुताशाभिहुतैर्व्रजन्ति।
सत्कारपूतं भवदीयमन्नं सम्पन्नमेषां किल नैव रुच्यम् ॥ ३० ॥

कामं नास्मद्विधजनाधेयबुद्धयो देवपादाः। स्वकार्यानुरागस्त्वयमस्मानेवमुपचारपथाद् भ्रंशयति। पञ्चानाममीषामर्थे सकलं जगदनर्थीकर्तव्यमिति कोऽयं धर्ममार्गो देवस्य? अपि च। किंकृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता, केन वास्माकं स्वाम्यर्थे विनियोज्यमानानि विनिगूढपूर्वाणि मांसशोणितानि यदपरिक्षीणेष्वेवामीषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति। अथ स राजा तानमात्यानुवाच—

संविद्यमानं नास्तीति ब्रूयादस्मद्विधः कथम्।
न दास्यामीत्यसत्यं वा विस्पष्टमपि याचितः ॥ ३१ ॥
धर्मव्यवस्थासु पुरःसरः सन् स्वयं व्रजेयं यदि कापथेन।
अस्मद्गताचारपथानुगानां भवेदवस्था मम का प्रजानाम् ॥ ३२ ॥
यतः प्रजा एव समीक्षमाणः सारं शरीरादहमुद्धरिष्ये।
कश्च प्रभावो जगदर्थसाधुर्मात्सर्यहार्याल्पहृदो मम स्यात् ॥ ३३ ॥

यदपि चास्मत्प्रेमबहुमानावर्जितं प्रणयविस्रम्भगर्भमभिधीयते भवद्भिः—किंकृतेयमस्मास्वेवं निष्प्रणयता यदपरिक्षीणेष्वेव नो मांसशोणितेषु स्वानि देवो दातुमिच्छतीति। अत्र वोऽनुनेष्यामि। न खलु मे युष्मासु प्रतिहतविषयः प्रणयमार्गो विस्रम्भविरहात्परिशङ्कागहनदुरवगाहो वा। किन्तु—

धने तनुत्वं क्रमशो गते वा भाग्यानुवृत्त्या क्षयमागते वा।
विजृम्भमाणप्रणयः सुहृत्सु शोभेत न स्फीतधनः कृशेषु ॥ ३४ ॥
विवर्धितेष्वर्थिजनार्थमेव संविद्यमानेषु च मे बृहत्सु।
गात्रेषु मांसोपचयोन्नतेषु युष्मास्वपि स्यात्प्रणयो विरूपः ॥ ३५ ॥
असंस्तुतानामपि न क्षमेय पीडां कथं कैव कथा भवत्सु।
स्वान्येव मांसानि यतोऽस्मि दित्सुर्मां चैव याचन्त इमे न युष्मान् ॥ ३६ ॥

तदलमस्मदतिस्नेहाद्धर्मविघ्ननिःसाध्वसतया। अनुचितः खल्वयमत्रभवतामस्मदर्थिषु समुदाचारः। मीमांसितव्यमपि च तावदेतत्स्यात्—

स्वार्थमन्नादि दित्सन्तं कथं स्यात्प्रतिषेधयन्।
साधुवृत्तिरसाधुर्वा प्रागेवैवंविधं विधिम् ॥ ३७ ॥

तदलमनेनात्र वो निर्बन्धेन। न्यायोपपरीक्षया क्रियतामस्मत्साचिव्यसदृशमुन्मार्गावरणं मनसः। अनुमोदनानुगुणवचसः खल्वत्रभवन्तः शोभेरन्नेवमधीरनयनाः। कुतः—

नैकोपयोगस्य धनस्य तावन्न प्रत्यहं याचनका भवन्ति।
एवंविधस्त्वर्थिजनोऽधिगन्तुं न देवताराधनयापि शक्यः ॥ ३८ ॥

एवंविधे चार्थिजनेऽभ्युपेते देहे विनाशिन्यसुखास्पदे च।
विमर्शमार्गोऽप्यनुदात्तता स्यान्मात्सर्यदैन्यं तु पर ा तमिस्रा ॥ ३९ ॥

तन्न मा वारयतुमर्हन्त्यत्रभवन्त इत्यनुनीय स राजा स्वां पर्षदमाहूय वैद्यान्पञ्च सिरा: स्वशरीरे मोक्षयित्वा तान्यक्षानुवाच—

धर्मकर्मणि साचिव्यं प्रीतिं च परमां मम।
भवन्तः कर्तुमर्हन्ति देयस्यास्य प्रतिग्रहात् ॥ ४० ॥

ते तथेत्युक्त्वाञ्जलिपुटैरेव राज्ञो रक्तचन्दनरसाभिताम्रं रुधिरं पातुमुपचक्रमिरे।

स पीयमानक्षतजः क्षितीशः क्षपाचरैर्हेमवपुश्चकाशे।
सन्ध्यानुरक्तैर्जलभारनम्रैः पयोधरैर्मेरुरिवोपगूढः ॥ ४१ ॥
प्रीतिप्रकर्षाद्धृतिसम्पदा च वपुर्गुणादेव च तस्य राज्ञः।
मम्लौ न गात्रं न मुमूर्छ चेतः संचिक्षिपे न क्षतजं क्षरद्वा ॥ ४२ ॥

विनीततर्षक्लमास्तु ते यक्षाः पर्याप्तमनेनेति राजानमूचुः—

अनेकदुःखायतने शरीरे सदा कृतघ्नेऽपि नराधिपस्य।
गतेऽर्थिसंमाननसाधनत्वं हर्षानुकूलं ग्रहणं बभूव ॥ ४३ ॥

अथ स राजा हर्षप्रबोधादधिकतरनयनवदनप्रसादो नीलोत्पलदलनीलविमलपत्रं रत्नप्रभोद्भासुररुचिरत्सरुं निशितं निस्त्रिंशमादाय स्वमांसानि च्छित्त्वा तेभ्यः प्रायच्छत्।

ह्रियमाणावकाशं तु दानप्रीत्या पुनः पुनः।
न प्रसेहे मनस्तस्य च्छेददुःखं विगाहितुम् ॥ ४४ ॥
आकृष्यमाणं शितशस्त्रपातैः प्रीत्या पुनर्दूरमपास्यमानम्।
खेदालसत्वादिव तस्य दुःखं मनःसमुत्सर्पणमन्दमासीत् ॥ ४५ ॥
स प्रीतिमानेव निशाचरांस्तान्सन्तर्पयन्स्वैः पिशितैस्तथासीत्।
क्रूराणि तेषामपि मानसानि येनासुराविष्कृतमार्दवानि ॥ ४६ ॥
धर्मप्रियत्वात्करुणावशाद्वा त्यजन् परार्थे प्रियमात्मदेहम्।
द्वेषाग्निदग्धान्यपि मानसानि प्रसादसौवर्ण्यनवानि कुर्यात् ॥ ४७ ॥

अथ ते यक्षास्तं राजानं स्वमांसोत्कर्तनपरं तथैवास्खलितवदनप्रसादमविकम्प्यमानं मांसच्छेदवेदनाभिरभिवीक्ष्य प्रसादं विस्मयञ्चोपजग्मुः।

आश्चर्यमद्भुतमहो बत किंस्विदेतत्
सत्यं न वेति समुदीर्णविचारहर्षाः।
राजन्यमर्षमुपमृद्य मनःप्रसादं
तत्संस्तुतिप्रणतिभिः प्रथयाम्बभूवुः ॥ ४८ ॥

अलमलं देव! विरम्यतां स्वशरीरपीडाप्रसङ्गात्। सन्तर्पिताः स्मस्तवानयाद्भुतया याचनकजनमनोहरया प्रतिपत्त्येति ससम्भ्रमाः सप्रणामं विनिवार्य राजानं प्रसादाश्रुपरिषिक्तवदनाः सबहुमानमुदीक्षमाणाः पुनरूचुः—

स्थाने भक्तिवशेन गच्छति जनस्त्वत्कीर्तिवाचालतां
स्थाने श्रीः परिभूय पङ्कजवनं त्वत्संश्रयश्लाघिनी।
व्यक्तं शक्रसनाथतामपि गता त्वद्वीर्यगुप्तामिमां
द्यौः पश्यत्युदितस्पृहा वसुमतीं नो चेदहो वञ्च्यते ॥ ४९ ॥

किं बहुना ? एवंविधजनाभ्युपपन्नः सभाग्यः खलु मनुष्यलोकः। युष्मदायासाभ्यनुमोदनात्तु वयमेवात्र दग्धाः। भवद्विधजनापश्रयाच्छक्यमित्थङ्गतैरप्यात्मानं समुद्धर्तुमिति स्वदुष्करप्रतीघाताशया भवन्तं पृच्छामः—

अनादृत्य सुखप्राप्तामनुरक्तां नृपश्रियम्।
किं तदत्यद्भुतं स्थानं पथानेन यदीप्ससि ॥ ५० ॥
सर्वक्षितिपतित्वं नु धनेशत्वमथेन्द्रताम्।
ब्रह्मभूयं विमोक्षं वा तपसानेन वाञ्छसि ॥ ५१ ॥
अस्य हि व्यवसायस्य न दूरतरमीप्सितम्।
श्रोतव्यं चैतदस्माभिर्वक्तुमर्हति नो भवान् ॥ ५२ ॥

राजोवाच--श्रूयतां यदर्थोऽयं ममाभ्युद्यमः।
प्रयत्नलभ्या यदयत्ननाशिनी न तृप्तिसौख्याय कुतः प्रशान्तये।
भवाश्रया सम्पदतो न कामये सुरेन्द्रलक्ष्मीमपि किम्वथेतराम् ॥ ५३ ॥
न चात्मदुःखक्षयमात्रकेण मे प्रयाति सन्तोषपथेन मानसम्।
अमूननाथानभिवीक्ष्य देहिनः प्रसक्ततीव्रव्यसनश्रमातुरान् ॥ ५४ ॥
अनेन पुण्येन तु सर्वदर्शितामवाप्य निर्जित्य च दोषविद्विषः।
जरा-रुजा-मृत्युमहोर्मिसङ्कुलात्समुद्धरेयं भवसागराज्जगत् ॥ ५५ ॥

अथ ते यक्षाः प्रसादसंहर्षिततनुरुहाः प्रणम्य राजानमूचुः—उपपन्नरूपमेवंविधस्य व्यवसायातिशयस्येदं कर्म। तन्न दूरे भवद्विधानामभिप्रायसम्पद इति निश्चितमनसो विज्ञापयामः—

कामं लोकहितायैव तव सर्वोऽयमुद्यमः।
स्वहितात्यादरं त्वेषां स्मर्तुमर्हसि नस्तदा ॥ ५६ ॥
अज्ञानाच्च यदस्माभिरेवमायासितो भवान्।
स्वमप्यर्थमपश्यद्भिर्मृष्यतामेव तच्च नः ॥ ५७ ॥
आज्ञामपि च तावन्नस्त्वमनुग्रहपद्धतिम्।
सचिवानामिव स्वेषां विस्रब्धं दातुमर्हसि ॥ ५८ ॥

अथ स राजा प्रसादमृदूकृतहृदयान्मत्वैनानुवाच--उपकारः खल्वयं नायासो ममेत्यलमत्र वोऽक्षमाशङ्कया। अपि च—

एवंविधे धर्मपथे सहायान्कि विस्मरिष्याम्यधिगम्य बोधिम्।
युष्माकमेव प्रथमं करिष्ये विमोक्षधर्मामृतसंविभागम् ॥ ५९ ॥
अस्मत्प्रियं चाभिसमीक्षमाणैर्हिंसा भवद्भिर्विषवद्विवर्ज्या।
लोभः परद्रव्यपरिग्रहेषु वाग्गर्हिता मद्यमयश्च पाप्मा ॥ ६० ॥

अथ ते यक्षास्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य चैनं तत्रैवान्तर्दधिरे। स्वमांसशोणितप्रदाननिश्चयसमकालमेव तु तस्य महासत्त्वस्य।

विकम्पमाना बहुधा वसुन्धरा विघूर्णयामास सुवर्णपर्वतम्।
प्रसस्वनुर्दुन्दुभयश्च तद्गता द्रुमाश्च पुष्पं ससृजुर्विकम्पनात्॥ ६१॥
तदभ्रवद्व्योमनि मारुतेरितं पतत्रिसेनेव वितानवत्क्वचित्।
विसृत्य माला ग्रथितेव कुर्वन्वितसमं समन्तान्नृपतेर्व्यकीर्यत॥ ६२॥
निवारयिष्यन्निव मेदिनीपतिं समुद्धतावेगतया महार्णवः।
जलैः प्रकृत्यभ्यधिकक्रमस्वनैः प्रयाणसौजस्कवपुर्व्यरोचत॥ ६३॥
किमेतदित्यागतसम्भ्रमस्ततः सुराधिपस्तत्र विचिन्त्य कारणम्।
नृपात्ययाशङ्कितत्तूर्णमाययौ नृपालयं शोकभयाकुलाकुलम्॥ ६४॥
तथागतस्यापि तु तस्य भूपतेर्मुखप्रसादात्सविशेषविस्मयः।
उपेत्य तत्कर्म मनोज्ञया गिरा प्रसादसंहर्षवशेन तुष्टुवे॥ ६५॥
अहो प्रकर्षो बत सज्जनस्थितेरहो गुणाभ्यासनिधेरुदारता।
अहो परानुग्रहपेशला मतिस्त्वदर्पणान्नाथवती बत क्षितिः॥ ६६॥

इत्यभिप्रशस्यैनं शक्रो देवेन्द्रः सद्यः क्षतरोहणसमर्थैर्दिव्यैर्मानुष्यकैरोषधि-विशेषैर्निर्वेदनं यथापौराणं शरीरं कृत्वा दाक्षिण्यविनयोपचारमधुरं प्रतिपूजितस्तेन राज्ञा स्वमावासं प्रतिजगाम।

तदेवं परदुःखातुरा नात्मसुखमवेक्षन्ते महाकारुणिका इति। को नाम धनमात्रकेऽप्यपेक्षां नोत्स्रष्टुमर्हतीति दायकजनसमुत्तेजनायां वाच्यम्। करुणावर्णेऽपि तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे च।

यच्चोक्तं भगवता 'बहुकरः खल्वेते पञ्चका भिक्षवः' इति स्यादेतत्सन्धाय। तेन हि समयेन ते पञ्च यक्षा बभूवुः। तेषां भगवता यथाप्रतिज्ञातमेव प्रथमं धर्मामृत-संविभागः कृत इति।

इति मैत्रीबल-जातकमष्टमम्।

---

९. विश्वन्तर-जातकम्

न बोधिसत्त्वचरितं सुखमनुमोदितुमप्यल्पसत्त्वैः प्रागेवाचरितुम्। तद्यथानुश्रूयते—

सात्मीभूतेन्द्रियजयः पराक्रमनयविनयसंपदा समधिगतविजयश्रीर्वृद्धोपासन-नियमात् त्रय्यान्वीक्षिक्योरुपलब्धार्थतत्त्वः स्वधर्मकर्मानुरक्ताभिरनुद्विग्नसुखोचिताभिरनुरक्ताभिः प्रकृतिभिः प्रकाश्यमानदण्डनीतिशोभः सम्यक्प्रवृत्तवार्त्ताविधिः संजयो नाम शिवीनां राजा बभूव।

गुणोदयैर्यस्य निबद्धभावा कुलाङ्गनेवास नराधिपश्रीः।
अतर्कणीयान्यमहीपतीनां सिंहाभिगुप्तेव गुहा मृगाणाम्॥ १॥

तपस्सु विद्यासु कलासु चैव कृतश्रमा यस्य सदाभ्युपेताः ।
विशेषयुक्तं बहुमानमीयुः पूजाभिराविष्क्रियमाणसाराः ॥ २ ॥

तस्य राज्ञः प्रतिपत्त्यनन्तरं प्रथितगुणगणनिरन्तरो विश्वंतरो नाम पुत्रो युवराजो बभूव । [अयमेव भगवाञ्छाक्यमुनिस्तेन समयेन ।]

युवापि वृद्धोपशमाभिरामस्तेजस्व्यपि क्षान्तिसुखस्वभावः ।
विद्वानपि ज्ञानमदानभिज्ञः श्रिया समृद्धोऽप्यवलेपशून्यः ॥ ३ ॥
दृष्टप्रयामासु च दिक्षु तस्य व्याप्ते च लोकत्रितये यशोभिः ।
बभूव नैवान्ययशोलवानां प्रसर्तुमुत्साह इवावकाशः ॥ ४ ॥
अमृष्यमाणः स जगद्गतानां दुःखोदयानां प्रसृतावलेपम् ।
दानेषुवर्षी करुणोरुचापस्तैर्युद्धसंरम्भमिवाजगाम ॥ ५ ॥

स प्रत्यहमभिगतमर्थिजनमभिलषिताधिकैरक्लिष्टैरर्थविसर्गैः प्रियवचनोपचारमनोहरैरतीव प्रह्लादयामास । पर्वदिवसेषु च पोषधनियमप्रशमविभूषणः शिरःस्नातः शुक्लक्षौमवासा हिमगिरिशिखरसंनिकाशं मदलेखाभ्यलंकृतमुखं लक्षणविनयजवसत्त्वसंपन्नं गन्धहस्तिनं समाज्ञातमौपवाह्यं द्विरदवरमभिरुह्य समन्ततो नगरस्याभिनिविष्टान्यर्थिजननिपानभूतानि स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षते स्म । तथा च प्रीतिविशेषमभिजगाम ।

न हि तां कुरुते प्रीतिं विभूतिर्भवनाश्रिता ।
संक्रम्यमाणार्थिजने सैव दानप्रियस्य याम् ॥ ६ ॥

अथ कदाचित्तस्यैवंविधं दानप्रसङ्गं प्रमुदितहृदयैरर्थिभिः समन्ततो विकीर्यमाणमुपलभ्यान्यतमो भूम्यनन्तरस्तस्य राजा शक्यमयमभिसंधातुं दानानुरागवशगत्वादिति प्रतर्क्य द्विरदवरापहरणार्थं ब्राह्मणांस्तत्र प्रणिदध्रे । अथ ते ब्राह्मणा विश्वंतरस्य स्वानि सत्त्रागाराणि प्रत्यवेक्षमाणस्य प्रमोदादधिकतरनयनवदनशोभस्य जयाशीर्वादमुखराः समुच्छ्रिताभिप्रसारितदक्षिणाग्रपाणयः पुरस्तात् समतिष्ठन्त । स ततो विनिगृह्य द्विरदवरमुपचारपुरःसरमभिगमनप्रयोजनमेनान् पर्यपृच्छदाज्ञाप्यतां केनार्थ इति । ब्राह्मणा ऊचुः—

अमुष्य तव नागस्य गतिलीलाविलम्बिनः ।
गुणैरर्थित्वमायाता दानशौर्याच्च ते वयम् ॥ ७ ॥
कैलासशिखराभस्य प्रदानादस्य दन्तिनः ।
कुरुष्व तावल्लोकानां विस्मयैकरसं मनः ॥ ८ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वः प्रीत्या समापूर्यमाणहृदयश्चिन्तामापेदे । चिरस्य खलूदारप्रणयसुमुखमर्थिजनं पश्यामि । कः पुनरर्थ एवंविधेन द्विरदपतिनैषां ब्राह्मणानाम् ? व्यक्तमयं लोभेर्ष्याद्वेषपर्याकुलमनसः कस्यापि राज्ञः कार्पण्यप्रयोगः ।

आशाविघातदीनत्वं तन्मा भूत्तस्य भूपतेः ।
अनादृत्य यशोधर्मौ योऽस्मद्धित इवोद्यतः ॥ ९ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा त्वरितमवतीर्य द्विरदवरात् प्रतिगृह्यतामिति समुद्यतकाञ्चनभृङ्गारस्तेषां पुरस्तादवतस्थे ।

ततः स विद्वानपि राजशास्त्रमर्थानुवृत्त्या गतधर्ममार्गम् ।
धर्मानुरागेण ददौ गजेन्द्रं नीतिव्यलीकेन न संचकम्पे ॥ १० ॥

तं हेमजालरुचिराभरणं गजेन्द्रं
विद्युत्पिनद्धमिव शारदमभ्रराशिम् ।
दत्त्वा परां मुदमवाप नरेन्द्रसूनुः
संचुक्षुभे च नगरं नयपक्षपातात् ॥ ११ ॥

अथ द्विरदपतिप्रदानश्रवणात् समुदीर्णक्रोधसंरम्भाः शिवयो ब्राह्मणवृद्धा मन्त्रिणो योधाः पौरमुख्याश्च कोलाहलमुपजनयन्तः संजयं राजानमभिगम्य ससंभ्रमामर्षसंरम्भात् परिशिथिलोपचारयन्त्वणमूचुः— किमियं देव राज्यश्रीर्विलुप्यमानैवमुपेक्ष्यते ? नार्हति देवः स्वराज्योपप्लवमेवमभिवर्धमानमुपेक्षितुम् । किमेतदिति च सावेगमुक्ता राज्ञा पुनरेवमूचुः—कस्माद् देवो न जानीते !

निषेव्य मत्तभ्रमरोपगीतं यस्याननं दानसुगन्धि वायुः ।
मदावलेपं परवारणानामायासदुःखेन विना प्रमार्ष्टि ॥ १२ ॥
यत्तेजसाक्रान्तबलप्रभावाः संसुप्तदर्पा इव विद्विषस्ते ।
विश्वंतरेणैष गजः स दत्तो रूपी जयस्ते ह्रियतेऽन्यदेशम् ॥ १३ ॥
गावः सुवर्णं वसनानि भोज्यमिति द्विजेभ्यो नृप देयरूपम् ।
यस्मिञ्जयश्रीर्नियता द्विपेन्द्रे देयः स नामेत्यतिदानशौर्यम् ॥ १४ ॥
नयोत्पथेनैनमिति व्रजन्तं कथं समन्वेष्यति राजलक्ष्मीः ।
नोपेक्षणं देव तवात्र युक्तं पुरायमानन्दयति द्विषस्ते ॥ १५ ॥

तच्छ्रुत्वा स राजा पुत्रप्रियत्वात् किंचित्तानेव प्रत्यप्रीतमनाः कार्यानुरोधात् सावेगवदेवमित्युक्त्वा समनुनेष्यञ्छिबीनुवाच—जाने दानप्रसङ्गव्यसनितां नीतिक्रमानपेक्षां विश्वंतरस्य न चैष क्रमो राज्यधुरि संनियुक्तस्य । दत्तं त्वनेन स्वं हस्तिनं वान्तकल्पं कः प्रत्याहरिष्यति ? अपि तु तथाहमेव करिष्ये यथा दाने मात्रां ज्ञास्यति विश्वंतरः । तदलमत्र वः संरम्भेणेति । शिबय ऊचुः—न खलु महाराज परिभाषामात्रसाध्योऽस्मिन्नर्थे विश्वंतर इति । संजय उवाच—अथ किमन्यदत्र मया शक्यं कर्तुम् ?

दोषप्रवृत्तेर्विमुखस्य यस्य गुणप्रसङ्गा व्यसनीक्रियन्ते ।
बन्धो वधो वात्मसुतस्य तस्य किं निष्क्रयः स्याद् द्विरदस्य तस्य ॥ १६ ॥

तदलमत्र वः संरम्भेण । निवारयिष्याम्यहमतो विश्वन्तरमिति ।

अथ शिबयः समुदीर्णमन्यवो राजानमूचुः—

को वा वधं बन्धनताडनं वा सुतस्य ते रोचयते नरेन्द्र ।
धर्मात्मकस्त्वेष न राज्यभारक्षोभस्य सोढा करुणामृदुत्वात् ॥ १७ ।
सिंहासनं तेजसि लब्धशब्दास्त्रिवर्गसेवानिपुणा भजन्ते ।
धर्मानुरागान्नयनिर्व्यपेक्षस्तपोवनाध्यासनयोग्य एषः ॥ १८ ॥
फलन्ति कामं वसुधाधिपानां दुर्नीतिदोषास्तदुपाश्रितेषु ।
सह्यास्त एषां तु तथापि दृष्टा मूलोपरोधान्न तु पार्थिवानाम् ॥ १९ ॥

किमत्र वा बह्वभिधाय निश्चयस्त्वयं शिवीनां त्वदभूत्यमर्षिणाम् ।
प्रयातु वङ्कं तपसोऽभिवृद्धये नृपात्मजः सिद्धनिषेवितं गिरिम् ।। २० ।।

अथ स राजा स्नेहप्रणयविस्रम्भवशादनयापायदर्शिना हितोद्यतेन तेन जनेन परिनिष्ठुरमित्यभिधीयमानः प्रकृतिकोपाद् व्रीडावनतवदनः पुत्रवियोगचिन्तापरिगतहृदयः सायासमभिनिश्वस्य शिवीनुवाच—यद्येष भवतां निर्बन्धस्तदेकमप्यहोरात्रमस्य मृष्यताम् । प्रभातायां रजन्यामभिप्रेतं वोऽनुष्ठाता विश्वन्तर इति ।

एवमस्त्विति च प्रतिगृहीतानुनयः शिविभिः स राजा क्षत्तारमुवाच—गच्छेमं वृत्तान्तं विश्वन्तराय निवेदयेति । स तथेति प्रतिश्रुत्य शोकाश्रुपरिषिक्तवदनो विश्वन्तरं स्वभवनगतमुपेत्य शोकदुःखावेगात् सस्वरं रुदन् पादयोरस्य न्यपतत् । अपि कुशलं राजकुलस्येति च ससंभ्रमं विश्वन्तरेणानुयुक्तः समवसीदन्नविशदपदाक्षरमेनमुवाच—कुशलं राजकुलस्येति । अथ कस्मादेवमधीरोऽसीति च पुनरनुयुक्तो विश्वन्तरेण क्षत्ता बाष्पवेगोपरुध्यमानगद्गदकण्ठः श्वासविस्खलितलुलिताक्षरं शनैरित्युवाच—

सान्त्वगर्भामनादृत्य नृपाज्ञामप्यदक्षिणाः ।
राष्ट्रात्प्रव्राजयन्ति त्वां कुपिताः शिवयो नृप ।। २१ ।।

विश्वन्तर उवाच—मां शिवयः प्रव्राजयन्ति कुपिता इति कः संबन्धः ?

रमे न विनयोन्मार्गे द्वेष्मि चाहं प्रमादिताम् ।
कुत्र मे शिवयः क्रुद्धा यन्न पश्यामि दुष्कृतम् ।। २२ ।।

क्षत्तोवाच—अत्युदारतायाम् ।

अलोभशुभ्रा त्वयि तुष्टिरासील्लोभाकुला याचकमानसेषु ।
दत्ते त्वया मानद वारणेन्द्रे धैर्याणि कोपस्त्वहरच्छिबीनाम् ।। २३ ।।
इत्यतीताः स्वमर्यादां रभसाः शिबयस्त्वयि ।
येन प्रव्राजिता यान्ति पथा तेन किल व्रज ।। २४ ।।

अथ बोधिसत्त्वः कृपाभ्यासरूढां याचनकजनवत्सलतां धैर्यातिशयसंपदं च स्वामुद्भावयन्नुवाच—चपलस्वभावाः खलु शिवयोऽनभिज्ञा इव चास्मत्स्वभावस्य ।

द्रव्येषु बाह्येषु क एव वादो दद्यामहं स्वे नयने शिरो वा ।
इमं हि लोकार्थमहं बिभर्मि समुच्छ्रयं किम्वथ वस्त्रवाह्यम् ।। २५ ।।
यस्य स्वगात्रैरपि याचकानां वचांसि संपूजयितुं मनीषा ।
भयान्न दद्यात्स इति प्रतर्कः प्रकाशना बालिशचापलस्य ।। २६ ।।
कामं मां शिबयः सर्वे घ्नन्तु प्रव्राजयन्तु वा ।
न त्वेवाहं न दास्यामि गच्छाम्येष तपोवनम् ।। २७ ।।

अथ बोधिसत्त्वो विप्रियश्रवणविक्लवमुखीं पत्नीमुवाच—श्रुतोऽत्रभवत्या शिवीनां निश्चयः ? मद्र्युवाच—श्रुतोऽयं देव । विश्वन्तर उवाच—

तद्यदस्ति धनं किंचिदस्मत्तोऽधिगतं त्वया ।
निधेहि तदनिन्द्याक्षि यच्च ते पैत्रिकं धनम् ।। २८ ।।

मद्र्युवाच—कुत्रैतद्देव निदधामीति ? विश्वन्तर उवाच—

शीलवद्भ्यः सदा दद्या दानं सत्कारशीभरम् ।
तथा हि निहितं द्रव्यमहार्यमनुगामि च ॥ २९ ॥
प्रियं श्वशुरयोः कुर्याः पुत्रयोः परिपालनम् ।
धर्ममेवाप्रमादं च शोकं मद्विरहात्तु मा ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा मद्री संतप्तहृदयापि भर्तुरधृतिपरिहारार्थमनादृत्य शोकदैन्यमित्युवाच—

नैष धर्मो महाराज यद्यायाः वनमेककः ।
तेनाहमपि यास्यामि येन क्षत्रिय यास्यसि ॥ ३१ ॥
त्वदङ्गपरिवर्तिन्या मृत्युरुत्सव एव मे ।
मृत्योर्दुःखतरं तत्स्याज्जीवेयं यत्त्वया विना ॥ ३२ ॥

नैव च खलु मे देव वनवासो दुःख इति प्रतिभाति । तथा हि—

निर्दुर्जनान्यनुपभुक्तसरित्तरुणि
नानाविहंगविरुतानि मृगाकुलानि ।
वैडूर्यकुट्टिममनोहरशाद्वलानि
क्रीडावनाधिकसुखानि तपोवनानि ॥ ३३ ॥

अपि च देव !

अलंकृताविमौ पश्यन्कुमारौ मालभारिणौ ।
क्रीडन्तौ वनगुल्मेषु न राज्यस्य स्मरिष्यसि ॥ ३४ ॥
ऋतुप्रयत्नरचिता वनशोभा नवा नवाः ।
वने त्वां रमयिष्यन्ति सरित्कुञ्जाश्च सोदकाः ॥ ३५ ॥
चित्रं विरुतवादित्रं पक्षिणां रतिकाङ्क्षिणाम् ।
मदाचार्योपदिष्टानि नृत्तानि च शिखण्डिनाम् ॥ ३६ ॥
माधुर्यानवगीतं च गीतं मधुपयोषिताम् ।
वनेषु कृतसंगीतं हर्षयिष्यति ते मनः ॥ ३७ ॥
आस्तीर्यमाणानि च शर्वरीषु ज्योत्स्नादुकूलेन शिलातलानि ।
संवाहमानो वनमारुतश्च लब्धाधिवासः कुसुमद्रुमेभ्यः ॥ ३८ ॥
चलोपलप्रस्खलितोदकानां कला विरावाश्च सरिद्वधूनाम् ।
विभूषणानामिव संनिनादाः प्रमोदयिष्यन्ति वने मनस्ते ॥ ३९ ॥

इत्यनुनीयमानः स दयितया वनप्रयाणपर्युत्सुकमतिरर्थिजनापेक्षया महाप्रदानं दातुमुपचक्रमे ।

अथेमां विश्वन्तरप्रव्राजनप्रवृत्तिमुपलभ्य राजकुले तुमुल आक्रन्दशब्दः प्रादुरभूत । शोकदुःखावेगान्मूर्च्छापरीत इवार्थिजनो मत्तोन्मत्त इव च तत्तद्बहुविधं विललाप ।

छायातरोः स्वादुफलप्रदस्य च्छेदार्थमागूर्णपरश्वधानाम् ।
धात्री न लज्जां यदुपैति भूमिर्व्यक्तं तदस्या हतचेतनत्वम् ॥ ४० ॥

शीतामलस्वादुजलं निपानं बिभित्सतामस्ति न चेन्निषेद्धा।
व्यर्थाभिधाना वत लोकपाला विप्रोषिता वा श्रुतिमात्रकं वा ॥ ४१ ॥

अधर्मो बत जागर्ति धर्मः सुप्तोऽथवा मृतः।
यत्र विश्वन्तरो राजा स्वस्माद्राज्यान्निरस्यते ॥ ४२ ॥
कोऽनर्थपटुसामर्थ्यो याच्ञानूर्जितवृत्तिषु।
अस्मास्वनपराधेषु वधाभ्युद्यमनिष्ठुरः ॥ ४३ ॥

अथ बोधिसत्त्वो नैकशतसहस्रसंख्यं मणिकनकरजतपरिपूर्णकोशं विविधधनधान्यनिचयवन्ति कोशकोष्ठागाराणि दासीदासयानवाहनवसनपरिच्छदादि च सर्वमर्थिभ्यो यथार्हमतिसृज्य, शोकदुःखाभिभूतधैर्ययोर्मातापित्रोश्चरणावभिप्रणम्य सपुत्रदारः स्यन्दनवरमभिरुह्य पुण्याह्वघोषेणैव महतो जनकायस्याक्रन्दितशब्देन पुरवरान्निरगच्छत्। अनुरागवशगमनुयायिनं च जनं शोकाश्रुपरिक्लिन्नवदनं प्रयत्नाद्विनिवर्त्य स्वयमेव रथप्रग्रहान् प्रतिगृह्य येन वङ्कः पर्वतस्तेन प्रायात्। व्यतीत्य चाविक्लवमतिरुद्यानवनरुचिरमालिनं पुरवरोपचारमनुपूर्वेण प्रविरलच्छायद्रुमं विच्छिद्यमानजनसंपातं प्रविचरितमृगगणसंबाधदिगालोकं चीरीविरावोन्नादितमरण्यं प्रत्यपद्यत। अथैनं यदृच्छयाभिगता ब्राह्मणा रथवाहांस्तुरगानयाचन्त।

स वर्तमानोऽध्वनि नैकयोजने सहायहीनोऽपि कलत्रवानपि।
प्रदानहर्षादनपेक्षितायतिर्ददौ द्विजेभ्यश्चतुरस्तुरंगमान् ॥ ४४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्य स्वयमेव रथधुर्यतामुपगन्तुकामस्य गाढतरं परिकरमभिसंयच्छमानस्य रोहितमृगरूपिणश्चत्वारो यक्षकुमाराः सुविनीता इव सदश्वाः स्वयमेव रथयुगं स्कन्धप्रदेशैः प्रत्यपद्यन्त। तांस्तु दृष्ट्वा हर्षविस्मयविशालतराक्षीं मद्रीं बोधिसत्त्व उवाच—

तपोधनाध्यासनसत्कृतानां पश्य प्रभावातिशयं वनानाम्।
यत्रैवमभ्यागतवत्सलत्वं संरूढमूलं मृगपुंगवेषु ॥ ४५ ॥

मद्र्युवाच—

तवैवाहमिमं मन्ये प्रभावमतिमानुषम्।
रूढोऽपि हि गुणाभ्यासः सर्वत्र न समः सताम् ॥ ४६ ॥
तोयेषु ताराप्रतिबिम्बशोभा विशेष्यते यत्कुमुदप्रहासैः।
कौतूहलाभिप्रसृता इवेन्दोर्हेतुत्वमत्राग्रकराः प्रयान्ति ॥ ४७ ॥

इति तयोरन्योन्यानुकूल्यात्परस्परं प्रियं वदतोरध्वानं गच्छतोरथापरो ब्राह्मणः समभिगम्य बोधिसत्त्वं रथवरमयाचत।

ततः स्वसुखनिःसङ्गो याचकप्रियबान्धवः।
पूरयामास विप्रस्य स रथेन मनोरथम् ॥ ४८ ॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रीतमना रथादवतार्य स्वजनान्निर्यात्य रथवरं ब्राह्मणाय जालिनं कुमारमङ्केनादाय पद्भ्यामेवाध्वानं प्रत्यपद्यत। अविमनस्कैव च मद्री कृष्णाजिनां कुमारीमङ्केनादाय पृष्ठतोऽन्वगच्छदेनम्।

निमन्त्रयामासुरिव द्रुमास्तं हृद्यैः फलैरानमिताग्रशाखाः ।
पुण्यानुभावादभिवीक्षमाणाः शिष्या विनीता इव च प्रणेमुः ॥ ४९ ॥
हंसांसविक्षोभितपङ्कजानि किञ्जल्करेणुस्फुटपिञ्जराणि ।
प्रादुर्बभूवुश्च सरांसि तस्य तत्रैव यत्राभिचकाङ्क्ष वारि ॥ ५० ॥
वितानशोभां दधिरे पयोदाः सुखः सुगन्धिः प्रववौ नभस्वान् ।
परिश्रमक्लेशममृष्यमाणा यक्षाश्च संचिक्षिपुरस्य मार्गम् ॥ ५१ ॥

इति बोधिसत्त्व उद्यानगत इव पादचारविनोदनसुखमनुभवन्मार्गपरिखेदरसमनास्वाद्य सपुत्रदारः प्रान्त एव तु वङ्कपर्वतमपश्यत् । तत्र च पुष्पफलपल्लवालंकृतस्निग्धविविधरुचिरतरुवरनिचितं मदमुदितविहंगबहुविधरुतविनदं प्रवृत्तनृत्तबर्हिगणोपशोभितं प्रविचरितनैकमृगकुलं कृतपरिकरमिव विमलनीलसलिलया सरिता कुसुमरजोऽरुणसुखपवनं तपोवनं वनचरकादेशितमार्गः प्रविश्य विश्वकर्मणा शक्रसंदेशात् स्वयमभिनिर्मितां मनोज्ञदर्शनां सर्वर्तुसुखां तत्र प्रविविक्तां पर्णशालामध्यावसत् ।

तस्मिन्वने दयितया परिचर्यमाणः
शृण्वन्नयत्नमधुरांश्च सुतप्रलापान् ।
उद्यानसंस्थ इव विस्मृतराज्यचिन्तः
संवत्सरार्धमधिकं स तपश्चचार ॥ ५२ ॥

अथ कदाचिन्मूलफलार्थं गतायां राजपुत्र्यां पुत्रयोः परिपालननिमित्तमाश्रमपदमशून्यं कुर्वाणे राजपुत्रे मार्गरेणुपरुषीकृतचरणप्रजङ्घः परिश्रमक्षामनयनवदनो दण्डकाष्ठावबद्धस्कन्धावसक्तकमण्डलुर्ब्राह्मणः पत्न्याः परिचारकानयनार्थं समर्पितदृढसंदेशस्तं देशमुपजगाम । अथ बोधिसत्त्वश्चिरस्यार्थिजनं दृष्ट्वाऽभिगतं मनःप्रहर्षात् समुपजायमाननयनवदनप्रसादः प्रत्युद्गम्य स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं प्रवेश्य चैनमाश्रमपदं कृतातिथिसत्कारमागमनप्रयोजनमपृच्छत् । अथ स ब्राह्मणो भार्यानुरागादुत्सारितधैर्यलज्जः प्रतिग्रहमात्रसज्जो नियतमर्थमीदृशमुवाच—

आलोको भवति यतः समश्च मार्गो
लोकोऽयं व्रजति ततो न दुर्गमेण ।
प्रायोऽस्मिञ्जगति तु मत्सरान्धकारे-
णान्ये न प्रणयपदानि मे वहन्ति ॥ ५३ ॥
प्रदानशौर्योदितया यशःश्रिया गतं च गन्तव्यमशेषतस्तव ।
अतोऽस्मि याच्ञाश्रममभ्युपेयिवान्प्रयच्छ तन्मे परिचारकौ सुतौ ॥ ५४ ॥

इत्युक्ते बोधिसत्त्वो महासत्त्वः

दानप्रीतौ कृताभ्यासः प्रत्याख्यातुमशिक्षितः ।
ददामीत्यवदद् धृष्टं दयितौ तनयावपि ॥ ५५ ॥

स्वस्त्यस्तु । तत्किमिदानीमास्यत इति च ब्राह्मणेनाभिहितः स महासत्त्वः प्रदानकथाश्रवणोत्पतितविषादविप्लुताक्षयोः सुतयोः स्नेहावेगादवलम्बमानहृदयो बोधिसत्त्व उवाच—

दत्तावेतौ मया तुभ्यं किं तु मातानयोर्गता ।
वनं मूलफलस्यार्थे सायमद्यागमिष्यति ॥ ५६ ॥
तया दृष्टावुपाघ्रातौ मालिनावभ्यलंकृतौ ।
इहैकरात्रं विश्रम्य श्वो नेतासि सुतौ मम ॥ ५७ ॥

ब्राह्मण उवाच—अलमनेनात्रभवतो निर्बन्धेन ।

गौणमेतद्धि नारीणां नाम वामा इति स्थितम् ।
स्याच्चैव दानविघ्नस्ते तेन वासं न रोचये ॥ ५८ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अलं दानविघ्नशङ्कया । सहधर्मचारिणी मम सा । यथा वात्रभवते रोचते । अपि च महाब्राह्मण,

सुकुमारतया बाल्यात्परिचर्यास्वकौशलात् ।
कीदृशीं नाम कुर्यातां दासप्रीतिमिमौ तव ॥ ५९ ॥
दृष्ट्वा त्वित्थंगतावेतौ शिबिराजः पितामहः ।
अद्धा दद्याद्यदिष्टं ते धनं निष्क्रयमेतयोः ॥ ६० ॥
यतस्तद्विषयं साधु त्वमिमौ नेतुमर्हसि ।
एवं ह्यर्थेन महता धर्मेण च समेष्यसि ॥ ६१ ॥

(ब्राह्मण उवाच)—न शक्ष्याम्यहमाशीविषदुरासदं विप्रियोपायनेन राजानमभिगन्तुम् ।

आच्छिन्द्यान्मदिमौ राजा दण्डं वा प्रणयेन्मयि ।
यतो नेष्याम्यहमिमौ ब्राह्मण्याः परिचारकौ ॥ ६२ ॥

अथ बोधिसत्त्वो यथेष्टमिदानीमित्यपरिसमाप्तार्थमुक्त्वा सानुनयमनुशिष्य तनयौ परिचर्यानुकूल्ये प्रतिग्रहार्थमभिप्रसारिते ब्राह्मणस्य पाणौ कमण्डलुमावर्जयामास ।

तस्य यत्नानुरोधेन पपाताम्बु कमण्डलोः ।
पद्मपत्राभिताम्राभ्यां नेत्राभ्यां स्वयमेव तु ॥ ६३ ॥

अथ स ब्राह्मणो लाभातिहर्षात् संभ्रमाकुलितमतिर्बोधिसत्त्वतनयापहरणत्वरया संक्षिप्तपदमाशीर्वचनमुक्त्वा निर्गम्यतामित्याज्ञाकर्कशेन वचसा कुमारावाश्रमपदान्निष्क्रामयितुमारेभे । अथ कुमारौ वियोगदुःखातिभारव्यथितहृदयौ पितरमभिप्रणम्य बाष्पोपरुध्यमाननयनावूचतुः—

अम्बा च तात निष्क्रान्ता त्वं च नौ दातुमिच्छसि ।
यावत्तामपि पश्यावस्ततो दास्यति नौ भवान् ॥ ६४ ॥

अथ स ब्राह्मणः पुरा मातानयोरागच्छति, अस्य वा पुत्रस्नेहात् पश्चात्तापः संभवतीति विचिन्त्य पद्मकलापमिवानयोर्हस्तानाबध्य लतया संतर्जयन्विचेष्टमानौ पितरं प्रति व्यावर्तितवदनौ प्रकृतिसुकुमारौ कुमारौ प्रचकर्ष ।

अथ कृष्णाजिना कुमार्यपूर्वदुःखोपनिपातात् सस्वरं रुदती पितरमुवाच—

अयं मां ब्राह्मणस्तात लतया हन्ति निर्दयः ।
न चायं ब्राह्मणो व्यक्तं धार्मिका ब्राह्मणाः किल ॥ ६५ ॥

यक्षोऽयं ब्राह्मणच्छद्मा नूनं हरति खादितुम् ।
नीयमानौ पिशाचेन तात किं नावुपेक्षसे ॥ ६६ ॥

अथ जाली कुमारो मातरमनुशोचयन्नुवाच—

नैवेदं मे तथा दुःखं यदयं हन्ति मां द्विजः ।
नापश्यमम्बां यत्त्वद्य तद्विदारयतीव माम् ॥ ६७ ॥
रोदिष्यति चिरं नूनमम्बा शून्ये तपोवने ।
पुत्रशोकेन कृपणा हतशावेव चातकी ॥ ६८ ।
अस्मदर्थे समाहृत्य वनान्मूलफलं बहु ।
भविष्यति कथं न्वम्बा दृष्ट्वा शून्यं तपोवनम् ।। ६९ ॥
इमे नावश्वकास्तात हस्तिका रथकाश्च ये ।
अतोऽर्धं देयमम्बायै शोकं तेन विनेष्यति ॥ ७० ॥
वन्द्यास्मद्वचनादम्बा वार्या शोकाच्च सर्वथा ।
दुर्लभं हि पुनस्तात तव तस्याश्च दर्शनम् ॥ ७१ ॥
एहि कृष्णे मरिष्यावः को न्वर्थो जीवितेन नौ ।
दत्तावावां नरेन्द्रेण ब्राह्मणाय धनैषिणे ॥ ७२ ॥

इत्युक्त्वा जग्मतुः । अथ बोधिसत्त्वस्तेनातिकरुणेन तनयप्रलापेनाकम्पितमतिरपि क इदानीं दत्त्वानुतापं करिष्यतीति निष्प्रतीकारेण शोकाग्निना विनिर्दह्यमानहृदयो विषवेगमूर्च्छापरिगत इव समुपरुध्यमानचेतास्तत्रैव निषसाद । शीतलानिलव्यजनप्रतिलब्धसंज्ञश्च निष्कूजमिवाश्रमपदं तनयशून्यमभिवीक्ष्य बाष्पगद्गदसंनिरुद्धकण्ठ इत्यात्मगतमुवाच—

पुत्राभिधाने हृदये समक्षं प्रहरन्मम ।
नाशङ्कत कथं नाम धिगलज्जो बत द्विजः ॥ ७३ ॥
पत्तिकावनुपानत्कौ सौकुमार्यात्क्लमासहौ ।
यास्यतः कथमध्वानं तस्य च प्रेष्यतां गतौ ॥ ७४ ॥
मार्गश्रमपरिम्लानौ कोऽद्य विश्रामयिष्यति ।
क्षुत्तर्षदुःखाभिहतौ याचिष्येते कमेत्य वा ॥ ७५ ॥
मम तावदिदं दुःखं धीरतां कर्तुमिच्छतः ।
का त्ववस्था मम तयोः सुतयोः सुखवृद्धयोः ॥ ७६ ॥
अहो पुत्रवियोगाग्निर्निर्दहत्येव मे मनः ।
सतां तु धर्मं संस्मृत्य कोऽनुतापं करिष्यति ॥ ७७ ॥

अथ मद्री विप्रियोपनिपातशंसिभिरनिष्टैर्निमित्तैरुपजनितवैमनस्या मूलफलान्यादाय क्षिप्रतरमागन्तुकामापि व्यालमृगोपरुध्यमानमार्गा चिरतरेणाश्रमपदमुपजगाम । उचितायां च प्रत्युद्गमनभूमावाक्रीडस्थाने च तनयावपश्यन्ती भृशतरमरतिवशमगात् ।

अनीप्सिताशङ्कितजातसंभ्रमा ततः सुतान्वेषणचञ्चलेक्षणा ।
प्रसक्तमाह्वानमसंपरिग्रहं तयोर्विदित्वा व्यलपच्छुचातुरा ॥ ७८ ॥

समाजवद्यत्प्रतिभाति मे पुरा सुतप्रलापप्रतिनादितं वनम्।
अदर्शनादद्य तयोस्तदेव मे प्रयाति कान्तारमिवाशरण्यताम् ।। ७९ ।।

किं नु खलु तौ कुमारौ—

क्रीडाप्रसङ्गश्रमजातनिद्रौ सुप्तौ नु नष्टौ गहने वने वा।
चिरान्मदभ्यागमनादतुष्टौ स्यातां क्वचिद् बालतया निलीनौ ।। ८० ।।
रुवन्ति कस्माच्च न पक्षिणोऽप्यमी समाकुलास्तद्वधसाक्षिणो यदि।
तरंगभङ्गैरविनीतकोपया हृतौ नु किं निम्नगयातिवेगया ।। ८१ ।।

अपीदानीं मे वितथा मिथ्याविकल्पा भवेयुः। अपि राजपुत्राय सपुत्राय स्वस्ति स्यात्। अप्यनिष्टनिवेदिनां निमित्तानां मच्छरीर एव विपाको भवेत्। किं नु खल्विदमनिमित्तापवृत्तप्रहर्षमरतितमिस्रयावच्छाद्यमानं विद्रवतीव हृदयम्। विस्रस्यन्त इव मे गात्राणि। व्याकुला इव दिग्विभागाः। भ्रमतीव चेदं परिध्वस्तलक्ष्मीकं वनमिति। अथानुप्रविश्याश्रमपदमेकान्ते निक्षिप्य मूलफलं यथोपचारपुरःसरं भर्तारमभिगम्य क्व दारकाविति पप्रच्छ। अथ बोधिसत्त्वो जानानः स्नेहदुर्बलतां मातृहृदयस्य दुर्निवद्यत्वाच्च विप्रियस्य नैनां किंचिद्वक्तुं शशाक।

जनस्य हि प्रियार्हस्य विप्रियाख्यानवह्निना।
उपेत्य मनसस्तापः सघृणेन सुदुष्करः ।। ८२ ।।

अथ मद्री व्यक्तमकुशलं मे पुत्रयोः, यदयमेवं तूष्णींभूतः शोकदैन्यानुवृत्त्यैवेत्यवधार्य समन्ततः क्षिप्तचित्तेव विलोक्याश्रमपदं तनयावपश्यन्ती सबाष्पगद्गदं पुनरुवाच—

दारकौ च न पश्यामि त्वं च मां नाभिभाषसे।
हता खल्वहं कृपणा विप्रियं हि न कथ्यते ।। ८३ ।।

इत्युक्त्वा शोकाग्निना परिगतहृदया छिन्नमूलेव लता निपपात। पतन्तीमेव चैनां परिगृह्य बोधिसत्त्वस्तृणशयनमानीय शीताभिरद्भिः परिषिच्य प्रत्यागतप्राणां समाश्वासयन्नुवाच—

सहसैव न ते मद्रि दुःखमाख्यातवानहम्।
न हि संभाव्यते धैर्यं मनसि स्नेहदुर्बले ।। ८४ ।।
जरादारिद्र्यदुःखार्तो ब्राह्मणो मामुपागमत्।
तस्मै दत्तौ मया पुत्रौ समाश्वसिहि मा शुचः ।। ८५ ।।
मां पश्य मद्रि मा पुत्रौ परिदेवीश्च देवि मा।
पुत्रशोकसशल्ये मे प्रहार्षीरिव मा हृदि ।। ८६ ।।
याचितेन कथं शक्यं न दातुमपि जीवितम्।
अनुमोदस्व तद् भद्रे पुत्रदानमिदं मम ।। ८७ ।।

तच्छ्रुत्वा मद्री पुत्रविनाशशङ्काव्यथितहृदया पुत्रयोर्जीवितप्रवृत्तिश्रवणात् प्रतनूभूतशोकक्लमा भर्तुरधृतिपरिहारार्थं प्रमृज्य नयने सविस्मयमुदीक्षमाणा भर्तारमुवाच—आश्चर्यम्! किं बहुना!

नूनं विस्मयवक्तव्यचेतसोऽपि दिवौकसः।
यदित्यलब्धप्रसरस्तव चेतसि मत्सरः॥ ८८॥
तथा हि दिक्षु प्रसृतप्रतिस्वनैः समन्ततो दैवतदुन्दुभिस्वनैः।
प्रसक्तविस्पष्टपदाक्षरं नभस्तवैव कीर्तिग्रथनादरादभूत्॥ ८९॥
प्रकम्पिशैलेन्द्रपयोधरा धरा मदादिवाभूदभिवृद्धवेपथुः।
दिवः पतद्भिः कुसुमैश्च काञ्चनैः सविद्युदुद्योतमिवाभवन्नभः॥ ९०॥
तदलं शोकदैन्येन दत्त्वा चित्तं प्रसादय।
निपानभूतो लोकानां दातैव च पुनर्भव॥ ९१॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः क्षितितलचलनादाकम्पिते विविधरत्नप्रभोद्भासिनि सुमेरौ पर्वतराजे किमिदमिति समुत्पन्नविमर्शो विस्मयोत्फुल्लनयनेभ्यो लोकपालेभ्यः पृथिवीकम्पकारणं विश्वन्तरपुत्रदानमुपलभ्य प्रहर्षविस्मयाघूर्णितमनाः प्रभातायां तस्यां रजन्यां ब्राह्मणरूपी विश्वन्तरमर्थिवदभ्यगच्छत्। कृतातिथिसत्कारश्च बोधिसत्त्वेन केनार्थ इत्युपनिमन्त्रितो भार्यामिनमयाचत—

महाह्रदेष्वम्भ इवोपशोषं न दानधर्मः समुपैति सत्सु।
याचे ततस्त्वां सुरसन्निभा या भार्यामिमामर्हसि तत्प्रदातुम्॥ ९२॥
अविमना एव तु बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिशुश्राव।
ततः स वामेन करेण मद्रीमादाय सव्येन कमण्डलुं च।
न्यपातयत्तस्य जलं कराग्रे मनोभुवश्चेतसि शोकवह्निम्॥ ९३॥
चुकोप मद्री न तु नो रुरोद विवेद सा तस्य हि तं स्वभावम्।
अपूर्वदुःखातिभरातुरा तु तं प्रेक्षमाणा लिखितेव तस्थौ॥ ९४॥

तद् दृष्ट्वा परमविस्मयाक्रान्तहृदयः शक्रो देवानामिन्द्रस्तं महासत्त्वमभिष्टुवन्नुवाच—

अहो विकृष्टान्तरता सदसद्धर्मयोर्यथा।
श्रद्धातुमपि कर्मेदं का शक्तिरकृतात्मनाम्॥ ९५॥
अवीतरागेण सता पुत्रदारमतिप्रियम्।
निःसङ्गमिति दातव्यं का नामेयमुदात्तता॥ ९६॥
असंशयं त्वद्गुणरक्तसंकथैः प्रकीर्यमाणेषु यशस्सु दिक्षु ते।
तिरोभविष्यन्त्यपरा यशःश्रियः पतंगतेजस्सु यथान्यदीप्तयः॥ ९७॥
तस्य तेऽभ्यनुमोदन्ते कर्मेदमतिमानुषम्।
यक्षगन्धर्वभुजगास्त्रिदशाश्च सवासवाः॥ ९८॥

इत्युक्त्वा शक्रः स्वमेव वपुरभिज्वलदास्थाय शक्रोऽहमस्मीति च निवेद्यात्मानं बोधिसत्त्वमुवाच—

तुभ्यमेव प्रयच्छामि मद्रीं भार्यामिमामहम्।
व्यतीत्य न हि शीतांशुं चन्द्रिका स्थातुमर्हति॥ ९९॥
तन्मा चिन्तां पुत्रयोर्विप्रयोगाद्राज्यभ्रंशान्मा च संतापमागाः।
सार्धं ताभ्यामभ्युपेतः पिता ते कर्ता राज्यं त्वत्सनाथं सनाथम्॥ १००॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे। शक्रानुभावाच्च स ब्राह्मणो बोधिसत्त्वतनयौ शिबिविषयमेव संप्रापयामास। अथ शिवयः संजयश्च शिबिराजस्तदतिकरुणमतिदुष्करं च बोधिसत्त्वस्य कर्म श्रुत्वा समाक्लेदितहृदया ब्राह्मणहस्तान्निष्क्रीय बोधिसत्त्वतनयौ प्रसाद्यानीय च विश्वन्तरं राज्य एव प्रतिष्ठापयामासुः।

तदेवमत्यद्भुता बोधिसत्त्वचर्येति तदुन्मुखेषु सत्त्वविशेषेषु नावज्ञा प्रतीघातो वा करणीयः। तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चोपनेयम्।

इति विश्वन्तर-जातकं नवमम्।

---

१०. यज्ञ-जातकम्

न कल्याणाशयाः पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल स्वपुण्यप्रभावोपनतामानतसर्वसामन्तां प्रशान्तस्वपरचक्राद्युपद्रवत्वादकण्टकामसपत्नामेकातपत्रां दायाद्यक्रमागतां पृथिवीं पालयामास।

नाथः पृथिव्याः स जितेन्द्रियारिर्भुक्तावगीतेषु फलेष्वसक्तः।
प्रजाहितेष्वाहितसर्वभावो धर्मैककार्यो मुनिवद् बभूव॥ १॥
विवेद लोकस्य हि स स्वभावं प्रधानचर्यानुकृतिप्रधानम्।
श्रेयः समाधित्सुरतः प्रजासु विशेषतो धर्मविधौ ससञ्जे॥ २॥
ददौ धनं शीलविधिं समाददे क्षमां निषेवे जगदर्थमैहत।
प्रजाहिताध्याशयसौम्यदर्शनः स मूर्तिमान्धर्म इव व्यरोचत॥ ३॥

अथ कदाचित्तद्भुजाभिगुप्तमपि तं विषयं सत्त्वानां कर्मवैगुण्यात्प्रमादवशगत्वाच्च वर्षकर्माधिकृतानां देवपुत्राणां दुर्वृष्टिपर्याकुलता क्वचित्क्वचिदभिदुद्राव। अथ स राजा व्यक्तमयं मम प्रजानां वा धर्मापचारात्समुपनतोऽनर्थं इति निश्चितमतिः संरूढहिताध्याशयत्वात्प्रजासु तद्दुःखममृष्यमाणो धर्मतत्त्वज्ञसंमतान्पुरोहितप्रमुखान्ब्राह्मवृद्धान्मतिसचिवांश्च तदुद्धरणोपायं पप्रच्छ। अथ ते वेदविहितमनेकप्राणिशतवधारम्भभीषणं यज्ञविधिं सुवृष्टिहेतुं मन्यमानास्तस्मै संवर्णयामासुः। विदितवृत्तान्तस्तु स राजा यज्ञविहितानां प्राणिवैशसानां करुणात्मकत्वान्न तेषां तद्वचनं भावेनाभ्यनन्दत्। विनयानुवृत्त्या चैनान्प्रत्याख्यानरूक्षाक्षरमनुक्त्वा प्रस्तावान्तरेणैषां तां कथां तिरश्चकार। ते पुनरपि तं राजानं धर्मसंकथाप्रस्तावलब्धावसरा गाम्भीर्यविगूढं तस्य भावमजानाना यज्ञप्रवृत्तये समनुशशासुः —

कार्याणि राज्ञां नियतानि यानि लाभे पृथिव्याः परिपालने च।
नात्येति कालस्तव तानि नित्यं तेषां क्रमो धर्मसुखानि यद्वत्॥ ४॥
त्रिवर्गसेवानिपुणस्य तस्य प्रजाहितार्थं धृतकार्मुकस्य।
यज्ञाभिधाने सुरलोकसेतौ प्रमादतन्द्रेव कथं मतिस्ते। ५॥
भृत्यैरिवाज्ञा बहु मन्यते ते साक्षादियं सिद्धिरिति क्षितीशैः।
श्रेयांसि कीर्तिज्वलितानि चेतुं यज्ञैरयं ते रिपुकाल कालः॥ ६॥

कामं सदा दीक्षित एव च त्वं दानप्रसङ्गान्नियमादराच्च ।
वेदप्रसिद्धैः क्रतुभिस्तथापि युक्तं भवेन्मोक्तुमृणं सुराणाम् ॥ ७ ॥
स्विष्ट्याभितुष्टानि हि दैवतानि भूतानि वृष्ट्या प्रतिमानयन्ति ।
इति प्रजानां हितमात्मनश्च यशस्करं यज्ञविधिं जुषस्व ॥ ८ ॥

तस्य चिन्ता प्रादुरभवत्—अतिदुर्नयस्तो बतायं परप्रत्ययहार्यपेलवमतिरमीमांसको धर्मप्रियः श्रद्दधानो जनो यत्र हि नाम—

य एव लोकेषु शरण्यसम्मतास्त एव हिंसामपि धर्मतो गताः ।
विवर्तते कष्टमपायसङ्कटे जनस्तदादेशितकापथानुगः ॥ ९ ॥
को हि नामाभिसम्बन्धो धर्मस्य पशुहिंसया ।
सुरलोकाधिवासस्य दैवतप्रीणनस्य वा ॥ १० ॥
विशस्यमानः किल मन्त्रशक्तिभिः पशुर्दिवं गच्छति तेन तद्वधः ।
उपैति धर्मत्वमितीदमप्यसत्परैः कृतं को हि परत्र लप्स्यते ॥ ११ ॥
असत्प्रवृत्तेरनिवृत्तमानसः शुभेषु कर्मस्वविरूढनिश्चयः ।
पशुर्दिवं यास्यति केन हेतुना हतोऽपि यज्ञे स्वकृताश्रयाद्विना ॥ १२ ॥
हतश्च यज्ञे त्रिदिवं यदि व्रजेन्ननु व्रजेयुः पशुतां स्वयं द्विजाः ।
यतस्तु नायं विधिरीक्ष्यते क्वचिद्वचस्तदेषां क इव ग्रहीष्यति ॥ १३ ॥
अतुल्यगन्धर्द्धिरसौजसं शुभां सुधां किलोत्सृज्य वराप्सरोधृताम् ।
मुदं प्रयास्यन्ति वपादिकारणाद्वधेन शोच्यस्य पशोर्दिवौकसः ॥ १४ ॥

तदिदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स राजा यज्ञारम्भसमुत्सुक इव नाम तत्तेषां वचनं प्रतिगृह्यावोचदेनान्—सनाथः खल्वहमनुग्रहवांश्च यदेवं मे हितावहितमनसोऽत्रभवन्तः । तदिच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम् । अन्विष्यतां तदुपयोग्यसम्भारसमुदानयनार्थं यथाधिकारममात्यैः । परीक्ष्यतां सत्रागारनिवेशनयोग्यो भूमिप्रदेशस्तदनुगुणश्च तिथि-करण-मुहूर्त-नक्षत्र-योग इति । अथैनं पुरोहित उवाच—ईप्सितार्थसिद्धये स्नातु तावन्महाराज एकस्य यज्ञस्य समाप्ताववभृथे । अथोत्तरेषामारम्भः करिष्यते क्रमेण । युगपत्पुरुषपशवः सहस्रशो हि परिगृह्यमाणा व्यक्तमुद्वेगदोषाय प्रजानां ते स्युरिति । अस्त्येतदिति ब्राह्मणैरुक्तः स राजा तानुवाच—अलमत्रभवतां प्रकृतिकोपाशङ्कया । तथा हि संविधास्ये यथोद्वेगं मे प्रजा न यास्यन्तीति । अथ स राजा पौरजानपदान्संनिपात्याब्रवीत्—इच्छामि पुरुषमेधसहस्रेण यष्टुम् । न च मयार्हः कश्चिदकामः पुरुषः पशुत्वे नियोक्तुमदुष्टः । तद्यं यमतः प्रभृति वो द्रक्ष्यामि व्यवधूतप्रमादनिद्रेण विमलेन चारचक्षुषा शीलमर्यादातिवर्तिनमस्मदाज्ञां परिभवन्तं तं तं स्वकुलपांसनं देशकण्टकमहं यज्ञपशुनिमित्तमादास्य इत्येतद्वो विदितमस्त्विति । अथ तेषां मुख्यतमाः प्राञ्जलयो भूत्वैनमूचुः—

सर्वाः क्रियास्तव हितप्रवणाः प्रजानां
तत्रावमाननविधेर्नरदेव कोऽर्थः ।
ब्रह्मापि ते चरितमभ्यनुमन्तुमर्हः
साधुप्रमाण परमत्र भवान्प्रमाणम् ॥ १५ ॥

प्रियं यदेव देवस्य तदस्माकमपि प्रियम् ।
अस्मत्प्रियहितादन्यद् दृश्यते न हि ते प्रियम् ॥ १६ ॥

इति प्रतिगृहीतवचनः पौरजनापदैः स राजा जनप्रकाशेनाडम्बरेण प्रत्ययितानमात्यान्पापजनोपग्रहणार्थं जनपदं नगराणि च प्रेषयामास समन्ततश्च प्रत्यहमिति घोषणाः कारयामास ।

अभयमभयदो ददाति राजा स्थिरशुचिशीलधनाय सज्जनाय ।
अविनयनिरतैः प्रजाहितार्थं नरपशुभिस्तु सहस्रशो यियक्षुः ॥ १७ ॥
तद्यः कश्चिदतः प्रभृत्यविनयश्लाघानुवृत्त्युद्धवात्
सामन्तक्षितिपार्चितामपि नृपस्याज्ञामवज्ञास्यति ।
स स्वैरेव विषह्य यज्ञपशुतामापादितः कर्मभि—
र्यूपाबद्धतनुर्विषादकृपणः शुष्यज्जनैर्द्रक्ष्यते ॥ १८ ॥

अथ तद्विषयनिवासिनः पुरुषा यज्ञपशुनिमित्तं दुःशीलपुरुषान्वेषणादरं तमन्ववेक्ष्य राज्ञस्तां च घोषणामतिभीषणां प्रत्यहमुपशृण्वन्तः पापजनोपग्रहावहितांश्च राजपुरुषान्समन्ततः समापततोऽभिवीक्ष्य त्यक्तदौःशील्यानुरागाः शीलसंवरसमादानपरा वैरप्रसङ्गपराङ्मुखाः परस्परप्रेमगौरवसुमुखाः प्रशान्तविग्रहविवादा गुरुजनवचनानुवर्तिनः संविभागविशारदाः प्रियातिथयो विनयनैभृत्यश्लाघिनः कृत इव युगे बभूवुः ।

भयेन मृत्योः परलोकचिन्तया कुलाभिमानेन यशोऽनुरक्षया ।
सुशुक्लभावाच्च विरूढया ह्रिया जनः सः शीलामलभूषणोऽभवत् ॥ १९ ॥
यथा यथा धर्मपरोऽभवज्जनस्तथा तथा रक्षिजनो विशेषतः ।
चकार दुःशीलजनाभिमार्गणामतश्च धर्मान्न चचाल कश्चन ॥ २० ॥
स्वदेशवृत्तान्तमथोपशुश्रुवानिमं नृपः प्रीतिविशेषभूषणः ।
चरान्प्रियाख्यानकदानविस्तरैः सन्तर्पयित्वा सचिवान्समन्वशात् ॥ २१ ॥
परा मनीषा मम रक्षितुं प्रजा गताश्च ताः सम्प्रति दक्षिणीयताम् ।
इदं च यज्ञाय धनं प्रतर्कितं यियक्षुरस्मीति यथाप्रतर्कितम् ॥ २२ ॥
यदीप्सितं यस्य सुखेन्धनं धनं प्रकाममाप्नोतु स तन्मदन्तिकात् ।
इतीयमस्मद्विषयोपतापिनी दरिद्रता निर्विषया यथा भवेत् ॥ २३ ॥
मयि प्रजारक्षणनिश्चयस्थिते सहायसम्पत्परिवृद्धसाधने ।
इयं जनार्तिर्मदमर्षदीपनी मुहुर्मुहुर्मे ज्वलतीव चेतसि ॥ २४ ॥

अथ ते तस्य राज्ञः सचिवाः परममिति प्रतिगृह्य तद्वचनं सर्वेषु ग्रामनगरनिगमेषु मार्गविश्रामप्रदेशेषु च दानशालाः कारयित्वा यथासन्दिष्टं राज्ञा प्रत्यहमर्थिजनमभिलषितैरर्थविसर्गैः सन्तर्पयामासुः ।

अथ विहाय जनः स दरिद्रतां सममवाप्तवसुर्वसुधाधिपात् ।
विविधचित्रपरिच्छदभूषणः प्रविततोत्सवशोभ इवाभवत् ॥ २५ ॥
प्रमुदितार्थिजनस्तुतिसञ्चितं प्रविततान नृपस्य दिशो यशः ।
तनुतरङ्गविवर्धितविस्तरं सर इवाम्बुजकेसरजं रजः ॥ २६ ॥

इति नृपस्य सुनीतिगुणाश्रयात्सुचरिताभिमुखे निखिले जने।
समभिभूतबलाः कुशलोच्छ्रयैर्विलयमीयुरसङ्गमुपद्रवाः ॥ २७ ॥
अविषमत्वसुखा ऋतवोऽभवन्नवनृपा इव धर्मपरायणाः।
विविधसस्यधरा च वसुन्धरा सकमलामलनीलजलाशया ॥ २८ ॥
न जनमभ्यरुजन्प्रबला रुजः पटुतरं गुणमोषधयो दधुः।
ऋतुवशेन ववौ नियतोऽनिलः परिययुश्च शुभेन पथा ग्रहाः ॥ २९ ॥
न परचक्रकृतं समभूद्भयं न च परस्परजं न च दैविकम्।
नियमधर्मपरे निभृते जने कृतमिवात्र युगं समपद्यत ॥ ३० ॥

अथैवं प्रवृत्तेन धर्मयज्ञेन राज्ञा प्रशमितेष्वर्थिजनदुःखेषु सार्धमुपद्रवैः प्रमुदितजनसम्बाधायामभ्युदयरम्यदर्शनायां वसुन्धरायां नृपतेराशीर्वचनाध्ययनसव्यापारे लोके वितन्यमाने समन्ततो राजयशसि प्रसादावर्जितमतिः कश्चिदमात्यमुख्यो राजानमित्युवाच—सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

उत्तमाधममध्यानां कार्याणां नित्यदर्शनात्।
उपर्युपरि बुद्धीनां चरन्तीश्वरबुद्धयः ॥ ३१ ॥

इति। देवेन हि पशुवैशसवाच्यदोषविरहितेन धर्मयज्ञेन प्रजानामुभयलोकहितं सम्पादितमुपद्रवाश्च प्रशमं नीता दारिद्रचदुःखानि च शीले प्रतिष्ठापितानाम्। किं बहुना ? सभाग्यास्ताः प्रजाः।

लक्ष्मेव क्षणदाकरस्य विततं गात्रे न कृष्णाजिनं
दीक्षायन्त्रणया निसर्गललिता चेष्टा न मन्दोद्यमः।
मूर्ध्नश्छत्रनिभस्य केशरचना शोभा तथैवाथ च
त्यागैस्ते शतयज्वनोऽप्यपहृतः कीर्त्याश्रयो विस्मयः ॥ ३२ ॥

हिंसाविषक्तः कृपणः फलेप्सोः प्रायेण लोकस्य नयज्ञ यज्ञः।
यज्ञस्तु कीर्त्याभरणः समस्ते शीलस्य निर्दोषमनोहरस्य ॥ ३३ ॥

अहो प्रजानां भाग्यानि यासां गोपायिता भवान्।
प्रजानामपि हि व्यक्तं नैवं स्याद् गोपिता पिता ॥ ३४ ॥

अपर उवाच—

दानं नाम धनोदये सति जनो दत्ते तदाशावशः
स्याच्छीलेऽपि च लोकपंक्त्यभिमुखः स्वर्गे च जातस्पृहः।
या त्वेषा परकार्यदक्षिणतया तद्वत्प्रवृत्तिस्तयो-
र्नाविद्वत्सु न सत्त्वयोगविधुरेष्वेषा समालक्ष्यते ॥ ३५ ॥

तदेवं कल्याणाशया न पापप्रतारणामनुविधीयन्त इत्याशयशुद्धौ प्रयतितव्यम्।

इति प्रजाहितोद्योगः श्रेयःकीर्तिसुखावहः।
यन्नृपाणामतो नालं तमनादृत्य वर्तितुम् ॥ ३६ ॥

एवं राजापवादेऽपि वाच्यम्। धर्माभ्यासः प्रजानां भूतिमावहतीति भूतिकामेन धर्मानुवर्तिना भवितव्यमित्येवमप्युन्नेयम्। न पशुहिंसा कदाचिदभ्युदयाय दानदम-

संयमादयस्त्वभ्युदयायेति तदर्थिना दानादिपरेण भवितव्यमित्येवमपि वाच्यम्। लोकार्थचर्याप्रवणमतिरेवं पूर्वजन्मस्वपि भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम्।

इति यज्ञ-जातकं दशमम्।

---

११. शक्र-जातकम्

आपदपि महात्मनामैश्वर्यसम्पद्वा सत्त्वेष्वनुकम्पां न शिथिलीकरोति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलानल्पकालस्वभ्यस्तपुण्यकर्मा सात्मीभूतप्रदानदमसंयमकरुणः परहितनियतक्रियातिशयः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव।

सुरेन्द्रलक्ष्मीरधिकं रराज तत्संश्रयात्स्फीततरप्रभावा।
हर्म्ये सुधासेकनवाङ्गरागे निषक्तरूपा शशिनः प्रभेव ॥ १ ॥

यस्याः कृते दितिसुता रभसागतानि
दिङ्नागदन्तमुसलान्युरसाभिजग्मुः।
सौभाग्यविस्तरसुखोपनतापि तस्य
लक्ष्मीर्न दर्पमलिनं हृदयं चकार ॥ २ ॥

तस्य दिवस्पृथिव्योः सम्यक्परिपालनोपार्जितां सर्वलोकानुव्यापिनीं कीर्तिसम्पदं तां च लक्ष्मीमत्यद्भुताममृष्यमाणा दैत्यगणाः कल्पनाटोपभीषणतरद्विरदरथतुरगपदातिना क्षुभितसागरघोरनिर्घोषेण जाज्वल्यमानविविधप्रहरणावरणदुर्निरीक्ष्येण महता बलकायेन युद्धायैनमभिजग्मुः।

धर्मात्मनोऽपि तु स तस्य परावलेपः
क्रीडाविघातविरसं च भयं जनस्य।
तेजस्विता नयपथोपनतः क्रमश्च
युद्धोद्भवाभिमुखतां हृदयस्य चक्रुः ॥ ३ ॥

अथ स महासत्त्वस्तुरगवरसहस्रयुक्तमभ्युच्छ्रिताऽर्हद्वसनचिह्नरुचिरध्वजं विविधमणिरत्नदीप्तिव्यवभासितमतिज्वलद्वपुषं कल्पनाविभागोपनियतनिशितज्वलितविविधायुधविराजितोभयपार्श्वं पाण्डुकम्बलिनं हैमं रथवरमभिरुह्य महता हस्त्यश्वरथपदातिविचित्रेण देवानीकेन परिवृतस्तदसुरसैन्यं समुद्रतीरान्त एव प्रत्युज्जगाम।

अथ प्रववृते तत्र भीरूणां धृतिदारणः।
अन्योन्यायुधनिष्पेषजर्जरावरणो रणः ॥ ४ ॥
तिष्ठ नैवमितः पश्य क्वेदानीं मत्र मोक्ष्यसे।
प्रहरायं न भवसीत्येवं तेऽन्योन्यमार्दयन् ॥ ५ ॥
ततः प्रवृत्ते तुमुले स्फूर्जत्प्रहरणे रणे।
पटहध्वनिनोत्क्रुष्टैः स्फुटतीव नभस्तलम् ॥ ६ ॥
दानगन्धोद्धतामर्षेष्वापतत्सु परस्परम्।
युगान्तवाताकलितशैलभीमेषु दन्तिषु ॥ ७ ॥

विद्युल्लोलपताकेषु प्रसृतेषु समन्ततः ।
रथेषु पटुनिर्घोषेषूत्पाताम्बुधरेष्विव ॥ ८ ॥
पात्यमानध्वजच्छत्रशस्त्रावरणमौलिषु ।
देवदानववीरेषु शितैरन्योन्यसायकैः ॥ ९ ॥

अथ प्रतप्तासुरशस्त्रसायकैर्भयात्प्रदुद्राव सुरेन्द्रवाहिनी ।
रथेन विष्टभ्य बलं तु विद्विषां सुरेन्द्र एकः समरे व्यतिष्ठत ॥ १० ॥

अभ्युदीर्णं त्वासुरं बलमतिहर्षात्पटुतरोत्कृष्टक्ष्वेडितसिंहनादमभिपतितमभिसमीक्ष्य मातलिर्देवेन्द्रसारथिः स्वं च बलं पलायनपरमवेत्यापयानमत्र प्राप्तकालमिति मत्वा देवाधिपतेः स्यन्दनमावर्तयामास । अथ शक्रो देवेन्द्रः समुत्पततो रथेषाग्राभिमुखान्यभिघातपथागतानि शाल्मलीवृक्षे गरुडनीडान्यपश्यत् । दृष्ट्वैव च करुणया समालम्ब्यमानहृदयो मातलिं संग्राहकमित्युवाच—

अजातपक्षद्विजपोतसङ्कुला द्विजालयाः शाल्मलिपादपाश्रयाः ।
अमी पतेयुर्न यथा रथेषया विचूर्णिता वाहय मे रथं तथा ॥ ११ ॥

मातलिरुवाच—अमी तावन्मार्ष समभियान्ति नो दैत्यसंघा इति । शक्र उवाच—ततः किम्? परिहरैतानि सम्यग्गरुडनीडानीति । अथैनं मातलिः पुनरुवाच—

निवर्तनादस्य रथस्य केवलं शिवं भवेदम्बुरुहाक्ष पक्षिणाम् ।
चिरस्य लब्धप्रसरा सुरेष्वसावभिद्रवत्येव तु नो द्विषच्चमूः ॥ १२ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रः स्वमध्याशयातिशयं सत्त्वविशेषं च कारुण्यविशेषात् प्रकाशयन्नुवाच—

तस्मान्निवर्तय रथं वरमेव मृत्यु-
दैंत्याधिपप्रहितभीमगदाभिघातैः ।
धिग्वाददग्धयशसो न तु जीवितं मे
सत्त्वान्यमूनि भयदीनमुखानि हत्वा ॥ १३ ॥

अथ मातलिस्तथेति प्रतिश्रुत्य तुरगसहस्रयुक्तं स्यन्दनमस्य निवर्तयामास ।

दृष्टावदाना रिपवस्तु तस्य युद्धे समालोक्य रथं निवृत्तम् ।
भयद्रुताः प्रस्खलिताः प्रणेमुर्वाताभिनुन्ना इव कालमेघाः ॥ १४ ॥
भग्ने स्वसैन्ये विनिवर्तमानः पन्थानमावृत्य रिपुध्वजिन्याः ।
सङ्कोचयत्येव मदावलेपमेकोऽप्यसम्भाव्यपराक्रमत्वात् ॥ १५ ॥
निरीक्ष्य भग्नं तु तदासुरं बलं सुरेन्द्रसेनाप्यथ सा न्यवर्तत ।
बभूव नैव प्रणयः सुरद्विषां भयद्रुतानां विनिवर्तितुं यतः ॥ १६ ॥
सहर्षलज्जैस्त्रिदशैः सुराधिपः सभाज्यमानोऽथ रणाजिराच्छनैः ।
अभिज्वलच्चारुवपुर्जयश्रिया समुत्सुकान्तःपुरमागमत् पुरम् ॥ १७ ॥

एवं स एव तस्य संग्रामस्य विजयो बभूव । तस्मादुच्यते—

पापं समाचरति वीतघृणो जघन्यः
प्राप्यापदं सघृण एव तु मध्यबुद्धिः ।

प्राणात्ययेऽपि तु न साधुजनः स्ववृत्तिं
वेलां समुद्र इव लङ्घयितुं समर्थः ॥ १८ ॥

तदेवं देवराज्यं प्राणानपि परित्यज्य दीर्घरात्रं परिपालितानि भगवता सत्त्वानि । तेष्विह प्राज्ञस्याघातो न युक्तरूपः प्रागेव विप्रतिपत्तिरिति प्राणिषु दयायत्तेनार्येण भवितव्यम् । तथा हि धर्मो ह वै रक्षति धर्मचारिणमित्यत्राप्युन्नेयम् । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चेति ।

इति शक्र-जातकमेकादशम् ।

———

१२. ब्राह्मण-जातकम्

आत्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्ति । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदनुपक्रुष्टगोत्रचारित्रे स्वधर्मानुवृत्तिप्रकाशयशसि विनयाचारश्लाघिनि महति ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार । स यथाक्रमं गर्भाधानपुंसवनसीमन्तोन्नयनजातकर्मादिभिः कृतसंस्कारक्रमो वेदाध्ययननिमित्तं श्रुताभिजनाचारसम्पन्ने गुरौ प्रतिवसति स्म ।

तस्य श्रुतग्रहणधारणपाटवं च
भक्त्यन्वयश्च सततं स्वकुलप्रसिद्धः ।
पूर्वे वयस्यपि शमाभरणा स्थितिश्च
प्रेमप्रसादसुमुखं गुरुमस्य चक्रुः ॥ १ ॥

वशीकरणमन्त्रा हि नित्यमव्याहता गुणाः ।
अपि द्वेषाग्नितप्तानां किं पुनः स्वस्थचेतसाम् ॥ २ ॥

अथ तस्याध्यापकः सर्वेषामेव शिष्याणां शीलपरीक्षानिमित्तं स्वाध्यायविश्रामकालेष्वात्मनो दारिद्र्यदुःखान्यभीक्ष्णमुपवर्णयामास ।

स्वजनेऽपि निराक्रन्दमुत्सवेऽपि हतानन्दम् ।
धिक्प्रदानकथामन्दं दारिद्र्यमफलच्छन्दम् ॥ ३ ॥

परिभवभवनं श्रमास्पदं सुखपरिवर्जितमत्यनूर्जितम् ।
व्यसनमिव सदैव शोचनं धनविकलत्वमतीव दारुणम् ॥ ४ ॥

अथ ते तस्य शिष्याः प्रतोदसंचोदिता इव सदश्वा गुरुस्नेहात्समुपजातसंवेगाः सम्पन्नतरं प्रभूततरं च भैक्षमुपसंहरन्ति स्म । स तानुवाच—

अलमनेनात्रभवतां परिश्रमेण । न भैक्षोपहाराः कस्यचिद्दारिद्र्यक्षामतां क्षपयन्ति । अस्मत्परिक्लेशामर्षिभिस्तु भवद्भिरयमेव यत्नो धनाहरणं प्रति युक्तः कर्त्तुं स्यात् । कुतः ?

क्षुधमन्नं जलं तर्षं मन्त्रवाक्सागदा गदान् ।
हन्ति दारिद्र्यदुःखं तु सन्तत्याराधनं धनम् ॥ ५ ॥

शिष्या ऊचुः—किं करिष्यामो मन्दभाग्या वयं यदेतावान्नः शक्तिप्रयामः । अपि च

भैक्षवद्यदि लभ्येरन्ननुपाध्याय धनान्यपि।
नेदं दारिद्र्यदुःखं ते वयमेवं सहेमहि ॥ ६ ॥
प्रतिग्रहकृशोपायं विप्राणां हि धनार्जनम्।
अप्रदाता जनश्चायमित्यगत्या हता वयम् ॥ ७ ॥

अध्यापक उवाच—सन्त्यन्येऽपि शास्त्रपरिदृष्टा धनार्जनोपायाः। जरानिष्पीत-सामर्थ्यास्तु वयमयोग्यरूपास्तत्प्रतिपत्तौ। शिष्या ऊचुः—वयमुपाध्याय जरयानुपहतपराक्रमाः। तद्यदि नस्तेषां शास्त्रविहितानामुपायानां प्रतिपत्तिसहतां मन्यसे, तदुच्यताम्। यावदध्यापनपरिश्रमस्यानृण्यं ते गच्छाम इति। अध्यापक उवाच—तरुणैरपि व्यवसायशिथिलहृदयैर्दुरभिसम्भवाः खल्वेवंविधा धनार्जनोपायाः। यदि त्वयमत्र भवतां निर्बन्धः। तच्छ्रूयतां साधुः कतम एको धनोपार्जनक्रमः।

आपद्धर्मः स्तेयमिष्टं द्विजानामापच्चान्त्या निःस्वता नाम लोके।
तस्माद् भोज्यं स्वं परेषामदुष्टैः सर्वं चैतद् ब्राह्मणानां स्वमेव ॥ ८ ॥
कामं प्रसह्यापि धनानि हर्तुं शक्तिर्भवेदेव भवद्विधानाम्।
न त्वेष योगः स्वयशो हि रक्ष्यं शून्येषु तस्माद्व्यवसेयमेव। ९ ॥

इति मुक्तप्रग्रहास्तेन ते छात्राः परममिति तत्तस्य वचनमयुक्तमपि युक्तमिव प्रत्यश्रौषुरन्यत्र बोधिसत्त्वात्।

स हि प्रकृतिभद्रत्वात्तन्नोत्सेहेऽनुमोदितुम्।
कृत्यवत्प्रतिपन्नं तैर्व्याहन्तुं सहसैव तु ॥ १० ॥

व्रीडावनतवदनस्तु बोधिसत्त्वो मृदु विनिश्वस्य तूष्णीमभूत्। अथ स तेषामध्यापको बोधिसत्त्वमवेक्ष्य तं विधिमनभिनन्दन्तमप्रतिक्रोशन्तं निविष्टगुणसम्भावनस्तस्मिन्महासत्त्वे किं नु खल्वयमव्यवसितत्वान्निःस्नेहतया वा मयि स्तेयं न प्रतिपद्यते, उताधर्मसंज्ञयेति समुत्पन्नविमर्शस्तत्स्वभावव्यक्तीकरणार्थं बोधिसत्त्वमुवाच—भो महाब्राह्मण!

अमी द्विजा मद्व्यसनासहिष्णवः समाश्रिता वीरमनुष्यपद्धतिम्।
भवाननुत्साहजडस्तु लभ्यते न नूनमस्मद्व्यसनेन तप्यते ॥ ११ ॥
परिप्रकाशेऽप्यनिगूढविस्तरे मयात्मदुःखे वचसा विदर्शिते।
कथं नु निःसम्भ्रमदीनमानसो भवानिति स्वस्थवदेव तिष्ठति ॥ १२ ॥

अथ बोधिसत्त्वः ससम्भ्रमोऽभिवाद्योपाध्यायमुवाच—शान्तं पापम्। न खल्वहं निःस्नेहकठिनहृदयत्वादपरितप्यमानो गुरुदुःखैरेवमवस्थितः, किन्त्वसम्भवादुपाध्यायप्रदर्शितस्य क्रमस्य। न हि शक्यमदृश्यमानेन क्वचित्पापमाचरितुम्। कुतः? रहोऽनुपपत्तेः।

नास्ति लोके रहो नाम पापं कर्म प्रकुर्वतः।
अदृश्यानि हि पश्यन्ति ननु भूतानि मानुषान् ॥ १३ ॥
कृतात्मानश्च मुनयो दिव्योन्मिषितचक्षुषः।
तानपश्यन्रहोमानी बालः पापे प्रवर्तते ॥ १४ ॥

अहं पुनर्न पश्यामि शून्यं क्वचन किञ्चन ।
यत्राप्यन्यं न पश्यामि नन्वशून्यं मयैव तत् ॥ १५ ॥
परेण यच्च दृश्येत दुष्कृतं स्वयमेव वा ।
सुदृष्टतरमेतत्स्याद् दृश्यते स्वयमेव यत् ॥ १६ ॥
स्वकार्यपर्याकुलमानसत्वात्पश्येन्न वान्यश्चरितं परस्य ।
रागार्पितैकाग्रमतिः स्वयं तु पापं प्रकुर्वन्नियमेन वेत्ति ॥ १७ ॥

तदनेन कारणेनाहमेवं व्यवस्थित इति । अथ बोधिसत्त्वः समभिप्रसादितमन-समुपाध्यायमवेत्य पुनरुवाच—

न चात्र मे निश्चयमेति मानसं धनार्थमेवं प्रतरेद्भवानपि ।
अवेत्य को नाम गुणागुणान्तरं गुणोपमर्दं धनमूल्यतां नयेत् ॥ १८ ॥

स्वाभिप्रायं खलु निवेदयामि—

कपालमादाय विवर्णवाससा वरं द्विषद्वेशमसमृद्धिरीक्षिता ।
व्यतीत्य लज्जां न तु धर्मवैशसे सुरेन्द्रतार्थेऽप्युपसंहृतं मनः ।। १९ ॥

अथ तस्योपाध्यायः प्रहर्षविस्मयाक्षिप्तहृदय उत्थायासनात्सम्परिष्वज्यैन-मुवाच––साधु साधु पुत्रक ! साधु साधु महाब्राह्मण ! प्रतिरूपमेतत्ते प्रशमालङ्कृत-स्यास्य मेधाविकस्य ।

निमित्तमासाद्य यदेव किञ्चन
स्वधर्ममार्गं विसृजन्ति बालिशाः ।
तपःश्रुतज्ञानधनास्तु साधवो
न यान्ति कृच्छ्रे परमेऽपि विक्रियाम् ॥ २० ॥
त्वया कुलं सममलमभ्यलङ्कृतं
समुद्यता नभ इव शारदेन्दुना ।
तवार्थवत्सुचरितविश्रुतं श्रुतं
सुखोदयः सफलतया श्रमश्च मे ॥ २१ ॥

तदेवमात्मलज्जयैव सत्पुरुषा नाचारवेलां लङ्घयन्तीति ह्रीबलेनार्येण भवि-तव्यम् । एवं ह्रीपरिखासम्पन्न आर्यश्रावकोऽकुशलं प्रजहाति कुशलं च भावयतीत्येव-मादिषु सूत्रेषूपनेयम् । ह्रीवर्णप्रतिसंयुक्तेषु लोकाधिपतेयेषु चेति ।

इति ब्राह्मण-जातकं द्वादशम् ।

———

१३. उन्मादयन्ती-जातकम्

तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यविष्टम्भात् । तद्यथानुश्रूयते—

सत्यत्यागोपशमप्रज्ञादिभिर्गुणातिशयैर्लोकहितार्थमुद्यच्छमानः किल बोधिसत्त्वः कदाचिच्छिबीनां राजा बभूव साक्षाद्धर्म इव विनय इव पितेव प्रजानामुपकारप्रवृत्तः ।

दोषप्रवृत्तेर्विनियम्यमानो निवेश्यमानश्च गुणाभिजात्ये ।
पितेव पुत्रः क्षितिपेन तेन ननन्द लोकद्वितयेऽपि लोकः ॥ १ ॥

समप्रभावा स्वजने जने च धर्मानुगा तस्य हि दण्डनीतिः ।
अधर्म्यमावृत्य जनस्य मार्गं सोपानमालेव दिवो बभूव ॥ २ ॥
धर्मान्वयं लोकहितं स पश्यंस्तदेककार्यो नरलोकपालः ।
सर्वात्मना धर्मपथेऽभिरेमे तस्योपमर्दं च परैर्न सेहे ॥ ३ ॥

अथ तस्य राज्ञः पौरमुख्यस्य दुहिता श्रीरिव विग्रहवती साक्षाद्रतिरिवाप्सरसामन्यतमेव परया रूपलावण्यसंपदोपेता परमदर्शनीया स्त्रीरत्नसंमता बभूव ।

अवीतरागस्य जनस्य यावत्सा लोचनप्राप्यवपुर्बभूव ।
तावत्स तद्रूपगुणावबद्धां न दृष्टिमुत्कम्पयितुं शशाक ॥ ४ ॥

अतश्च तस्या उन्मादयन्तीत्येव बान्धवा नाम चक्रुः । अथ तस्याः पिता राज्ञः संविदितं कारयामास—स्त्रीरत्नं ते देव विषये प्रादुर्भूतम् । यतस्तत्प्रतिग्रहं विसर्जनं वा प्रति देवः प्रमाणमिति । अथ स राजा स्त्रीलक्षणविदो ब्राह्मणान् समादिदेश—पश्यन्त्वेनां तत्रभवन्तः किमसावस्मद्योग्या न वेति । अथ तस्याः पिता तान्ब्राह्मणान् स्वभवनमभिनीयोन्मादयन्तीमुवाच—भद्रे स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेषयेति । सा तथेति प्रतिश्रुत्य यथाक्रमं ब्राह्मणान् परिवेषयितुमुपचक्रमे । अथ ते ब्राह्मणाः

तदाननोद्वीक्षणनिश्चलाक्षा मनोभुवा संह्रियमाणधैर्याः ।
अनीश्वरा लोचनमानसानामासुर्मदेनेव विलुप्तसंज्ञाः ॥ ५ ॥

यदा च नैव शक्नुवन्ति स्म प्रतिसंख्यानधीरनिभृतमवस्थातुं, कुत एव भोक्तुम् । अथैषां चक्षुष्पथादुत्सार्य स्वां दुहितरं स गृहपतिः स्वयमेव ब्राह्मणान् परिवेष्य विसर्जयामास । अथ तेषां बुद्धिरभवत्—कृत्यारूपमिव खल्विदमतिमनोहरमस्या दारिकाया रूपचातुर्यम् । यतो नैनां राजा द्रष्टुमप्यर्हति कुतः पुनः पत्नीत्वं गमयितुम् । अनया हि रूपशोभया नियतमस्योन्मादितहृदयस्य धर्मार्थकार्यप्रवृत्तेर्विस्रस्यमानोत्साहस्य राजकार्यकालातिक्रमाः प्रजानां हितसुखोदयपथमुपपीडयन्तः पराभवाय स्युः ।

इयं हि संदर्शनमात्रकेण कुर्यान्मुनीनामपि सिद्धिविघ्नम् ।
प्रागेव भावार्पितदृष्टिवृष्टेर्यूनः क्षितीशस्य सुखे स्थितस्य ॥ ६ ॥

तस्मादिदमत्र प्राप्तकालमिति यथाप्रस्तावमुपेत्य राज्ञे निवेदयामासुः—दृष्टास्माभिर्महाराज सा कन्यका । अस्ति तस्या रूपचातुर्यमात्रकमपलक्षणोपघातनिःश्रीकं तु । यतो नैनां द्रष्टुमप्यर्हति देवः, किं पुनः पत्नीत्वं गमयितुम् ।

कुलद्वयस्यापि हि निन्दिता स्त्री यशो विभूतिं च तिरस्करोति ।
निमग्नचन्द्रेव निशा समेघा शोभां विभागं च दिवस्पृथिव्योः ॥ ७ ॥

इति श्रुतार्थः स राजा—अपलक्षणा किलासौ, न च मे कुलानुरूपेति तस्यां विनिवृत्ताभिलाषो बभूव । अनर्थितां तु विज्ञाय राज्ञः स गृहपतिस्तां दारिकां तस्यैव राज्ञोऽमात्यायाभिपारगाय प्रायच्छत् । अथ कदाचित्स राजा क्रमागतां कौमुदीं स्वस्मिन्पुरवरे निषक्तशोभां द्रष्टुमुत्सुकमना रथवरगतः सिक्तसंमृष्टरथ्यान्तरापणमुच्छ्रितविचित्रध्वजपताकं समन्ततः पुष्पोपहारशबलभूमिभागधवलं प्रवृत्तनृत्तगीतहास्यलास्यवादित्रं पुष्पधूपचूर्णवासमाल्यासवस्नानानुलेपनामोदप्रसृतसुरभिगन्धि प्रसारितविविधरुचिरपण्यं तुष्टपुष्टोज्ज्वलतरवेषपौरजानपदसंबाधराजमार्गं पुरवरमनुविच-

रंस्तस्यामात्यस्य भवनसमीपमुपजगाम। अथोन्मादयन्त्यपलक्षणा किलाहमित्यनेन राज्ञावधूतेति समुत्पन्नामर्षा राजदर्शनकुतूहलेन नाम संदृश्यमानरूपशोभा विद्युदिव घनशिखरं हर्म्यतलमवभासयन्ती व्यतिष्ठत। शक्तिरस्येदानीमस्त्वपलक्षणादर्शनाद-विचलितधृतिस्मृतिमात्मानं धारयितुमिति। अथ तस्य राज्ञः पुरवरविभूतिदर्शनकुतूहलप्रसृता दृष्टिरभिमुखस्थितायां सहसैव तस्यामपतत्। अथ स राजा--

प्रकाममन्तःपुरसुन्दरीणां वपुर्विलासैः कलितेक्षणोऽपि।
अनुद्धतो धर्मपथानुरागादुद्योगवानिन्द्रियनिर्जयेऽपि॥ ८॥
विपुलधृतिगुणोऽप्यपत्रपिष्णुः परयुवतीक्षणविक्लवेक्षणोऽपि।
उदितमदनविस्मयः स्त्रियं तां चिरमनिमेषविलोचनो ददर्श॥ ९॥
कौमुदी किं न्वियं साक्षाद्भवनस्यास्य देवता।
स्वर्गस्त्री दैत्ययोषिद्वा न ह्येतन्मानुषं वपुः॥ १०॥

इति विचारयत एव तस्य राज्ञस्तद्दर्शनावितृप्तनयनस्य स रथस्तं देशमतिवर्तमानो न मनोरथानुकूलो बभूव। अथ स राजा शून्यहृदय इव तद्गतैकाग्रमनाः स्वभवनमुपेत्य मन्मथाक्षिप्तधृतिः सुनन्दं सारथिं रहसि पर्यपृच्छत्—

सितप्राकारसंवीतं वेत्सि कस्य नु तद्गृहम्।
का सा तत्र व्यरोचिष्ट विद्युत्सित इवाम्बुदे॥ ११॥

सारथिरुवाच—अस्ति देवस्याभिपारगो नामामात्यमुख्यः। तस्य तद्गृहं तस्यैव च सा भार्या किरीटवत्सस्य दुहिता उन्मादयन्ती नामेति। तदुपश्रुत्य स राजा परभार्येति वितानीभूतहृदयश्चिन्तास्तिमितनयनो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य तदर्पितमनाः शनैरात्मगतमुवाच—

अन्वर्थरम्याक्षरसौकुमार्यमहो कृतं नाम यथेदमस्याः।
उन्मादयन्तीति शुचिस्मितायास्तथा हि सोन्मादमिवाकरोन्माम्॥ १२॥
विस्मर्तुमेनामिच्छामि पश्यामीव च चेतसा।
स्थितं तस्यां हि मे चेतः सा प्रभुत्वेन तत्र वा॥ १३॥
परस्य नाम भार्यायां ममाप्येवमधीरता।
तदुन्मत्तोऽस्मि संत्यक्तो लज्जयेवाद्य निद्रया॥ १४॥
तस्या वपुर्विलसितस्मितवीक्षितेषु
संरागनिश्चलमतेः सहसा स्वनन्ती।
कार्यान्तरक्रमनिवेदनधृष्टशब्दा
विद्वेषमुत्तुदति चेतसि नालिका मे॥ १५॥

इति स राजा मदबलविचलितधृतिर्व्यवस्थापयन्नप्यात्मानमापाण्डुकृशतनुः प्रध्यानविनिश्वसितविजृम्भणपरः प्रव्यक्तमदनाकारो बभूव।

धृत्या महत्यापि निगुह्यमानः स भूपतेस्तस्य मनोविकारः।
मुखेन चिन्तास्तिमितेक्षणेन कार्श्येन च व्यक्तिमुपाजगाम॥ १६॥

अथेङ्गिताकारग्रहणनिपुणमतिरभिपारगोऽमात्यस्तं राज्ञो वृत्तान्तं सकारण-

मुपलभ्य स्नेहात्तदत्ययाशङ्की जानानश्चातिबलतां मदनस्य रहसि राजानं संविदितं समुपेत्य कृताभ्यनुज्ञो विज्ञापयामास—

अद्यार्चयन्तं नरदेव देवान्साक्षादुपेत्याम्बुरुहाक्ष यक्षः।
मामाह नावैषि नृपस्य कस्मादुन्मादयन्त्यां हृदयं निविष्टम् ॥ १७ ॥
इत्येवमुक्त्वा सहसा तिरोऽभूद्विमर्शवानित्यहमभ्युपेतः।
तच्चेत्तथा देव किमेतदेवमस्मासु ते निष्प्रणयत्वमौनम् ॥ १८ ॥

तत्प्रतिग्रहीतुमेनामर्हति मदनुग्रहार्थं देव इति। अथ राजा प्रत्यादेशाल्लज्जावनतवदनो मदनवशगतोऽपि स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वादविक्लवीभूतधैर्यः प्रत्याख्यानविशदाक्षरमेनमुवाच—नैतदस्ति। कुतः ?

पुण्याच्च्युतः स्याममरो न चास्मि विद्याच्च नः पापमिदं जनोऽपि।
तद्विप्रयोगाच्च मनो ज्वलंस्त्वां वह्निः पुरा कक्षमिव क्षिणोति ॥ १९ ॥
यच्चोभयोरित्यहितावहं स्याल्लोके परस्मिन्निह चैव कर्म।
तद्यस्य हेतोरबुधा भजन्ते तस्यैव हेतोर्न बुधा भजन्ते ॥ २० ॥

अभिपारग उवाच—अलमत्र देवस्य धर्मातिक्रमाशङ्कया।
दाने साहाय्यदानेन धर्म एव भवेत्तव।
दानविघ्नात्त्वधर्मः स्यात्तां मत्तोऽप्रतिगृह्णतः ॥ २१ ॥

कीर्त्युपरोधावकाशमपि चात्र देवस्य न पश्यामि। कुतः ?
आवाभ्यामिदमन्यश्च क एव ज्ञातुमर्हति।
जनापवादादाशङ्कामतो मनसि मा कृथाः ॥ २२ ॥

अनुग्रहश्चैष मम स्यान्न पीडा। कुतः ?
स्वाम्यर्थचर्यार्जितया हि तुष्ट्या निरन्तरे चेतसि को विघातः।
यतः सुकामं कुरु देव काममलं मदुत्पीडनशङ्कया ते ॥ २३ ॥

राजोवाच—शान्तं पापम्।
व्यक्तमस्मदतिस्नेहान्न त्वयैतदपेक्षितम्।
यथा दाने न सर्वस्मिन्साचिव्यं धर्मसाधनम् ॥ २४ ॥
यो मदर्थमतिस्नेहात्स्वान् प्राणानपि नेक्षते।
तस्य बन्धुविशिष्टस्य सख्युर्भार्या सखी मम ॥ २५ ॥

तदयुक्तं मामतीर्थे प्रतारयितुम्। यदपि चेष्टं नैतदन्यः कश्चिज्ज्ञास्यतीति, किमेवमिदमपापं स्यात् ?

अदृश्यमानोऽपि हि पापमाचरन्विषं निषेव्येव कथं समृध्नुयात्।
न तं न पश्यन्ति विशुद्धचक्षुषो दिवौकसश्चैव नराश्च योगिनः ॥ २६ ॥

किं च भूयः,

श्रद्दधीत क एतच्च यथासौ तव न प्रिया।
तां परित्यज्य सद्यो वा विघातं न समाप्नुयाः ॥ २७ ॥

अभिपारग उवाच—

सपुत्रदारो दासोऽहं स्वामी त्वं दैवतं च मे ।
दास्यामस्यां यतो देव कस्ते धर्मव्यतिक्रमः ॥ २८ ॥

यदपि चेष्टं प्रिया ममेयमिति किम् ?

मम प्रिया कामद काममेषा तेनैव दित्सामि च तुभ्यमेनाम् ।
प्रियं हि दत्त्वा लभते परत्र प्रकर्षरम्याणि जनः प्रियाणि ॥ २९ ॥

यतः प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति । राजोवाच—मा मैवम् । अक्रम एषः । कुतः ?

अहं हि शस्त्रं निशितं विशेयं हुताशनं विस्फुरदर्चिषं वा ।
न त्वेव धर्मादधिगम्य लक्ष्मीं शक्ष्यामि तत्रैव पुनः प्रहर्तुम् ॥ ३० ॥

अभिपारग उवाच—यद्येनां मद्भार्येति देवो न प्रतिग्रहीतुमिच्छत्ययमहमस्याः सर्वजनप्रार्थनाविरुद्धवेश्याव्रतमादिशामि । तत एनां देवः प्रतिगृह्णीयादिति ।

राजोवाच—किमुन्मत्तोऽसि ?

अदुष्टां संत्यजन्भार्यां मत्तो दण्डमवाप्नुयाः ।
स धिग्वादास्पदीभूतः परत्रेह च धक्ष्यसे ॥ ३१ ॥

तदलमकार्यनिर्बन्धितया । न्यायाभिनिवेशी भवेति ।

अभिपारग उवाच—

धर्मात्ययो मे यदि कश्चिदेवं जनापवादः सुखविप्लवो वा ।
प्रत्युद्गमिष्याम्युरसा तु तत्तत्त्वत्सौख्यलब्धेन मनःसुखेन ॥ ३२ ॥
त्वत्तः परं चाहवनीयमन्यं लोके न पश्यामि महीमहेन्द्र ।
उन्मादयन्ती मम पुण्यवृद्धयै तां दक्षिणामृत्विगिव प्रतीच्छ ॥ ३३ ॥

राजोवाच—काममस्मदतिस्नेहादनवेक्षितात्महिताहितक्रमो मदर्थचर्यासमुद्योगस्तवायम् । अत एव तु त्वां विशेषतो नोपेक्षितुमर्हामि । नैव खलु लोकापवादनिःशङ्केन भवितव्यम् । पश्य,

लोकस्य यो नाद्रियतेऽपवादं धर्मानपेक्षः परतः फलं वा ।
जनो न विश्वासमुपैति तस्मिन्ध्रुवं च लक्ष्म्यापि विवर्ज्यते सः ॥ ३४ ॥

यतस्त्वां ब्रवीमि

मा ते रोचिष्ट धर्मस्य जीवितार्थे व्यतिक्रमः ।
निःसंदिग्धमहादोषः ससन्देहकृशोदयः ॥ ३५ ॥

किं च भूयः,

निन्दादिदुःखेषु परान्निपात्य नेष्टा सतामात्मसुखप्रवृत्तिः ।
एकोऽप्यनुत्पीड्य परानतोऽहं धर्मे स्थितः स्वार्थधुरं प्रपत्स्ये ॥ ३६ ॥

अभिपारग उवाच—स्वाम्यर्थं भक्तिवशेन चरतो मम तावदत्र क एवाधर्मावकाशः स्याद्देवस्य वा दीयमानामेनां प्रतिगृह्णतः । यतः सनैगमजानपदाः शिबयः क्रिमत्राधर्म इति ब्रूयुः । तत् प्रतिगृह्णात्वेवैनां देव इति ।

राजोवाच—अद्धा मदर्थचर्याप्रणयिमतिर्भवान्। इदं त्वत्र चिन्तयितव्यम्—सनैगमजानपदानां वा शिबीनां तव मम वा कोऽस्माकं धर्मवित्तम इति।

अथाभिपारगः ससंभ्रमो राजानमुवाच—

वृद्धोपसेवासु कृतश्रमत्वाच्छ्रुताधिकारान्मतिपाटवाच्च।
त्रिवर्गविद्यातिशयार्थतत्त्वं त्वयि स्थितं देव बृहस्पतौ च॥ ३७॥

राजोवाच— तेन हि न मामत्र प्रतारयितुमर्हसि। कुतः?

नराधिपानां चरितेष्वधीनं लोकस्य यस्मादहितं हितं च।
भक्तिं प्रजानामनुचिन्त्य तस्मात्कीर्तिक्षमे सत्पथ एव रंस्ये॥ ३८॥

जिह्मं शुभं वा वृषभप्रचारं गावोऽनुगा यद्वदनुप्रयान्ति।
उत्क्षिप्तशङ्काङ्कुशनिर्विघट्टं प्रजास्तथैव क्षितिपस्य वृत्तिम्॥ ३९॥

अपि पश्यतु तावद्भवान्।

आत्मानमपि चेच्छक्तिर्न स्यात्पालयितुं मम।
का न्ववस्था जनस्यास्य मत्तो रक्षाभिकाङ्क्षिणः॥ ४०॥

इति प्रजानां हितमीक्षमाणः स्वं चैव धर्मं विमलं यशश्च।
नेच्छामि चित्तस्य वशेन गन्तुमहं हि नेता वृषवत्प्रजानाम्॥ ४१॥

अथाभिपारगोऽमात्यस्तेन राज्ञोऽवस्थानेन प्रसादितमनाः प्रणम्य राजानं प्राञ्जलिरित्युवाच—

अहो प्रजानामतिभाग्यसम्पद्यासां त्वमेवं नरदेव गोप्ता।
धर्मानुरागो हि सुखानपेक्षस्तपोवनस्थेष्वपि मृग्य एव॥ ४२॥

महच्छब्दो महाराज त्वय्येवायं विराजते
विगुणेषु गुणोक्तिर्हि क्षेपरूक्षतराक्षरा॥ ४३॥

विस्मयोऽनिभृतत्वं वा किं ममैतावता त्वयि।
समुद्र इव रत्नानां गुणानां यस्त्वमाकरः॥ ४४॥

तदेवं तीव्रदुःखातुराणामपि सतां नीचमार्गनिष्प्रणयता भवति स्वधैर्यावष्टम्भात् स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वाच्चेति धैर्यधर्माभ्यासे च योगः कार्य इति।

इत्युन्मादयन्ती-जातकं त्रयोदशम्।

———

१४. सुपारग-जातकम्

धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किल महासत्त्वः परमनिपुणमतिर्नौसारथिर्बभूव। धर्मता ह्येषा बोधिसत्त्वानां प्रकृतिमेधावित्वाद्यदुत यं यं शास्त्रातिशयं जिज्ञासन्ते कलाविशेषं वा तस्मिंस्तस्मिन्नधिकतरा भवन्ति मेधाविनो जगतः। अथ स महात्मा विदितज्योतिर्गतित्वाद्दिग्विभागेष्वसम्मूढमतिः परिविदितनियतागन्तुकौत्पातिकनिमित्तः कालाकालक्रमकुशलो मीनतोयवर्णभौमप्रकारशकुनिपर्वतादिभिश्चिह्नैः सूपलक्षितसमुद्रदेशः स्मृतिमान्विजिततन्द्रीनिद्रः शीतोष्णवर्षादिपरिखेदसहिष्णुर-

प्रमादी धृतिमानाहरणापहरणकुशलत्वादीप्सितं देशं प्रापयिता वणिजामासीत्। तस्य परमसिद्धयात्रत्वात्सुपारग इत्येव नाम बभूव। तदध्युषितं च पत्तनं सुपारगमित्येवाख्यातमासीत्। यदेतर्हि सूपारगमिति ज्ञायते। सोऽपि मङ्गलसम्मतत्वाद् वृद्धत्वेऽपि सांयात्रिकैर्यात्रासिद्धिकामैर्वहनमभ्यर्थनसत्कारपुरःसरमारोप्यते स्म।

अथ कदाचिद्भरुकच्छादभिप्रयाताः सुवर्णभूमिवणिजो यात्रासिद्धिकामाः सुपारगं पत्तनमुपेत्य तं महासत्त्वं वहनारोहणार्थमभ्यर्थयामासुः। स तानुवाच—

जराज्ञया संह्रियमाणदर्शने श्रमाभिपातैः प्रतनूकृतस्मृतौ।
स्वदेहकृत्येऽप्यवसन्नविक्रमे सहायता का परिशङ्क्यते मयि ॥ १ ॥

वणिज ऊचुः—विदितेयमस्माकं युष्मच्छरीरावस्था। सत्यपि च वः पराक्रमासहत्वे नैव वयं कर्मविनियोगेन युष्मानायासयितुमिच्छामः। किं तर्हि ?

त्वत्पादपङ्कजसमाश्रयसत्कृतेन
मङ्गल्यतामुपगता रजसा त्वियं नौः।
दुर्गे महत्यपि च तोयनिधावमुष्मिन्
स्वस्ति व्रजेदिति भवन्तमुपागताः स्मः ॥ २ ॥

अथ स महात्मा तेषामनुकम्पया जराशिथिलशरीरोऽपि तद्वहनमारुरोह। तदधिरोहणाच्च प्रमुदितमनसः सर्व एव ते वणिजो बभूवुर्नियतमस्माकमुत्तमा यात्रासिद्धिरिति। क्रमेण चावजगाहिरे विविधमीनकुलविचरितमनिभृतजलकलकलारावमनिलबलविलासप्रविचलिततरङ्गं बहुविधरत्नैर्भूमिविशेषैरर्पितरङ्गं फेनावलीकुसुमदामविचित्रमसुरबलभुजगभवनं दुरापपातालमप्रमेयतोयं महासमुद्रम्।

अथेन्द्रनीलप्रकराभिनीलं सूर्यांशुतापादिव खं विलीनम्।
समन्ततोऽन्तर्हिततीरलेखमगाधमम्भोनिधिमध्यमीयुः ॥ ३ ॥

तेषां तत्रानुप्राप्तानां सायाह्नसमये मृदूभूतकिरणचक्रप्रभावे सवितरि महदौत्पातिकं परमभीषणं प्रादुरभूत्।

विभिद्यमानोर्मिविकीर्णफेनश्चण्डानिलास्फालनभीमनादः।
नैभृत्यनिर्मुक्तसमग्रतोयः क्षणेन रौद्रः समभूत् समुद्रः ॥ ४ ॥
उत्पातवाताकलितैर्महद्भिस्तोयस्थलैर्भीमरयैर्भ्रमद्भिः।
युगान्तकालप्रचलाचलेव भूमिर्बभूवोग्रवपुः समुद्रः ॥ ५ ॥
विद्युल्लतोद्भासुरलोलजिह्वा नीला भुजङ्गा इव नैकशीर्षाः।
आवव्रुरादित्यपथं पयोदाः प्रसक्तभीमस्तनितानुनादाः ॥ ६ ॥
घनैर्घनैरावृतरश्मिजालः सूर्यः क्रमेणास्तमुपारुरोह।
दिनान्तलब्धप्रसरं समन्तात्तमो घनीभावमिवाजगाम ॥ ७ ॥
धाराशरैराच्छुरितोर्मिचक्रे महोदधावुत्पततीव रोषात्।
भीतेव नौरभ्यधिकं चकम्पे विषादयन्ती हृदयानि तेषाम् ॥ ८ ॥
ते त्रासदीनाश्च विषादमूका धीराः प्रतीकारससम्भ्रमाश्च।
स्वदेवतायाचनतत्पराश्च भावान्यथा सत्त्वगुणं विवव्रुः ॥ ९ ॥

अथ ते सांयात्रिकाः पवनबलचलितसलिलवेगवशगया नावा परिभ्रम्यमाणा

बहुभिरप्यहोभिर्नैव कुतश्चित्तीरं ददृशुर्न च यथेप्सितानि समुद्रचिह्नानि । अपूर्वैरेव तु समुद्रचिह्नैरभिवर्धमानवैमनस्या भयविषादव्याकुलतामुपजग्मुः । अथैतान् सुपारगो बोधिसत्त्वो व्यवस्थापयन्नुवाच—अनाश्चर्यं खलु महासमुद्रमध्यमवगाढानामौत्पातिकक्षोभपरिक्लेशः । तदलमत्रभवतां विषादानुवृत्त्या । कुतः ?

नापत्प्रतीकारविधिर्विषादस्तस्मादलं दैन्यपरिग्रहेण ।
धैर्यात्तु कार्यप्रतिपत्तिदक्षाः कृच्छ्राण्यकृच्छ्रेण समुत्तरन्ति ॥ १० ॥
विषाददैन्यं व्यवधूय तस्मात्कार्यावकाशं क्रियया भजध्वम् ।
प्राज्ञस्य धैर्यज्वलितं हि तेजः सर्वार्थसिद्धिग्रहणाग्रहस्तः ॥ ११ ॥

तद्यथाधिकारावहिता भवन्तु भवन्तः । इति ते सांयात्रिकास्तेन महात्मना धीरीकृतमनसः कूलदर्शनोत्सुकमतयः समुद्रमवलोकयन्तो ददृशुः पुरुषविग्रहानामुक्तरूप्यकवचानिवोन्मज्जतो निमज्जतश्च । सम्यक् चैषामाकृतिनिमित्तमुपधार्य सविस्मयाः सुपारगाय न्यवेदयन्त—अपूर्वं खल्विदमिह महासमुद्रे चिह्नमुपलभ्यते । एते खलु

आमुक्तरूप्यकवचा इव दैत्ययोधा
घोरेक्षणाः खुरनिकाशविरूपघोणाः ।
उन्मज्जनावतरणस्फुरणप्रसंगात्
क्रीडामिवार्णवजलेऽनुभवन्ति केऽपि ॥ १२ ॥

सुपारग उवाच—नैते मानुषा अमानुषा वा । मीनाः खल्वेते । यतो न भेतव्यमेभ्यः । किन्तु—

सुदूरपमकृष्टाः स्मः पत्तनद्वितयादपि ।
खुरमाली समुद्रोऽयं तद्यतध्वं निर्वर्तितुम् ॥ १३ ॥

चण्डवेगवाहिना सलिलनिवहेनैकान्तहरेण च पाश्चात्त्येन वायुना समाक्षिप्तया नावा न ते सांयात्रिकाः शेकुर्विनिर्वर्तितुम् । अथावगाहमानाः क्रमेण रूप्यप्रभावभासितमनीलफेननिचयपाण्डुरमपरं समुद्रमालोक्य सविस्मयाः सुपारगमूचुः—

स्वफेनमग्नैरिव कोऽयमम्बुभिर्महार्णवः शुक्लदुकूलवानिव ।
द्रवानिवेन्दोः किरणान्समुद्वहन्समन्ततो हास इव प्रसर्पति ॥ १४ ॥

सुपारग उवाच—कष्टम् । अतिदूरं खल्ववगाह्यते ।

क्षीरार्णव इति ख्यात उदधिर्दधिमाल्यसौ ।
क्षमं नातः परं गन्तुं शक्यते चेन्निवर्तितुम् ॥ १५ ॥

वणिज ऊचुः— न खलु शक्यते विलम्बयितुमपि वहनं कुत एव सन्निवर्तयितुमतिशीघ्रवाहित्वाद्वहनस्य प्रतिकूलत्वाच्च मारुतस्येति ।

अथ व्यतीत्य तमपि समुद्रं सुवर्णप्रभानुरञ्जितप्रचलोर्मिमालमग्निज्वालकपिलसलिलमपरं समुद्रमालोक्य सविस्मयकौतूहलास्ते वणिजः सुपारगं पप्रच्छुः—

बालार्कलक्ष्म्येव कृताङ्गरागैः समुन्नमद्भिः सलिलैरनीलैः ।
ज्वलन्महानग्निरिवावभाति को नाम तस्माच्च महार्णवोऽयम् ॥ १६ ॥

सुपारग उवाच—

अग्निमालीति विख्यातः समुद्रोऽयं प्रकाशते ।
अतीव खलु साधु स्यान्निवर्तेमहि यद्यतः ॥ १७ ॥

इति स महात्मा नाममात्रमकथयत्तस्य सरित्पतेर्न तोयवैवर्ण्यकारणं दीर्घदर्शित्वात्। अथ ते सांयात्रिकास्तमपि समुद्रमतीत्य पुष्परागेन्द्रनीलप्रभोद्योतितसलिलं परिपक्वकुशवननिकाशवर्णं समुद्रमालोक्य कौतूहलजाताः सुपारगं पप्रच्छुः—

परिणतकुशपर्णवर्णतोयः सलिलनिधिः कतमो न्वयं विभाति ।
सकुसुम इव फेनभक्तिचित्रैरनिलजवाकलितैस्तरङ्गभङ्गैः ॥ १८ ॥

सुपारग उवाच—भोः सार्थवाहा निवर्तनं प्रति यत्नः क्रियताम् । न खल्वतः क्षमते परं गन्तुम् ।

कुशमाली समुद्रोऽयमत्यङ्कुश इव द्विपः ।
प्रसह्यासह्यसलिलो हरन्हरति नो रतिम् ॥ १९ ॥

अथ ते वाणिजकाः परेणापि यत्नेन निवर्तयितुमशक्नुवन्तस्तमपि समुद्रमतीत्य वंशरागवैडूर्यप्रभाव्यतिकरहरितसलिलमपरं समुद्रमालोक्य सुपारगमपृच्छन्—

मरकतहरितप्रभैर्जलैर्वहति नवामिव शाद्वलश्रियम् ।
कुमुदरुचिरफेनभूषणः सलिलनिधिः कतमोऽयमीक्ष्यते ॥ २० ॥

अथ स महात्मा तेन वणिग्जनस्य व्यसनोपनिपातेन दह्यमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य शनैरुवाच—

अतिदूरमुपेताः स्थ दुःखमस्मान्निवर्तितुम् ।
पर्यन्त इव लोकस्य नलमाल्येष सागरः ॥ २१ ॥

तच्छ्रुत्वा ते वाणिजका विषादोपरुध्यमानमनसो विस्रस्यमानगात्रोत्साहा निश्वसितमात्रपरायणास्तत्रैव निषेदुः। व्यतीत्य च तमपि समुद्रं सायाह्नसमये विलम्बमानरश्मिमण्डले सलिलनिधिमिव प्रवेष्टुकामे दिवसकरे समुद्वर्तमानस्येव सलिलनिधेरशनीनामिव च सम्पततां वेणुवनानामिव चाग्निपरिगतानां विस्फुटतां तुमुलमतिभीषणं श्रुतिहृदयविदारणं समुद्रध्वनिमश्रौषुः। श्रुत्वा च सन्त्रासवशगाः स्फुरन्मनसः सहसैवोत्थाय समन्ततोऽनुविलोकयन्तो ददृशुः प्रपात इव श्वभ्र इव च महति तमुदकौघं निपतन्तम्। दृष्ट्वा च परमभयविषादविह्वलाः सुपारगमुपेत्योचुः

निर्भिन्दन्निव नः श्रुतीः प्रतिभयश्चेतांसि मथ्नन्निव
क्रुद्धस्येव सरित्पतेर्ध्वनिरयं दूरादपि श्रूयते ।
भीमे श्वभ्र इवार्णवस्य निपतत्येतत्समग्रं जलं
तत्कोऽसावुदधिः किमत्र च परं कृत्यं भवान्मन्यते ॥ २२ ॥

अथ स महात्मा ससम्भ्रमः कष्टं कष्टमित्युक्त्वा समुद्रमालोकयन्नुवाच—

यत्प्राप्य न निवर्तन्ते मृत्योर्मुखमिवामुखम् ।
अशिवं समुपेताः स्थ तदेतद्वडवामुखम् ॥ २३ ॥

तदुपश्रुत्य ते वाणिजका वडवामुखमुपेता वयमिति त्यक्तजीविताशा मरणभयविक्लवीभूतमनसः

सस्वरं रुरुदुः केचिद्विलेपुरथ चुक्रुशुः ।
न किञ्चित्प्रत्यपद्यन्त केचित्त्रासविचेतसः ॥ २४ ॥
विशेषतः केचिदभिप्रणेमुर्देवेन्द्रमार्तिप्रहतैर्मनोभिः ।
आदित्यरुद्रांश्च मरुद्वसूंश्च प्रपेदिरे सागरमेव चान्ये ॥ २५ ॥
जेपुश्च मन्त्रानपरे विचित्रानन्ये तु देवीं विधिवत्प्रणेमुः ।
सुपारगं केचिदुपेत्य तत्तद्विचेष्टमानाः करुणं विलेपुः ॥ २६ ॥
आपद्गतत्रासहरस्य नित्यं परानुकम्पागुणसम्भृतस्य ।
अयं प्रभावातिशयस्य तस्य तवाभ्युपेतो विनियोगकालः ॥ २७ ॥
आर्ताननाथाञ्छरणागतान्नस्त्वं त्रातुमावर्जय धीर चेतः ।
अयं हि कोपाद्वडवामुखेन चिकीर्षति ग्रासमिवार्णवोऽस्मान् ॥ २८ ॥
नोपेक्षितुं युक्तमयं जनस्ते विपद्यमानः सलिलौघमध्ये ।
नाज्ञां तवात्येति महासमुद्रस्तद्वार्यतामप्रशमोऽयमस्य ॥ २९ ॥

अथ स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयस्तान्वाणिजकान्व्यवस्थापयन्नुवाच—अस्त्यत्रापि नः कश्चित्प्रतीकारविधिः प्रतिभाति । तत्तावत्प्रयोक्ष्ये । यतो मुहूर्तं धीरास्तावद् भवन्तु भवन्त इति । अथ ते वाणिजका अस्त्यत्रापि किल प्रतीकारविधिरित्याशया समुपस्तम्भितधैर्यास्तदवहितमनसस्तूष्णीं बभूवुः । अथ सुपारगो बोधिसत्त्व एकांसमुत्तरासङ्गं कृत्वा दक्षिणेन जानुमण्डलेनाधिष्ठाय नावं समावर्जितसर्वभावः प्रणम्य तथागतेभ्यस्तान्सांयात्रिकानामन्त्रयते स्म—शृण्वन्त्वत्रभवन्तः सांयात्रिकाः सलिलनिधिव्योमाश्रयाश्च देवविशेषाः

स्मरामि यत आत्मानं यतः प्राप्तोऽस्मि विज्ञताम् ।
नाभिजानामि सञ्चिन्त्य प्राणिनं हिंसितुं क्वचित् ॥ ३० ॥
अनेन सत्यवाक्येन मम पुण्यबलेन च ।
वडवामुखमप्राप्य स्वस्ति नौर्विनिवर्तताम् ॥ ३१ ॥

अथ तस्य महात्मनः सत्याधिष्ठानबलात्पुण्यतेजसा सह सलिलजवेन स मारुतो व्यावर्तमानस्तां नावं निवर्तयामास । निवृत्तां तु तां नावमभिसमीक्ष्य ते वाणिजकाः परमविस्मयप्रहर्षोद्धतमानसा निवृत्ता नौरिति प्रणामसभाजनपुरःसरं सुपारगाय न्यवेदयन्त । अथ स महात्मा तान्वाणिजकानुवाच—स्थिरीभवन्तु भवन्तः । शीघ्रमारोप्यन्तां शीतानि । इति च तेन समादिष्टाः प्रमोदादुद्भूतबलोत्साहास्ते तदधिकृतास्तथा चक्रुः ।

अथ मुदितजनप्रहासनादा प्रविततपाण्डुरशीतचारुपक्षा ।
सलिलनिधिगता रराज सा नौर्गतजलदे नभसीव राजहंसी ॥ ३२ ॥

निवृत्तायां तु तस्यां नाव्यनुकूलसलिलमारुतायां विमानलीलया स्वेच्छयैव चाभिप्रयातायां नातिश्यामीभूतसन्ध्याङ्गरागासु प्रवितन्यमानतमोवितानास्वालक्षितनक्षत्रभूषणासु दिक्षु किञ्चिदवशेषप्रभे दिवसकरमार्गे प्रवृत्तक्षणदाधिकारे सुपारगस्तान्वाणिजकानुवाच—भोः सार्थवाहा नलमालिप्रभृतिभ्यो यथादृष्टेभ्यः समुद्रेभ्यो वालुकाः पाषाणाश्च वहनमारोप्यन्तां यावत्सहते । एवमिदं यानपात्रं निर्घातभरा-

क्रान्तं न च पार्श्वानि दास्यति, मङ्गलसम्मताश्चैते वालुकापाषाणा नियतं लाभसिद्धये वो भविष्यन्तीति। अथ ते सांयात्रिकाः सुपारगप्रेमबहुमानावर्जितमतिभिर्देवताभिरनुप्रदर्शितेभ्यः स्थलेभ्य आदाय वालुकापाषाणबुद्ध्या वैडूर्यादीनि रत्नानि वहनमारोपयामासुः। तेनैव चैकरात्रेण सा नौर्भरुकच्छमुपजगाम।

अथ प्रभाते रजतेन्द्रनीलवैडूर्यहेमप्रतिपूर्णनौकाः।
स्वदेशतीरान्तमुपागतास्ते प्रीत्या तमानर्चुरुदीर्णहर्षाः॥ ३३॥

तदेवं धर्माश्रयं सत्यवचनमप्यापदं नुदति प्रागेव तत्फलमिति धर्मानुवर्तिना भवितव्यम्। कल्याणमित्राश्रयवर्णेऽपि वाच्यमेवं कल्याणमित्राश्रिताः श्रेयः प्राप्नुवन्तीति।

इति सुपारग-जातकं चतुर्दशम्।

१५. मत्स्य-जातकम्

शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिन्नातिमहति कह्लार-तामरस-कमल-कुवलय-विभूषितरुचिरसलिले हंस-कारण्डव-चक्रवाक-मिथुनोपशोभिते तीरान्तरुहतरुकुसुमावकीर्णे सरसि मत्स्याधिपतिर्बभूव। स्वभ्यस्तभावाच्च बहुषु जन्मान्तरेषु परार्थचर्यायास्तत्रस्थोऽपि परहितसुखप्रतिपादनव्यापारो बभूव।

अभ्यासयोगाद्धि शुभाशुभानि कर्माणि सात्म्येन भवन्ति पुंसाम्।
तथाविधान्येव यदप्रयत्नाज्जन्मान्तरे स्वप्न इवाचरन्ति॥ १॥

इष्टानामिव च स्वेषामपत्यानामुपरि निविष्टहार्दो महासत्त्वस्तेषां मीनानां दानप्रियवचनार्थचर्यादिक्रमैः परमनुग्रहं चकार।

अन्योन्यहिंसाप्रणयं नियच्छन्परस्परप्रेम विवर्धयंश्च।
योगादुपायज्ञतया च तेषां विस्मारयामास स मत्स्यवृत्तम्॥ २॥

तत्तेन सम्यक्परिपाल्यमानं वृद्धिं परां मीनकुलं जगाम।
पुरं विनिर्मुक्तमिवोपसर्गैर्न्यायप्रवृत्तेन नराधिपेन॥ ३॥

अथ कदाचित्सत्त्वानां भाग्यसम्पद्वैकल्यात्प्रमादाच्च वर्षाधिकृतानां देवपुत्राणां न सम्यग्देवो ववर्ष। अथासम्यग्वर्षिणि देवे तत्सरः फुल्लकदम्बकुसुमगौरेण नवसलिलेन न यथापुरमापुपूरे। क्रमेण चोपगते निदाघकालसमये पटुतरदीप्तिभिः खेदालसगतिभिरिव च दिनकरकिरणैस्तदभितप्तया च धरण्या ज्वालानुगतेनेव च ह्लादाभिलाषिणा मारुतेन तर्षवशादिव प्रत्यहमापीयमानं तत्सरः पल्वलीबभूव।

निदाघकाले ज्वलितो विवस्वाञ्ज्वालाभिवर्षीव पटुश्च वायुः।
ज्वरातुरेवाशिशिरा च भूमिस्तोयानि रोषादिव शोषयन्ति॥ ४॥

अथ बोधिसत्त्वो वायसगणैरपि परितर्क्यमाणं प्रागेव सलिलतीरान्तचारिभिः पक्षिगणैर्विषाददैन्यवशगं विस्पन्दितमात्रपरायणं मीनकुलमवेक्ष्य करुणायमानश्चिन्तामापेदे। कष्टा बतेयमापदापतिता मीनानाम्।

प्रत्यहं क्षीयते तोयं स्पर्धमानमिवायुषा ।
अद्यापि च चिरेणैव लक्ष्यते जलदागमः ॥ ५ ॥
अपयानक्रमो नास्ति नेताप्यन्यत्र को भवेत् ।
अस्मद्व्यसनसंकृष्टाः समायान्ति च नो द्विषः ॥ ६ ॥
अस्य निःसंशयमिमे तोयशेषस्य संक्षयात् ।
स्फुरन्तो भक्षयिष्यन्ते शत्रुभिर्मम पश्यतः ॥ ७ ॥

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यादिति विमृशन्स महात्मा सत्याधिष्ठानमेकमार्तायनं ददर्श । करुणया च समापीड्यमानहृदयो दीर्घमुष्णमभिनिश्वस्य नभः समुल्लोकयन्नुवाच—

स्मरामि न प्राणिवधं यथाहं सञ्चिन्त्य कृच्छ्रे परमेऽपि कर्तुम् ।
अनेन सत्येन सरांसि तोयैरापूरयन्वर्षतु देवराजः ॥ ८ ॥

अथ तस्य महात्मनः पुण्योपचयगुणात्सत्याधिष्ठानबलात्तदभिप्रसादितदेवनागयक्षानुभावाच्च समन्ततस्तोयावलम्बिबिम्बा गम्भीरमधुरनिर्घोषा विद्युल्लतालङ्कृतनीलविपुलशिखरा विजृम्भमाणा इव प्रविसर्पिभिः शिखरभुजैः परिष्वजमाना इव चान्योन्यमकालमेघाः कालमेघाः प्रादुरभवन् ।

दिशां प्रमिण्वन्त इव प्रयामं शृङ्गैर्वितन्वन्त इवान्धकारम् ।
नभस्तलादर्शगता विरेजुश्छाया गिरीणामिव कालमेघाः ॥ ९ ॥
संसक्तकेकैः शिखिभिः प्रहृष्टैः संस्तूयमाना इव नृत्तचित्रैः ।
प्रसक्तमन्द्रस्तनिता विरेजुर्धीरप्रहासादिव ते घनौघाः ॥ १० ॥
मुक्ता विमुक्ता इव तैर्विमुक्ता धारा निपेतुः प्रशशाम रेणुः ।
गन्धश्चचारानिभृतो धरण्यां विकीर्यमाणो जलदानिलेन ॥ ११ ॥
निदाघसम्पर्कविवर्धितोऽपि तिरोबभूवार्ककरप्रभावः ।
फेनावलीव्याकुलमेखलानि तोयानि निम्नाभिमुखानि सस्रुः ॥ १३ ॥
मुहुर्मुहुः काञ्चनपिञ्जराभिर्भाभिर्दिगन्ताननुरञ्जयन्ती ।
पयोदतूर्यस्वनलब्धहर्षा विद्युल्लता नृत्तमिवाचचार ॥ १२ ॥

अथ बोधिसत्त्वः समन्ततोऽभिप्रसृतैरापाण्डुभिः सलिलप्रवाहैरापूर्यमाणे सरसि धारानिपातसमकालमेव विद्रुते वायसाद्ये पक्षिगणे प्रतिलब्धजीविताशे च प्रमुदिते मीनगणे प्रीत्याभिसार्यमाणहृदयो वर्षनिवृत्तिसाशङ्कः पुनः पुनः पर्जन्यमाबभाषे—

उद्गर्ज पर्जन्य गभीरधीरं प्रमोदमुद्धासय वायसानाम् ।
रत्नायमानानि पयांसि वर्षन्संसक्तविद्युज्ज्वलितद्युतीनि ॥ १४ ॥

तदुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रः परमविस्मितमनाः साक्षादभिगम्यैनमभिसंराधयन्नुवाच—

तवैव खल्वेष महानुभाव मत्स्येन्द्र सत्यातिशयप्रभावः ।
आवर्जिता यत्कलशा इवेमे क्षरन्ति रम्यस्तनिताः पयोदाः ॥ १५ ॥
महत्प्रमादस्खलितं त्विदं मे यन्नाम कृत्येषु भवद्विधानाम् ।
लोकार्थमभ्युद्यतमानसानां व्यापारयोगं न समभ्युपैमि ॥ १६ ॥

चिन्तां कृथा मा तदतः परं त्वं सतां हि कृत्योद्वहनेऽस्मि धुर्यः ।
देशोऽप्ययं त्वद्गुणसंश्रयेण भूयश्च नैवं भवितार्तिवश्यः ॥ १७ ॥

इत्येवं प्रियवचनैः संराध्य तत्रैवान्तर्दधे । तच्च सरः परां तोयसमृद्धिमवाप ।

तदेवं शीलवतामिहैवाभिप्रायाः कल्याणाः समृध्यन्ति प्रागेव परत्रेति शीलविशुद्धौ प्रयतितव्यम् ।

इति मत्स्य-जातकं पञ्चदशम् ।

---

१६ वर्तकापोतक-जातकम्

सत्यपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यायतने वर्तकापोतको भवति स्म । स कतिपयरात्रोद्भिन्नाण्डकोशः प्रविरोक्ष्यमाणतरुणपक्षः परिदुर्बलत्वादलक्ष्यमाणाङ्गप्रत्यङ्गप्रदेशः स्वमातापितृप्रयत्नरचिते तृणगहनोपगूढे गुल्मलतासंनिश्रिते नीडे संबहुलैर्भ्रातृभिः सार्धं प्रतिवसति स्म । तदवस्थोऽपि चापरिलुप्तधर्मसंज्ञत्वान्मातापितृभ्यामुपहृतान्प्राणिनो नेच्छति स्माभ्यवहर्तुम् । यदेव त्वस्य तृणबीजन्यग्रोधफलाद्युपजह्रतुर्मातापितरौ तेनैव वर्तयामास । तस्य तया रूक्षाल्पाहारतया न कायः पुष्टिमुपययौ । नापि पक्षौ सम्यक्प्रविरुरोहतुः । इतरे तु वर्तकापोतका यथोपनीतमाहारमभ्यवहरन्तो बलवन्तः सञ्जातपक्षाश्च बभूवुः । धर्मता ह्येषा यदुत—

धर्माधर्मनिराशङ्कः सर्वाशी सुखमेधते ।
धर्म्यां तु वृत्तिमन्विच्छन्विचिताशीह दुःखितः ॥ १ ॥

[अपि चोक्तं भगवता — सुजीवितमह्रीकेणेति गाथाद्वयम् ।

सुजीवितमह्रीकेण ध्वाङ्क्षेणाशुचिकर्मणा ।
प्रस्कन्दिना प्रगल्भेन सुसंक्लिष्टं तु जीवितम् ॥ २ ॥
ह्रीमता त्विह दुर्जीवं नित्यं शुचिगवेषिणा ।
संलीनेनाप्रगल्भेन शुद्धाजीवेन जीवता ॥ ३ ॥

इति गाथाद्वयमेतदार्यस्थाविरीयकनिकाये पठ्यते ।] तेषामेवमवस्थानां नातिदूरे महान्वनदावः प्रतिभयप्रसक्तनिनदो विजृम्भमाणधूमराशिर्विकीर्यमाणज्वालावलीलोलविस्फुलिङ्गः सन्त्रासनो वनचराणामनयो वनगहनानां प्रादुरभवत् ।

स मारुताघूर्णितविप्रकीर्णैर्ज्वालाभुजैर्नृत्तविशेषचित्रैः ।
वल्गन्निव व्याकुलधूमकेशः सस्वान तेषां धृतिमाददानः ॥ ४ ॥
चण्डानिलास्फालनचञ्चलानि भयद्रुतानीव वने तृणानि ।
सोऽग्निः ससंरम्भ इवाभिपत्य स्फुरत्स्फुलिङ्गप्रकरो ददाह ॥ ५ ॥
भयद्रुतोद्भ्रान्तविहङ्गसार्थं परिभ्रमद्भीतमृगं समन्तात् ।
धूमौघमग्नं पटुवह्निशब्दं वनं तदार्त्येव भृशं रुरास ॥ ६ ॥

क्रमेण चोत्पीड्यमान इव स वह्निः पटुना मारुतेन तृणगहनानुसारी तेषां नीडसमीपमुपजगाम । अथ ते वर्तकापोतका भयविरसव्याकुलविरावाः परस्पर-

निरपेक्षाः सहसा समुत्पेतुः। परिदुर्बलत्वादसञ्जातपक्षत्वाच्च बोधिसत्त्वस्तु नोत्पतितुं प्रयत्नं चकार। विदितात्मप्रभावस्त्वसंभ्रान्त एव स महासत्त्वः सरभसमिवोपसर्पन्तमग्नि सानुनयमित्युवाच—

व्यर्थाभिधानचरणोऽस्म्यविरूढपक्ष—
स्त्वत्सम्भ्रमाच्च पितरावपि मे प्रडीनौ।
त्वद्योग्यमस्ति न च किञ्चिदिहातिथेय—
मस्मान्निर्वर्तितुमतस्तव युक्तमग्ने॥ ७॥

इत्युक्ते सत्यपरिभावितवचसा तेन महासत्त्वेन—

उदीर्यमाणोऽप्यनिलेन सोऽग्निर्विशुष्कसंसक्ततृणेऽपि कक्षे।
नदीमिव प्राप्य विवृद्धतोयां तद्वाचमासाद्य शशाम सद्यः॥ ८॥
अद्यापि तं हिमवति प्रथितं प्रदेशं
दावाग्निरुद्धतशिखोऽपि समीरणेन।
मन्त्राभिशप्त इव नैकशिरा भुजङ्गः
सङ्कोचमन्दलुलितार्चिरुपैति शान्तिम्॥ ९॥

तत्किमिदमुपनीतमिति ? उच्यते—

वेलामिव प्रचलितोर्मिफणः समुद्रः
शिक्षां मुनीन्द्रविहितामिव सत्यकामः।
सत्यात्मनामिति न लङ्घयितुं यदाज्ञां
शक्तः कृशानुरपि सत्यमतो न जह्यात्॥ १०॥

तदेवं सत्यवचनपरिभावितां वाचमग्निरपि न प्रसहते लङ्घयितुमिति सत्यवचनेऽभियोगः करणीयः। तथागतवर्णेऽपि वाच्यमिति।

इति वर्तकापोतक-जातकं षोडशम्।

---

१७. कुम्भ-जातकम्

अनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमप्यस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल करुणातिशयपरिभावितमतिः परहितसुखोपपादनपरः पुण्यां प्रतिपदमुद्भावयन्दानदमसंयमादिभिः कदाचिच्छक्रो देवानामिन्द्रो बभूव। स प्रकर्षिणामपि दिव्यानां विषयसुखानां निकामलाभी सन्नपि करुणावशगत्वान्नैव लोकार्थचर्यासमुद्योगशिथिलं मनश्चकार।

प्रायेण लक्ष्मीमदिरोपयोगाज्जागर्ति नैवात्महितेऽपि लोकः।
सुरेन्द्रलक्ष्म्यापि तु निर्मदोऽसावभूत्परार्थेष्वपि जागरूकः॥ १॥
अनेकतीव्रव्यसनातुरेषु सत्त्वेषु बन्धुष्विव जातहार्दः।
धैर्यात्स्वभावज्ञतयाश्रितश्च नासौ विसस्मार परार्थचर्याम्॥ २॥

अथ कदाचित्स महात्मा मनुष्यलोकमवलोकयन्ननुकम्पासमावर्जितेन मैत्रस्निग्धेन स्वभावमहता चक्षुषा ददर्श सर्वमित्रं नाम राजानमकल्याणमित्रसंपर्कदोषात्

सपौरजानपदं मद्यपानप्रसङ्गाभिमुखम्। तत्र चास्यादोषदर्शितामवेक्ष्य महादोषतां च मद्यपानस्य स महात्मा महत्या करुणया समापीड्यमानहृदयश्चिन्तामापेदे। कष्टा बतेयमापदापतिता लोकस्य।

प्रमुखस्वादु पानं हि दोषदर्शनविक्लवान्।
श्रेयसोऽपहरत्येव रमणीयमिवापथम्॥३॥

तत्किमत्र प्राप्तकालं स्यात्? भवतु दृष्टम्।

प्रधानभूतस्य विचेष्टितानि जनोऽनुकर्तुं नियतस्वभावः।
इत्यत्र राजैव चिकित्सनीयः शुभाशुभं तत्प्रभवं हि लोके॥ ४॥

इति विनिश्चित्य स महासत्त्वस्तप्तकाञ्चनवर्णमापरुषोद्ग्रथितजटाविटपधरं वल्कलाजिनसंवीतमोजस्वि ब्राह्मं वपुरभिनिर्माय सुरापूर्णं च वामपार्श्वस्थं नातिबृहन्तं कुम्भं सर्वमित्रस्य राज्ञः परिषदि संनिषण्णस्य प्रस्तावोपनतासु प्रवृत्तासु सुरासवशीधुमैरेयमधुकथासु पुरतोऽन्तरिक्षे प्रादुरभूत्। विस्मयबहुमानावर्जितेन च प्राञ्जलिना तेन जनेनाभ्युत्थाय प्रत्यर्च्यमानः सजल इव जलधरो गम्भीरमभिनदन्नुच्चैरुवाच—

पुष्पमालाहसत्कण्ठमिमं भरितमाकण्ठम्।
अवतंसकृताकुम्भं क्रेतुमिच्छति कः कुम्भम्॥ ५॥

सवलयमिव पुष्पमालया प्रविततयानिलकम्पलीलया।
किसलयरचनासमुत्कटं घटमिममिच्छति कः क्रयेण वः॥ ६॥

अथैनं स राजा विस्मयावर्जितकौतूहलः सबहुमानमीक्षमाणः कृताञ्जलिरुवाच—

दीप्त्या नवार्क इव चारुतया शशीव
संलक्ष्यसे च वपुषान्यतमो मुनीनाम्।
तद्वक्तुमर्हसि यथा विदितोऽसि लोके
संभावना हि गुणतस्त्वयि नो विचित्रा॥ ७॥

शक्र उवाच—

पश्चादपि ज्ञास्यसि योऽहमस्मि घटं त्विदं क्रेतुमितो घटस्व।
न चेद् भयं ते परलोकदुःखादिहैव तीव्रव्यसनागमाद्वा॥ ८॥

राजोवाच—अपूर्वः खल्वयमत्रभवतः पश्य विक्रयारम्भः।

गुणसंवर्णनं नाम दोषाणां च निगूहनम्।
प्रसिद्ध इति लोकस्य पण्यानां विक्रयक्रमः॥ ९॥
युक्तो वानृतभीरूणां त्वद्विधानामयं विधिः।
न हि कृच्छ्रेऽपि संत्यक्तुं सत्यमिच्छन्ति साधवः॥ १०॥
तदाचक्ष्व महाभाग पूर्णः कस्य घटो न्वयम्।
किं वा विनिमये प्राप्यमस्मत्तस्त्वादृशैरपि॥ ११॥

शक्र उवाच—श्रूयतां महाराज!

नायं तोयदविच्युतस्य पयसः पूर्णो न तीर्थाम्भसः
किञ्जल्कस्य सुगन्धिनो न मधुनः सर्पिर्विशेषस्य वा।

न क्षीरस्य विजृम्भमाण कुमुदव्यभ्रेन्दुपादच्छवेः
पूर्णः पापमयस्य यस्य तु घटस्तस्य प्रभावं शृणु ॥ १२ ॥
यत्पीत्वा मददोषविह्वलतया स्वतन्त्रश्चरन्
देशेष्वप्रपतेष्वपि प्रपतितो मन्दप्रभावस्मृतिः ।
भक्ष्याभक्ष्यविचारणाविरहितस्तत्तत्समास्वादयेत्
तत्संपूर्णमिमं गतं क्रयपथं क्रीणीत कुम्भाधमम् ॥ १३ ॥
अनीशः स्वे चित्ते विचरति यया संहृतमति-
र्द्विषां हासायामं समुपजनयन्गौरिव जडः ।
सदोमध्ये नृत्येत्स्वमुखपटहेनापि च यया
क्रयार्हा सेयं वः शुभविरहिता कुम्भनिहिता ॥ १४ ॥
पीत्वोचितामपि जहाति ययात्मलज्जां
निर्ग्रन्थवद्वसनसंयमखेदमुक्तः ।
धीरं चरेत्पथिषु पौरजनाकुलेषु
सा पश्यतामुपगता निहितात्र कुम्भे ॥ १५ ॥
यत्पीत्वा वमथुसमुद्गतान्नलिप्ता
निःशङ्कैः श्वभिरवलिह्यमानवक्त्राः ।
निःसंज्ञा नृपतिपथिष्वपि स्वपन्ति
प्रक्षिप्तं क्रयसुभगं तदत्र कुम्भे ॥ १६ ॥
उपयुज्य यन्मदवलादवला विनिबन्धयेदपि तरौ पितरौ ।
गणयेच्च सा धनपतिं न पतिं तदिदं घटे विनिहितं निहितम् ॥ १७ ॥
यां पीतवन्तो मदलुप्तसंज्ञा वृष्ण्यन्धका विस्मृतबन्धुभावाः ।
परस्परं निष्पिपिषुर्गदाभिरुन्मादनी सा निहितेह कुम्भे ॥ १८ ॥
यत्र प्रसक्तानि कुलानि नेशुर्लक्ष्मीनिकेतान्युदितोदितानि ।
उच्छेदनी वित्तवतां कुलानां सेयं घटे क्रय्यतयाधिरूढा ॥ १९ ॥
अनियतरुदितस्थितविहसितवा-
ग्जडगुरुनयनो ग्रहवशग इव ।
परिभवभवनं भवति च नियतं
यदुपहतमतिस्तदिदमिह घटे ॥ २० ॥
प्रवयसोऽपि यदाकुलचेतनाः स्वहितमार्गसमाश्रयकातराः ।
बहु वदन्त्यसमीक्षितनिश्चयं क्रयपथेन गतं तदिदं घटे ॥ २१ ॥
यस्या दोषात्पूर्वदेवाः प्रमत्ता लक्ष्मीमोषं देवराजादवाप्य ।
त्राणापेक्षास्तोयराशौ ममज्जुस्तस्याः पूर्णं कुम्भमेतं वृणीत ॥ २२ ॥
ब्रूयादसत्यमपि सत्यमिव प्रतीतः
कुर्यादकार्यमपि कार्यमिव प्रहृष्टः ।
यस्या गुणेन सदसत्सदसच्च विद्या-
च्छापस्य मूर्तिरिव सा निहितेह कुम्भे ॥ २३ ॥

उन्मादविद्यां व्यसनप्रतिष्ठां साक्षादलक्ष्मीं जननीमघानाम् ।
अद्वैतसिद्धां कलिपद्धतिं तां क्रीणीत घोरां मनसस्तमिस्राम् ॥ २४ ॥
परिमुषितमतिर्यया निहन्यादपि पितरं जननीमनागसं वा ।
अविगणितसुखायतिर्यतिं वा क्रयविधिना नृप तामितो गृहाण ॥ २५ ।
एवंविधं मद्यमिदं नरेन्द्र सुरेति लोके प्रथितं सुराभ ।
न पक्षपातोऽस्ति गुणेषु यस्य स क्रेतुमुद्योगमिदं करोतु ॥ २६ ॥
निषेव्य यद्दुश्चरितप्रसक्ताः पतन्ति भीमान्नरकप्रपातान् ।
तिर्यग्गतिं प्रेतदरिद्रतां च को नाम तद्द्रष्टुमपि व्यवस्येत् ॥ २७ ॥

लघुरपि च विपाको मद्यपानस्य यः स्या-
न्मनुजगतिगतानां शीलदृष्टीः स हन्ति ।
ज्वलितदहनरौद्रे येन भूयोऽप्यवीचौ
निवसति पितृलोके हीनतिर्यक्षु चैव ॥ २८ ॥
शीलं निमीलयति हन्ति यशः प्रसह्य
लज्जां निरस्यति मतिं मलिनीकरोति ।
यन्नाम पीतमुपहन्ति गुणांश्च तांस्तां-
स्तत्पातुमर्हसि कथं नृप मद्यमद्य ॥ २९ ॥

अथ स राजा तैस्तस्य हृदयग्राहकैर्हेतुमद्भिर्वचोभिरवगमितमद्यपानदोषो मद्यप्रसङ्गादपवृत्ताभिलाषः शक्रमित्युवाच—

स्निग्धः पिता विनयभक्तिगुणाद् गुरुर्वा
यद्वक्तुमर्हति नयानयविन्मुनिर्वा ।
तावत्त्वया स्वभिहितं हितकाम्यया मे
तत्कर्मणा विधिवदर्चयितुं यतिष्ये ॥ ३० ॥

इदं च तावत्सुभाषितप्रतिपूजनमर्हति नोऽत्रभवान् प्रतिग्रहीतुम् ।

ददामि ते ग्रामवरांश्च पञ्च दासीशतं पञ्च गवां शतानि ।
सदश्वयुक्तांश्च रथान्दशेमान्हितस्य वक्ता हि गुरुर्ममासि ॥ ३१ ॥

यद्वा मयान्यत्करणीयं तत्संदेशादर्हत्यत्रभवान्भूयोऽपि मामनुग्रहीतुम् । शक्र उवाच—

अर्थोऽस्ति न ग्रामवरादिना मे सुराधिपं मामभिगच्छ राजन् ।
संपूजनीयस्तु हितस्य वक्ता वाक्प्रग्रहेण प्रतिपन्मयेन ॥ ३२ ॥
अयं हि पन्था यशसः श्रियश्च परत्र सौख्यस्य च तस्य तस्य ।
अपास्य तस्मान्मदिराप्रसङ्गं धर्माश्रयान्मद्विषयं भजस्व ॥ ३३ ॥

इत्युक्त्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे । स च राजा सपौरजानपदो मद्यपानाद्विरराम ।

तदेवमनेकदोषोपसृष्टमतिकष्टं मद्यपानमिति साधवः परमस्माद्वारयन्ति प्रागेवात्मानमिति । एवं लोकहितः पूर्वजन्मस्वपि स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् ।

इति कुम्भ-जातकं सप्तदशम् ।

———

१८. अपुत्र-जातकम्

शीलप्रशमप्रतिपक्षसंबाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामा न रोचयन्ते। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिदिभ्यकुले श्लाघनीयवृत्तचारित्रसंपन्ने प्रार्थनीयसंबन्धे कुलोद्भवानां निपानभूते श्रमणब्राह्मणानां कोशकोष्ठागारनिर्विशेषे मित्रस्वजनानामभिगमनीये कृपणवनीपकानामुपजीव्ये शिल्पिजनस्यास्पदभूते लक्ष्म्या दत्तानुग्रहसत्कारे राज्ञो लोकाभिसंमते जन्म प्रतिलेभे। स कालानामत्ययेनाभिवृद्धः कृतश्रमो लोकाभिमतेषु विद्यास्थानेष्वपरोक्षबुद्धिर्विविधविकल्पाश्रयासु कलासु जननयनकान्तेन च वपुषा धर्माविरोधिन्या च लोकज्ञतया स्वजन इव लोकस्य हृदयेषु पर्यवर्तत।

न हि स्वजन इत्येव स्वजनो बहु मन्यते।
जनो वा जन इत्येव स्वजनाद् दृश्यतेऽन्यथा॥ १॥
गुणदोषाभिमर्शात्तु बहुमानावमानयोः।
व्रजत्यास्पदतां लोकः स्वजनस्य जनस्य वा॥ २॥

कृतप्रव्रज्यापरिचयत्वात्तु तस्य महासत्त्वस्य

पर्येष्टिदुःखानुगतां विदित्वा गृहस्थतां धर्मविरोधिनीं च।
सुखोदयत्वं च तपोवनानां न गेहसौख्येषु मनः ससञ्जे॥ ३॥

स मातापित्रोः कालक्रियया संविग्नहृदयस्तमनेकशतसहस्रसंख्यं गृहविभवसारं मित्रस्वजनकृपणश्रमणब्राह्मणेभ्यो यथार्हमतिसृज्य प्रवव्राज। सोऽनुपूर्वेण ग्रामनगरनिगमराष्ट्रराजधानीष्वनुविचरन्नन्यतमनगरमुपश्रित्य कस्मिंश्चिद्वनप्रस्थे निवसति स्म। स ध्यानगुणाभ्यासात् सात्मीभूतेनाकृतकेनेन्द्रियप्रसादेन श्रुतिहृदयाह्लादिना च विद्वत्तासूचकेनानुत्सिक्तेन विगतलाभाशाकार्पण्यदैन्येन विनयौजस्विना यथार्हमधुरोपचारसौष्ठवेन धर्माधर्मविभागनिपुणेन च वचसा प्रव्रजिताचारशीभरया (च) सज्जनेष्टया चेष्टया तत्राभिलक्षितो बभूव। कौतूहलिना च जनेन समुपलब्धकुलप्रव्रज्याक्रमः सुष्ठुतरं लोकसंमतस्तत्राभूत्।

आदेयतरतां यान्ति कुलरूपगुणाद् गुणाः।
आश्रयातिशयेनेव चन्द्रस्य किरणाङ्कुराः॥ ४॥

अथास्य तत्राभिगमनमुपलभ्य पितृवयस्यः समभिगम्य चैनं गुणबहुमानात् कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं चास्मै निवेद्यात्मानं पितृवयस्यतां च संकथाप्रस्तावागतमेनं स्नेहादुवाच—चापलमिव खल्विदमनुवर्तितं भदन्तेनानपेक्ष्य कुलवंशमस्मिन् वयसि प्रव्रजता।

आराध्यते सत्प्रतिपत्तिमद्भिर्धर्मो यदायं भवने वने वा।
श्रीमन्ति हित्वा भवनान्यतस्त्वं कस्मादरण्येषु मतिं करोषि॥ ५॥
परप्रसादार्जितभैक्षवृत्तिरगण्यमानः खलवज्जनेन।
कुचेलभृद्बन्धुसुहृद्विहीनो वनान्तभूमावपविद्धकायः॥ ६॥
मूर्तं दरिद्रत्वमिवोपगुह्य कथं नु शोकस्य वशं प्रयासि।
इमामवस्थां हि तवेक्षमाणा द्विषोऽपि बाष्पापिहितेक्षणाः स्युः॥ ७॥

तदेहि पित्र्यं भवनं तवेदं श्रुतार्थसारं भवतापि नूनम् ।
संपादयेथा निवसंस्त्वमत्र धर्मं च सत्पुत्रमनोरथं च ॥ ८ ॥

लोकप्रवादः खल्वपि चैषः—

परकर्मकरस्यापि स्वे निपानसुखा गृहाः ।
किं पुनः सुखसंप्राप्ताः समृद्धिज्वलितश्रियः ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वः प्रविवेकसुखामृतरसपरिभावितमतिस्तत्प्रवणहृदयः समुपलब्धविशेषो गृहवनवासयोः कामोपभोगनिमन्त्रणायां तृप्त इव भोजनकथायामसुखायमान उवाच—

इदं स्नेहोद्गतत्वात्ते काममल्पात्ययं वचः ।
सुखसंज्ञां तु मा कार्षीः कदाचिद्गृहचारके ॥ १० ॥
गार्हस्थ्यं महदस्वास्थ्यं सधनस्याधनस्य वा ।
एकस्य रक्षणायासादितरस्यार्जनश्रमात् ॥ ११ ॥
यत्र नाम सुखं नैव सधनस्याधनस्य वा ।
तत्राभिरतिसंमोहः पापस्यैव फलोदयः ॥ १२ ॥

यदपि चेष्टं गृहस्थेनापि शक्यमयमाराधयितुं धर्म इति काममेवमेतत् । अतिदुष्करं तु मे प्रतिभाति धर्मप्रतिपक्षसंबाधत्वाच्छ्रमबाहुल्याच्च गृहस्य । पश्यतु भवान् ।

गृहा नानीहमानस्य न चैवावदतो मृषा ।
न चानिक्षिप्तदण्डस्य परेषामनिकुर्वतः ॥ १३ ॥

तदयं गृहसुखावबद्धहृदयस्तत्साधनोद्यतमतिर्जनः ।

यदि धर्ममुपैति नास्ति गेहमथ गेहाभिमुखः कुतोऽस्य धर्मः ।
प्रशमैकरसो हि धर्ममार्गो गृहसिद्धिश्च पराक्रमक्रमेण ॥ १४ ॥
इति धर्मविरोधदूषितत्वाद् गृहवासं क इवात्मवान् भजेत ।
परिभूय सुखाशया हि धर्मं नियमो नास्ति सुखोदयप्रसिद्धौ ॥ १५ ॥
नियतं च यशःपराभवः स्यादनुतापो मनसश्च दुर्गतिश्च ।
इति धर्मविरोधिनं भजन्ते न सुखोपायमपायवन्नयज्ञाः ॥ १६ ॥

अपि च, सुखो गृहवास इति श्रद्धागम्यमिदं मे प्रतिभाति ।

नियतार्जनरक्षणादिदुःखे वधबन्धव्यसनैकलक्ष्यभूते ।
नृपतेरपि यत्र नास्ति तृप्तिर्विभवैस्तोयनिधेरिवाम्बुवर्षैः ॥ १७ ॥
सुखमत्र कुतः कथं कदा वा परिकल्पप्रणयं न चेदुपैति ।
विषयोपनिवेशनेऽपि मोहाद् व्रणकण्डूयनवत्सुखाभिमानः ॥ १८ ॥

बाहुल्येन च खलु ब्रवीमि—

प्रायः समृद्ध्या मदमेति गेहे मानं कुलेनापि बलेन दर्पम् ।
दुःखेन रोषं व्यसनेन दैन्यं तस्मिन्कदा स्यात्प्रशमावकाशः ॥ १९ ॥

अतश्च खल्वहमत्रभवन्तमनुनयामि—

मदमानमोहभुजगोपलयं प्रशमाभिरामसुखविप्रलयम् ।
क इवाश्रयेदभिमुखं विलयं बहुतीव्रदुःखनिलयं निलयम् ॥ २० ॥

संतुष्टजनगेहे तु प्रविविक्तसुखे वने।
प्रसीदति यथा चेतस्त्रिदिवेऽपि तथा कुतः ॥ २१ ॥
परप्रसादार्जितवृत्तिरप्यतो रमे वनान्तेषु कुचेलसंवृतः।
अधर्ममिश्रं तु सुखं न कामये विषेण संपृक्तमिवान्नमात्मवान् ॥ २२ ॥

इत्यवगमितमतिः स तेन पितृवयस्यो हृदयग्राहकेण वचसा बहुमानमेव तस्मिन्महासत्त्वे सत्कारप्रयोगविशेषेण प्रवेदयामास।

तदेवं शीलप्रशमप्रतिपक्षसंबाधं गार्हस्थ्यमित्येवमात्मकामाः परित्यजन्तीति। लब्धास्वादाः प्रविवेके, न कामेष्वावर्तन्त इति प्रविवेकगुणकथायामप्युपनेयम्।

इत्यपुत्र-जातकमष्टादशम्।

---

१९. बिस-जातकम्

प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव विहिंसेव च कामाः प्रतिकूला भवन्ति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल कस्मिंश्चिन्महति गुणप्रकाशयशसि वाच्यदोषविरहिते ब्राह्मणकुले जन्मपरिग्रहं चकार। तस्य यत्र कनीयांसः षडपरे भ्रातरस्तदनुरूपगुणाः स्नेहबहुमानगुणान्नित्यानुगुणा बभूवुः, सप्तमी च भगिनी। स कृतश्रमः साङ्गेषु सोपवेदेषु वेदेषु समधिगतविद्यायशाः संमतो जगति दैवतवन्मातापितरौ परया भक्त्या परिचरन्नाचार्य इव पितेव तान्भ्रातॄन्विद्यासु विनयन्नयविनयकुशलो गृहमावसति स्म। स कालक्रमान्मातापित्रोः कालक्रियया संविग्नहृदयः कृत्वा तयोः प्रेतकृत्यानि व्यतीतेषु शोकमयेष्विव केषुचिदेव दिवसेषु तान्भ्रातॄन् संनिपात्योवाच--

एष लोकस्य नियतः शोकातिविरसः क्रमः।
सह स्थित्वापि सुचिरं मृत्युना यद्वियोज्यते ॥ १ ॥
तत्प्रव्रजितुमिच्छामि श्रेयःश्लाघ्येन वर्त्मना।
पुरा मृत्युरिपुर्हन्ति गृहसंरक्तमेव माम् ॥ २ ॥

यतः सर्वानेव भवतः सम्बोधयापि। अस्त्यत्र ब्राह्मणकुले धर्मेण यथाधिगता विभवमात्रा। शक्यमनया वर्तितुम्। तत्सर्वैरेव भवद्भिः परस्परं स्नेहगौरवाभिमुखैः शीलसमुदाचारेष्वशिथिलादरैर्वेदाध्ययनपरैर्मित्रातिथिस्वजनप्रणयवत्सलैर्धर्मपरायणैर्भूत्वा सम्यग्गृहमध्यावस्तव्यम्।

विनयश्लाघिभिर्नित्यं स्वाध्यायाध्ययनोद्यतैः।
प्रदानाभिरतैः सम्यक्परिपाल्यो गृहाश्रमः ॥ ३ ॥
एवं हि वः स्याद्यशसः समृद्धिर्धर्मस्य चार्थस्य सुखास्पदस्य।
सुखावगाहश्च परोऽपि लोकस्तदप्रमत्ता गृहमावसेत ॥ ४ ॥

अथास्य भ्रातरः प्रव्रज्यासङ्कीर्तनाद्वियोगाशङ्काव्यथितमनसः शोकाश्रुदुर्दिनमुखाः प्रणम्यैनमूचुः--नार्हत्यत्रभवान्पितृवियोगशोकशल्यव्रणमसंरूढमेव नो घट्टयितुमपरेण दुःखाभिनिपातक्षारेण।

अद्यापि तावत्पितृशोकशल्यक्षतानि रोहन्ति न नो मनांसि ।
तत्साध्विमां संहर धीर बुद्धिं मा नः क्षते क्षारमिहोपहार्षीः ॥ ५ ॥
अथाक्षमं वेत्सि गृहानुरागं श्रेयःपथं वा वनवाससौख्यम् ।
अस्माननाथानपहाय गेहे कस्माद्वनं वाञ्छसि गन्तुमेकः ॥ ६ ॥

तद्यात्रभवतो गतिः सास्माकम् । वयमपि प्रव्रजाम इति ।

बोधिसत्त्व उवाच--

अनभ्यासाद्विवेकस्य कामरागानुवर्तिनः ।
प्रपातमिव मन्यन्ते प्रव्रज्यां प्रायशो जनाः ॥ ७ ॥

इति मया निगृह्य नाभिहिताः स्थ प्रव्रज्याश्रयं प्रति जानतापि गृहवनवासविशेषम् । तदेतच्चेदभिरुचितं भवतामेव प्रव्रजाम इति । ते सप्तापि भ्रातरो भगिन्यष्टमाः स्फीतं गृहविभवासारमश्रुमुखं च मित्रस्वजनबन्धुवर्गं विहाय तापसप्रव्रज्यया प्रव्रजिताः । तदनुरक्तहृदयश्चैनान्सहाय एको दासी दासश्चानुप्रव्रजिताः ।

तेऽन्यतरस्मिन्महत्यरण्यायतने ज्वलितमिव विकसितकमलवनशोभया विहसदिव च फुल्लकुमुदवनैरनिभृतमधुकरगणममलनीलसलिलं महत्सरः संनिश्रित्य प्रविविक्तमनोज्ञासु च्छयाद्रुमसमुपगूढास्वसंनिकृष्टविनिविष्टासु पृथक्पृथक्पर्णशालासु व्रतनियमपरा ध्यानानुयुक्तमनसो विजह्नुः । पञ्चमे पञ्चमे दिवसे बोधिसत्त्वसमीपं धर्मश्रवणार्थमुपजग्मुः । स चैषां ध्यानोपदेशप्रवृत्तां कामादीनवदर्शनीं संवेजनीयां प्रविवेकसन्तोषवर्णबहुलां कुहनलपनकौसीद्यादिदोषविगर्हणीमुपशमप्रसादपद्धतिं तां तां धर्म्यां कथां चकार ।

सा चैनान् दासी बहुमानानुरागवशा तथैव परिचचार । सा तस्मात्सरसो बिसान्युद्धृत्य महत्सु पद्मिनीपर्णेषु शुचौ तीरप्रदेशे समान्विन्यस्य च भागान्काष्ठसंघट्टनशब्देन कालं निवेद्यापक्रामति स्म । ततस्तेषामृषीणां कृतजपहोमविधीनां यथावृद्धमेकैकोऽभिगम्य ततो बिसभागमेकैकं यथाक्रममादाय स्वस्यां स्वस्यां पर्णशालायां विधिवत्परिभुज्य ध्यानाभियुक्तमतिर्विजहार । त एवं प्रवृत्ता नैव परस्परं ददृशुरन्यत्र धर्मश्रवणकालात् ।

तेषामेवंविधेन निरवद्येन शीलवृत्तसमुदाचारेण प्रविवेकाभिरत्या ध्यानप्रवणमानसतया च सर्वत्र यशः समुपश्रुत्य शक्रो देवानामिन्द्रस्तत्परीक्षानिमित्तं तत्राभिजगाम । तच्चैषां ध्यानाभिमुखत्वं कुकार्येष्वप्रसङ्गमनुत्कण्ठां प्रशमाभिरामं चावस्थानमवेक्ष्य स्थिरतरगुणसम्भावनस्तत्परीक्षानिमित्तमवहितमना बभूव ।

अनुत्सुको वनान्तेषु वसञ्छमपरायणः ।
आरोपयति साधूनां गुणसम्भावनां हृदि ॥ ८ ॥

अथ द्विपकलभदशनपाण्डुकोमलानि समुद्धृत्य प्रक्षाल्य च बिसानि मरकतहरितप्रभेषु पद्मिनीपत्रेषु कमलदलकेसरोपहारालंकृतान्विरचय्य समान्भागान्काष्ठसंघट्टनशब्देन निवेद्य कालं तेषामृषीणामपसृतायां तस्यां दास्यां बोधिसत्त्वपरीक्षार्थं शक्रो देवानामिन्द्रः प्रथममेव बिसभागमन्तर्धापयामास ।

प्रवर्तने हि दुःखस्य तिरस्कारे सुखस्य च।
धैर्यप्रयामः साधूनां विस्फुरन्निव गृह्यते ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वोऽभिगतः प्रथमे बिसभागस्थाने बिसभागविरहितं पद्मिनीपत्रं परिव्याकुलीकृतोपहारमभिसमीक्ष्य गृहीतः केनापि मे बिसप्रत्यंश इत्यवधृतमतिरपेतचेतःसंक्षोभसंरम्भस्तत एव प्रतिनिवृत्य प्रविश्य पर्णशालायां यथोचितं ध्यानविधिमारेभे। वैमनस्यपरिहार्थं चेतरेषामृषीणां तमर्थं न निवेदयामास। इतरे त्वस्य भ्रातरो नूनमनेन गृहीतः प्रत्यंश इति मन्यमाना यथोचितानेव स्वान्स्वाननुक्रमेण बिसभागानादाय यथास्वं पर्णशालासु परिभुज्य ध्यायन्ति स्म। एवं द्वितीये तृतीये चतुर्थे पञ्चमे च दिवसे शक्रस्तस्य तं बिसप्रत्यंशमुपनिदधे। बोधिसत्त्वोऽपि च महासत्त्वस्तथैव निःसंक्षोभप्रशान्तचित्तो बभूव।

मनःसंक्षोभ एवेष्टो मृत्युर्नायुःक्षयः सताम्।
जीवितार्थेऽपि नायान्ति मनःक्षोभमतो बुधाः ॥ १० ॥

अथापराह्णसमये धर्मश्रवणार्थमृषयस्ते यथोचितं बोधिसत्त्वस्य पर्णशालां समभिगता ददृशुस्तश्चैनं कृशतरशरीरं परिक्षामकपोलनयनं परिम्लानवदनशोभमसम्पूर्णस्वरगाम्भीर्यं परिक्षीणमप्यपरिक्षीणधैर्यप्रशमगुणमभिनवेन्दुप्रियदर्शनमुपेत्योपचारपुरःसरं ससम्भ्रमाः किमिदमिति कार्श्यनिमित्तमेनमपृच्छन्। तेभ्यो बोधिसत्त्वस्तमर्थं यथानुभूतं निवेदयामास। अथ ते तापसाः परस्परमीदृशमनाचारमसम्भावयन्तस्तत्पीडया च समुपजातसंवेगाः कष्टं कष्टमित्युक्त्वा व्रीडावनतवदनाः समतिष्ठन्त। शक्रप्रभावाच्च समावृतज्ञानगतिविषयाः कुत इदमिति न निश्चयमुपजग्मुः। अथ बोधिसत्त्वस्यानुजो भ्राता स्वमावेगमात्मविशुद्धिं च प्रदर्शयञ्छपथातिशयमिमं चकार—

समृद्धिचिह्नाभरणं स गेहं प्राप्नोतु भार्यां च मनोऽभिरामाम्।
समग्रतामेतु च पुत्रपौत्रैर्बिसानि ते ब्राह्मण यो ह्यहार्षीत् ॥ ११ ॥

अपर उवाच—

मालाः स्रजश्चन्दनमंशुकानि बिभ्रद्विभूषाश्च सुताभिमृष्टाः।
कामेषु तीव्रां स करोत्वपेक्षां बिसान्यहार्षीद्द्विजमुख्य यस्ते ॥ १२ ।

अपर उवाच—

कृष्याश्रयावाप्तधनः कुटुम्बी प्रमोदमानस्तनयप्रलापैः।
वयोऽप्यपश्यन्रमतां स गेहे बिसानि यस्ते सकृदप्यहार्षीत् ॥ १३ ॥

अपर उवाच—

नराधिपैर्भृत्यविनीतचेष्टैरभ्यर्च्यमानो नतलोलचूडैः।
कृत्स्नां महीं पातु स राजवृत्त्या लोभादहार्षीत्तव यो बिसानि ॥ १४ ॥

अपर उवाच—

पुरोहितः सोऽस्तु नराधिपस्य मन्त्रादिना स्वस्त्ययनेन युक्तः।
सत्कारमाप्नोतु तथा च राज्ञस्तवापि यो नाम बिसान्यहार्षीत् ॥ १५ ॥

अपर उवाच—

अध्यापकं सम्यगधीतवेदं तपस्विसम्भावनया महत्या ।
अर्चन्तु तं जानपदाः समेत्य बिसेषु लुब्धो न गुणेषु यस्ते ॥ १६ ॥

सहाय उवाच—

चतुःशतं ग्रामवरं समृद्धं लब्ध्वा नरेन्द्रादुपयातु भोक्तुम् ।
अवीतरागो मरणं स चैतु लोभं बिसेष्वप्यजयन्न यस्ते ॥ १७ ॥

दास उवाच—

स ग्रामणीरस्तु सहायमध्ये स्त्रीनृत्तगीतैरुपलाप्यमानः ।
मा राजतश्च व्यसनानि लब्ध बिसार्थमात्मार्थमशीशमद्यः ॥ १८ ॥

भगिन्युवाच—

विद्योतमानां वपुषा श्रिया च पत्नीत्वमानीय नराधिपस्ताम् ।
योषित्सहस्राग्रचरीं करोतु यस्त्वद्विधस्यापि बिसान्यहार्षीत् ॥ १९ ॥

दास्युवाच—

एकाकिनी सा समतीत्य साधूंस्वादूपभोगे प्रणयं करोतु ।
सत्कारलब्धां मुदमुद्वहन्ती बिसान्यपश्यत्तव या न धर्मम् ॥ २० ॥

अथ तत्र धर्मश्रवणार्थं समागतास्तद्वनाध्युषिता यक्षद्विरदवानरास्तां कथामुपश्रुत्य परां व्रीडां संवेगं चोपजग्मुः । अथ यक्ष आत्मविशुद्धिप्रदर्शनार्थमिति शपथमेषां पुरतश्चकार—

आवासिकः सोऽस्तु महाविहारे कचङ्गलायां नवकर्मिकश्च ।
आलोकसन्धिं दिवसैः करोतु यस्त्वय्यपि प्रस्खलितो बिसार्थम् ॥ २१ ॥

हस्त्युवाच—

षड्भिर्दृढैः पाशशतैः स बन्धं प्राप्नोतु रम्याच्च वनाज्जनान्तम् ।
तीक्ष्णाङ्कुशाकर्षणजा रुजश्च यस्ते मुनिश्रेष्ठ बिसान्यहार्षीत् ॥ २२ ॥

वानर उवाच—

स पुष्पमाली त्रपुघृष्टकण्ठो यष्ट्या हतः सर्पमुखं परैतु ।
वैकक्ष्यबद्धश्च वसेद् गृहेषु लौल्यादहार्षीत्तव यो बिसानि ॥ २३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तान्सर्वानेवानुनयविनीताक्षरं शान्तिगाम्भीर्यसूचकमित्युवाच—

यो नष्टमित्याह न चास्य नष्टमिष्टान्स कामानधिगम्य कामम् ।
उपैतु गेहाश्रित एव मृत्युं भवत्सु यः शङ्कत ईदृशं वा ॥ २४ ॥

अथ शक्रो देवेन्द्रस्तेन तेषां कामोपभोगप्रातिकूल्यसूचकेन शपथातिशयेन समुत्पादितविस्मयबहुमानः स्वेनैव वपुषाभिज्वलता तानृषीनभिगम्य सामर्षवदुवाच—मा तावद्भोः ।

यत्प्राप्तिपर्युत्सुकमानसानां सुखार्थिनां नैति मनांसि निद्रा ।
यान्प्राप्तुमिच्छन्ति तपःश्रमैश्च तान्केन कामानिति कुत्सयध्वे ॥ २५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच – अनन्तादीनवा मार्ष कामाः । संक्षेपतस्तु श्रूयतां यदभिसमीक्ष्य कामान्न प्रशंसन्ति मुनयः ।

कामेषु बन्धमुपयाति वधं च लोकः
शोकं क्लमं भयमनेकविधं च दुःखम् ।
कामार्थमेव च महीपतयः पतन्ति
धर्मोपमर्दरभसा नरकं परत्र ॥ २६ ॥
यत्सौहृदानि सहसा विरसीभवन्ति
यन्नीतिशाठ्यमलिनेन पथा प्रयान्ति ।
कीर्त्या वियोगमसुखैः परतश्च योगं
यत्प्राप्नुवन्ति ननु कारणमत्र कामाः ॥ २७ ॥
इति हीनविमध्यमोत्तमानामिह चामुत्र च यद्वधाय कामाः।
कुपितान्भुजगानिवात्मकामा मुनयस्तानिति शक्र नाश्रयन्ते ॥ २८ ॥

अथ शक्रो देवानामिन्द्रस्तस्य तद्वचनं युक्तमित्यभिनन्द्य तेन चैतेषामृषीणां माहात्म्येनाभिप्रसादितमनास्तेभ्यः स्वमपराधमाविश्चकार ।

गुणसम्भावनाव्यक्तिर्यत्परीक्ष्योपलभ्यते ।
मया विनिहितान्यस्मात्परीक्षार्थं बिसानि वः ॥ २९ ॥
तत्सनाथं जगद्दिष्ट्या मुनिभिस्तथ्यकीर्तिभिः ।
विशुद्धिः स्थिरचारित्रे तदेतानि बिसानि ते ॥ ३० ॥

इत्युक्त्वा तानि बिसानि बोधिसत्त्वस्य समुपजहार। अथ बोधिसत्त्वस्तदस्यासमुदाचारधाष्टर्यं तेजस्विनिभृतेन वचसा प्रत्यातिदेश--

न बान्धवा नैव वयं सहाया न ते नटा नापि विडम्बकाः स्मः ।
कस्मिन्नवष्टभ्य नु देवराज क्रीडापथेनैवमृषीनुपैषि ॥ ३१ ॥

इत्युक्ते शक्रो देवेन्द्रःससम्भ्रमापास्तकुण्डलकिरीटविद्युद्भासुरवदनः सबहुमानमभिप्रणम्यैनं क्षमयामास--

उक्तप्रयोजनमिदं चापलं मम निर्मम ।
पितेवाचार्य इव च क्षन्तुमर्हति तद्भवान् ॥ ३२ ॥
निमीलितज्ञानविलोचनानां स्वभाव एष स्खलितुं समेऽपि ।
क्षमां च तत्रात्मवतां प्रपत्तुमतोऽप्यदश्चेतसि मा स्म कार्षीः ॥ ३३ ॥

इति क्षमयित्वा शक्रस्तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं प्रविवेकसुखरसज्ञानां विडम्बनेव विहिंसेव च कामाः प्रतिकूला भवन्ति ।

[तच्चेदं जातकं भगवान्व्याकार्षीत्—

अहं शारद्वतीपुत्रो मौद्गल्यायनकाश्यपौ ।
पूर्णानिरुद्धावानन्द इत्यासुर्भ्रातरस्तदा ॥ ३४ ॥
भगिन्युत्पलवर्णासीद्दासी कुब्जोत्तराभवत् ।
चित्रो गृहपतिर्दासो यक्षः सातागिरिस्तदा ॥ ३५ ॥
पारिलेयोऽभवन्नागो मधुदातेव वानरः ।
कालोदायी च शक्रोऽभूद्धार्यतामिति जातकम् ॥ ५६ ॥]

इति बिस-जातकमेकोनविंशतितमम् ।

२० श्रेष्ठि-जातकम्

अभूतगुणसंभावना प्रतोदसंचोदनेव भवति साधूनामिति गुणसंपादने प्रयतितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रुतकुलविनयमहानक्षुद्रनिपुणमतिरविषमव्यवहाररतिरनेकशास्त्राभ्यासादालक्षितवचनसौष्ठवः करुणानुवृत्त्या समन्ततो विस्यन्दमानधनसमृद्धिर्महाप्रदानैर्महाधनत्वाद् गृहपतिरत्नसंमतोऽन्यतमस्य राज्ञः श्रेष्ठी बभूव ।

स प्रकृत्यैव धर्मात्मा श्रुतादिगुणभूषणः ।
अभूत्प्रायेण लोकस्य बहुमानैकभाजनम् ॥ १ ॥

अथ कदाचित्तस्मिन्महासत्त्वे राजकुलमभिगते केनचिदेव करणीयेन तस्य श्वश्रूर्दुहितरमवलोकयितुं तद्गृहमभिजगाम । कृताभ्यागमनसत्कारा च संकथाप्रस्तावागतं स्वां दुहितरं बोधिसत्त्वभार्यां रहसि कुशलपरिप्रश्नपूर्वकं पर्यपृच्छत्—कच्चित्त्वां तात भर्ता नावमन्यते । कच्चिद्वा वेत्ति परिचर्यागुणम् । न वा दुःखशीलतया प्रबाधत इति । सा व्रीडावनतवदना लज्जाऽप्रगल्भं शनकैरुवाच—यादृशोऽयं शीलगुणसमुदाचारेण, प्रव्रजितोऽपि दुर्लभः क इदानीं तादृशः । अथ सा तस्या माता जरोपहतश्रुतिस्मृतित्वाल्लज्जासंकुचिताक्षरं तनयया तद्वचनमभिधीयमानं न सम्यगुपधारयामास । प्रव्रजितसंकीर्तनात्तु प्रव्रजितो मे जामातेति निश्चयमुपजगाम । सा सस्वरमभिरुदिता स्वां दुहितरमनुशोचन्ती दुःखावेगवशात्परिदेवनपरा बभूव । कीदृशस्तस्य शीलगुणसमुदाचारो य एवमनुरक्तं स्वं जनमपहाय प्रव्रजितः ? किं वा तस्य प्रव्रज्यया ?

तरुणस्य वपुष्मतः सतः सुकुमारस्य सुखोचितात्मनः ।
क्षितिपाभिमतस्य तस्य वै वनवासे प्रणता मतिः कथम् ॥ २ ॥

स्वजनादनवाप्य विप्रियं जरया वोपहृतां विरूपताम् ।
कथमेकपदे रुजं विना विभवोद्गारि गृहं स मुक्तवान् ॥ ३ ॥

विनयाभरणेन धीमता प्रियधर्मेण परानुकम्पिना ।
कथमभ्युपपन्नमीदृशं स्वजने निष्करुणत्वचापलम् ॥ ४ ॥

श्रमणद्विजमित्रसंश्रितान्स्वजनं दीनजनं च मानयन् ।
शुचिशीलधनः किमाप्नुयान्न स गेहेषु वने यदीप्सति ॥ ५ ॥

अपराधविवर्जितां त्यजन्ननुकूलां सहधर्मचारिणीम् ।
यतिधर्मपरः स नेक्षते किमिमं धर्मपथव्यतिक्रमम् ॥ ६ ॥

धिगहो बत दैवदुर्नयाद्यदि भक्तं जनमेवमुज्झताम् ।
न घृणापथमेति मानसं यदि वा धर्मलवोऽपि सिध्यति ॥ ७ ॥

अथ सा बोधिसत्त्वस्य पत्नी तेन मातुः करुणेनाकृतकेन परिदेवितेन पतिप्रव्रज्याभिसंबन्धेन स्त्रीस्वभावाद् व्यथितहृदया ससंभ्रमा विषादविक्लवमुखी शोकदुःखाभिनिपातसंक्षोभाद्विस्मृतकथाप्रस्तावसंबन्धा प्रव्रजितो मे भर्तेति मद्व्यवस्थापनार्थमम्बा गृहमिदमभिगता विप्रियश्रवणादिति निश्चयमुपेत्य सपरिदेवितं सस्वरं रुदती मोहमुपजगाम बाला । तदुपश्रुत्य गृहजनः परिजनवर्गश्च शोकदुःखावेगादाक्रन्दनं चकार ।

तच्छ्रुत्वा प्रातिवेश्यमित्रस्वजनबन्धुवर्गः संश्रितजनो ब्राह्मणगृहपतयश्च तस्य गृहपतेरनुरागवशानुगाः प्रायशश्च पौरास्तद्गृहमभिजग्मुः ।

प्रायेण लोकस्य बभूव यस्मात्तुल्यक्रमोऽसौ सुखदुःखयोगे ।
अतोऽस्य लोकोऽप्यनुशिक्षयेव तुल्यक्रमोऽभूत्सुखदुःखयोगे ॥ ८ ॥

अथ बोधिसत्त्वो राजकुलात् स्वभवनसमीपमुपगतः साक्रन्दशब्दं स्वभवनमवेत्य महतश्च जनकायस्य संनिपातं स्वं पुरुषमन्वादिदेश ज्ञायतां किमेतदिति । स तं वृत्तान्तमुपलभ्य समुपेत्यास्मै निवेदयामास—

उत्सृज्य भवनं स्फीतमार्यः प्रव्रजितः किल ।
इति श्रुत्वा कुतोऽप्येष स्नेहादेवंगतो जनः ॥ ९ ॥

अथ स महासत्त्वः प्रकृत्या शुद्धाशयः प्रत्यादिष्ट इव तेन वचसा समुपजातव्रीडसंवेगश्चिन्तामापेदे । भद्रा बत मयि जनस्य संभावना ।

श्लाघनीयामवाप्यैतां गुणसंभावनां जनात् ।
गृहाभिमुख एव स्यां यदि किं मम पौरुषम् ॥ १० ॥
स्याद्दोषभक्तिः प्रथिता मयैवं गुणेष्ववज्ञाविरसा च वृत्तिः ।
यायामतः साधुजने लघुत्वं किं जीवितं स्याच्च तथाविधस्य ॥ ११ ॥
संभावनामस्य जनस्य तस्मात्क्रियागुणेन प्रतिपूजयामि ।
असत्परिक्लेशमयं विमुञ्चंस्तपोवनप्रेमगुणेन गेहम् ॥ १२ ॥

इति विचिन्त्य स महात्मा तत एव प्रतिनिवृत्य राज्ञः प्रतिहारयामास—श्रेष्ठी पुनर्द्रष्टुमिच्छति देवमिति । कृताभ्यनुज्ञश्च प्रविश्य यथोपचारं राजसमीपमुपजगाम । किमिदमिति च राज्ञा पर्यनुयुक्तोऽब्रवीत्—इच्छामि प्रव्रजितुम्, तदभ्यनुज्ञातुमर्हति मां देव इति ।

अथैनं स राजा ससंभ्रमावेगः स्नेहादित्युवाच—

मयि स्थिते बन्धुसुहृद्विशिष्टे त्वं केन दुःखेन वनं प्रयासि ।
यन्नापहर्तुं प्रभुता मम स्याद्धनेन नीत्या बलसंपदा वा ॥ १३ ॥
अर्थो धनैर्यदि गृहाण धनानि मत्तः
पीडा कुतश्चिदथ तां प्रतिषेधयामि ।
मां याचमानमिति बन्धुजनं च हित्वा
किं वा त्वमन्यदभिवीक्ष्य वनं प्रयासि ॥ १४ ॥

इति स महात्मा सस्नेहबहुमानमभिहितो राज्ञा सानुनयमेनमुवाच—

पीडा कुतस्त्वद्भुजसंश्रितानां धनोदयावेक्षणदीनता वा ।
अतो न दुःखेन वनं प्रयामि यमर्थमुद्दिश्य तु तं निबोध ॥ १५ ॥
दीक्षामुपाश्रित इति प्रथितोऽस्मि देव
शोकाश्रुदुर्दिनमुखेन महाजनेन ।
इच्छामि तेन विजनेषु वनेषु वस्तुं
श्रद्धेयतामुपगतोऽस्मि गुणाभिपत्तौ ॥ १६ ॥

राजोवाच—नार्हति भवाञ्जनप्रवादमात्रकेणास्मान् परित्यक्तुम्। न हि भवद्विधानां जनप्रवादसंपादनाभिराध्या गुणविभूतिस्तदसंपादनविराध्या वा।

स्वेच्छाविकल्पग्रथिताश्च तास्ता निरङ्कुशा लोककथा भ्रमन्ति।
कुर्वीत यस्ता हृदयेऽपि तावत्स्यात्सोऽपहास्यः किमुत प्रपत्ता॥ १७॥

बोधिसत्त्व उवाच—मा मैवं महाराज। न हि कल्याणो जनप्रवादो नानुविधेयः। पश्यतु देवः,

कल्याणधर्मेति यदा नरेन्द्र संभावनामेति मनुष्यधर्मा।
तस्या न हीयेत नरः सधर्मा ह्रियापि तावद्धुरमुद्वहेत्ताम्॥ १८॥
संभावनायां गुणभावनायां संदृश्यमानो हि यथा तथा वा।
विशेषतो भाति यशःप्रसिद्ध्या स्यात्त्वन्यथा शुष्क इवोदपानः॥ १९॥
गुणप्रवादैरयथार्थवृद्धैर्विमर्शपाताकुलितैः पतद्भिः।
विचूर्णिता कीर्तितनुर्नराणां दुःखेन शक्नोति पुनः प्रसर्तुम्॥ २०॥
तद्वर्जनीयान्परिवर्जयन्तं परिग्रहान्विग्रहहेतुभूतान्।
क्रोधोच्छिरस्कानिव कृष्णसर्पान्युक्तोऽसि मां देव न संनिषेद्धुम्॥ २१॥
स्नेहेन भक्तिज्ञतया च कामं युक्तो विधिर्भृत्यजने तवायम्।
वित्तेन तु प्रव्रजितस्य किं मे परिग्रहक्लेशपरिग्रहेण॥ २२॥

इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञस्तेन तत एव वनाय प्रतस्थे। अथैनं सुहृदो ज्ञातयः संश्रिताश्चाभिगम्य शोकाश्रुपरिप्लुतनयनाः पादयोः संपरिष्वज्य निवारयितुमीषुः। केचिदञ्जलिप्रग्रहपुरःसरं मार्गमस्यावृत्य समवातिष्ठन्त। सपरिष्वङ्गसंगतानुनयमपरे गृहाभिमुखमेनं नेतुमीषुः। यत्किञ्चनकारिताक्षेपकर्कशाक्षरमन्ये प्रणयादेनमूचुः। मित्रस्वजनापेक्षाकारुण्यप्रदर्शनमपरेऽस्य प्रचक्रुः। गृहाश्रम एव पुण्यतम इत्येवमन्ये श्रुतियुक्तिसंग्रथितं ग्राहयितुमीहां चक्रिरे। तपोवनवासदुःखतासंकीर्तनैः कार्यशेषपरिसमाप्त्या याच्ञया परलोकफलसंदेहकथाभिस्तैस्तैश्च वार्त्ताविशेषैर्निवर्तयितुमेनं व्यायच्छन्त। तस्य तान् प्रव्रज्याश्रयविमुखान् वनगमननिवारणधीरमुखान् नयनजलार्द्रमुखान् सुहृदोऽभिवीक्ष्य व्यक्तमिति चिन्ता बभूव—

सुहृत्प्रतिज्ञैः सुहृदि प्रमत्ते न्याय्यं हितं रूक्षमपि प्रयोक्तुम्।
रूढः सतामेष हि धर्ममार्गः प्रागेव रुच्यं च हितं च यत्स्यात्॥ २३॥
वनाद् गृहं श्रेय इदं त्वमीषां स्वस्थेषु चित्तेषु कथं नु रूढम्।
यन्निर्विशङ्का वनसंश्रयान्मां पापप्रसङ्गादिव वारयन्ति॥ २४॥
मृतो मरिष्यन्नपि वा मनुष्यश्च्युतश्च धर्मादिति रोदितव्यम्।
कया नु बुद्ध्या वनवासकामं मामेव जीवन्तममी रुदन्ति॥ २५॥
मद्विप्रयोगस्त्वथ शोकहेतुर्मया समं किं न वने वसन्ति।
गेहानि चेत्कान्ततराणि मत्तः को न्वादरो बाष्पपरिव्ययेन॥ २६॥
अथ त्विदानीं स्वजनानुरागः करोति नैषां तपसेऽभ्यनुज्ञाम्।
सामर्थ्यमासीत्कथमस्य नैव व्यूढेष्वनीकेष्वपि तत्र तत्र॥ २७॥

दृष्टावदानो व्यसनोदयेषु बाष्पोद्गमान्मूर्त इवोपलब्धः ।
संरूढमूलोऽपि सुहृत्स्वभावः शाठ्यं प्रयात्यन्न विनानुवृत्त्या ॥ २८ ॥
निवारणार्थानि सगद्गदानि वाक्यानि साश्रूणि च लोचनानि ।
प्रणामलोलानि शिरांसि चैषां मानं समानस्य यथा करोति ॥ २९ ॥
स्नेहस्तथैवार्हति कर्तुमेषां श्लाघ्यामनुप्रव्रजनेऽपि बुद्धिम् ।
मा भून्नटानामिव वृत्तमेतद् व्रीडाकरं सज्जनमानसानाम् ॥ ३० ॥
द्वित्राणि मित्राणि भवन्त्यवश्यमापद्गतस्यापि सुनिर्गुणस्य ।
सहाय एकोऽप्यतिदुर्लभस्तु गुणोदितस्यापि वनप्रयाणे ॥ ३१ ॥
ये मे हरन्ति स्म पुरःसरत्वं रणेषु मत्तद्विपसंकटेषु ।
नानुव्रजन्त्यद्य वनाय ते मां किंस्वित्त एवास्मि त एव चेमे ॥ ३२ ॥
स्मरामि नैषां विगुणं प्रयातुं स्नेहस्य यत्संक्षयकारणं स्यात् ।
सुहृज्जनस्यैवमियं स्थितिर्मे कच्चिद्भवेत्स्वस्तिनिमित्ततोऽस्मात् ॥ ३३ ॥
ममैव वा निर्गुणभाव एष नानुव्रजन्त्यद्य वनाय यन्माम् ।
गुणावबद्धानि हि मानसानि कस्यास्ति विश्लेषयितुं प्रभुत्वम् ॥ ३४ ॥
ये वा प्रकाशानपि गेहदोषान्गुणान्न पश्यन्ति तपोवने वा ।
निमीलितज्ञानविलोचनांस्तान्किमन्यथाहं परितर्कयामि ॥ ३५ ॥
परत्र चैवेह च दुःखहेतून्कामान्विहातुं न समुत्सहन्ते ।
तपोवनं तद्विपरीतमेते त्यजन्ति मां चाद्य धिगस्तु मोहम् ॥ ३६ ॥
यैर्विप्रलब्धाः सुहृदो ममैते न यान्ति शान्तिं निखिलाश्च लोकाः ।
तपोवनोपार्जितसत्प्रभावस्तानेव दोषान्प्रसभं निहन्मि ॥ ३७ ॥
इति स परिगणय्य निश्चितात्मा प्रणयमयानि सुहृद्विचेष्टितानि ।
अनुनयमधुराक्षरैर्वचोभिर्विशदमपास्य तपोवनं जगाम ॥ ३८ ॥

तदेवमभूतगुणसंभावना प्रतोदसंचोदनेव भवति साधूनामिति गुणसंपादने प्रयतितव्यम् । यतो भिक्षुरित्युपासक इति गुणतः संभाव्यमानेन साधुना तद्भावसाधुभिर्गुणैरभ्यलंकर्तव्य एवात्मा । एवं दुर्लभा धर्मप्रतिपत्तिसहाया इत्येवमप्युन्नेयम् ।

॥ इति श्रेष्ठि-जातकं विंशतितमम् ॥

---

२१. चुड्डबोधि-जातकम्

क्रोधविनयाच्छत्रूनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल महासत्त्वः कस्मिंश्चिन्महति ब्राह्मणकुले गुणाभ्यासमाहात्म्यादतिवृद्धयशसि प्रतिनियतसमृद्धिगुणे राजसत्कृते दैवतसंमते लोकस्य जन्म प्रतिलेभे । कालानामत्ययेनाभिवृद्धः कृतसंस्कारकर्मा श्रुतगुणाभ्यासादचिरेणैव विद्वत्सदस्सु प्रकाशनामा बभूव ।

कीर्तिर्विद्वत्सदस्स्वेव विदुषां प्रविजृम्भते ।
रत्नज्ञेष्विव रत्नानां शूराणां समरेष्विव ॥ १ ॥

अथ स महात्मा प्रव्रज्याकृतपरिचयत्वात्पूर्वजन्मसु स्वभ्यस्तधर्मसंज्ञत्वात्प्रज्ञावदातमतित्वाच्च न गेहे रतिमुपलेभे। स कामान् विग्रहविवादमदवैरस्यप्राचुर्याद्राजचौरोदकदहनविप्रियदायादसाधारणत्वादतृप्तिजनकत्वादनेकदोषायतनत्वाच्च सविषमिवान्नमात्मकामः परित्यज्य संहृतकेशश्मश्रुशोभः काषायविवर्णवासाः परित्यक्तगृहवेषविभ्रमः प्रव्रज्याविनयनियमश्रियमशिश्रियत्। तदनुरागवशगा चास्य पत्नी केशानवतार्याहार्यविभूषणोद्वहननिर्व्यापारशरीरा स्वरूपगुणशोभाविभूषिता काषायवस्त्रसंवीततनुरनुप्रवव्राज। अथ बोधिसत्त्वस्तपोवनानुगमनव्यवसायमस्या विदित्वा तपोवनाध्यासनायोग्यतां च स्त्रीसौकुमार्यस्यावोचदेनाम्—भद्रे दर्शितस्त्वयायमस्मदनुरागस्वभावः। तदलमस्मदनुगमनं प्रत्यनेन व्यवसायेन ते। यत्रैव त्वन्याः प्रव्रजिताः प्रतिवसन्ति तत्र भवत्यास्ताभिरेव सार्धं प्रतिरूपं वस्तुं स्यात्। दुरभिसंभवानि ह्यरण्यायतनानि। पश्य—

श्मशानशून्यालयपर्वतेषु वनेषु च व्यालमृगाकुलेषु।
निकेतहीना यतयो वसन्ति यत्रैव चास्तं रविरभ्युपैति॥ २॥
ध्यानोद्यमादेकचराश्च नित्यं स्त्रीदर्शनादप्यपवृत्तभावाः।
निवर्तितुं तेन मतिं कुरुष्व कोऽर्थस्तवानेन परिश्रमेण॥ ३॥

सा नियतमेनमनुगमनकृतनिश्चया बाष्पोपरुध्यमाननयना किंचिदीदृशं प्रत्युवाच—

यदि मे श्रमबुद्धिः स्यात्तवानुगमनोत्सवे।
किमित्येवं प्रपद्येय दुःख तव च विप्रियम्॥ ४॥
यत्तु नैव समर्थास्मि वर्तितुं रहिता त्वया।
इत्याज्ञातिक्रममिमं त्वं मम क्षन्तुमर्हसि॥ ५॥

इति सा द्वित्रिरप्युच्यमाना यदा नेच्छति स्म निवर्तितुम्, ततो बोधिसत्त्व उपेक्षानिभृतमतिरस्यां बभूव।

स तयानुगम्यमानश्चक्रवाक इव चक्रवाक्या ग्रामनगरनिगमाननुविचरन् कदाचित्कृतभक्तकृत्यः कस्मिंश्चित्प्रविविक्ते श्रीमति नानातरुगहनोपशोभिते घनप्रच्छाये कृतोपकार इव क्वचित्क्वचिद्दिनकरकिरणचन्द्रकैर्नानाकुसुमरजोऽवकीर्णधरणीतले शुचौ वनोद्देशे ध्यानविधिमनुष्ठाय सायाह्नसमये व्युत्थाय समाधेः पांसुकूलानि सीव्यति स्म। सापि प्रव्रजिता तस्यैव नातिदूरे वृक्षमूलमुपशोभयमाना देवतेव स्वेन वपुषः प्रभावेण विराजमाना तदुपदिष्टेन मनस्कारविधिना ध्यायति स्म।

अथ तत्रत्यो राजा वसन्तकालजनिताभ्यधिककिसलयशोभानि भ्रमद्भ्रमर मधुकरीगणोपकूजितानि प्रमत्तकोकिलकुलकिलकिलानि प्रहसितकमलकुवलयालंकृताभिलषणीयजलाशयानि विविधकुसुमसंमोदगन्धाधिवासितसुखपवनान्युपवनानि समनुविचरंस्तं देशमुपजगाम।

विचित्रपुष्पस्तबकोज्ज्वलानि कृतच्छदानीव वसन्तलक्ष्म्या।
वाचालपुंस्कोकिलबर्हिणानि सरोरुहाकीर्णजलाशयानि॥ ६॥

समुद्भवत्कोमलशाद्वलानि वनानि मत्तभ्रमरारुतानि ।
आक्रीडभूतानि मनोभवस्य द्रष्टुं भवत्येव मनःप्रहर्षः ॥ ७ ॥

अथ स राजा सविनयमभिगम्य बोधिसत्त्वं कृतप्रतिसंमोदनकथस्तत्रैकान्ते न्यषीदत् । स तां प्रव्रजितामतिमनोहरदर्शनामभिवीक्ष्य तस्या रूपशोभया समाक्षिप्यमाणहृदयो नूनमस्येयं सहधर्मचारिणीत्यवेत्य लोलस्वभावत्वात्तदपहरणोपायं विममर्श ।

श्रुतप्रभावः स तपोधनानां शापार्चिषः क्रोधहुताशनस्य ।
संक्षिप्तधैर्योऽपि मनोभवेन नास्मिन्नवज्ञारभसो बभूव ॥ ८ ॥

तस्य बुद्धिरभवत्—तपःप्रभावमस्य ज्ञात्वा शक्यमत्र तद्युक्तं प्रवर्तितुं नान्यथा । यद्ययमस्यां संरागवक्तव्यमतिर्व्यक्तमस्मिन्न तपःप्रभावोऽस्ति । अथ वीतरागः स्यान्मन्दापेक्षो वा, ततोऽस्मिन् संभाव्यं तपःप्रभावमाहात्म्यम् । इति विचिन्त्य स राजा तपःप्रभावजिज्ञासया बोधिसत्त्वं हितैषिवदुवाच—भोः प्रव्रजित, प्रचुरधूर्तसाहसिकपुरुषेऽस्मिंल्लोके न युक्तमत्रभवतो निराक्रन्देषु वनेष्वेवं प्रतिरूपयानया सहधर्मचारिण्या सह विचरितुम् । अस्यां हि ते कश्चिदपराध्यमानो नियतमस्मानप्युपक्रोशभाजनीकुर्यात् । पश्य,

एवं विविक्तेषु तपःकृशं त्वां धर्मेण सार्धं परिभूय कश्चित् ।
इमां प्रसह्यापहरेद्यदा ते शोकात्परं किं बत तत्र कुर्याः ॥ ९ ॥
रोषप्रसङ्गो हि मनःप्रमाथी धर्मोपमर्दाद्यशसश्च हन्ता ।
वसत्वियं तेन जनान्त एव स्त्रीसंनिकर्षेण च किं यतीनाम् ॥ १० ॥

बोधिसत्त्व उवाच—युक्तमाह महाराजः । अपि तु श्रूयतां यदेवंगतेऽर्थे प्रपद्येय—

स्यादत्र मे यः प्रतिकूलवर्ती दर्पोद्भवादप्रतिसंख्यया वा ।
व्यक्तं न मुच्येत स जीवतो मे धाराघनस्येव घनस्य रेणुः ॥ ११ ॥

अथ स राजा तीव्रापेक्षोऽयमस्यां तपःप्रभावहीन इत्यवज्ञाय तं महासत्त्वं तदपायनिराशङ्कः कामरागवशगः स्त्रीसंदर्शनाधिकृतान् पुरुषान् समादिदेश—गच्छतैतां प्रव्रजितामन्तःपुरं प्रवेशयतेति । तदुपश्रुत्य सा प्रव्रजिता व्यालमृगाभिद्रुतेव वनमृगी भयविषादविक्लवमुखी बाष्पोपरुध्यमाननयना गद्गदायमानकण्ठी तत्तदार्तिवशाद्विललाप—

लोकस्य नामार्तिपराजितस्य परायणं भूमिपतिः पितेव ।
स एव यस्य त्वनयावहः स्यादाक्रन्दनं कस्य नु तेन कार्यम् ॥ १२ ॥
भ्रष्टाधिकारा बत लोकपाला न सन्ति वा मृत्युवशं गता वा ।
न त्रातुमार्तानिति ये सयत्ना धर्मोऽपि मन्ये श्रुतिमात्रमेव ॥ १३ ॥
किं वा सुरैर्मे भगवान् यदेवं मद्भागधेयैर्धृतमौन एव ।
परोऽपि तावन्ननु रक्षणीयः पापात्मभिर्विप्रतिकृष्यमाणः ॥ १४ ॥
नश्येति शापाशनिनाभिमृष्टः स्याद्यस्य शैलः स्मरणीयमूर्तिः ।
इत्थंगतायामपि तस्य मौनं तथापि जीवामि च मन्दभाग्या ॥ १५ ॥
पापा कृपापात्रतरा न वाहमेवंविधामापदमभ्युपेता ।
आर्तेषु कारुण्यमयी प्रवृत्तिस्तपोधनानां किमयं न मार्गः ॥ १६ ॥

शङ्के तवाद्यापि तदेव चित्ते निवर्त्यमानास्मि न यन्निवृत्ता।
तवाप्रियेणापि मयेप्सितं यदात्मप्रियं हा तदिदं कथं मे ॥ १७ ॥

इति तां प्रव्रजितां करुणविलापाक्रन्दितरुदितमात्रपरायणां ते राजसमादिष्टाः पुरुषा यानमारोप्य पश्यत एव तस्य महासत्त्वस्यान्तःपुराय निन्युः। बोधिसत्त्वोऽपि प्रतिसंख्यानबलात्प्रतिनुद्य क्रोधबलं तथैव पांसुकूलानि निःसंक्षोभः प्रशान्तचेताः सीव्यति स्म। अथैनं स राजोवाच—

अमर्षरोषाभिनिपातिताक्षरं तदुच्चकैर्गर्जितमूर्जितं त्वया।
हृतां च पश्यन्नपि तां वराननामशक्तिदीनप्रशमोऽस्यवस्थितः ॥ १८ ॥
तद्दर्शय स्वां भुजयो रुषं वा तेजस्तपःसंश्रयसंभृतं वा।
आत्मप्रमाणग्रहणानभिज्ञो व्यर्थप्रतिज्ञो ह्यधिकं न भाति ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—अव्यर्थप्रतिज्ञमेव मां विद्धि महाराज।

योऽभून्ममात्र प्रतिकूलवर्ती विस्पन्दमानोऽपि स मे न मुक्तः।
प्रसह्य नीतः प्रशमं मया तु तस्माद्यथार्थैव मम प्रतिज्ञा ॥ २० ॥

अथ स राजा तेन बोधिसत्त्वस्य धैर्यातिशयव्यञ्जकेन प्रशमेन समुत्पादित-तपस्विगुणसंभावनश्चिन्तामापेदे—अन्यदेवानेन ब्राह्मणेनाभिसंधाय भाषितम्, तदपरि-ज्ञायास्माभिश्चापलकृतमिदमिति जातप्रत्यवमर्शो बोधिसत्त्वमुवाच—

कोऽन्यस्तवाभूत्प्रतिकूलवर्ती यो विस्फुरन्नेव न ते विमुक्तः।
रेणुः समुद्यन्निव तोयदेन कश्चोपनीतः प्रशमं त्वयात्र ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—शृणु महाराज!

जाते न दृश्यते यस्मिन्नजाते साधु दृश्यते।
अभून्मे स न मुक्तश्च क्रोधः स्वाश्रयबाधनः ॥ २२ ॥
येन जातेन नन्दन्ति नराणामहितैषिणः।
सोऽभून्मे न विमुक्तश्च क्रोधः शात्रवनन्दनः ॥ २३ ॥
उत्पद्यमाने यस्मिंश्च सदर्थं न प्रपद्यते।
तमन्धीकरणं राजन्नहं क्रोधमशीशमम् ॥ २४ ॥

येनाभिभूतः कुशलं जहाति प्राप्तादपि भ्रश्यत एव चार्थात्।
तं रोषमुग्रग्रहवैकृताभं स्फुरन्तमेवानयमन्तमन्तः ॥ २५ ॥
काष्ठाद्यथाग्निः परिमथ्यमानादुदेति तस्यैव पराभवाय।
मिथ्याविकल्पैः समुदीर्यमाणस्तथा नरस्यात्मवधाय रोषः ॥ २६ ॥
दहनमिव विजृम्भमाणरौद्रं शमयति यो हृदयज्वरं न रोषम्।
लघुरयमिति हीयतेऽस्य कीर्तिः कुमुदसखीव शशिप्रभा प्रभाते ॥ २७ ॥
परजनदुरितान्यचिन्तयित्वा रिपुमिव पश्यति यस्तु रोषमेव।
विकसति नियमेन तस्य कीर्तिः शशिन इवाभिनवस्य मण्डलश्रीः ॥ २८ ॥

इयमपरा च रोषस्य महादोषता—

न भात्यलंकारगुणान्वितोऽपि क्रोधाग्निना संहृतवर्णशोभः।
सरोषशल्ये हृदये च दुःखं महार्हशय्याङ्कगतोऽपि शेते ॥ २९ ॥

विस्मृत्य चात्मक्षमसिद्धिपक्षं रोषात्प्रयात्येव तदुत्पथेन।
निहीयते येन यशोऽर्थसिद्धया तामिस्रपक्षेन्दुरिवात्मलक्ष्म्या ॥ ३० ॥
रोषेण गच्छत्यनयप्रपातं निवार्यमाणोऽपि सुहृज्जनेन।
प्रायेण वैरस्य जडत्वमेति हिताहितावेक्षणमन्दबुद्धिः ॥ ३१ ॥
क्रोधाच्च सात्मीकृतपापकर्मा शोचत्यपायेषु समाशतानि।
अतः परं किं रिपवश्च कुर्युस्तीव्रापकारोद्धतमन्यवोऽपि ॥ ३२ ॥
अन्तःसपत्नः कोपोऽयं तदेवं विदितं मम।
तस्यावलेपप्रसरं कः पुमान् मर्षयिष्यति ॥ ३३ ॥
अतो न मुक्तः कोपो मे विस्फुरन्नपि चेतसि।
इत्यनर्थकरं शत्रुं को ह्युपेक्षितुमर्हति ॥ ३४ ॥

अथ स राजा तेन तस्याद्भुतेन प्रशमगुणेन हृदयग्राहकेण च वचसाभिप्रसादितमतिरुवाच--

अनुरूपः शमस्यास्य तवायं वचनक्रमः।
बहुना तु किमुक्तेन बञ्चितास्त्वददर्शिनः ॥ ३५ ॥

इत्यभिप्रशस्यैनमभिसृत्यैवास्य पादयोर्न्यपतत् अत्ययदेशनां च चक्रे। तां च प्रव्रजितां क्षमयित्वा व्यवसर्जयत्, परिचारकं चात्मानं बोधिसत्त्वस्य निर्यातयामास।

तदेवं क्रोधविनयाच्छत्रूनुपशमयति, वर्धयत्येव त्वन्यथा, इति क्रोधविनये यत्नः कार्यः। एवमवैरेण वैराणि शाम्यन्ति, संयमतश्च वैरं न चीयते। एवं चोभयोरर्थं चरत्यक्रोधन इत्येवमादिषु क्षमानुशंसाप्रतिसंयुक्तेषु सूत्रेषु वाच्यम्। क्रोधादीनवकथायां तथागतमाहात्म्ये चेति।

॥ इति क्षुद्रबोधि-जातकमेकविंशतितमम् ॥

---

२२. हंस-जातकम्

विनिपातगतानामपि सतां वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषाः, प्रागेव सुगतिस्थानाम्। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल मानसे महासरसि नैकशतसहस्रसंख्यस्य महतो हंसयूथस्याधिपतिर्धृतराष्ट्रो नाम हंसराजो बभूव। तस्य नयानयपरिज्ञाननिपुणमतिर्विप्रकृष्टगोचरस्मृतिप्रभावः श्लाघनीयकुलतिलकभूतो दाक्ष्यदाक्षिण्यविनयभूषणः स्थिरशुचिशीलवृत्तचारित्रशूरः खेदसहिष्णुरप्रमादी समरवीवधविशारदः स्वाम्यनुरागसुमुखः सुमुखो नाम सेनापतिर्बभूव [आर्यानन्दस्थविरस्तेन समयेन]। तौ परस्परप्रेमगुणाश्रयाज्ज्वलिततरप्रभावावाचार्यशिष्यमुख्याविव परिशेषं शिष्यगणं पितृज्येष्ठपुत्राविव च श्रेष्ठशेषं पुत्रगणं तद्धंसयूथमुभयलोकहितोदयेष्वर्थेषु सम्यग्निवेशयमानौ तत्प्रत्यक्षिणां देवनागयक्षविद्याधरतपस्विनां परं विस्मयमुपजह्रतुः।

तावासतुर्हंसगणस्य तस्य श्रेयःशरीरोद्वहनैककार्यौ।
नभोगतस्येव विहंगमस्य पक्षौ शरीरोद्वहनैककार्यौ ॥ १ ॥

एवं ताभ्यां तदनुगृह्यमाणं हंसयूथं जगदिव धर्मार्थविस्तराभ्यां परां वृद्धिमवाप। तेन च तत्सरः परां शोभां बभार।

कलनूपुरनादेन हंसयूथेन तेन तत्।
पुण्डरीकवनेनेव रेजे संचारिणा सरः॥ २॥
क्वचित्प्रविसृतैर्हंसैः क्वचिद्विषमसंहतैः।
छिन्नाभ्रलवचित्रस्य जहार नभसः श्रियम्॥ ३॥

अथ तस्य हंसाधिपतेः सर्वसत्त्वहितसुमुखस्य च सेनापतेर्गुणातिशयप्रभावविस्मितमनसः सिद्धर्षिविद्याधरदैवतगणास्तयोः कीर्त्याश्रयाभिः कथाभिस्तत्र तत्राभिरेमिरे।

उत्तप्तचामीकरसंनिकाशं श्रीमद्वपुर्व्यक्तपदाक्षरा वाक्।
धर्माभिजातो विनयो नयश्च कावप्यमू केवलहंसवेषौ॥ ४॥
गुणप्रकाशैरपमत्सरैः सा कीर्तिस्तयोर्दिक्षु वितन्यमाना।
श्रद्धेयतामित्यगमन्नृपाणां सदस्सु यत्प्राभृतवच्चचार॥ ५॥

तेन च समयेन ब्रह्मदत्तो नामान्यतमो वाराणस्यां राजा बभूव। स तां हंसाधिपतेः ससेनाधिपतेर्गुणातिशयाश्रयां कथां प्रात्ययिकामात्यद्विजवृद्धैः सदसि संस्तूयमानामसकृदुपश्रुत्य तयोर्दर्शनं प्रत्यभिवृद्धकौतूहलो नेकशास्त्राभ्यासनिपुणमतीन् सचिवानुवाच—परिमृश्यतां तावद्भोः प्रसृतनिपुणमतयः कश्चिदुपायो येन नस्तौ हंसवर्यौ दर्शनपथमपि तावदुपगच्छेतामिति। अथ तेऽमात्याः स्वैः स्वैर्मतिप्रभावैरनुसृत्य नीतिपथं राजानमूचुः—

सुखाशा देव भूतानि विकर्षति ततस्ततः।
सुखहेतुगुणोत्कर्षश्रुतिस्तावानयेद्यतः॥ ६॥

तद्यादृशे सरसि तावभिरतरूपावनुश्रूयेते तदुत्कृष्टतरगुणशोभमिह सरः कस्मिंश्चिदरण्यप्रदेशे कारयितुमर्हति देवः, प्रत्यहं च सर्वपक्षिणामभयप्रदानघोषणाम्। अपि नाम कौतूहलोत्पादिन्या सुखहेतुगुणातिशयश्रुत्या ताविहाकृष्येयाताम्। पश्यतु देवः,

प्रायेण प्राप्तिविरसं सुखं देव न गण्यते।
परोक्षत्वात्तु हरति श्रुतिरम्यं सुखं मनः॥ ७॥

अथ स राजा अस्त्वेतदित्यल्पेन कालेन नातिसंनिकृष्टं नगरोपवनस्य मानससरसः प्रतिस्पर्धिगुणविभवं पद्मोत्पलकुमुदपुण्डरीकसौगन्धिकतामरसकल्हारसमुपगूढं विमलसलिलमतिमनोहरं महत्सरः कारयामास—

द्रुमैः कुसुमसंछन्नैश्चलत्किसलयोज्ज्वलैः।
तत्प्रेक्षार्थमिवोत्पतैः कृततीरपरिग्रहम्॥ ८॥
विहसद्भिरिवाम्भोजैस्तरंगोत्कम्पकम्पिभिः।
विलोभ्यमानाकुलितभ्रमद्भ्रमरसंकुलम्॥ ९॥
ज्योत्स्नासंवाहनोन्निद्रैर्विचित्रकुमुदैः क्वचित्।
तरुच्छायापरिच्छिन्नैश्चन्द्रिकाशकलैरिव॥ १०॥

तरंगाङ्गुलिसंक्षिप्तैः कमलोत्पलरेणुभिः ।
अभ्यलंकृततीरान्तं हेमसूत्रैरिव क्वचित् ॥ ११ ॥
चित्रैः पद्मोत्पलदलैस्तत्र तत्र सकेसरैः ।
श्रियं प्रविततां बिभ्रदुपहारमयीमिव ॥ १२ ॥
प्रसन्नस्तिमिताम्बुत्वाद्व्यक्तचित्रवपुर्गुणैः ।
व्योम्नीव परिधावद्भिर्मीनवृन्दैरलंकृतम् ॥ १३ ॥
विच्छिन्नमुक्ताहाराभैः क्वचिद् द्विरदशीकरैः ।
उपलास्फालनोत्कीर्णमूर्मिचूर्णमिवोद्वहत् ॥ १४ ॥
विद्याधरवधूस्नानैर्मदसेकैश्च दन्तिनाम् ।
रजोभिः कुसुमानां च सवासमिव कुत्रचित् ॥ १५ ॥
ताराणां चन्द्रदाराणां सामान्यमिव दर्पणम् ।
मुदितद्विजसंकीर्णं तद्रुतप्रतिनादितम् ॥ १६ ॥

तदेवंविधं सरः कारयित्वा सर्वपक्षिगणस्य चानावृतसुखोपभोग्यमेतद्दत्वा प्रत्यहं सर्वपक्षिणां विश्वासनार्थमित्यभयदानघोषणां कारयामास—

एष पद्मोत्पलदलच्छन्नतोयमिदं सरः ।
ददाति राजा पक्षिभ्यः प्रीत्या साभयदक्षिणम् ॥ १७ ॥

अथ कदाचित्संहृतमेघान्धकारयवनिकासु शरद्गुणोपहृतशोभास्वालोकनक्षमासु दिक्षु प्रबुद्धकमलवनशोभेषु प्रसन्नसलिलमनोहरेषु सरस्सु परं कान्तियौवनमुपगते प्रचेयकिरण इव चन्द्रमसि विविधसस्यसंपद्विभूषणधरायां वसुंधरायां प्रवृत्ते हंसतरुणजनसंपाते मानसात्सरसः शरत्प्रसन्नानि दिगन्तराण्यनुविचरदनुपूर्वेणान्यतमं हंसमिथुनं तस्मादेव हंसयूथात्तस्य राज्ञो विषयमुपजगाम । तत्र च पक्षिगणकोलाहलोन्नादितमनिभृतमधुकरगणं तरंगमालाविचरणकृतव्यापारैः सुखशिशिरैर्मृदुभिरनिलैः समन्ततो विक्षिप्यमाणकमलकुवलयरेणुगन्धं ज्वलदिव विकचैः कमलैर्हसदिव विकसितैः कुमुदैस्तत्सरो ददर्श । तस्य मानससरःसमुचितस्यापि हंसमिथुनस्य तामतिमनोहरां सरसः श्रियमभिवीक्ष्य प्रादुरभूत्—अहो बत तदपि हंसयूथमिहागच्छेदिति ।

प्रायेण खलु लोकस्य प्राप्य साधारणं सुखम् ।
स्मृतिः स्नेहानुसारेण पूर्वमेति सुहृज्जनम् ॥ १८ ॥

अथ तत्र तद्धंसमिथुनं यथाकामं विहृत्य प्रवृत्ते जलदसमये विद्युद्विस्फुरितशस्त्रविक्षेपेषु नातिघनविच्छिन्नान्धकाररूपेषु समभिवर्तमानेषु दैत्यानीकेष्विव जलधरवृन्देषु परिपूर्णबर्हकलापशोभेषु प्रसक्तकेकानिनादोत्कुष्टैर्जलधरविजयमिव संराधयत्सु नृत्तप्रवृत्तेषु चित्रेषु बर्हिगणेषु वाचालतामुपगतेषु स्तोकशकुनिषु प्रविचरत्सु कदम्बसर्जार्जुनकेतकीपुष्पगन्धाधिवासितेषु सुखशिशिरेषु काननविनिश्वसितेष्विवानिलेषु मेघदशनपंक्तिष्विवालक्ष्यमाणरूपासु बलाकायुवतिषु गमनौत्सुक्यमृदुनिकूजितेषु प्रयाणव्याकुलेषु हंसयूथेषु तद्धंसमिथुनं मानसमेव सरः प्रत्याजगाम । समुपेत्य च हंसाधिपतिसमीपं प्रस्तुतासु दिग्देशकथासु तं तस्य सरसो गुणविशेषं वर्णयामास-अस्ति देव दक्षिणेन हिमवतो वाराणस्यां ब्रह्मदत्तो नाम नराधिपतिः ।

तेनात्यद्भुतरूपशोभमनिर्वर्ण्यगुणसौन्दर्यं महत्सरः पक्षिभ्यः स्वच्छन्दसुखोपभोग्यं दत्तम्। अभयं च प्रत्यहमवघुष्यते। रमन्ते चात्र पक्षिणः स्वगृह इव प्रहीणभयाशङ्काः। तदर्हति देवो व्यतीतासु वर्षासु तत्र गन्तुमिति। तच्छ्रुत्वा सर्व एव ते हंसास्तत्संदर्शनसमुत्सुका बभूवुः।

अथ बोधिसत्त्वः सुमुखं सेनापतिं प्रश्नव्यक्ताकारं प्रततं ददर्श, कथं पश्यसीति चावोचत्। अथ सुमुखः प्रणम्यैनमुवाच—न प्राप्तं तत्र देवस्य गमनमिति पश्यामि। कुतः ? अमूनि तावल्लोभनीयानि मनोहराण्यामिषभूतानि रूपाणि। न च नः किंचिदिह परिहीयते। कृतकमधुरोपचारवचनप्रच्छन्नतीक्ष्णदौरात्म्यानि च प्रायेण पेलवघृणानि शठानि मानुषहृदयानि। पश्यतु स्वामी,

वाशितार्थस्वहृदयाः प्रायेण मृगपक्षिणः।
मनुष्याः पुनरेकीयास्तद्विपर्ययनैपुणाः ॥ १९ ॥
उच्यते नाम मधुरं स्वनुबन्धि निरत्ययम्।
वणिजोऽपि हि कुर्वन्ति लाभसिद्ध्याशया व्ययम् ॥ २० ॥
यतो नैतावता देव विस्रम्भः क्षमते क्वचित्।
कार्यार्थिमपि न श्रेयः सात्ययापनयः क्रमः ॥ २१ ॥

यदि त्ववश्यमेव तत्र गन्तव्यम्, गत्वानुभूय च तस्य सरसो गुणविभूतिरसं न नस्तत्र चिरं विचरितुं क्षमं निवासाय वा चित्तमभिनामयितुमिति पश्यामि। अथ बोधिसत्त्वः प्राप्तायां विमलचन्द्रनक्षत्रताराविभूषणायां रजन्यां शरदि तेन हंसयूथेन वाराणसीसरःसंदर्शनं प्रत्यभिवृद्धकौतूहलेन तदभिगमनार्थं पुनः पुनर्विज्ञाप्यमानस्तेषां हंसानामनुवृत्त्या सुमुखप्रमुखेण महता हंसगणेन परिवृतश्चन्द्रमा इव शरदभ्रवृन्देन तत्राभिजगाम।

दृष्ट्वैव लक्ष्मीं सरसस्तु तस्य तेषां प्रहर्षाकुलविस्मयानाम्।
चित्रप्रकारा रुचिसंनिवेशास्तत्संश्रये तुल्यगुणा बभूवुः ॥ २२ ॥
यन्मानसादभ्यधिकं बभूव तैस्तैरवस्थातिशयैः सरस्तत्।
अतश्चिरं तद्गतमानसानां न मानसे मानसमास तेषाम् ॥ २३ ॥

तत्र ते तामभयघोषणामुपलभ्य स्वच्छन्दतां च पक्षिगणस्य तस्य च सरसो विभूत्या प्रमुदितहृदयास्तत्रोद्यानयात्रामिवानुभवन्तः परां प्रीतिसंपदमुपजग्मुः।

अथ तस्मिन् सरस्यधिकृताः पुरुषास्तेषां हंसानां तत्रागमनं राज्ञे प्रत्यवेदयन्त—यादृशगुणरूपौ देव तौ हंसवर्यावनुश्रूयेते तादृशावेव [हंसवर्यौ] कनकावदातरुचिरपत्रौ तपनीयोज्ज्वलतरवदनचरणशोभावधिकतरप्रमाणौ सुसंस्थितदेहौ नैकहंसशतसहस्रपरिवारौ देवस्य सरः शोभयितुमिवानुप्राप्ताविति। अथ स राजा शाकुनिककर्मणि प्रसिद्धप्रकाशनैपुणं शाकुनिकगणे समन्विष्य तद्ग्रहणार्थं सादरमन्वादिदेश। स तथेति प्रतिश्रुत्य तयोर्हंसयोर्गोचरविहारप्रदेशं सम्यगुपलभ्य तत्र तत्र दृढान्निगूढान् पाशान् न्यदधात्। अथ तेषां हंसानां विश्वासादपायनिराशङ्कानां प्रमोदोद्धतमनसां विचरतां स हंसाधिपतिः पाशेन चरणे न्यबध्यत।

विस्मृतात्ययशङ्कानां सूक्ष्मैर्विश्वासनक्रमैः ।
विकरोत्येव विश्रम्भः प्रमादापनयाकरः ॥ २४ ॥

अथ बोधिसत्त्वो मा भूदन्यस्यापि कस्यचित्तत्रैवंविधो व्यसनोपनिपात इति रुतविशेषेण सप्रतिभयतां सरसः प्रकाशयामास । अथ ते (हंसा) हंसाधिपतिबन्धाद्व्यथितहृदया भयविरसव्याकुलविरावाः परस्परनिरपेक्षा हतप्रवीरा इव सैनिका दिवं समुत्पेतुः । सुमुखस्तु हंससेनाधिपतिर्हंसाधिपतिसमीपान्नैव विचचाल ।

स्नेहावबद्धानि हि मानसानि
प्राणात्ययं स्वं न विचिन्तयन्ति ।
प्राणात्ययाद् दुःखतरं यदेषां
सुहृज्जनस्य व्यसनार्तिदैन्यम् ॥ २५ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व उवाच—

गच्छ गच्छैव सुमुख क्षमं नेह विलम्बितुम् ।
साहाय्यस्यावकाशो हि कस्तवेत्थंगते मयि ॥ २६ ॥

सुमुख उवाच—

नैकान्तिको मृत्युरिह स्थितस्य
न गच्छतः स्यादजरामरत्वम् ।
सुखेषु च त्वां समुपास्य नित्य-
मापद्गतं मानद केन जह्याम् ॥ २७ ॥

स्वप्राणतन्तुमात्रार्थं त्यजतस्त्वां खगाधिप ।
धिग्वादवृष्ट्यावरणं कतमन्मे भविष्यति ॥ २८ ॥

नैष धर्मो महाराज त्यजेयं त्वां यदापदि ।
या गतिस्तव सा मह्यं रोचते विहगाधिप ॥ २९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

का नु पाशेन बद्धस्य गतिरन्या महानसात् ।
सा कथं स्वस्थचित्तस्य मुक्तस्याभिमता तव ॥ ३० ॥

पश्यस्येवं कमर्थं वा त्वं ममात्मन एव वा ।
ज्ञातीनां वावशेषाणामुभयोर्जीवितक्षये ॥ ३१ ॥

लक्ष्यते च न यत्रार्थस्तमसीव समासमम् ।
तादृशे संत्यजन् प्राणान् कमर्थं द्योतयेद्भवान् ॥ ३२ ॥

सुमुख उवाच—

कथं नु पततां श्रेष्ठ धर्मेऽर्थं न समीक्षसे ।
धर्मो ह्यपचितः सम्यगावहत्यर्थमुत्तमम् ॥ ३३ ॥

सोऽहं धर्मं च संपश्यन् धर्माच्चार्थं समुत्थितम् ।
तव मानद भक्त्या च नाभिकाङ्क्षामि जीवितम् ॥ ३४ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

अद्धा धर्मः सतामेष यत्सखा मित्रमापदि ।
न त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोर्धर्ममनुस्मरन् ॥ ३५ ॥

तदर्चितस्त्वया धर्मो भक्तिर्मयि च दर्शिता ।
याच्ञामन्त्र्यां कुरुष्वेमां गच्छैवानुमतो मया ।। ३६ ।।
अपि चैवंगते कार्ये यदूनं सुहृदां मया ।
तत्त्वया मतिसंपन्न भवेत्परमसंभृतम् ।। ३७ ।।
परस्परप्रेमगुणादिति संजल्पतोस्तयोः ।
प्रत्यदृश्यत नैषादः साक्षान्मृत्युरिवापतन् ।। ३८ ।।

अथ तौ हंसवर्यौ निषादमापतन्तमालोक्य तूष्णीं बभूवतुः । स च तद्धंसयूथं विद्रुतमालोक्य नूनमत्र कश्चिद्बद्ध इति निश्चितमतिः पाशस्थानान्यनुविचरंस्तौ हंसवर्यौ ददर्श । स तद्रूपशोभया विस्मितमना बद्धाविति मन्यमानस्तत्समापन्नौ पाशावुद्घट्टयामास । अथैकं बद्धमबद्धेनेतरेण स्वस्थेनोपास्यमानमवेक्ष्य विस्मिततरहृदयः सुमुखमुपेत्योवाच—

अयं पाशेन महता द्विजः संहृतविक्रमः ।
व्योम नास्मात्प्रपद्येत मय्यप्यन्तिकमागते ।। ३९ ।।
अबद्धस्त्वं पुनः स्वस्थः सज्जपत्त्ररथी बली ।
कस्मात्प्राप्तेऽपि मय्येवं वेगान्न भजसे नभः ।। ४० ।।

तदुपश्रुत्य सुमुखः प्रव्यक्ताक्षरपदविन्यासेन स्वभाववर्णनाधैर्यगुणोजस्विना स्वरेण मानुषीं वाचमुवाच—

शक्तिस्थः सन्न गच्छामि यदिदं तत्र कारणम् ।
अयं पाशपरिक्लेशं विहंगः प्राप्तवानिति ।। ४१ ।।
अयं पाशेन महता संयतश्चरणे त्वया ।
गुणैरस्य तु बद्धोऽहमतो दृढतरैर्हृदि ।। ४२ ।।

अथ स नैषादः परमविस्मितमतिः संहृषिततनूरुहः सुमुखं पुनरुवाच—

त्यक्त्वैनं मद्भयादन्ये दिशो हंसाः समाश्रिताः ।
त्वं पुनर्न त्यजस्येनं को न्वयं भवतो द्विजः ।। ४३ ।।

सुमुख उवाच—

राजा मम प्राणसमः सखा च
सुखस्य दाता विषमस्थितश्च ।
नैवोत्सहे येन विहातुमेनं
स्वजीवितस्याप्यनुरक्षणार्थम् ।। ४४ ।।

अथ सुमुखः प्रसादविस्मयावर्जितमानसं तं नैषादमवेत्य पुनरुवाच—

अप्यस्माकमियं भद्र संभाषा स्यात्सुखोदया ।
अप्यस्मान् विसृजन्नद्य धर्म्यां कीर्तिमवाप्नुयाः ।। ४५ ।।

नैषाद उवाच—

नैव ते दुःखमिच्छामि न च बद्धो भवान् मया ।
स त्वं गच्छ यथाकामं पश्य बन्धूंश्च नन्दय ।। ४६ ।।

सुमुख उवाच—

नो चेदिच्छसि मे दुःखं तत्कुरुष्व ममार्थनाम्।
एकेन यदि तुष्टोऽसि तत्त्यजैनं गृहाण माम् ॥ ४७ ॥
तुल्यारोहपरीणाहौ समानौ वयसा च नौ।
विद्धि निष्क्रय इत्यस्य न तेऽहं लाभहानये ॥ ४८ ॥
तदङ्ग समवेक्षस्व गृद्धिर्भवतु ते मयि।
मां बध्नातु भवान् पूर्वं पश्चान्मुञ्चेद् द्विजाधिपम् ॥ ४९ ॥
तावानेव च लाभस्ते कृता स्यान्मम चार्थना।
हंसयूथस्य च प्रीतिर्मैत्री तेन तथैव च ॥ ५० ॥
पश्यन्तु तावद्भवता विमुक्तं हंसाधिपं हंसगणाः प्रतीताः।
विरोचमानं नभसि प्रसन्ने दैत्येन्द्रनिर्मुक्तमिवोडुराजम् ॥ ५१ ॥

अथ स नैषादः क्रूरताभ्यासकठिनहृदयोऽपि तेन तस्य जीवितनिरपेक्षेण स्वाम्यनुरागश्लाघिना कृतज्ञतागुणौजस्विना धैर्यमाधुर्यालंकृतवचसा समावर्जितहृदयो विस्मयगौरववशात्समानीताञ्जलिः सुमुखमुवाच—साधु साधु महाभाग !

मानुषेष्वप्ययं धर्म आश्चर्यो दैवतेषु वा।
स्वाम्यर्थं त्यजता प्राणान् यस्त्वयात्र प्रदर्शितः ॥ ५२ ॥
तदेष ते विमुञ्चामि राजानमनुमानयन्।
को हि प्राणप्रियतरे तवास्मिन् विप्रियं चरेत् ॥ ५३ ॥

इत्युक्त्वा स नैषादस्तस्य नृपतेः संदेशमनादृत्य हंसराजं समनुमानयन् दयासुमुखं पाशान्मुमोच। अथ सुमुखः सेनापतिर्हंसराजविमोक्षात्परमानन्दितहृदयः प्रीत्यभिस्निग्धमुदीक्षमाणो नैषादमुवाच—

यथा सुहृन्नन्दन नन्दितोऽस्मि त्वयाद्य हंसाधिपतेर्विमोक्षात्।
एवं सुहृज्ज्ञातिगणेन भद्र शरत्सहस्राणि बहूनि नन्द ॥ ५४ ॥
तन्मा तवायं विफलः श्रमो भूदादाय मां हंसगणाधिपं च।
स्वस्थावबद्धावधिरोप्य काचमन्तःपुरे दर्शय भूमिपाय ॥ ५५ ॥
असंशयं प्रीतमनाः स राजा हंसाधिपं सानुचरं समीक्ष्य।
दास्यत्यसंभावितविस्तराणि धनानि ते प्रीतिविवर्धनानि ॥ ५६ ॥

अथ नैषादस्तस्य निर्बन्धात् पश्यतु तावदत्यद्भुतमिदं हंसयुगं स राजेति कृत्वा तौ हंसमुख्यौ काचेनादाय स्वस्थावबद्धौ राज्ञे दर्शयामास।

उपायनाश्चर्यमिदं द्रष्टुमर्हसि मानद।
ससेनापतिरानीतः सोऽयं हंसपतिर्मया ॥ ५७ ॥

अथ स राजा प्रहर्षविस्मयापूर्णमतिर्दृष्ट्वा तौ हंसप्रधानौ काञ्चनपुञ्जाविव श्रियाभिज्वलन्मनोहररूपौ तं नैषादमुवाच—

स्वस्थावबद्धावमुक्तौ विहंगौ भूमिचारिणः।
तव हस्तमनुप्राप्तौ कथं कथय विस्तरम् ॥ ५८ ॥

इत्युक्ते स नैषादः प्रणम्य राजानमुवाच—

निहिता बहवः पाशा मया दारुणदारुणाः ।
विहगाक्रीडदेशेषु पल्वलेषु सरस्सु च ॥ ५९ ॥
अथ विस्रम्भनिःशङ्को हंसवर्योऽयमयम् ।
परिच्छन्नेन पाशेन चरणे समबध्यत ॥ ६० ॥
अबद्धस्तमुपासीनो मामयं समयाचत ।
आत्मानं निष्क्रयं कृत्वा हंसराजस्य जीवितम् ॥ ६१ ॥
विसृजन्मानुषीं वाचं विस्पष्टमधुराक्षराम् ।
स्वजीवितपरित्यागाद्याच्ञामभ्यूर्जितक्रमाम् ॥ ६२ ॥
तेनास्य वाक्येन सुपेशलेन स्वाम्यर्थधीरेण च चेष्टितेन ।
तथा प्रसन्नोऽस्मि यथास्य भर्ता मया समं क्रूरतयैव मुक्तः ॥ ६३ ॥
अथ विहगपतेरयं विमोक्षान्मुदितमतिर्बहुधा वदन् प्रियाणि ।
त्वदभिगम इति न्ययोजयन्मां विफलगुरुः किल मा मम श्रमो भूत् ॥ ६४ ॥
तदेवमतिधार्मिकः खगवराकृतिः कोऽप्यसौ
ममापि हृदि मार्दवं जनितवान् क्षणेनैव यः ।
खगाधिपतिमोक्षणं कृतमनुस्मरन् मत्कृते
सहाधिपतिनागतः स्वयमयं च तेऽन्तःपुरम् ॥ ६५ ॥

तदुपश्रुत्य स राजा सप्रमोदविस्मयेन मनसा विविधरत्नप्रभोद्भासुरसुरुचिरपादं परार्घ्यास्तरणरचनाभिरामं श्रीमत्सुखोपाश्रयसाटोपमुपहितपादपीठं राजाध्यासनयोग्यं काञ्चनमासनं हंसराजाय समादिदेश, अमात्यमुख्याध्यासनयोग्यं च वेत्रासनं सुमुखाय । अथ बोधिसत्त्वः काल इदानीं प्रतिसंमोदितुमिति नूपुरारावमधुरेण स्वरेण राजानमाबभाषे—

द्युतिकान्तिनिकेतने शरीरे कुशलं ते कुशलार्ह कच्चिदस्मिन् ।
अपि धर्मशरीरमव्रणं ते विपुलैरुच्छ्वसितीव वाक्प्रदानैः ॥ ६६ ॥
अपि रक्षणदीक्षितः प्रजानां समयानुग्रहनिग्रहप्रवृत्त्या ।
अभिवर्धयसे स्वकीर्तिशोभामनुरागं जगतो हितोदयं च ॥ ६७ ॥
अपि शुद्धतयोपधास्वसक्तैरनुरक्तैर्निपुणक्रियैरमात्यैः ।
समवेक्षयसे हितं प्रजानां न च तत्रासि परोक्षबुद्धिरेव ॥ ६८ ॥
नयविक्रमसंहृतप्रतापैरपि सामन्तनृपैः प्रयाच्यमानः ।
उपयासि दयानुवृत्तिशोभां न च विश्वासमयीं प्रमादनिद्राम् ॥ ६९ ॥
अपि धर्मसुखार्थनिर्विरोधास्तव चेष्टा नरवीर सज्जनेष्टाः ।
वितता इव दिक्षु कीर्तिसिद्ध्या रिपुभिर्निश्वसितैरसत्क्रियन्ते ॥ ७० ॥

अथैनं स नृपतिः प्रमोदादभिव्यज्यमानेन्द्रियप्रसादः प्रत्युवाच—

अद्य मे कुशलं हंस सर्वत्र च भविष्यति ।
चिराभिलषितः प्राप्तो यदयं सत्समागमः ॥ ७१ ॥

त्वयि पाशवशं प्राप्ते प्रहर्षोद्धतचापलः ।
कच्चिन्नायमकार्षीत्ते दण्डेनाभिरुजन् रुजम् ॥ ७२ ॥
एवं ह्यमीषां जाल्मानां पक्षिणां व्यसनोदये ।
प्रहर्षाकुलिता बुद्धिरापतत्येव कल्मषम् ॥ ७३ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

क्षेममासीन्महाराज सत्यामप्येवमापदि ।
न चायं किंचिदस्मासु शत्रुवत्प्रत्यपद्यत ॥ ७४ ॥
अबद्धं बद्धवदयं मत्स्नेहात्सुमुखं स्थितम् ।
दृष्ट्वाभाषत साम्नैव सकौतूहलविस्मयः ॥ ७५ ॥
सूनृतैरस्य वचनैरथार्वाजितमानसः ।
मामयं व्यमुचत्पाशाद्विनयादनुमानयन् ॥ ७६ ॥
अतश्च सुमुखेनेदं हितमस्य समीहितम् ।
इहागमनमस्माकं स्यादस्यापि सुखोदयम् ॥ ७७ ॥

नृपतिरुवाच—

आकाङ्क्षिताभिगमयोः स्वागतं भवतोरिह ।
अतीव प्रीणितश्चास्मि युष्मत्संदर्शनोत्सवात् ॥ ७८ ॥
अयं च महतार्थेन नैषादोऽद्य समेष्यति ।
उभयेषां प्रियं कृत्वा महदर्हत्ययं प्रियम् ॥ ७९ ॥

इत्युक्त्वा स राजा तं नैषादं महता धनविस्तरप्रदानेन संमान्य पुनर्हंसराजमुवाच—

इमं स्वमावासमुपागतौ युवां विसृज्यतां तन्मयि यन्त्रणाव्रतम् ।
प्रयोजनं येन यथा तदुच्यतां भवत्सहाया हि विभूतयो मम ॥ ८० ॥
अशङ्कितोक्तैः प्रणयाक्षरैः सुहृत् करोति तुष्टिं विभवस्थितस्य याम् ।
न तद्विधां लम्भयते स तां धनैर्महोपकारः प्रणयः सुहृत्स्वतः ॥ ८१ ॥

अथ स राजा सुमुखसंभाषणकुतूहलहृदयः सविस्मयमभिवीक्ष्य सुमुखमुवाच—

अलब्धगाधा नवसंस्तवे जने न यान्ति कामं प्रणयप्रगल्भताम् ।
वचस्तु दाक्षिण्यसमाहिताक्षरं न ते न जल्पन्त्युपचारशोभरम् ॥ ८२ ॥
संभाषणेनापि यतः कर्तुमर्हति नो भवान् ।
साफल्यं प्रणयाशायाः प्रीतेश्चोपचयं हृदि ॥ ८३ ॥

इत्युक्ते सुमुखो हंससेनापतिर्विनयादभिप्रणम्यैनमुवाच—

महेन्द्रकल्पेन सह त्वया संभाषणोत्सवः ।
इति दर्शितसौहार्दे कस्य नातिमनोरथः ॥ ८४ ॥
संभाषमाणे तु नराधिपे च सौहार्दरम्यं विहगाधिपे च ।
तत्संकथामध्यमुपेत्य धाष्टर्यात्स्यन्वक्रमः प्रेष्यजनस्य वक्तुम् ॥ ८५ ॥
न ह्येष मार्गो विनयाभिजातस्तं चैव जानन् कथमभ्युपेयाम् ।
तूष्णीं महाराज यतः स्थितोऽहं तन्मर्षणीयं यदि मर्षणीयम् ॥ ८६ ॥

इत्युक्ते स राजा सप्रहर्षविस्मयवदनः संराधयन् सुमुखमुवाच—

स्थाने भवद्गुणकथा रमयन्ति लोकं
स्थानेऽसि हंसपतिना गमितः सखित्वम् ।
एवंविधं हि विनयं नयसौष्ठवं च
नैवाकृतात्महृदयानि समुद्वहन्ति ॥ ८७ ॥
तदियं प्रस्तुता प्रीतिर्विच्छिद्येत यथा न नः ।
तथैव मयि विस्रम्भ अजर्यं ह्यार्यसंगतम् ॥ ८८ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञः परां प्रीतिकामतामवेत्य स्नेहप्रवृत्तिसुमुखतां च संराधयन्नवोचदेनम्—

यत्कृत्यं परमे मित्रे कृतमस्मासु तत्त्वया ।
संस्तवे हि नवेऽप्यस्मिन् स्वमाहात्म्यानुवर्तिना ॥ ८९ ॥
कश्च नाम महाराज नावलम्ब्येत चेतसि ।
संमानविधिनानेन यस्त्वयास्मासु दर्शितः ॥ ९० ॥
प्रयोजनं नाम कियत्किमेव वा मदाश्रयं मानद यत्त्वमीक्षसे ।
प्रियातिथित्वं गुणवत्सलस्य ते प्रवृत्तमभ्यासगुणादिति ध्रुवम् ॥ ९१ ॥
न चित्रमेतत्त्वयि वा जितात्मनि प्रजाहितार्थं धृतपार्थिवव्रते ।
तपःसमाधानपरे मुनाविव स्वभाववृत्त्या हि गुणास्त्वयि स्थिताः ॥ ९२ ॥
इति प्रशंसासुभगाः सुखा गुणा न दोषदुर्गेषु वसन्ति भूतयः ।
इमां विदित्वा गुणदोषधर्मतां सचेतनः कः स्वहितोत्पथं भजेत् ॥ ९३ ॥
न देशमाप्नोति पराक्रमेण तं न कोशवीर्येण न नीतिसंपदा ।
श्रमव्ययाभ्यां नृपतिर्विनैव यं गुणाभिजातेन पथाधिगच्छति ॥ ९४ ॥
सुराधिपश्रीरपि वीक्षते गुणान् गुणोदितानेव परैति संनतिः ।
गुणेभ्य एव प्रभवन्ति कीर्तयः प्रभावमाहात्म्यमिति श्रितं गुणान् ॥ ९५ ॥
अमर्षदर्पोद्धवकर्कशान्यपि प्ररूढवैरस्थिरमत्सराण्यपि ।
प्रसादयन्त्येव मनांसि विद्विषां शशिप्रकाशाधिककान्तयो गुणाः ॥ ९६ ॥
तदेवमेव क्षितिपाल पालयन् महीं प्रतापानतदृप्तपार्थिवाम् ।
अमन्दशोभैर्विनयादिभिर्गुणैर्गुणानुरागं जगतां प्रबोधय ॥ ९७ ॥
प्रजाहितं कृत्यतमं महीपतेस्तदस्य पन्था ह्युभयत्र भूतये ।
भवेच्च तद्राजनि धर्मवत्सले नृपस्य वृत्तं हि जनोऽनुवर्तते ॥ ९८ ॥
प्रशाधि धर्मेण वसुंधरामतः करोतु रक्षां त्रिदशाधिपश्च ते ।
त्वदन्तिकात्संश्रितभावनादपि स्वयूथ्यदुःखं तु विकर्षतीव माम् ॥ ९९ ॥

अथ स राजा समभिनन्द्य तत्तस्य वचनं संपर्षत्कः संमानप्रियवचनप्रयोगपुरःसरं तौ हंसमुख्यौ विससर्ज । अथ बोधिसत्त्वः समुत्पत्य विमलखड्गाभिनीलं शरत्प्रसन्नशोभं गगनतलं प्रतिबिम्बेनेवानुगम्यमानः सुमुखेन हंससेनापतिना समुपेत्य हंसयूथं संदर्शनादेव परेण प्रहर्षेण संयोजयामास ।

कालेन चोपेत्य नृपं स हंसः परानुकम्पाव्यसनी सहंसः ।
जगाद धर्मं क्षितिपेन तेन प्रत्यर्च्यमानो विनयानतेन ।। १०० ।।

तदेवं विनिपातगतानामपि सतां वृत्तं नालमनुगन्तुमसत्पुरुषाः प्रागेव सुगतिस्थानामिति । एवं कल्याणी वागुभयहितावहा भवतीति कल्याणवचनप्रशंसायामप्युपनेयम् । कल्याणमित्रवर्णेऽपि वाच्यम्, एवं कल्याणमित्रवतां कृच्छ्रेऽप्यर्थाः संसिध्यन्तीति । स्थविरार्यानन्दपूर्वसभागप्रदर्शने च, एवमयं स्थविरः सहचरितचरणो बोधिसत्त्वेन चिरकालाभ्यस्तप्रेमबहुमानो भवतीति ।

।। इति हंस-जातकं द्वाविंशतितमम् ।।

---

२३. महाबोधि-जातकम्

असत्कृतानामपि सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात् क्षमासात्म्याच्च । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् महाबोधिर्नाम परिव्राजको बभूव । स गृहस्थभाव एव परिविदितक्रमव्यायामो लोकाभिमतानां विद्यास्थानानां कृतज्ञानकौतूहलश्चित्रासु च कलासु प्रव्रज्याश्रयाल्लोकहितोद्योगाच्च विशेषवत्तरं धर्मशास्त्रेष्ववहितमतिस्तेष्वाचार्यकं पदमवाप । स कृतपुण्यत्वाज्ज्ञानमाहात्म्याल्लोकज्ञतया प्रतिपत्तिगुणसौष्ठवाच्च यत्र यत्र गच्छति स्म तत्र तत्रैव विदुषां विद्वत्प्रियाणां च राज्ञां ब्राह्मणगृहपतीनामन्यतीर्थिकानां च प्रव्रजितानामभिगमनीयो भावनीयश्च बभूव ।

गुणा हि पुण्याश्रयलब्धदीप्तयो गताः प्रियत्वं प्रतिपत्तिशोभया ।
अपि द्विषद्भ्यः स्वयशोनुरक्षया भवन्ति सत्कारविशेषभागिनः ।। १ ।।

अथ स महात्मा लोकानुग्रहार्थमनुविचरन् ग्रामनगरनिगमजनपदराष्ट्रराजधानीरन्यतमस्य राज्ञो विषयान्तरमुपजगाम । श्रुतगुणविस्तरप्रभावस्तु स राजा तस्यागमनं दूरत एवोपलभ्य प्रीतमना रमणीये स्वस्मिन्नुद्यानवनप्रदेशे तस्यावसथं कारयामास । अभ्युद्गमनादिसत्कारपुरःसरं चैनं प्रवेश्य स्वविषयं शिष्य इवाचार्यं परिचरणपर्युपासनविधिना संमानयामास ।

विभूतिगुणसंपन्नमुपेतः प्रणयाद् गृहम् ।
गुणप्रियस्य गुणवानुत्सवातिशयोऽतिथिः ।। २ ।।

बोधिसत्त्वोऽपि चैनं श्रुतिहृदयह्लादिनीभिर्धर्म्याभिः कथाभिः श्रेयोमार्गमनुप्रतिपादयमानः प्रत्यहमनुजग्राह ।

अदृष्टभक्तिष्वपि धर्मवत्सला
हितं विवक्षन्ति परानुकम्पिनः ।
क एव वादः शुचिभाजनोपमे
हितार्थिनि प्रेमगुणोत्सुके जने ।। ३ ।।

अथ तस्य राज्ञोऽमात्या लब्धविद्वत्संभावना लब्धसंमानाश्च सदस्याः प्रत्यहमभिवर्धमानसत्कारां बोधिसत्त्वस्य गुणसमृद्धिमीर्ष्योपहतबुद्धित्वान्न सेहिरे ।

स्वगुणातिशयोदितैर्यशोभिर्जगदावर्जनदृष्टशक्तियोगः ।
रचनागुणमात्रसत्कृतेषु ज्वलयत्येव परेष्वमर्षवह्निम् ॥ ४ ॥

प्रसह्य चैनं शास्त्रकथास्वभिभवितुमशक्ता धर्मप्रसङ्गममृष्यमाणाश्च राज्ञस्तेन तेन क्रमेण राजानं बोधिसत्त्वं प्रति विग्राहयामासुः—नार्हति देवो बोधिपरिव्राजके विश्वासमुपगन्तुम् । व्यक्तमयं देवस्य गुणप्रियतां धर्माभिमुखतां चोपलभ्य व्यसनप्रतारणश्लक्ष्णशठमधुरवचनः प्रवृत्तिसंचारणहेतुभूतः कस्यापि प्रत्यर्थिनो राज्ञो निपुणः प्रणिधिप्रयोगः । तथा हि धर्मात्मको नाम भूत्वा देवमेकान्तेन कारुण्यप्रवृत्तौ ह्रीदैन्ये च समनुशास्ति, अर्थकामोपरोधिषु च क्षत्रधर्मबाह्येष्वासन्नापनयेषु धर्मसमादानेषु दयानुवृत्त्या च नाम ते कृत्यपक्षमाश्वासनविधिनोपगृणीते प्रियसंस्तवश्चान्यराजदूतैः । न चायमविदितवृत्तान्तो राजशास्त्राणाम् । अतः साशङ्कान्यत्र नो हृदयानीति । अथ तस्य राज्ञः पुनः पुनर्भेदोपसंहितं हितमिव बहुभिरुच्यमानस्य बोधिसत्त्वं प्रति परिशङ्कासंकोचितस्नेहगौरवप्रसरमन्यादृशं चित्तमभवत् ।

पैशुन्यवज्राशनिसंनिपाते भीमस्वने चाशनिसंनिपाते ।
विस्रम्भवान्मानुषमात्रधैर्यः स्यान्निर्विकारो यदि नाम कश्चित् ॥ ५ ॥

अथ स राजा विस्रम्भविरहान्मन्दीभूतप्रेमबहुमानस्तस्मिन् महासत्त्वे न यथापूर्वं सत्कारप्रयोगसुमुखो बभूव । बोधिसत्त्वोऽपि शुद्धस्वभावत्वात् बहुकार्यव्यासङ्गा राजान इति न तन्मनसि चकार । तत्समीपवर्तिनां तु विनयोपचारशैथिल्यसंदर्शनाद्विरक्तहृदयमवेत्य राजानं समादाय त्रिदण्डकुण्डिकाद्यां परिव्राजकभाण्डिकां प्रक्रमणसव्यापारः समभवत् । तदुपश्रुत्य स राजा सावशेषस्नेहतया दाक्षिण्यविनयानुवृत्त्या चैनमभिगम्य प्रदर्शितसंभ्रमो विनिवर्तयितुकाम इव तमुवाच—

अस्मानकस्मादपहाय कस्माद्गन्तव्य एव प्रणता मतिस्ते ।
व्यलीकशङ्काजनकं नु किंचिद् दृष्टं प्रमादस्खलितं त्वया नः ॥ ६ ॥

अथैनं बोधिसत्त्व उवाच—

नाकस्मिकोऽयं गमनोद्यमो मे नासत्क्रियामात्रकरूक्षिकत्वात् ।
अभाजनत्वं तु गतोऽसि शाठ्याद्धर्मस्य तेनाहमितो व्रजामि ॥ ७ ॥

अथास्य सरभसभपितमतिविवृतवदनमभिद्रवन्तं वल्लभं श्वानं तत्रागतमभिप्रदर्शयन् पुनरुवाच—अयं चात्र महाराज अमानुषः साक्षिनिर्देशो दृश्यताम् ।

अयं हि पूर्वं पटुचाटुकर्मा भूत्वा मयि श्वा भवतोऽनुवृत्त्या ।
आकारगुप्त्यज्ञतया त्विदानीं त्वद्भावसूचां भषितैः करोति ॥ ८ ॥
त्वत्तः श्रुतं किंचिदनेन नूनं मदन्तरे भक्तिविपत्तिरूक्षम् ।
अतोऽनुवृत्तं ध्रुवमित्यनेन त्वत्प्रीतिहेतोरनुजीविवृत्तम् ॥ ९ ॥

अथ स राजा तत्प्रत्यादेशाद् व्रीडावनामितवदनस्तेन चास्य मतिनैपुण्येन समावर्जितमतिर्जातसंवेगो नेदानीं शाठ्यानुवृत्तिकाल इति बोधिसत्त्वमभिप्रणम्योवाच—

त्वदाश्रया काचिदभूत्कथैषा संप्रस्तुता नः सदसि प्रगल्भैः ।
उपेक्षिता कार्यवशान्मया च तत्क्षम्यतां तिष्ठ च साधु मा गाः ॥ १० ॥

बोधिसत्त्व उवाच—नैव खल्वहं महाराज असत्कारप्रकृतत्वादक्षमया वा प्रणुद्यमानो गच्छामि। न त्वयं महाराज अवस्थानकाल इति न तिष्ठामि। पश्यतु भवान्।

विमध्यभावादपि हीनशोभे यायां न सत्कारविधौ स्वयं चेत्।
सञ्ज्ञादगत्या जडताबलाद्वा नन्वर्धचन्द्राभिनयोत्तरः स्याम्॥ ११॥
प्राप्तक्रमोऽयं विधिरत्र तेन यास्यामि नाप्रीत्यभितप्तचित्तः।
एकावमानाभिहता हि सत्सु पूर्वोपकारा न समीभवन्ति॥ १२॥
अस्निग्धभावस्तु न पर्युपास्यस्तोयार्थिना शुष्क इवोदपानः।
प्रयत्नसाध्यापि ततोऽर्थसिद्धिर्यस्माद्भवेदाकलुषा कृशा च॥ १३॥
प्रसन्न एव त्वभिगम्यरूपः शरद्विशुद्धाम्बुमहाह्रदाभः।
सुखार्थिनः क्लेशपराङ्मुखस्य लोकप्रसिद्धः स्फुट एष मार्गः॥ १४॥
भक्त्युन्मुखाद्योऽपि पराङ्मुखः स्यात्पराङ्मुखे चाभिमुखत्वदीनः।
पूर्वोपकारस्मरणालसो वा नराकृतिश्चिन्त्यविनिश्चयः सः॥ १५॥
असेवना चात्युपसेवना च याच्ञाभियोगाश्च दहन्ति मैत्रीम्।
रक्ष्यं यतः प्रीत्यवशेषमेतन्निवासदोषादिति यामि तावत्॥ १६॥

राजोवाच—यद्यवश्यमेव गन्तव्यमिति निश्चितात्रभवतो मतिः, तत्पुनरपीदानीमिहागमनेनास्माननुग्रहीतुमर्हति भवान्। असेवनादपि हि प्रीतिरनुरक्षितव्यैव।
बोधिसत्त्व उवाच—बह्वन्तरायो महाराज बहूपद्रवप्रत्यर्थिकत्वाल्लोकसंनिवेश इति न शक्यमेतदवधारणया प्रतिज्ञातुमागमिष्यामीति। सति त्वागमनकारणसाकल्येऽपि नाम पुनर्भवन्तं पश्येम। इत्यनुनीय स महात्मा तं राजानं कृताभ्यनुज्ञासत्कारस्तेन राज्ञा तद्विषयात्प्रचक्राम। स तेन गृहिजनसंस्तवेनाकुलितहृदयोऽन्यतमदरण्यायतनमुपश्रित्य ध्यानाभियुक्तमतिस्तत्र विहरन्नचिरेणैव चत्वारि ध्यानानि पञ्चाभिज्ञाः प्रतिलेभे।

तस्य समास्वादितप्रशमसुखरसस्य स्मृतिरनुकम्पानुसारिणी तं राजानं प्रति प्रादुरभूत्—का नु खलु तस्य राज्ञोऽवस्थेति। अथैनं ददर्श तैरमात्यैर्यथाभिनिविष्टानि दृष्टिगतानि प्रति प्रतार्यमाणम्। कश्चिदेनममात्यो दुर्विभाव्यहेतुभिर्निदर्शनैरहेतुवादं प्रति प्रचकर्ष—

कः पद्मनालदलकेसरकर्णिकानां
संस्थानवर्णरचनामृदुतादिहेतुः।
पत्राणि चित्रयति कोऽत्र पतत्रिणां वा
स्वाभाविकं जगदिदं नियतं तथैव॥ १७॥

अपर ईश्वरकारणमस्मै स्वबुद्धिरुचितमुपवर्णयामास—

नाकस्मिकं भवितुमर्हति सर्वमेत-
दस्त्यत्र सर्वमधि कश्चिदनन्त एकः।
स्वेच्छाविशेषनियमाद्य इमं विचित्रं
लोकं करोति च पुनश्च समीकरोति॥ १८॥

सर्वमिदं पूर्वकर्मकृतं सुखासुखम् । न प्रयत्नसामर्थ्यमस्तीत्येवमन्य एनं विग्राहयामास—

एवं करिष्यति कथं नु समानकालं
भिन्नाश्रयान् बहुविधानमितांश्च भावान् ।
सर्वं तु पूर्वकृतकर्मनिमित्तमेतत्
सौख्यप्रयत्ननिपुणोऽपि हि दुःखमेति ॥ १९ ॥

अपर उच्छेदवादकथाभिरेनं कामभोगप्रसङ्ग एव प्रतारयामास—

दारूणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि
कर्मात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव ।
नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति
लोकस्तथायमिति सौख्यपरायणः स्यात् ॥ २० ॥

अपर एनं क्षत्रविद्यापरिदृष्टेषु नीतिकौटिल्यप्रसङ्गेषु नैर्घृण्यमलिनेषु धर्मविरोधिष्वपि राजधर्मोऽयमिति समनुशशास—

छायाद्रुमेष्विव नरेषु कृताश्रयेषु
तावत्कृतज्ञचरितैः स्वयशः परीप्सेत् ।
नार्थोऽस्ति यावदुपभोगनयेन तेषां
कृत्ये तु यज्ञ इव ते पशवो नियोज्याः ॥ २१ ॥

इति तेऽमात्यास्तं राजानं तेन तेन दृष्टिकृतोन्मार्गेण नेतुमीषुः ।

अथ बोधिसत्त्वः पापजनसंपर्कवशात्परप्रत्ययनेयबुद्धित्वाच्च दृष्टिकृतप्रपाताभिमुखमवेक्ष्य राजानं तदनुकम्पासमावर्जितहृदयस्तन्निवर्तनोपायं विममर्श ।

गुणाभ्यासेन साधूनां कृतं तिष्ठति चेतसि ।
भ्रश्यत्यपकृतं तस्माज्जलं पद्मदलादिव ॥ २२ ॥

अथ बोधिसत्त्वः इदमत्र प्राप्तकालमिति विनिश्चित्य स्वस्मिन्नाश्रमपदे महान्तं वानरमभिनिर्माय ऋद्धिप्रभावात्तस्य चर्मापनीय शेषमन्तर्धापयामास । स तन्निर्मितं महद्वानरचर्म बिभ्रत्तस्य नृपतेर्भवनद्वारे प्रादुरभूत् । निवेदिताभ्यागमनश्च दौवारिकैर्यथाक्रममायुधीयगुप्तपर्यन्ताममात्यद्विजयोधदूतपौरमुख्याभिकीर्णां विनीतधीरोदात्तवेषजनां सासियष्टिभिः प्रतीहारैरधिष्ठितप्रद्वारां सिंहासनावस्थितनराधिपामनाकुलां राजपर्षदमवजगाहे । प्रत्युद्गमनादिविधिना चातिथिजनोपचारेण प्रतिपूज्यमानः कृतप्रतिसंमोदनकथासत्कारासनाभिनिर्हारश्च तेन राज्ञा कौतूहलानुवृत्त्या वानरचर्मप्रतिलम्भं प्रत्यनुयुक्तः—केनेदमार्याय वानरचर्मोपनयता महतानुग्रहेणात्मा संयोजित इति ।

बोधिसत्त्व उवाच—मयैवेदं महाराज स्वयमधिगतं नान्येन केनचिदुपहृतम् । कुशतृणमात्रास्तीर्णायां हि पृथिव्यां स्वभावकठिनायां निषण्णेन स्वपता वा प्रतप्यमानशरीरेण न सुखं धर्मविधिरनुष्ठीयते । अयं च मयाश्रमपदे महान् वानरो दृष्टः । तस्य मे बुद्धिरभवत्—उपपन्नं बत मे धर्मसाधनमिदमस्य वानरस्य चर्म । शक्यमत्र निषण्णेन स्वपता वा परार्ध्यास्तरणास्तीर्णेभ्यो राजशयनेभ्योऽपि निवृत्तस्पृहेण स्वधर्म-

विधिरनुष्ठातुमिति मया तस्येदं चर्म प्रगृहीतम् । स च प्रशमित इति । तच्छ्रुत्वा स राजा दाक्षिण्यविनयानुवृत्त्या न बोधिसत्त्वं किंचित्प्रत्युवाच । सव्रीडहृदयस्तु किञ्चिद-वाङ्मुखो बभूव ।

अथ तेऽमात्याः पूर्वमपि तस्मिन् महासत्त्वे सामर्षहृदया लब्धवचनावकाश-त्वात्प्रविकसितवदना राजानमुदीक्ष्य बोधिसत्त्वमुपदर्शयन्त ऊचुः—अहो भगवतो धर्मानुरागैकरसा मतिः । अहो धैर्यम् । अहो व्यवसायसाधुसामर्थ्यम् । आश्रमपदम-भिगत एव महान्नाम वानर एकाकिना तपःक्षामशरीरेण प्रशमित इत्याश्चर्यम् । सर्वथा तपःसिद्धिरस्तु । अथैनानसंरब्ध एव बोधिसत्त्वः प्रत्युवाच—नार्हन्त्यत्रभवन्तः स्ववादशोभानिरपेक्षमित्यस्मान् विगर्हितुम् । न ह्ययं क्रमो विद्वद्यशः समुद्भावयितुम् । पश्यन्त्वत्रभवन्तः—

स्ववादघ्नेन वचसा यः परान् विजुगुप्सते ।
स खल्वात्मवधेनेव परस्याकीर्तिमिच्छति ॥ २३ ॥

इति स महात्मा तानमात्यान् सामान्येनोपालभ्य प्रत्येकशः पुनरुपालब्धुकाम-स्तमहेतुवादिनमामन्त्र्योवाच—

स्वाभाविकं जगदिति प्रविकत्थसे त्वं
तत्त्वं च तद्यदि विकुत्सयसे किमस्मान् ।
शाखामृगे निधनमापतिते स्वभावात्
पापं कुतो मम यतः सुहतो मयायम् ॥ २४ ॥

अथ पापमस्ति मम तस्य वधान्ननु हेतुतस्तदिति सिद्धमिदम् ।
तदहेतुवादमिदमुत्सृज वा वद वात्र यत्तव न युक्तमिव ॥ २५ ॥
यदि पद्मनालरचनादि च यत्तदहेतुकं ननु सदैव भवेत् ।
सलिलादिबीजकृतमेव तु तत् सति तत्र संभवति न ह्यसति ॥ २६ ॥

अपि चायुष्मन्, सम्यगुपधारय तावत्,

न हेतुरस्तीति वदन् सहेतुकं ननु प्रतिज्ञां स्वयमेव हापयेत् ।
अथापि हेतुप्रणयालसो भवेत् प्रतिज्ञया केवलयास्य किं भवेत् ॥ २७ ॥
एकत्र क्वचिदनवेक्ष्य यश्च हेतुं तेनैव प्रवदति सर्वहेत्वभावम् ।
प्रत्यक्षं ननु तदवेत्य हेतुसारं तद्द्वेषी भवति विरोधदुष्टवाक्यः ॥ २८ ॥
न लक्ष्यते यदि कुहचिच्च कारणं कथं नु तद् दृढमसदेव भाषसे ।
न दृश्यते सदपि हि कारणान्तराद्दिनात्यये विमलमिवार्कमण्डलम् ॥ २९ ॥

ननु च भोः,

सुखार्थमिष्टान् विषयान् प्रपद्यसे निषेवितुं नेच्छसि तद्विरोधिनः ।
नृपस्य सेवां च करोषि तत्कृते न हेतुरस्तीति च नाम भाषसे ॥ ३० ॥
तदेवमपि चेद्भावाननुपश्यस्यहेतुकान् ।
अहेतोर्वानरवधे सिद्धे किं मां विगर्हसे ॥ ३१ ॥

इति स महात्मा तमहेतुवादिनं विशदैर्हेतुभिर्निष्प्रतिभं कृत्वा तमीश्वरकार-

णिकमामन्त्र्योवाच—आयुष्मानप्यस्मान् नार्हत्येव विगर्हितुम् । ईश्वरः सर्वस्य हि ते कारणमभिमतः । पश्य—

कुरुते यदि सर्वमीश्वरो ननु तेनैव हतः स वानरः ।
तव केयममैत्रचित्तता परदोषान् मयि यन्निषिञ्चसि ॥ ३२ ॥
अथ वानरवीरवैशसं न कृतं तेन दयानुरोधिना ।
बृहदित्यवघुष्यते कथं जगतः कारणमीश्वरस्त्वया ॥ ३३ ॥

अपि च भद्र सर्वमीश्वरकृतमिति पश्यतः—

ईश्वरे प्रसादाशा का स्तुतिप्रणामाद्यैः ।
स स्वयं स्वयंभूस्ते यत्करोति तत्कर्म ॥ ३४ ॥
त्वत्कृताथ यदीज्या न त्वसौ तदकर्ता ।
आत्मनो हि विभूत्या यः करोति स कर्ता ॥ ३५ ॥
ईश्वरः कुरुते चेत्पापकान्यखिलानि ।
तत्र भक्तिनिवेशः कं गुणं नु समीक्ष्य ॥ ३६ ॥
तान्यधर्मभयाद्वा यद्ययं न करोति ।
तेन वक्तुमयुक्तं सर्वमीश्वरसृष्टम् ॥ ३७ ॥
तस्य चेश्वरता स्याद्धर्मतः परतो वा ।
धर्मतो यदि न प्रागीश्वरः स ततोऽभूत् ॥ ३८ ॥
दासतैव च सा स्याद्या क्रियेत परेण ।
स्यादथापि न हेतोः कस्य नेश्वरता स्यात् ॥ ३९ ॥

एवमपि तु गते भक्तिरागादविगणितयुक्तायुक्तस्य—

यदि कारणमीश्वर एव विभुर्जगतो निखिलस्य तवाभिमतः ।
ननु नार्हसि मय्यधिरोपयितुं विहितं विभुना कपिराजवधम् ॥ ४० ॥

इति स महात्मा तमीश्वरकारणिकं सुश्लिष्टैर्हेतुभिर्मूकतामिवोपनीय तं पूर्वकर्मकृतवादिनमामन्त्रणासौष्ठवेनाभिमुखीकृत्योवाच—भवानप्यस्मान्न शोभते विकुत्सयमानः । सर्वं हि ते पूर्वकर्मकृतमित्यभिमानः । तेन च त्वां ब्रवीमि—

स्यात्सर्वमेव यदि पूर्वकृतप्रभावा-
च्छाखामृगः सुहत एव मयैष तस्मात् ।
दग्धे हि पूर्वकृतकर्मदवाग्निनास्मिन्
पापं किमत्र मम येन विगर्हसे माम् ॥ ४१ ॥

अथास्ति पापं मम वानरं घ्नतः कृतं मया तर्हि न पूर्वकर्मणा ।
यदीष्यते कर्म च कर्महेतुकं न कश्चिदेवं सति मोक्षमेष्यति ॥ ४२ ॥
भवेच्च सौख्यं यदि दुःखहेतुषु स्थितस्य दुःखं सुखसाधनेषु वा ।
अतोऽनुमीयेत सुखासुखं ध्रुवं प्रवर्तते पूर्वकृतैकहेतुकम् ॥ ४३ ॥
न दृष्टमेवं च यतः सुखासुखं न पूर्वकर्मैकमतोऽस्य कारणम् ।
भवेदभावश्च नवस्य कर्मणस्तदप्रसिद्धौ च पुरातनं कुतः ॥ ४४ ॥

पूर्वकर्मकृतं सर्वमथैवमपि मन्यसे।
वानरस्य वधः कस्मान्मत्कृतः परिकल्प्यते ॥ ४५ ॥

इति स महात्मा निरनुयोज्यैर्हेतुभिस्तस्य मौनव्रतमिवोपदिश्य तमुच्छेदवादिनं स्मितपूर्वकमुवाच—आयुष्मतः कोऽयमत्यादरोऽस्मद्विगर्हायां यदि तत्त्वमुच्छेदवादं मन्यसे ?

लोकः परो यदि न कश्चन किं विवर्ज्य
पापं शुभं प्रति च किं बहुमानमोहः।
स्वच्छन्दरम्यचरितोऽत्र विचक्षणः स्या-
देवं गते सुहृत एव च वानरोऽयम् ॥ ४६ ॥
जनवादभयादथाशुभं परिवर्ज्य शुभमार्गसंश्रयात्।
स्ववचःप्रतिलोमचेष्टितैर्जनवादानपि नातियात्ययम् ॥ ४७ ॥
स्वकृतान्तपथागतं सुखं न समाप्नोति च लोकशङ्कया।
इति निष्फलवादविभ्रमः परमोऽयं ननु बालिशाधमः ॥ ४८ ॥

यदपि च भवानाह—

दारूणि नैकविधवर्णगुणाकृतीनि
कर्मात्मकानि न भवन्ति भवन्ति चैव।
नष्टानि नैव च यथा पुनरुद्भवन्ति
लोकस्तथायमिति कोऽत्र च नाम हेतुः ॥ ४९ ॥
उच्छेदवादवात्सल्यं स्यादेवमपि ते यदि।
विगर्हणीयः किं हन्ता वानरस्य नरस्य वा ॥ ५० ॥

इति स महासत्त्वस्तमुच्छेदवादिनं विस्पष्टशोभेनोत्तरक्रमेण तूष्णींभावपरायणं कृत्वा तं क्षत्रविद्याविदग्धममात्यमुवाच—भवानप्यस्मान् कस्मादिति विकुत्सयते यदि न्याय्यमर्थशास्त्रपरिदृष्टं विधिं मन्यसे ?

अनुष्ठेयं हि तत्रेष्टमर्थार्थं साध्वसाधु वा।
अथोद्धृत्य किलात्मानमर्थैर्धर्मं करिष्यते ॥ ५१ ॥

अतस्त्वां ब्रवीमि—

प्रयोजनं प्राप्य न चेदवेक्ष्यं स्निग्धेषु बन्धुष्वपि साधुवृत्तम्।
हते मया चर्मणि वानरेऽस्मिन् का शास्त्रदृष्टेऽपि नये विगर्हा ॥ ५२ ॥
दयावियोगादथ गर्हणीयं कर्मदृशं दुःखफलं च दृष्टम्।
यत्राभ्यनुज्ञातमिदं न तन्त्रे प्रपद्यसे केन मुखेन तत्त्वम् ॥ ५३ ॥
इयं विभूतिश्च नयस्य यत्र तत्रानयः कीदृशविभ्रमः स्यात्।
अहो प्रगल्भैः परिभूय लोकमुन्नीयते शास्त्रपथैरधर्मः ॥ ५४ ॥
अदृष्टमेवाथ तवैतदिष्टं शास्त्रे किल स्पष्टपथोपदिष्टम्।
शास्त्रप्रसिद्धेन नयेन गच्छन् न गर्हणीयोऽस्मि कपेर्वधेन ॥ ५५ ॥

इति स महात्मा जितपर्षत्कान् परिचितप्रागल्भ्यानपि च तानमात्यान् प्रसह्याभिभूय समावर्जितहृदयां च सराजिकां पर्षदमवेत्य तेषां वानरवधहृल्लेखविनयनार्थं

राजानमाबभाषे–नैव च खल्वहं महाराज प्राणिनं वानरं हतवान् । निर्माणविधिरयम् । निर्मितस्य हि वानरस्येदं चर्म मया गृहीतमस्यैव कथाक्रमस्य प्रस्तावार्थम् । तदलं मामन्यथा प्रतिग्रहीतुम् । इत्युक्त्वा तमृद्ध्याभिसंस्कारं प्रतिसंहृत्य परया च मात्रया-भिप्रसादितमानसं राजानं सपर्षत्कमवेत्योवाच—

संपश्यन् हेतुतः सिद्धिं स्वतन्त्रः परलोकवित् ।
साधुप्रतिज्ञः सघृणः प्राणिनं को हनिष्यति ॥ ५६ ॥

पश्य महाराज,

अहेतुवादी परतन्त्रदृष्टिरनास्तिकः क्षत्रनयानुगो वा ।
कुर्यान्न यन्नाम यशोलवार्थं तन्न्यायवादी कथमभ्युपेयात् ॥ ५७ ॥
दृष्टिर्नरश्रेष्ठ शुभाशुभा वा सभागकर्मप्रतिपत्तिहेतुः ।
दृष्ट्यन्वयं हि प्रविकल्प्य तत्तद्वाग्भिः क्रियाभिश्च विदर्शयन्ति ॥ ५८ ॥
सद्दृष्टिरस्माच्च निषेवितव्या त्याज्या त्वसद्दृष्टिरनर्थवृष्टिः ।
लभ्यश्च सत्संश्रयिणा क्रमोऽयमसज्जनाद्दूरचरेण भूत्वा ॥ ५९ ॥
असंयताः संयतवेषधारिणश्चरन्ति कामं भुवि भिक्षुराक्षसाः ।
विनिर्दहन्तः खलु बालिशं जनं कुदृष्टिभिर्दृष्टिविषा इवोरगाः ॥ ६० ॥
अहेतुवादादिविरुक्षवाशितं शृगालवत्तत्र विशेषलक्षणम् ।
अतो न तानर्हति सेवितुं बुधश्चरेत्तदर्थं तु पराक्रमे सति ॥ ६१ ॥
लोके विरुद्धयशसापि तु नैव कार्या कार्यार्थमप्यसदृशेन जनेन मैत्री ।
हेमन्तदुर्दिनसमागमदूषितो हि सौभाग्यहानिमुपयाति निशाकरोऽपि ॥ ६२ ॥
तद्वर्जनाद् गुणविवर्जयितुर्जनस्य संसेवनाच्च गुणसेवनपण्डितस्य ।
स्वां कीर्तिमुज्ज्वलय संजनयन् प्रजानां दोषानुरागविलयं गुणसौहृदं च ॥ ६३ ॥

त्वयि च चरति धर्मं भूयसायं नृलोकः
सुचरितसुमुखः स्यात्स्वर्गमार्गप्रतिष्ठः ।
जगदिदमनुपाल्यं चैवमभ्युद्यमस्ते
विनयरुचिरमार्गं धर्ममस्माद्भजस्व ॥ ६४ ॥
शीलं विशोधय समर्जय दातृकीर्तिं
मैत्रं मनः कुरु जने स्वजने यथैव ।
धर्मेण पालय महीं चिरमप्रमादा-
देवं समेष्यसि सुखं त्रिदिवं यशश्च ॥ ६५ ॥
कृषिप्रधानान् पशुपालनोद्यतान्
महीरुहान् पुष्पफलान्वितानिव ।
अपालयञ्जानपदान् बलिप्रदान्
नृपो हि सर्वौषधिभिर्विरुध्यते ॥ ६६ ॥
विचित्रपण्यक्रयविक्रयाश्रयं
वणिग्जनं पौरजनं तथा नृपः ।

न पाति यः शुक्लपथोपकारिणं
विरोधमायाति स कोशसंपदा ।। ६७ ।।
अदृष्टदोषं युधि दृष्टविक्रमं
तथा बलं यः प्रथितास्त्रकौशलम् ।
विमानयेद् भूपतिरध्युपेक्षया
ध्रुवं विरुद्धः स रणे जयश्रिया ।। ६८ ।।
तथैव शीलश्रुतयोगसाधुषु प्रकाशमाहात्म्यगुणेषु साधुषु ।
चरन्नवज्ञामलिनेन वर्त्मना नराधिपः स्वर्गसुखैर्विरुध्यते ।। ६९ ।।
द्रुमाद्यथामं प्रचिनोति यः फलं स हन्ति बीजं न रसं च विन्दति ।
अधर्म्यमेवं बलिमुद्धरन्नृपः क्षिणोति देशं न च तेन नन्दति ।। ७० ।।
यथा तु संपूर्णगुणो महीरुहः फलोदयं पाकवशात्प्रयच्छति ।
तथैव देशः क्षितिपाभिरक्षितो युनक्ति धर्मार्थसुखैर्नराधिपम् ।। ७१ ।।
हितानमात्यान्निपुणार्थदर्शिनः शुचीनि मित्राणि जनं स्वमेव च ।
बधान चेतस्सु तदिष्टया गिरा धनैश्च संमाननयोपपादितैः ।। ७२ ।।
तस्माद्धर्मं त्वं पुरस्कृत्य नित्यं श्रेयःप्राप्तौ युक्तचेताः प्रजानाम् ।
रागद्वेषोन्मुक्तया दण्डनीत्या रक्षँल्लोकानात्मनो रक्ष लोकान् ।। ७३ ।।

इति स महात्मा तं राजानं दृष्टिकृतकापथाद्विवेच्य समवतार्य च सन्मार्गं सपर्षत्कं तत एव गगनतलं समुत्पत्य प्राञ्जलिना तेन जनेन सबहुमानप्रणतेन प्रत्यर्च्यमानस्तदेवारण्यायतनं प्रतिजगाम ।

तदेवमसत्कृतानामपि सत्पुरुषाणां पूर्वोपकारिष्वनुकम्पा न शिथिलीभवति कृतज्ञत्वात्क्षमासात्म्याच्च । इति नासत्कारमात्रकेण पूर्वकृतं विस्मर्तव्यम् । एवं स भगवाननभिसंबुद्धोऽपि परवादानभिभूय सत्त्वविनयं कृतवानिति बुद्धवर्णेऽपि वाच्यम् । एवं मिथ्यादृष्टिरननुयोगक्षमानुपाश्रयत्वादसेव्या चेति मिथ्यादृष्टिविगर्हायामप्युपनेयम् । विपर्ययेण सम्यग्दृष्टिप्रशंसायामिति ।

।। इति महाबोधि-जातकं त्रयोविंशतितमम् ।

———

२४. महाकपि-जातकम्

नात्मदुःखेन तथा सन्तः संतप्यन्ते यथापकारिणां कुशलपक्षहान्या । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रीमति हिमवत्पार्श्वे विविधधातुरुचिरचित्राङ्गरागे नीलकौशेयप्रावारकृतोत्तरासङ्ग इव वनगहनलक्ष्म्या प्रयत्नरचितैरिवानेकवर्णसंस्थानविकल्पैर्वैषम्यभक्तिचित्रैर्विभूषिततटान्तदेशे प्रविसृतनैकप्रस्रवणजले गम्भीरकन्दरान्तरप्रपातसंकुले पटुतरमधुकरनिनादे मनोज्ञमारुतोपवीज्यमानविचित्रपुष्पफलपादपे विद्याधराक्रीडभूते महाकायः कपिरेकचरो बभूव । तदवस्थमपि चैनमपरिलुप्तधर्मसंज्ञं कृतज्ञमक्षुद्रस्वभावं धृत्या महत्या समन्वितमनुरागवशादिव करुणा नैव मुमोच ।

सकानना साद्रिवरा ससागरा गता विनाशं शतशो वसुंधरा ।
युगान्तकाले सलिलानलानिलैर्न बोधिसत्त्वस्य महाकृपालुता ॥ १ ॥

अथ स महात्मा तापस इव वनतरुपर्णफलमात्रवृत्तिरनुकम्पमानस्तेन तेन विधिना गोचरपतितान् प्राणिनस्तमरण्यप्रदेशमध्यावसति स्म ।

अथान्यतमः पुरुषो गां प्रनष्टामन्वेषितुं कृतोद्योगः समन्ततोऽनुविचरन् मार्गात्प्रनष्टो दिग्भागसंमूढमतिः परिभ्रमंस्तं देशमुपजगाम । स क्षुत्पिपासाघर्मश्रमपरिम्लानतनुर्दौर्मनस्यवह्निना चान्तःप्रदीप्यमानो विषादातिभारादिवान्यतमस्मिन् वृक्षमूले निषण्णो ददर्श परिपाकवशाद्विच्युतानि परिपिञ्जराणि कतिचित्तिन्दुकीफलानि । स तान्यास्वाद्य क्षुत्परिक्षामतया परमस्वादूनि मन्यमानस्तत्प्रभवान्वेषणं प्रत्यभिवृद्धोत्साहः समन्ततोऽनुविलोकयन् ददर्श प्रपाततटान्तविरूढं परिपक्वफलानमितपिञ्जराग्रशाखं तिन्दुकीवृक्षम् । स तत्फलतृष्णयाकृष्यमाणस्तं गिरितटमधिरुह्य तस्य तिन्दुकीवृक्षस्य फलिनीं शाखां प्रपाताभिनतामध्यारुरोह फललोभेन चास्याः प्रान्तमुपजगाम ।

शाखाथ सा तस्य महीरुहस्य भारातियोगान्नमिता कृशत्वात् ।
परश्वधेनेव निकृत्तमूला सशब्दभङ्गं सहसा पपात ॥ २ ॥

स तया सार्धं महति गिरिदुर्गे समन्ततः शैलभित्तिपरिक्षिप्ते कूप इव न्यपतत् । पर्णसंचयगुणात्त्वस्य गाम्भीर्याच्च सलिलस्य न किंचिदङ्गमभज्यत । स तस्मादुत्तीर्य सलिलात्समन्ततः परिसर्पन्न कुतश्चिदुत्तरणमार्गं ददर्श । स निष्प्रतीकारं मर्तव्यमिह मया नचिरादिति विस्रस्यमानजीविताशः शोकाश्रुपरिषिक्तदीनवदनस्तीव्रेण दौर्मनस्यशल्येन प्रतुद्यमानः कातरहृदयस्तत्तदार्तिवशाद् विललाप ।

कान्तारे दुर्गेऽस्मिञ्जनसंपातरहिते निपतितं माम् ।
यत्नादपि परिमृगयन् मृत्योरन्यः क इव पश्येत् ॥ ३ ॥
बन्धुजनमित्रवर्जितमेकनिपानीकृतं मशकसंघैः ।
अवपाताननमग्नं मृगमिव कोऽभ्युद्धरिष्यति माम् ॥ ४ ॥
उद्यानकाननविमानसरिद्विचित्रं
तारावकीर्णमणिरत्नविराजिताभ्रम् ।
तामिस्रपक्षरजनीव घनान्धकारा
कष्टं जगन्मम तिरस्कुरुतेऽन्तरालिः ॥ ५ ॥

इति स पुरुषस्तत्तद्विलपंस्तेन सलिलेन तैश्च सहनिपतितैस्तिन्दुकफलैर्वर्तयमानः कतिचिद्दिनानि तत्रावसत् ।

अथ स महाकपिराहारहेतोस्तद्वनमनुविचरन्नाहूयमान इव मारुताकम्पिताभिस्तस्य तिन्दुकीवृक्षस्याग्रशाखाभिस्तं प्रदेशमभिजगाम । अभिरुह्य चैनं तत्प्रपातमवलोकयन् ददर्श तं पुरुषं क्षुत्परिक्षामनयनवदनं परिपाण्डुकृशदीनगात्रं पर्युत्सुकं तत्र विचेष्टमानम् । स तस्य परिद्यूनतया समावर्जितानुकम्पो महाकपिर्निक्षिप्ताहारव्यापारस्तं पुरुषं प्रततं वीक्षमाणो मानुषीं वाचमुवाच—

मानुषाणामगम्येऽस्मिन् प्रपाते परिवर्तसे ।
वक्तुमर्हसि तत्साधु को भवानिह वा कुतः ॥ ६ ॥

अथ स पुरुषस्तं महाकपिमार्ततया समभिप्रणम्योद्वीक्षमाणः साञ्जलिरुवाच—

मानुषोऽस्मि महाभाग प्रनष्टो विचरन् वने ।
फलार्थी पादपादस्मादिमामापदमागमम् ॥ ७ ॥
तत्सुहृद्बन्धुहीनस्य प्राप्तस्य व्यसनं महत् ।
नाथ वानरयूथानां ममापि शरणं भव ॥ ८ ॥

तच्छ्रुत्वा स महासत्त्वः परां करुणामुपजगाम ।

आपद्गतो बन्धुसुहृद्विहीनः कृताञ्जलिर्दीनमुदीक्षमाणः ।
करोति शत्रूनपि सानुकम्पानाकम्पयत्येव तु सानुकम्पान् ॥ ९ ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः करुणायमाणस्तत्कालदुर्लभेन स्निग्धेन वचसा समाश्वासयामास—

प्रपातसंक्षिप्तपराक्रमोऽहमबान्धवो वेति कृथाः शुचं मा ।
यद्बन्धुकृत्यं तव किंचिदत्र कर्तास्मि तत्सर्वमलं भयेन ॥ १० ॥

इति स महासत्त्वस्तं पुरुषमाश्वास्य ततश्चास्मै तिन्दुकान्यपराणि च फलानि समुपहृत्य तदुद्धरणयोग्यया पुरुषभारगुर्व्या शिलयान्यत्र योग्यां चकार । ततश्चात्मनो बलप्रमाणमवगम्य शक्तोऽहमेनमेतस्मात्प्रपातादुद्धर्तुमिति निश्चितमतिरवतीर्य प्रपातं करुणया परिचोद्यमानस्तं पुरुषमुवाच—

एहि पृष्ठं ममारुह्य सुलग्नोऽस्तु भवान् मयि ।
यावदभ्युद्धरामि त्वां स्वदेहात्सारमेव च ॥ ११ ॥
असारस्य शरीरस्य सारो ह्येष मतः सताम् ।
यत्परेषां हितार्थेषु साधनी क्रियते बुधैः ॥ १२ ॥

स तथेति प्रतिश्रुत्याभिप्रणम्य चैनमध्यारुरोह ।

अथाभिरूढः स नरेण तेन भारातियोगेन विहन्यमानः ।
सत्त्वप्रकर्षादविपन्नधैर्यः परेण दुःखेन तमुज्जहार ॥ १३ ॥
उद्धृत्य चैनं परमप्रतीतः खेदात्परिव्याकुलखेलगामी ।
शिलातलं तोयधराभिनीलं विश्रामहेतोः शयनीचकार ॥ १४ ॥

अथ बोधिसत्त्वः शुद्धस्वभावतया कृतोपकारत्वाच्च तस्मात्पुरुषादपायनिराशङ्को विस्रम्भादेनमुवाच—

अव्याहतव्यालमृगप्रवेशे वनप्रदेशेऽत्र समन्तमार्गे ।
खेदप्रसुप्तं सहसा निहन्ति कश्चित्पुरा मां स्वहितोदयं च ॥ १५ ॥
यतो भवान् दिक्षु विकीर्णचक्षुः करोतु रक्षां मम चात्मनश्च ।
दृढं श्रमेणास्मि परीतमूर्तिस्ततस्स्वप्तुमिच्छामि मुहूर्तमात्रम् ॥ १६ ॥

अथ स मिथ्याविनयप्रगल्भः—स्वपितु भवान् यथाकामं सुखप्रबोधाय, स्थितोऽहं त्वत्संरक्षणायेत्यस्मै प्रतिशुश्राव । अथ स पुरुषस्तस्मिन् महासत्त्वे श्रमबलान्निद्रावशमुपगते चिन्तामशिवामापेदे—

मूलैः प्रयत्नातिशयाधिगम्यैर्वन्यैर्यदृच्छाधिगतैः फलैर्वा ।
एवं परिक्षीणतनोः कथं स्याद्यात्रापि तावत्कुत एव पुष्टिः ॥ १७ ॥
इदं च कान्तारमसुप्रतारं कथं तरिष्यामि बलेन हीनः ।
पर्याप्तरूपं त्विदमस्य मांसं कान्तारदुर्गोत्तरणाय मे स्यात् ॥ १८ ॥
कृतोपकारोऽपि च भक्ष्य एव निसर्गयोगः स हि तादृशोऽस्य ।
आपत्प्रसिद्धश्च किलैष धर्मः पाथेयतामित्युपनेय एषः ॥ १९ ॥
यावच्च विस्रम्भसुखप्रसुप्तस्तावन्मया शक्यमयं निहन्तुम् ।
इमं हि युद्धाभिमुखं समेत्य सिंहोऽपि संभाव्यपराजयः स्यात् ॥ २० ॥

तन्नायं विलम्बितुं मे काल इति विनिश्चित्य स दुरात्मा लोभदोषव्यामोहितमतिरकृतज्ञो विपन्नधर्मसंज्ञः प्रनष्टकारुण्यसौम्यस्वभावः परिदुर्बलोऽप्यकार्यातिरागान्महतीं शिलामुद्यम्य तस्य महाकपेः शिरसि मुमोच ।

शिलाथ सा दुर्बलविह्वलेन कार्यातिरागात्त्वरितेन तेन ।
अत्यन्तनिद्रोपगमाय मुक्ता निद्राप्रवासाय कपेर्बभूव ॥ २१ ॥
सर्वात्मना सा न समाससाद मूर्धानमस्मान्न विनिष्पिपेष ।
कोट्येकदेशेन तु तं रुजन्ती शिला तले साशनिवत्पपात ॥ २२ ॥
शिलाभिघातादवभिन्नमूर्धा वेगादवप्लुत्य च बोधिसत्त्वः ।
केनाहतोऽस्मीति ददर्श नान्यं तमेव तु ह्रीतमुखं ददर्श ॥ २३ ॥
वैलक्ष्यपीतप्रभमप्रगल्भं विषाददैन्यात्परिभिन्नवर्णम् ।
त्रासोदयादागतकण्ठशोषं स्वेदार्द्रमुद्वीक्षितुमप्यशक्तम् ॥ २४ ॥

अथ स महाकपिरस्यैव तत्कर्मेति निश्चितमतिः स्वमभिघातदुःखमचिन्तयित्वा तेन तस्यात्महितनिरपेक्षेणातिकष्टेन कर्मणा समुपजातसंवेगकारुण्यः परित्यक्तक्रोधसंरम्भदोषः सबाष्पनयनस्तं पुरुषमवेक्ष्य समनुशोचन्नुवाच—

मानुषेण सता भद्र त्वयेदं कृतमीदृशम् ।
कथं नाम व्यवसितं प्रारब्धं कथमेव वा ॥ २५ ॥
मदभिद्रोहसंरब्धं त्वं नामापतितं परम् ।
विनिवारणशौटीरविक्रमो रोद्धुमर्हसि ॥ २६ ॥
दुष्करं कृतवानस्मीत्यभून्मानोन्नतिर्मम ।
त्वयापविद्धा सा दूरमतिदुष्करकारिणा ॥ २७ ॥
परलोकादिवानीतो मृत्योर्वक्त्रान्तरादिव ।
प्रपातादुद्धृतोऽन्यस्मादन्यत्र पतितो ह्यसि ॥ २८ ॥
धिगहो बत दुर्वृत्तमज्ञानमतिदारुणम् ।
यत्पातयति दुःखेषु सुखाशाकृपणं जगत् ॥ २९ ॥
पातितो दुर्गतावात्मा क्षिप्तः शोकानलो मयि ।
निमीलिता यशोलक्ष्मीर्गुणमैत्री विरोधिता ॥ ३० ॥
गत्वा धिग्वादलक्षत्वं हता विश्वसनीयता ।
का नु खल्वर्थनिष्पत्तिरेवमाकाङ्क्षिता त्वया ॥ ३१ ॥

दुनोति मां नैव तथा त्वियं रुजा
यथैतदेवात्र मनः क्षिणोति माम् ।
गतोऽस्मि पापे तव यन्निमित्ततां
न चाहमेनस्तदपोहितुं प्रभुः ॥ ३२ ॥

संदृश्यमानवपुरेव तु पार्श्वतो मां
तत्साध्वनुव्रज दृढं ह्यसि शङ्कनीयः ।
यावद्बहुप्रतिभयाद्गहनादितस्त्वां
ग्रामान्तपद्धतिमनुप्रतिपादयामि ॥ ३३ ॥

एकाकिनं क्षामशरीरकं त्वां मार्गानभिज्ञं हि वने भ्रमन्तम् ।
कश्चित्समासाद्य पुरा करोति त्वत्पीडनाद्व्यर्थपरिश्रमं माम् ॥ ३४ ॥

इति स महात्मा तं पुरुषमनुशोचञ्जनान्तमानीय प्रतिपाद्य चैनं तन्मार्गं पुनरुवाच—

प्राप्तो जनान्तमसि कान्त वनान्तमेतत्
कान्तारदुर्गभयमुत्सृज गच्छ साधु ।
पापं च कर्म परिवर्जयितुं यतेथा
दुःखो हि तस्य नियमेन विपाककालः ॥ ३५ ॥

इति स महाकपिस्तं पुरुषमनुकम्पया शिष्यमिवानुशिष्य तमेव वनप्रदेशं प्रतिजगाम ।

अथ स पुरुषस्तदतिकष्टं पापं कृत्वा पश्चात्तापवह्निना संप्रदीप्यमानचेता महता कुष्ठव्याधिना रूपान्तरमुपनीतः किलासचित्रच्छविः प्रभिद्यमानव्रणविस्रवार्द्रगात्रः परमदुर्गन्धशरीरः सद्यः समपद्यत । स यं यं देशमभिजगाम ततस्तत एवैनमतिबीभत्सविकृततरदर्शनं मानुष इत्यश्रद्धेयरूपं भिन्नदीनस्वरमभिवीक्ष्य पुरुषाः साक्षादयं पाप्मेति मन्यमानाः समुद्यतलोष्टदण्डा निर्भर्त्सनपरुषवचसः प्रवासयामासुः । अथैनमन्यतमो राजा मृगयामनुविचरन् प्रेतमिवारण्ये परिभ्रमन्तं प्रक्षीणमलिनवसनं नातिप्रच्छन्नकौपीनमतिदुर्दर्शनमभिवीक्ष्य ससाध्वसकौतूहलः पप्रच्छ—

विरूपिततनुः कुष्ठैः किलासशबलच्छविः ।
पाण्डुः कृशतनुर्दीनो रजोरूक्षशिरोरुहः ॥ ३६ ॥
कस्त्वं प्रेतः पिशाचो वा मूर्तः पाप्माथ पूतनः ।
अनेकरोगसंघातः कतमो वासि यक्ष्मणाम् ॥ ३७ ॥

स तं दीनेन कण्ठेन समभिप्रणमन्नुवाच—मानुषोऽस्मि महाराज, नामानुष इति । तत्कथमिमामवस्थामनुप्राप्तोऽसीति च पर्यनुयुक्तो राज्ञा तदस्मै स्वं दुश्चरितमाविष्कृत्योवाच—

मित्रद्रोहस्य तस्येदं पुष्पं तावदुपस्थितम् ।
अतः कष्टतरं व्यक्तं फलमन्यद्भविष्यति ॥ ३८ ॥
तस्मान्मित्रेष्वभिद्रोहं शत्रुवद् द्रष्टुमर्हसि ।
भावस्निग्धमवेक्षस्व भावस्निग्धं सुहृज्जनम् ॥ ३९ ॥

मित्रेष्वमित्रचरितं परिगृह्य वृत्त-
मेवंविधां समुपयान्ति दशामिहैव ।
लोभादिदोषमलिनीकृतमानसानां
मित्रद्रुहां गतिरतः परतोऽनुमेया ॥ ४० ॥
वात्सल्यसौम्यहृदयस्तु सुहृत्सु कीर्तिं
विश्वासभावमुपकारसुखं च तेभ्यः ।
प्राप्नोति संनतिगुणं मनसः प्रहर्षं
दुर्धर्षतां च रिपुभिस्त्रिदशालयं च ॥ ४१ ॥
इमं विदित्वा नृप मित्रपक्षे प्रभावसिद्धी सदसत्प्रवृत्त्योः ।
भजस्व मार्गं सुजनाभिपन्नं तेन प्रयातमनुयाति भूतिः ॥ ४२ ॥

तदेवं नात्मदुःखेन तथा सन्तः संतप्यन्ते यथापकारिणां कुशलपक्षहान्या । इति तथागतमाहात्म्ये वाच्यम् । सत्कृत्य धर्मश्रवणे क्षान्तिकथायां मित्रानभिद्रोहे पापकर्मादीनवप्रदर्शने चेति ।

इति महाकपि-जातकं चतुर्विंशतितमम् ।

---

२५. शरभ-जातकम्

जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नोपेक्षन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यवनप्रदेशे निर्मानुषसंपातनीरवे विविधमृगकुलाधिवासे तृणगहननिमग्नमूलवृक्षक्षुपबहुले पथिकयानवाहनचरणैरविन्यस्तमार्गसीमान्तलेखे सलिलमार्गवल्मीकश्वभ्रविषमभूभागे वजवर्णसत्त्वसंपन्नः संहननवत्कायोपपन्नः शरभो मृगो बभूव । स कारुण्याभ्यासादनभिद्रुग्धचित्तः सत्त्वेषु तृणपर्णसलिलमात्रवृत्तिः संतोषगुणादरण्यवासनिरतमतिः प्रविवेककाम इव योगी तमरण्यप्रदेशमभ्यलंचकार ।

मृगाकृतिर्मानुषधीरचेतास्तपस्विवत्प्राणिषु सानुकम्पः ।
चचार तस्मिन् स वने विविक्ते योगीव संतुष्टमतिस्तृणाग्रैः ॥ १ ॥

अथ कदाचिदन्यतमो राजा तस्य विषयस्याधिपतिस्तुरगवराधिरूढः सज्यचापबाणव्यग्रपाणिर्मृगेष्वस्त्रकौशलमात्मनो जिज्ञासमानः संरागवशाज्जवेन मृगाननुपतन्नुत्तमजवेन वाजिना दूरादपसृतहस्त्यश्वरथपदातिकायस्तं प्रदेशमुपजगाम । दूरादेव चालोक्य तं महासत्त्वं हन्तुमुत्पतितनिश्चयः समुत्कृष्टनिशितसायको यतः स महात्मा तेन तुरगवरं संचोदयामास । अथ बोधिसत्त्वः समालोक्यैव तुरगवरगतं सायुधमभिपतन्तं तं राजानं शक्तिमानपि प्रत्यवस्थातुं निवृत्तसाहससंरम्भत्वात्परेण जवातिशयेन समुत्पपात । सोऽनुगम्यमानस्तेन तुरंगमेणानुमार्गगतं महच्छ्वभ्रं गोष्पदमिव जवेन लङ्घयित्वा प्रदुद्राव । अथ तुरगवरस्तेनैव मार्गेण तं शरभमनुपतन्नुत्तमेन जवप्रमाणेन तच्छ्वभ्रमासाद्य लङ्घयितुमनध्यवसितमतिः सहसा व्यतिष्ठत ।

अथाश्वपृष्ठादुद्गीर्णः सायुधः स महीपतिः ।
पपात महति श्वभ्रे दैत्ययोध इवोदधौ ॥ २ ॥

निबद्धचक्षुः शरभे स तस्मिन् संलक्षयामास न तं प्रपातम्।
विस्रम्भदोषाच्चलितासनोऽथ द्रुताश्ववेगोपरमात्पपात ॥ ३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तुरगखुरशब्दप्रशमात्किं नु खलु प्रतिनिवृत्तः स्यादयं राजेति समुत्पन्नवितर्कः पश्चादावर्जितवदनः समालोकयन् ददर्श तमश्वमनारोहकं तस्मिन् प्रपातोद्देशेऽवस्थितम्। तस्य बुद्धिरभवत्—नियतमत्र प्रपाते निपतितः स राजा। न ह्यत्र किंचिद्विश्रमहेतोः संश्रयणीयरूपं घनप्रच्छायं वृक्षमूलमस्ति नीलोत्पलदलनील-विमलसलिलमवगाह्ययोग्यं वा सरः। न चैव व्यालमृगानुविचरितमरण्यवनमवगाढेन यत्र क्वचिदुपसृज्य तुरगवरं विश्रम्यते मृगया वानुष्ठीयते। न चात्र किंचित्तृणगहन-मपि तद्विधं यत्र निलीनः स्यात्। तद्व्यक्तमत्र श्वभ्रे निपतितेन तेन राज्ञा भवितव्य-मिति। ततः स महात्मा निश्चयमुपेत्य वधकेऽपि तस्मिन् परां करुणामुपजगाम।

अद्यैव चित्रध्वजभूषणेन विभ्राजमानावरणायुधेन।
रथाश्वपत्तिद्विरदाकुलेन वादित्रचित्रध्वनिना बलेन ॥ ४ ॥
कृतानुयात्रो रुचिरातपत्रः परिस्फुरच्चामरहारशोभः।
देवेन्द्रवत्प्राञ्जलिभिर्जनौघैरभ्यर्चितो राजसुखान्यवाप्य ॥ ५ ॥
अद्यैव मग्नो महति प्रपाते निपातवेगादभिरुग्णगात्रः।
मूर्छान्वितः शोकपरायणो वा कष्टं बत क्लेशमयं प्रपन्नः ॥ ६ ॥
किणाङ्कितानीव मनांसि दुःखैर्न हीनवर्गस्य तथा व्यथन्ते।
अदृष्टदुःखान्यतिसौकुमार्याद्यथोत्तमानां व्यसनागमेषु ॥ ७ ॥

न चायमतः शक्ष्यति स्वयमुत्तर्तुम्। यद्यपि सावशेषप्राणस्तन्नायमुपेक्षितुं युक्तमिति वितर्कयन् स महात्मा करुणया समाकृष्यमाणहृदयस्तं प्रपाततटान्त-मुपजगाम। ददर्श चैनं तत्र रेणुसंसर्गान्मृदितचारुबाणशोभं व्याकुलितोष्णीष-वसनसंनाहं प्रपातपतननिघातसंजनिताभिर्वेदनाभिरापीड्यमानहृदयमापतितवैतान्यं विचेष्टमानम्।

दृष्ट्वाथ तं तत्र विचेष्टमानं नराधिपं बाष्पपरीतनेत्रः।
कृपावशाद्विस्मृतशत्रुसंज्ञस्तद्दुःखसामान्यमुपाजगाम ॥ ८ ॥
उवाच चैनं विनयाभिजातमुद्भावयन् साधुजनस्वभावम्।
आश्वासयन् स्पष्टपदेन साम्ना शिष्टोपचारेण मनोहरेण ॥ ९ ॥
कच्चिन्महाराज न पीडितोऽसि प्रपातपातालमिदं प्रपन्नः।
कच्चिन्न ते विक्षतमत्र गात्रं कच्चिद्रुजस्ते तनुतां गच्छन्ति ॥ १० ॥
नामानुपश्चास्मि मनुष्यवर्य मृगोऽप्यहं त्वद्विषयान्तवासी।
वृद्धस्त्वदीयेन तृणोदकेन विस्रम्भमित्यर्हसि मय्युपेतुम् ॥ ११ ॥
प्रपातपातादधृतिं च मा गाः शक्तोऽहमुद्धर्तुमितो भवन्तम्।
विस्रम्भितव्यं मयि मन्यसे चेत्तत्क्षिप्रमाज्ञापय यावदेमि ॥ १२ ॥

अथ स राजा तेन तस्याद्भुतेनाभिव्याहारेण विस्मयावर्जितहृदयः संजाय-मानव्रीडो नियतमिति चिन्तामापेदे—

दृष्टावदाने द्विपति का नामास्य दया मयि ।
मम विप्रतिपत्तिश्च केयमस्मिन्ननागसि ॥ १३ ॥
अहो मधुरतीक्ष्णेन प्रत्यादिष्टोऽस्मि कर्मणा ।
अहमेव मृगो गौर्वा कोऽप्ययं शरभाकृतिः ॥ १४ ॥

तदर्हत्ययं प्रणयप्रतिग्रहसंपूजनमिति विनिश्चित्यैनमुवाच —

वारबाणावृतमिदं गात्रं मे नातिविक्षतम् ।
प्रपातनिष्पेषकृताः सह्या एव च मे रुजः ॥ १५ ॥
प्रपातपतनक्लेशान्न त्वहं पीडितस्तथा ।
इति कल्याणहृदये त्वयि प्रस्खलनाद्यथा ॥ १६ ॥
आकृतिप्रत्ययाद्यच्च दृष्टोऽसि मृगवन्मया ।
अविज्ञाय स्वभावं ते तच्च मा हृदये कृथाः ॥ १७ ॥

अथ शरभस्तस्य राज्ञः प्रीतिसूचकेन तेनाभिव्याहारेणानुमतमुद्धरणमवेत्य पुरुषभारगुर्व्या शिलया तदुद्धरणयोग्यां कृत्वा विदितात्मबलप्रमाणस्तं नृपतिमुद्धर्तुं व्यवसितमतिरवतीर्य तं प्रपातं सविनयमभिगम्योवाच—

मद्गात्रसंस्पर्शमिमं मुहूर्तं कार्यानुरोधात्त्वमनुक्षमस्व ।
यावत्करोमि स्वहिताभिपत्त्या प्रीतिप्रसादाभिमुखं मुखं ते ॥ १८ ॥

तदारोहतु मत्पृष्ठं महाराजः सुलग्नश्च मयि भवत्विति । स तथेति प्रतिश्रुत्यैनमश्ववदारुरोह ।

ततः समभ्युन्नतपूर्वकायस्तेनाधिरूढः स नराधिपेन ।
समुत्पतन्नुत्तमसत्त्ववेगः खे तोरणव्यालकवद् बभासे ॥ १९ ॥
उद्धृत्य दुर्गादथ तं नरेन्द्रं प्रीतः समानीय तुरंगमेण ।
निवेद्य चास्मै स्वपुराय मार्गं वनप्रयाणाभिमुखो बभूव ॥ २० ॥

अथ स राजा कृतज्ञत्वात्तेन तस्य विनयमधुरेणोपचारेण समावर्तितहृदयः संपरिष्वज्य शरभमुवाच—

प्राणा अमी मे शरभ त्वदीयाः प्रागेव यत्रास्ति मम प्रभुत्वम् ।
तदर्हसि द्रष्टुमिदं पुरं मे सत्यां रुचौ तत्र च तेऽस्तु वासः ॥ २१ ॥
व्याधाभिकीर्णे सभये वनेऽस्मिन् शीतोष्णवर्षाद्युपसर्गदुःखे ।
हित्वा भवन्तं मम नन्वयुक्तमेकस्य गेहाभिमुखस्य गन्तुम् ॥ २२ ॥

तदेहि गच्छाव इति । अथैनं बोधिसत्त्वः सविनयमधुरोपचारं संराधयन् प्रत्युवाच—

भवद्विधेष्वेव मनुष्यवर्य युक्तः क्रमोऽयं गुणवत्सलेषु ।
अभ्यासयोगेन हि सज्जनस्य स्वभावतामेव गुणा व्रजन्ति ॥ २३ ॥
अनुग्रहीतव्यमवैषि यत्तु वनोचितं मां भवनाश्रयेण ।
तेनालमन्यद्धि सुखं नराणामन्यादृशं जात्युचितं मृगाणाम् ॥ २४ ॥
चिकीर्षितं ते यदि मत्प्रियं तु व्याधव्रतं वीर विमुञ्च तस्मात् ।
तिर्यक्स्वभावाज्जडचेतनेषु कृपैव शोच्येषु मृगेषु युक्ता ॥ २५ ॥

सुखाश्रये दुःखविनोदने च समानच्चित्तानवगच्छ सत्त्वान् ।
इत्यात्मनः स्यादनभीप्सितं यन्न तत्परेष्वाचरितुं क्षमं ते ।। २६ ।।
कीर्तिक्षयं साधुजनाद्विगर्हां दुःखं च पापप्रभवं विदित्वा ।
पापं द्विषत्पक्षमिवोद्धरस्व नोपेक्षितुं व्याधिरिव क्षमं ते ।। २७ ।।
लक्ष्मीनिकेतं यदपाश्रयेण प्राप्तोऽसि लोकाभिमतं नृपत्वम् ।
तान्येव पुण्यानि विवर्धयेथा न कर्शनीयो ह्युपकारिपक्षः ।। २८ ।।
कालोपचारसुभगैर्विपुलैः प्रदानैः
शीलेन साधुजनसंगतनिश्चयेन ।
भूतेषु चात्मनि यथा हितबुद्धिसिद्ध्या
पुण्यानि संचिनु यशःसुखसाधनानि ।। २९ ।।

इति स महात्मा तं राजानं दृढं सांपरायिकेष्वर्थेष्वनुगृह्य संप्रतिगृहीतवचनस्तेन राज्ञा सबहुमानमभिवीक्ष्यमाणस्तमेव वनान्तं प्रविवेश ।

तदेवं जिघांसुमप्यापद्गतमनुकम्पन्त एव महाकारुणिका नोपेक्षन्त इति करुणावर्णेऽपि वाच्यम् । तथागतमाहात्म्ये सत्कृत्य धर्मश्रवणे । अवैरेण वैरप्रशमननिदर्शने च क्षान्तिकथायामप्युपनेयम् । एवं तिर्यग्गतानामपि महात्मनां वधकेष्वपि सानुक्रोशा प्रवृत्तिर्दृष्टा । को मनुष्यभूतः प्रव्रजितप्रतिज्ञो वा सत्त्वेष्वनुक्रोशविकलः शोभेतेति प्राणिषु सानुक्रोशेनार्येण भवितव्यम् ।

इति शरभ-जातकं पञ्चविंशतितमम् ।

---

२६. रुरु-जातकम्

परदुःखमेव दुःखं साधूनाम् । तद्धि न सहन्ते नात्मदुःखम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल सालबकुलपियालहिन्तालतमालनक्तमालविदुलनिचुलक्षुपबहुले शिंशपातिनिशशमीपलाशशाककुशवंशशरवणगहने कदम्बसर्जार्जुनधवखदिरकुटजनिचिते विविधवल्लीप्रतानावगुण्ठितबहुतरुविटपे रुरुपृषतसृमरचमरगजगवयमहिषहरिणन्यङ्कुवराहद्वीपितरक्षुव्याघ्रवृकसिंहर्क्षादिमृगविचरिते मनुष्यसंपातविरहिते महत्यरण्यवनप्रदेशे तप्तकाञ्चनोज्ज्वलवर्णः सुकुमाररोमा नानाविधपद्मरागेन्द्रनीलमरकतवैडूर्यरुचिरवर्णबिन्दुविद्योतितविचित्रगात्रः स्निग्धाभिनीलविमलविपुलनयनो मणिमयैरिवापरुषप्रभैर्विषाणक्षुरप्रदेशैः परमदर्शनीयरूपो रत्नाकर इव पादचारी रुरुमृगो बभूव। स जानानः स्वस्य वपुषोऽतिलोभनीयतां तनुकारुण्यतां च जनस्य निर्जनसंपातेषु वनगहनेष्वभिरेमे, पटुविज्ञानत्वाच्च तत्र तत्र व्याधजनविरचितानि यन्त्रकूटवागुरापाशावपातलेपकाष्ठनिवापभोजनानि सम्यक् परिहरन्ननुगामिनं च मृगसार्थमवबोधयन्नाचार्य इव पितेव च मृगाणामाधिपत्यं चकार ।

रूपविज्ञानसंपत्तिः क्रियासौष्ठवसंस्कृता ।
स्वहितान्वेषिणि जने कुत्र नाम न पूज्यते ।। १ ।।

अथ स कदाचिन्महात्मा तस्मिन् वनगहने वासोपगतस्तत्समीपवाहिन्या नवाम्बुपूर्णया महावेगया नद्या ह्रियमाणस्य पुरुषस्याक्रन्दितशब्दं शुश्राव ।

ह्रियमाणमनाथमप्लवं सरितोदीर्णजलौघवेगया ।
अभिधावत दीनवत्सलाः कृपणं तारयितुं जवेन माम् ॥ २ ॥
न विलम्बितुमत्र शक्यते श्रमदोषादविधेयबाहुना ।
न च गाधमवाप्यते क्वचित्तदयं मां समयोऽभिधावितुम् ॥ ३ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तेन तस्य करुणेनाक्रन्दितशब्देन हृदीव समभिहन्यमानो मा भैर्मा भैरिति जन्मशताभ्यस्तां भयविषाददैन्यश्रमापनोदिनीमाम्रेडिताभिनिष्पीडितस्पष्टपदामुच्चैर्मानुषीं वाचं विसृजंस्तस्माद्वनगहनाद्विनिष्पपात । दूरत एव च तं पुरुषमिष्टमिवोपायनमानीयमानं सलिलौघेन ददर्श ।

ततस्तदुत्तारणनिश्चितात्मा स्वं प्राणसंदेहमचिन्तयित्वा ।
स तां नदीं भीमरयां जगाहे विक्षोभयन् वीर इवारिसेनाम् ॥ ४ ॥
आवृत्य मार्गं वपुषाथ तस्य मामाश्रयस्वेति तमभ्युवाच ।
त्रासातुरत्वाच्छ्रमविह्वलाङ्गः स पृष्ठमेवाधिरुरोह तस्य ॥ ५ ॥
संसाद्यमानोऽपि नरेण तेन विवर्त्यमानोऽपि नदीरयेण ।
सत्त्वोच्छ्रयादस्खलितोरुवीर्यः कूलं ययौ तस्य मनोनुकूलम् ॥ ६ ॥

प्रापय्य तीरमथ तं पुरुषं परेण
प्रीत्युद्गमेन विनिर्वर्तितखेददुःखम् ।
स्वेनोष्मणा समपनीय च शीतमस्य
गच्छेति तं स विससर्ज निवेद्य मार्गम् ॥ ७ ॥

अथ स पुरुषः स्निग्धबान्धवसुहृज्जनदुर्लभेन तेन तस्याद्भुतेनाभ्युपपत्तिसौमुख्येन समावर्जितहृदयस्तया चास्य रूपशोभया समुत्थाप्यमानविस्मयबहुमानः प्रणम्यैनं तत्तत्प्रियमुवाच—

आ बाल्यात्संभृतस्नेहः सुहृद्बान्धव एव वा ।
नालं कर्तुमिदं कर्म मदर्थे यत्कृतं त्वया ॥ ८ ॥
त्वदीयास्तदिमे प्राणास्त्वदर्थे यदि नाम मे ।
स्वल्पेऽपि विनियुज्येरन् स मे स्यादत्यनुग्रहः ॥ ९ ॥
तदाज्ञासंप्रदानेन कर्तुमर्हस्यनुग्रहम् ।
विनियोगक्षमत्वं मे भवान् यत्रावगच्छति ॥ १० ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः संराधयन् प्रत्युवाच—
न चित्ररूपा सुजने कृतज्ञता निसर्गसिद्धैव हि तस्य सा स्थितिः ।
जगत्तु दृष्ट्वा समुदीर्णविक्रियं कृतज्ञताप्यद्य गुणेषु गण्यते ॥ ११ ॥

यतस्त्वां ब्रवीमि कृतमिदमनुस्मरता भवता नायमर्थः कस्मैचिन्निवेद्यः—ईदृशेनास्मि सत्त्वविशेषेणोत्तारित इति । आमिषभूतमतिलोभनीयमिदं हि मे रूपम् । पश्य । तनुघृणानि बहुलौल्यादनिभृतानि च प्रायेण मानुषहृदयानि ।

तदात्मनि गुणांश्चैव मां च रक्षितुमर्हसि।
न हि मित्त्रेष्वभिद्रोहः क्वचिद्भवति भूतये ।। १२ ।।

मा चैवमुच्यमानो मन्युप्रणयविरसं हृदयं कार्षीः। मृगा हि वयमनभ्यस्तमानुषोपचारशाठ्याः। अपि च।

तत्कृतं वञ्चनादक्षैर्मिथ्याविनयपण्डितैः।
येन भावविनीतोऽपि जनः साशङ्कमीक्ष्यते ।। १३ ।।

तदेतत्प्रियं भवता संपाद्यमानमिच्छामीति। स तथेति प्रतिश्रुत्य प्रणम्य प्रदक्षिणीकृत्य च तं महासत्त्वं स्वगृहमभ्याजगाम।

तेन खलु समयेन तत्रान्यतमस्य राज्ञो देवी सत्यस्वप्ना बभूव। सा यं यमातिशयिकं स्वप्नं ददर्श, स तथैवाभवत्। सा कदाचिन्निद्रावशमुपगता प्रत्यूषसमये स्वप्नं पश्यति स्म सर्वरत्नसमाहारमिव श्रिया ज्वलन्तं सिंहासनस्थं रुरुमृगं सराजिकया पर्षदा परिवृतं विस्पष्टाक्षरपदन्यासेन मानुषेण वचसा धर्मं देशयन्तम्। विस्मयाक्षिप्तहृदया च भर्तुः प्रबोधपटहध्वनिना सह सा व्यबुध्यत। यथाप्रस्तावं च समुपेत्य राजानं लब्धप्रसरप्रणयसंमाना—

सा विस्मयोत्फुल्लतरेक्षणश्रीः प्रीत्या समुत्कम्पिकपोलशोभा।
उपायनेनेव नृपं ददर्श तेनाद्भुतस्वप्ननिवेदनेन ।। १४ ।।

निवेद्य च तं स्वप्नातिशयं राज्ञे सादरं पुनरुवाच—

तत्साधु तावत्क्रियतां मृगस्य तस्योपलम्भं प्रति देव यत्नः।
अन्तःपुरं रत्नमृगेण तेन तारामृगेणेव नभो विराजेत् ।। १५ ।।

अथ स राजा दृष्टप्रत्ययस्तस्याः स्वप्नदर्शनस्य प्रतिगृह्य तद्वचनं तत्प्रियकाम्यया रत्नमृगाधिगमलोभाच्च तस्य मृगस्यान्वेषणार्थं सर्वं व्याधगणं समादिदेश। प्रत्यहं च पुरवरे घोषणामिति कारयामास—

हेमच्छविर्मणिशतैरिव चित्रगात्रः
ख्यातो मृगः श्रुतिषु दृष्टचरश्च कैश्चित्।
यस्तं प्रदर्शयति तस्य ददाति राजा
ग्रामोत्तमं परिदशा रुचिराः स्त्रियश्च ।। १६ ।।

अथ स पुरुषस्तां घोषणां पुनः पुनरुपश्रुत्य—

दारिद्र्यदुःखगणनापरिखिन्नचेताः
स्मृत्वा च तं रुरुमृगस्य महोपकारम्।
लोभेन तेन च कृतेन विकृष्यमाणो
दोलायमानहृदयो विममर्श तत्तत् ।। १७ ।।

किं नु खलु करोमि? गुणं पश्याम्युत धनसमृद्धिम्? कृतमनुपालयाम्युत कुटुम्बतन्त्रम्? परलोकमुद्भावयाम्यथेमम्? सद्वृत्तमनुगच्छाम्युताहो लोकवृत्तम्? श्रियमनुगच्छाम्युताहोस्वित्साधुदयितां श्रियम्? तदात्वं पश्याम्युतायतिमिति। अथास्य लोभाकुलितमतेरेवमभूत्—शक्यमधिगतविपुलधनसमृद्धिना स्वजनमित्रातिथिप्रणयि-

जनसंमाननपरेण सुखान्यनुभवता परोऽपि लोकः संपादयितुम्'। इति निश्चितमतिर्विस्मृत्य तं रुरुमृगस्योपकारं समुपेत्य राजानमुवाच—अहं देव तं मृगवरमधिवासं चास्य जानामि। तदाज्ञापय कस्मै प्रदर्शयाम्येनमिति। तच्छ्रुत्वा स राजा प्रमुदितमनाः—ममैवैनं भद्र प्रदर्शयेत्युक्त्वा मृगयाप्रयाणानुरूपं वेषमास्थाय महता बलकायेन परिवृतः पुरवरान्निर्गम्य तेन पुरुषेणादेश्यमानमार्गस्तं नदीतीरमुपजगाम। परिक्षिप्य च तद्वनगहनं समग्रेण बलकायेन धन्वी हस्तावापी व्यवसिताप्तपुरुषपरिवृतः स राजा तेनैव पुरुषेणादेश्यमानमार्गस्तद्वनगहनमनुप्रविवेश। अथ स पुरुषस्तं रुरुमृगं विश्वस्तस्थितमालोक्य प्रदर्शयामास राज्ञे—अयमयं देव स मृगवरः। पश्यत्वेनं देवः, प्रयत्नश्च भवत्विति।

तस्योन्नामयतो बाहुं मृगसंदर्शनादरात्।
प्रकोष्ठान्न्यपतत्पाणिर्विनिकृत्त इवासिना॥ १८॥

आसाद्य वस्तूनि हि तादृशानि क्रियाविशेषैरभिसंस्कृतानि।
लब्धप्रयामाणि विपक्षमान्द्यात्कर्माणि सद्यः फलतां व्रजन्ति॥ १९॥

अथ स राजा तत्प्रदर्शितेन मार्गेण रुरुसंदर्शनकुतूहले नयने विचिक्षेप।

वनेऽथ तस्मिन्नवमेघनीले ज्वलत्तनुं रत्ननिधानलक्ष्म्या।
गुणैरुरुं तं स रुरुं ददर्श शातह्रदं वह्निमिवाभ्रकक्षे॥ २०॥

तद्रूपशोभाहृतमानसोऽथ स भूमिपस्तद्ग्रहणातिलोभात्।
कृत्वा धनुर्बाणविदष्टमौर्वि बिभित्सया चैनमुपारुरोह॥ २१॥

अथ बोधिसत्त्वः समन्ततो जनकोलाहलमुपश्रुत्य व्यक्तं समन्तात्परिवृत्तोऽस्मीति निश्चितमतिर्व्यद्धुकाममुपारूढं चावेत्य राजानं नायमपयानकाल इति विदित्वा विशदपदाक्षरेण मानुषेण वचसा राजानमाबभाषे—

तिष्ठ तावन्महाराज मा मां व्यात्सीर्नरर्षभ।
कौतूहलमिदं तावद्विनोदयितुमर्हसि॥ २२॥

अस्मिन्निर्जनसंपाते निरतं गहने वने।
असावत्र मृगोऽस्तीति को नु ते मां न्यवेदयत्॥ २३॥

अथ स राजा तस्याद्भुतेन मानुषेणाभिव्याहारेण भृशतरमावर्जितहृदयस्तमस्मै पुरुषं शराग्रेण निर्दिदेश—अयमस्यात्यद्भुतस्य नो दर्शयितेति। अथ बोधिसत्त्वस्तं पुरुषं प्रत्यभिज्ञाय विगर्हमाण उवाच—कष्टं भोः।

सत्य एव प्रवादोऽयमुदकौघगतं किल।
दार्वेव वरमुद्धर्तुं नाकृतज्ञमतिं जनम्॥ २४॥

परिश्रमस्य तस्येयमीदृशी प्रत्युपक्रिया।
आत्मनोऽपि न दृष्टोऽयं हितस्यापनयः कथम्॥ २५॥

अथ स राजा किं नु खल्वयमेवं विजुगुप्सत इति समुत्पन्नकौतूहलः सावेगस्तं रुरुमुवाच—

अनिर्भिन्नार्थगम्भीरमनारभ्यविगर्हितम्।
त्वदिदं समुपश्रुत्य साकम्पमिव मे मनः॥ २६॥

मृगातिशय तद्ब्रूहि कमारभ्येति भाषसे।
मनुष्यममनुष्यं वा पक्षिणं मृगमेव वा॥ २७॥

बोधिसत्त्व उवाच—

नायं विगर्हादर एव राजन् कुत्सार्हमेतत्त्ववगम्य कर्म।
नायं पुनः कर्तुमिति व्यवस्येत्तीक्ष्णाक्षरं तेन मयैवमुक्तम्॥ २८॥
को हि क्षते क्षारमिवावसिञ्चेद् रूक्षाक्षरं विस्खलितेषु वाक्यम्।
प्रिये तु पुत्रेऽपि चिकित्सकस्य प्रवर्तते व्याधिवशाच्चिकित्सा॥ २९॥
यमुह्यमानं सलिलेन हारिणा कृपावशादभ्युपपन्नवाहनम्।
ततो भयं मां नृवरेदमागतं न खल्वसत्संगतमस्ति भूतये॥ ३०॥

अथ स राजा तं पुरुषं तीक्ष्णया दृष्ट्या निर्भर्त्सनरूक्षमवेक्ष्योवाच—सत्यमरे रे पुरा त्वमनेनैवमापन्नोऽभ्युद्धृत इति? अथ स पुरुषः समापतितभयविषादस्वेद-वैवर्ण्यदैन्यो ह्रीमन्दं सत्यमित्यवोचत्। अथ स राजा धिक् त्वामित्येनमवभर्त्सयन् धनुषि शरं संधायाब्रवीत्—मा तावद्भोः!

एवंविधेनापि परिश्रमेण मृदूकृतं यस्य न नाम चेतः।
तुल्याकृतीनामयशोध्वजेन किं जीवतानेन नराधमेन॥ ३१॥

इत्युक्त्वा मुष्टिमाबध्य तद्वधार्थं धनुः प्रचकर्ष। अथ बोधिसत्त्वः करुणया महत्या समुपरुध्यमानहृदयस्तदन्तरा स्थित्वा राजानमुवाच—अलमलं महाराज हतं हत्वा।

यदेव लोभाद्विपतः प्रतारणां विगर्हितामप्ययमभ्युपेयिवान्।
हतस्तदेवेह यशःपरिक्षयाद् ध्रुवं परत्रापि च धर्मसंक्षयात्॥ ३२॥
असह्यदुःखोदयपीतमानसाः पतन्ति चैवं व्यसनेषु मानुषाः।
प्रलोभ्यमानाः फलसम्पदाशया पतंगमूर्खा इव दीपशोभया॥ ३३॥
अतः कृपामत्र कुरुष्व मा रुषं यदीप्सितं चैवमनेन किंचन।
कुरुष्व तेनैनमवन्ध्यसाहसं स्थितं त्वदाज्ञाप्रवणं हि मे शिरः॥ ३४॥

अथ स राजा तेन तस्यापकारिण्यपि सदयत्वेनाकृतकेन च तत्प्रत्युपकारादरेण परमविस्मितमतिर्जातप्रसादः सबहुमानमुदीक्षमाणस्तं रुरुवरमुवाच—साधु साधु महाभाग!

प्रत्यक्षोग्रापकारेऽपि दया यस्येयमीदृशी।
गुणतो मानुषस्त्वं हि वयमाकृतिमानुषाः॥ ३५॥
येनानुकम्प्यस्तु तवैष जाल्मो हेतुश्च नः सज्जनदर्शनस्य।
ददामि तेनेप्सितमर्थमस्मै राज्ये तवास्मिंश्च यथेष्टचारम्॥ ३६॥

रुरुरुवाच—प्रतिगृहीतोऽयं मयावन्ध्यो महाराजप्रसादः। तदाज्ञापय यावदिह संगमनप्रयोजनेन तवोपयोगं गच्छाम इति। अथ स राजा तं रुरुं गुरुमिव रथवर-मारोप्य महता सत्कारेण पुरवरं प्रवेश्य कृतातिथिसत्कारं महति सिंहासने निवेश्य समुत्साह्यमानः सान्तःपुरोऽमात्यगणपरिवृतः प्रीतिबहुमानसौम्यमुदीक्षमाणो धर्मं पप्रच्छ—

धर्मं प्रति मनुष्याणां बहुधा बुद्धयो गताः ।
निश्चयस्तव धर्मे तु यथा तं वक्तुमर्हसि ।। ३७ ।।

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञः सपर्षत्कस्य स्फुटमधुरचित्राक्षरेण वचसा धर्मं देशयामास—

दयां सत्त्वेषु मन्येऽहं धर्मं संक्षेपतो नृप ।
हिंसास्तेयनिवृत्त्यादिप्रभेदं विविधक्रियम् ।। ३८ ।।

पश्य महाराज,

आत्मनीव दया स्याच्चेत्स्वजने वा यथा जने ।
कस्य नाम भवेच्चित्तमधर्मप्रणयाशिवम् ।। ३९ ।।
दयावियोगात्तु जनः परमामेति विक्रियाम् ।
मनोवाक्कायविस्पन्दैः स्वजनेऽपि जने यथा ।। ४० ।।
धर्मार्थी न त्यजेदस्माद् दयामिष्टफलोदयाम् ।
सुवृष्टिरिव सस्यानि गुणान् सा हि प्रसूयते ।। ४१ ।।
दयाक्रान्तं चित्तं न भवति परद्रोहरभसं
शुचौ तस्मिन् वाणी व्रजति विकृतं नैव च तनुः ।
विवृद्धा तस्यैवं परहितरुचिः प्रीत्यनुसृतान्
प्रदानक्षान्त्यादीञ्जनयति गुणान् कीर्त्यनुगुणान् ।। ४२ ।।
दयालुर्नोद्वेगं जनयति परेषामुपशमाद्
दयावान् विश्वास्यो भवति जगतां बान्धव इव ।
न संरम्भक्षोभः प्रभवति दयाधीरहृदये
न कोपाग्निश्चित्ते ज्वलति हि दयातोयशिशिरे ।। ४३ ।।
संक्षेपेण दयामतः स्थिरतया पश्यन्ति धर्मं बुधाः
को नामास्ति गुणः स साधुदयितो यो नानुयातो दयाम् ।
तस्मात्पुत्र इवात्मनीव च दयां नीत्वा प्रकर्षं जने
सद्वृत्तेन हरन्मनांसि जगतां राजत्वमुद्भावय ।। ४४ ।।

अथ स राजा समभिनन्द्य तत्तस्य वचनं सपौरजानपदो धर्मपरायणो बभूव । अभयं च सर्वमृगपक्षिणां दत्तवान् ।

तदेवं परदुःखमेव दुःखं साधूनाम् । तद्धि न सहन्ते नात्मदुःखमिति । करुणावर्णेऽपि वाच्यम् । सज्जनमाहात्म्ये खलजनकुत्सायामप्युपनेयमिति ।

।। इति रुरु-जातकं षड्विंशतितमम् ।।

———

२७. महाकपि-जातकम्

द्विषतामपि मानसान्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल श्रीमति हिमवत्कुक्षौ विविधरसवीर्यविपाकगुणैर्बहुभिरोषधिविशेषैः परिगृहीतभूमिभागे नानाविधपुष्पफलपल्लवपत्रविटपरचनैर्महीरुहशतैराकीर्णे

स्फटिकदलामलसलिलप्रस्त्रवणे विविधपक्षिगणनादनादिते वानरयूथाधिपतिर्बभूव। तदवस्थमपि चैनं त्यागकारुण्याभ्यासात्प्रतिपक्षसेवाविरोधितानीर्ष्यामात्सर्यक्रौर्याणि नोपजग्मुः। स तत्र महान्तं न्यग्रोधपादपं पर्वतशिखरमिव व्योमोल्लिखन्तमधिपतिमिव तस्य वनस्य मेघसंघातमिव प्रत्यन्धकारविटपमाकीर्णपर्णतया तालफलाधिकतर-प्रमाणैः परमस्वादुभिर्मनोज्ञवर्णगन्धैः फलविशेषैरानम्यमानशाखं निश्रित्य विजहार।

तिर्यग्गतानामपि भाग्यशेषं सतां भवत्येव सुखाश्रयाय।
कर्तव्यसंबन्धि सुहृज्जनानां विदेशगानामिव वित्तशेषम्॥ १॥

तस्य तु वनस्पतेरेका शाखा तत्समीपगां निम्नगामभि प्रणताभवत्। अथ बोधिसत्त्वो दीर्घदर्शित्वात्तद्वानरयूथं समनुशशास—अस्यां न्यग्रोधशाखायामफलाया-मकृतायां न वः केनचिदन्यतः फलमुपभोक्तव्यमिति।

अथ कदाचित्तस्यां शाखायां पिपीलिकाभिः पर्णपुटावच्छादितं तरुणत्वान्नाति-महदेकं फलं न ते वानरा ददृशुः। तत्क्रमेणाभिवर्धमानं वर्णगन्धरसमार्दवोपपन्नं परिपाकवशाच्छिथिलबन्धनं तस्यां नद्यां निपपात। अनुपूर्वेण वाह्यमानं नदीस्रोतसाऽ-न्यतमस्य राज्ञः सान्तःपुरस्य तस्यां नद्यां सलिलक्रीडामनुभवतो जालकरण्डकपार्श्वे व्यासज्यत।

तत्स्नानमाल्यासववासगन्ध संश्लेषसंपिण्डितमङ्गनानाम्।
विसर्पिणा स्वेन तिरश्चकार घ्राणाभिरामेण गुणोदयेन॥ २॥
तद्गन्धमत्ताः क्षणमङ्गनास्ता दीर्घीकृतोच्छ्वासविकुञ्चिताक्ष्यः।
भूत्वाथ कौतूहलचञ्चलानि विचिक्षिपुर्दिक्षु विलोचनानि॥ ३॥

कौतूहलप्रसृतलोलतरनयनास्तु ता योषितस्तन्न्यग्रोधफलं परिपक्वताल-फलाधिकतरप्रमाणं जालकरण्डकपार्श्वतो विलग्नमवेक्ष्य किमिदमिति तदावर्जित-नयनाः समपद्यन्त सह राज्ञा। अथ स राजा तत्फलमानाय्य प्रात्ययिकवैद्यजनपरिदृष्टं स्वयमास्वादयामास।

अद्भुतेन रसेनाथ नृपस्तस्य विसिष्मिये।
अद्भुतेन रसेनेव प्रयोगगुणहारिणा॥ ४॥
अपूर्ववर्णगन्धाभ्यां तस्याकलितविस्मयः।
ययौ तद्रससंरागात्परां विस्मयविक्रियाम्॥ ५॥

अथ तस्य राज्ञः स्वादुरसभोजनसमुचितस्यापि तद्रससंरागवशगस्यैतद-भवत्—

यो नाम नामूनि फलानि भुङ्क्ते स कानि राज्यस्य फलानि भुङ्क्ते।
यस्यान्नमेतत्तु स एव राजा विनैव राजत्वपरिश्रमेण॥ ६॥

स तत्प्रभवान्वेषणकृतमतिः स्वबुद्धया विममर्श-व्यक्तमयं तरुवर इतो नातिदूरे नदीतीरसंनिविष्टश्च यस्येदं फलम्! तथा ह्यनुपहतवर्णगन्धरसमदीर्घकाल-सलिलसंपर्कादपरिक्षतमजर्जरं च यतः शक्यमस्य प्रभवोऽधिगन्तुमिति निश्चयमुपेत्य तद्रसतृष्णया आकृष्यमाणो विरम्य जलक्रीडायाः सम्यक् पुरवरे स्वे रक्षाविधानं संदिश्य यात्रासज्जेन महता बलकायेन परिवृतस्तां नदीमनुससार। क्रमेण चोत्सादयन्

सश्वापदगणानि वनगहनानि समनुभवं श्चत्राणि रसान्तराणि पश्यन्नकृत्रिमरमणीय-शोभानि वनान्तराणि संत्रासयन् पटहरसितैर्वन्यगजमृगान् मानुषजनदुर्गमं तस्य वनस्पतेः समीपमुपजगाम ।

तं मेघवृन्दमिव तोयभरावसन्नमासन्नशैलमपि शैलवदीक्ष्यमाणम् ।
दूराद्ददर्श नृपतिः स वनस्पतीन्द्रमुल्लोक्यमानमधिराजमिवान्यवृक्षैः ॥ ७ ॥

परिपक्वसहकारफलसुरभितरेण च निर्हारिणा अतिमनोज्ञेन गन्धेन प्रत्युद्गत इव तस्य पादपस्य अयं स वनस्पतिरिति निश्चयमुपजगाम । समुपेत्य चैनं ददर्श तत्फलोपभोगव्यापृतैरनेकवानरशतैराकीर्णविटपम् ।

अथ स राजा समभिलषितार्थविप्रलोपिनस्तान् वानरान् प्रत्यभिक्रुद्धमतिः—हत हतैतान् । विध्वंसयत विनाशयत सर्वान् वानरजालमानिति सपरुषाक्षरं स्वान् पुरुषानादिदेश । अथ ते राजपुरुषाः सज्यचापबाणव्यग्रकराग्रा वानरावभर्त्सन-मुखराः समुद्यतलोष्टदण्डशस्त्राश्चापरे परदुर्गमिवाभिरोद्धुकामास्तं वनस्पतिमभि-सस्रुः । अथ वोधिसत्त्वस्तुमुलं तद्राजवलमनिलजवाकलितमिवार्णवजलमनिभृतकल-कलारावमभिपतदालोक्याशनिवर्षेणेव समन्ततो विकीर्यमाणं तरुवरं शरलोष्ट-दण्डशस्त्रवर्षेण भयविरसविरावमात्रपरायणं च विकृतदीनमुखमुन्मुखं वानरगण-मवेक्ष्य महत्या करुणया समाक्रम्यमाणचेतास्त्यक्तविषाददैन्यसंत्रासः समाश्वास्य तद्वानरयूथं तत्परित्राणव्यवसितमतिरभिरुह्य तस्य वनस्पतेः शिखरं तत्समासन्नं गिरितटं लङ्घयितुमियेष । अथानेकप्रस्कन्दनक्रमप्राप्यमपि तं गिरितटं स महासत्त्वः स्ववीर्यातिशयात्खग इवाधिरुरोह ।

द्वाभ्यामपि लङ्घनक्रमाभ्यां गम्यं नैव तदन्यवानराणाम् ।
वेगेन यदन्तरं तरस्वी प्रतताराल्पमिवैकविक्रमेण ॥ ८ ॥
कृपयाभिविवर्धितः स तस्य व्यवसायः पटुतां जगाम शौर्यात् ।
स च यत्नविशेषमस्य चक्रे मनसैवाथ जगाम यत्नतैक्ष्ण्यात् ॥ ९ ॥

अधिरुह्य च गिरेरुच्चतरं तटप्रदेशं तदन्तरालाधिकप्रमाणया महत्या विरूढयाऽ-शिथिलमूलया दृढया वेत्रलतया गाढमाबध्य चरणौ पुनस्तं वनस्पतिं प्रचस्कन्द । विप्रकृष्टत्वात्तु तस्यान्तरालस्य चरणबन्धनव्याकुलत्वाच्च स महासत्त्वः कथंचित्तस्य वनस्पतेरग्रशाखां कराभ्यां समाससाद ।

ततः समालम्ब्य दृढं स शाखामातत्य तां वेत्रलतां च यत्नात् ।
स्वसंज्ञया यूथमथादिदेश द्रुमादतः शीघ्रमभिप्रयायात् ॥ १० ॥

अथ ते वानरा भयातुरत्वादपयानमार्गमासाद्य चपलतरगतयस्तदाक्रमण-निर्विशङ्कास्तया स्वस्त्यपचक्रमुः ।

भयातुरैस्तस्य तु वानरैस्तैराक्रम्यमाणं चरणैः प्रसक्तम् ।
गात्रं ययौ स्वैः पिशितैर्वियोगं न त्वेव धैर्यातिशयेन चेतः ॥ ११ ॥
तदृष्ट्वा स राजा ते च राजपुरुषाः परां विस्मयवक्तव्यतामुपजग्मुः ।
एवंविधा विक्रमबुद्धिसम्पदात्मानपेक्षा च दया परेषु ।
आश्चर्यबुद्धिं जनयेच्छ्रुतापि प्रत्यक्षतः किं पुनरीक्ष्यमाणा ॥ १२ ॥

अथ स राजा तान् पुरुषान् समादिदेश—भयोद्भ्रान्तवानरगणचरणक्षोभित-क्षतशरीरश्चिरमेकक्रमावस्थानाच्च दृढं परिश्रान्तो व्यक्तमयं वानराधिपतिः न चाय-मतः शक्ष्यति स्वयमात्मानं संहर्तुम्, तच्छीघ्रमस्याधः पटवितानं वितत्य वेत्रलतेयं च न्यग्रोधशाखा शराभ्यां युगपत्प्रच्छिद्येतामिति। ते तथा चक्रुः। अथैनं स राजा शनकैर्वितानादवतार्य मूर्छया व्रणवेदनाक्लमोपजातया समाक्रम्यमाणचेतसं मृदुनि शयनीये संवेशयामास। सद्यःक्षतप्रशमनयोग्यैश्च सर्पिरादिभिरस्य व्रणान्यभ्यज्य मन्दीभूतपरिश्रमं समाश्वस्तमेनमभ्युपगम्य स राजा सकौतूहलविस्मयबहुमानः कुशलपरिप्रश्नपूर्वकमुवाच—

गत्वा स्वयं संक्रमताममीषां स्वजीविते त्यक्तदयेन भूत्वा।
समुद्धृता ये कपयस्त्वयेमे को नु त्वमेषां तव वा क एते॥ १३॥
श्रोतुं वयं चेदिदमर्हरूपास्तत्तावदाचक्ष्व कपिप्रधान।
न ह्यल्पसौहार्दनिबन्धनानामेवं मनांसि प्रतरन्ति कर्तुम्॥ १४॥

अथ बोधिसत्त्वस्तस्य राज्ञस्तदभ्युपपत्तिसौमुख्यं प्रतिपूजयन्नात्मनिवेदनमनु-गुणेन क्रमेण चकार—

एभिर्मदाज्ञाप्रतिपत्तिदक्षैरारोपितो मय्यधिपत्वभारः।
पुत्रेष्विवैतेष्ववबद्धहार्दस्तं वोढुमेवाहमभिप्रपन्नः॥ १५॥
इयं महाराज समं ममैभिः संबन्धजातिश्चिरकालरूढा।
समानजातित्वमयी च मैत्री ज्ञातेयजाता सहवासयोगात्॥ १६॥

तच्छ्रुत्वा स राजा परं विस्मयमुपेत्य पुनरेनमुवाच—

अधिपार्थममात्यादि न तदर्थं महीपतिः।
इति कस्मात्स्वभृत्यार्थमात्मानं त्यक्तवान् भवान्॥ १७॥

बोधिसत्त्व उवाच—काममेवं प्रवृत्ता, महाराज, राजनीतिः। दुरनुवर्त्या तु मां प्रतिभाति।

असंस्तुतस्याप्यविषह्यतीव्रमुपेक्षितुं दुःखमतीव दुःखम्।
प्रागेव भक्त्युन्मुखमानसस्य गतस्य बन्धुप्रियतां जनस्य॥ १८॥
इदं च दृष्ट्वा व्यसनार्तिदैन्यं शाखामृगान् प्रत्यभिवर्धमानम्।
स्वकार्यचिन्तावसरोपरोधि प्रादुद्रुवन्मां सहसैव दुःखम्॥ १९॥
आनम्यमानानि धनूंषि दृष्ट्वा विनिष्पतद्दीप्तशिलीमुखानि।
भीमस्वनज्यान्यविचिन्त्य वेगादस्मात्तरोः शैलमिमं गतोऽस्मि॥ २०॥
वैशेषिकत्रासपरीतचित्तैराकृष्यमाणोऽहमथ स्वयूथ्यैः।
आलक्षितायामगुणां सुमूलां स्वपादयोर्वेत्रलतां निबध्य॥ २१॥
प्रास्कन्दमस्मात्पुनरेव शैलादिमं द्रुमं तारयितुं स्वयूथ्यान्।
ततः कराभ्यां समवापमस्य प्रसारितं पाणिमिवाग्रशाखाम्॥ २२॥
समाततांङ्गं लतया तया च शाखाग्रहस्तेन च पादपस्य।
अमी मदध्याक्रमणे विशङ्का निश्रित्य मां स्वस्ति गताः स्वयूथ्याः॥ २३॥

अथ स राजा प्रामोद्यजातं तस्यामप्यवस्थायां तं महासत्त्वमवेक्ष्य परं विस्मयमुद्वहन् पुनरेनमुवाच—

परिभूयात्मनः सौख्यं परव्यसनमापतत् ।
इत्यात्मनि समारोप्य प्राप्तः को भवता गुणः ॥ २४ ॥

वोधिसत्त्व उवाच—

कामं शरीरं क्षितिप क्षतं मे मनः परस्वास्थ्यमुपागतं तु ।
अकारि येषां चिरमाधिपत्यं तेषां मयार्तिर्विनिर्वर्तितेति ॥ २५ ॥
जित्वाहवे विद्विषतः सदर्पान् गात्रेष्वलंकारवदुद्वहन्ति ।
वीरा यथा विक्रमचिह्नशोभां प्रीत्या तथेमां रुजमुद्वहामि ॥ २६ ॥
प्रणामसत्कारपुरःसरस्य भक्तिप्रयुक्तस्य समानजात्यैः ।
ऐश्वर्यलब्धस्य सुखक्रमस्य संप्राप्तमानृण्यमिदं मयाद्य ॥ २७ ॥
तन्मां तपत्येष न दुःखयोगः सुहृद्वियोगः सुखविप्लवो वा ।
क्रमेण चानेन समभ्युपेतो महोत्सवाभ्यागम एष मृत्युः ॥ २८ ॥
पूर्वोपकारानृणतात्मतुष्टिः संतापशान्तिर्विमलं यशश्च ।
पूजा नृपान्निर्भयता च मृत्योः कृतज्ञभावाद् ग्रहणं च सत्सु ॥ २९ ॥
एते गुणाः सद्गुणवासवृक्ष प्राप्ता मयैतद् व्यसनं प्रपद्य ।
एषां विपक्षांस्तु समभ्युपैति दयाविहीनो नृपतिः श्रितेषु ॥ ३० ॥
गुणैर्विहीनस्य विपन्नकीर्तेर्दोषोदयैरावसथीकृतस्य ।
गतिर्भवेत्तस्य च नाम कान्या ज्वालाकुलेभ्यो नरकानलेभ्यः ॥ ३१ ॥
तद्दर्शितोऽयं गुणदोषयोस्ते मया प्रभावः प्रथितप्रभाव ।
धर्मेण तस्मादनुशाधि राज्यं स्त्रीचञ्चलप्रेमगुणा हि लक्ष्मीः ॥ ३२ ॥
युग्यं बलं जानपदानमात्यान् पौराननाथाञ्छ्रमणान् द्विजातीन् ।
सर्वान् सुखेन प्रयतेत योक्तुं हितानुकूलेन पितेव राजा ॥ ३३ ॥
एवं हि धर्मार्थयशःसमृद्धिः स्यात्ते सुखायेह परत्र चैव ।
प्रजानुकम्पार्जितया त्वमस्माद्राजर्षिलक्ष्म्या नरराज राज ॥ ३४ ॥
इति नृपमनुशिष्य शिष्यवद् बहुमतवाक्प्रयतेन तेन सः ।
रुगभिभवनसंहृतक्रियां तनुमपहाय ययौ त्रिविष्टपम् ॥ ३५ ॥

तदेवं द्विषतामपि मनांस्यावर्जयन्ति सद्वृत्तानुवर्तिनः, इति लोकं समावर्जयितुकामेन सद्वृत्तानुवर्तिना भवितव्यम् । न समर्थास्तथा स्वार्थमपि प्रतिपत्तुं सत्त्वा यथा परार्थं प्रतिपन्नवान् स भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम् । सत्कृत्य धर्मश्रवणे करुणावर्णे राजाववादे च । एवं राज्ञा प्रजासु दयापन्नेन भवितव्यम् । कृतज्ञकथायामप्युपनेयम् । एवं कृतज्ञाः सन्तो भवन्तीति ।

॥ इति महाकपि-जातकं सप्तविंशतितमम् ॥

---

२८. क्षान्ति-जातकम्

सात्मीभूतक्षमाणां प्रतिसंख्यानमहतां नाविषह्यं नाम किंचिदस्ति। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलानेकदोषव्यसनोपसृष्टमर्थकामप्रधानत्वादनौपशमिकं रागद्वेषमोहामर्षसंरम्भमदमानमात्सर्यादिदोषरजसामापातं पातनं ह्रीधर्मपरिग्रहस्यायतनं लोभासद्ग्राहस्य कुकार्यसंबाधत्वात्कृशावकाशं धर्मस्यावेत्य गृहवासं परिग्रहविषयपरिवर्जनाच्च तद्दोषविवेकसुखां प्रव्रज्यामनुपश्यन् शीलश्रुतप्रशमविनयनियतमानसस्तापसो बभूव। तमस्खलितसमादानं क्षान्तिवर्णवादिनं तदनुरूपधर्माख्यानक्रमं व्यतीत्य स्वे नामगोत्रे क्षान्तिवादिनमित्येव लोकः स्वबुद्धिपूर्वकं संजज्ञे।

ऐश्वर्यविद्यातपसां समृद्धिर्लब्धप्रयामश्च कलासु सङ्गः।
शरीरवाक्चेष्टितविक्रियाश्च नामापरं संजनयन्ति पुंसाम्॥ १॥
जानन् स तु क्षान्तिगुणप्रभावं तेनात्मवल्लोकमलंकरिष्यन्।
चकार यत्क्षान्तिकथाः प्रसक्तं तत्क्षान्तिवादीति ततो विजज्ञे॥ २॥
स्वभावभूता महती क्षमा च परापकारेष्वविकारधीरा।
तदर्थयुक्ताश्च कथाविशेषाः कीर्त्या मुनिं तं प्रथयांबभूवुः॥ ३॥

अथ स महात्मा प्रविविक्तरमणीयं समर्तुसुलभपुष्पफलं पद्मोत्पलालंकृतविमलसलिलाशयमुद्यानरम्यशोभं वनप्रदेशमध्यासनात्तपोवनमङ्गल्यतामानिनाय।

निवसन्ति हि यत्रैव सन्तः सद्गुणभूषणाः।
तन्मङ्गल्यं मनोज्ञं च तत्तीर्थं तत्तपोवनम्॥ ४॥

स तत्र बहुमन्यमानस्तदध्युषितैर्देवताविशेषैरभिगम्यमानश्च श्रेयोभिलाषिणा गुणवत्सलेन जनेन क्षान्तिप्रतिसंयुक्ताभिः श्रुतिहृदयह्लादिनीभिर्धर्म्याभिः कथाभिस्तस्य जनकायस्य परमनुग्रहं चकार।

अथ कदाचित्ततस्त्यो राजा ग्रीष्मकालप्रभावादभिलषणीयतरां सलिलक्रीडां प्रति समुत्सुकमतिरुद्यानगुणातिशयनिकेतभूतं तं वनप्रदेशं सान्तःपुरः समभिजगाम।

स तद्वनं नन्दनरम्यशोभमाकीर्णमन्तःपुरसुन्दरीभिः।
अलंचकारेव चरन् विलासी विभूतिमत्या ललितानुवृत्त्या॥ ५॥
विमानदेशेषु लतागृहेषु पुष्पप्रहासेषु महीरुहेषु।
तोयेषु चोन्मीलितपङ्कजेषु रेमे स्वभावातिशयैर्वधूनाम्॥ ६॥
माल्यासवस्नानविलेपनानां संमोदगन्धाकुलितैर्द्विरेफैः।
ददर्श कासांचिदुपोह्यमाना जातस्मितत्रासविलासशोभाः॥ ७॥
प्रत्यग्रशोभैरपि कर्णपूरैः पर्याप्तमाल्यैरपि मूर्धजैश्च।
तृप्तिर्यथासीत्कुसुमैर्न तासां तथैव नासां ललितैर्नृपस्य॥ ८॥
विमानदेशेषु विषज्यमाना विलम्बमानाः कमलाकरेषु।
ददर्श राजा भ्रमरायमाणाः पुष्पद्रुमेषु प्रमदाक्षिमालाः॥ ९॥
मदप्रगल्भान्यपि कोकिलानां रुतानि नृत्यानि च बर्हिणानाम्।
द्विरेफगीतानि च नाभिरेजुस्तत्राङ्गनाजल्पितनृत्तगीतैः॥ १०॥

पयोदधीरस्तनितैर्मृदङ्गैरुदीर्णकेकास्ततबर्हचक्राः ।
नटा इव स्वेन कलागुणेन चक्रुर्मयूराः क्षितिपस्य सेवाम् ॥ ११ ॥

स तत्र सान्तःपुर उद्यानवनविहारसुखं प्रकाममनुभूय क्रीडाप्रसङ्गपरिखेदान्मदपरिष्वङ्गाच्च श्रीमति विमानप्रदेशे महार्हशयनीयवरगतो निद्रावशमुपजगाम। अथ ता योषितः प्रस्तावान्तरगतमवेत्य राजानं वनशोभाभिराक्षिप्यमाणहृदयास्तद्दर्शनावितृप्ता यथाप्रीतिकृतसमवायाः समाकुलभूषणनिनादसंमिश्रकलप्रलापाः समन्ततः प्रसस्रुः ।

ताश्छत्रवालव्यजनासनाद्यैः प्रेष्याधृतैः काञ्चनभक्तिचित्रैः ।
ऐश्वर्यचिह्नैरनुगम्यमानाः स्त्रियः स्वभावानिभृतं विचेरुः ॥ १२ ॥
ताः प्राप्य रूपाणि महीरुहाणां पुष्पाणि चारूणि च पल्लवानि ।
प्रेष्याप्रयत्नानतिपत्य लोभादालेभिरे स्वेन पराक्रमेण ॥ १३ ॥
मार्गोपलब्धान् कुसुमाभिरामान् गुल्मांश्चलत्पल्लविनश्च वृक्षान् ।
पर्याप्तपुष्पाभरणस्रजोऽपि लोभादनालुप्य न ता व्यतीयुः ॥ १४ ॥

अथ ता वनरमणीयतयाक्षिप्यमाणहृदया राजयोषितस्तद्वनमनुविचरन्त्यः क्षान्तिवादिन आश्रमपदमुपजग्मुः । विदिततपःप्रभावमाहात्म्यास्तु तस्य मुनेः स्त्रीजनाधिकृता राज्ञो वाल्लभ्याद् दुरासदत्वाच्च तासां नैनास्ततो वारयितुं प्रसेहिरे। अभिसंस्काररमणीयतरया चाश्रमपदश्रिया समाकृष्यमाणा इव ता योषितः प्रविश्याश्रमपदं ददृशुस्तत्र तं मुनिवरं प्रशमसौम्यदर्शनमतिगाम्भीर्यातिशयाद् दुरासदमभिज्वलन्तमिव तपःश्रिया ध्यानाभियोगादुदारविषयसंनिकर्षेऽप्यक्षुभितेन्द्रियनैभृत्यशोभं साक्षाद्धर्ममिव मङ्गल्यं पुण्यदर्शनं वृक्षमूले बद्धासनमासीनम् ।

अथ ता राजस्त्रियस्तस्य तपस्तेजसाक्रान्तसत्त्वाः संदर्शनादेव त्यक्तविभ्रमविलासौद्धत्या विनयनिभृतमभिगम्यैनं पर्युपासांचक्रिरे। स तासां स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरमतिथिजनमनोहरमुपचारविधिं प्रवर्त्य तत्परिप्रश्नोपपादितप्रस्तावाभिः स्त्रीजनसुखग्रहणार्थाभिर्दृष्टान्तवतीभिः कथाभिर्धर्मातिथ्यमासां चकार ।

अगर्हितां जातिमवाप्य मानुषीमनूनभावं पटुभिस्तथेन्द्रियैः ।
अवश्यमृत्युर्न करोति यः शुभं प्रमादभाक्प्रत्यहमेष वञ्च्यते ॥ १५ ॥
कुलेन रूपेण वयोगुणेन वा बलप्रकर्षेण धनोदयेन वा ।
परत्र नाप्नोति सुखानि कश्चन प्रदानशीलादिगुणैरसंस्कृतः ॥ १६ ॥
कुलादिहीनोऽपि हि पापनिःस्पृहः प्रदानशीलादिगुणाभिपत्तिमान् ।
परत्र सौख्यैरभिसार्यते ध्रुवं घनागमे सिन्धुजलैरिवार्णवः ॥ १७ ॥
कुलस्य रूपस्य वयोगुणस्य वा बलप्रकर्षस्य धनोच्छ्रयस्य वा ।
इहाप्यलंकारविधिर्गुणादरः समृद्धिसूचैव तु हेममालिका ॥ १८ ॥
अलंक्रियन्ते कुसुमैर्महीरुहास्तडिद्गुणैस्तोयविलम्बिनो घनाः ।
सरांसि मत्तभ्रमरैः सरोरुहैर्गुणैर्विशेषाधिगतैस्तु देहिनः ॥ १९ ॥
अरोगतायुर्धनरूपजातिभिर्निकृष्टमध्योत्तमभेदचित्रता ।
जनस्य चेयं न खलु स्वभावतः पराश्रयाद्वा त्रिविधा तु कर्मणः ॥ २० ॥

अवेत्य चैवं नियतां जगत्स्थितिं चलं विनाशप्रवणं च जीवितम् ।
जहीत पापानि शुभक्रमाशयादयं हि पन्था यशसे सुखाय च ॥ २१ ॥
मनःप्रदोषस्तु परात्मनोर्हितं विनिर्दहन्नग्निरिव प्रवर्तते ।
अतः प्रयत्नेन स पापभीरुणा जनेन वर्ज्यः प्रतिपक्षसंश्रयात् ॥ २२ ॥
यथा समेत्य ज्वलितोऽपि पावकस्तटान्तसंसक्तजलां महानदीम् ।
प्रशान्तिमायाति मनोज्वलस्तथा श्रितस्य लोकद्वितयक्षमां क्षमाम् ॥ २३ ॥
इति क्षान्त्या पापं परिहरति तद्धेत्वभिभवा-
दतश्चायं वैरं न जनयति मैत्र्याश्रयबलात् ।
प्रियः पूज्यश्चास्माद्भवति सुखभागेव च ततः
प्रयात्यन्ते च द्यां स्वगृहमिव पुण्याश्रयगुणात् ॥ २४ ॥

अपि च भवत्यः क्षान्तिर्नामैषा—

शुभस्वभावातिशयः प्रसिद्धः पुण्येन कीर्त्या च परा विवृद्धिः ।
अतोयसंपर्ककृता विशुद्धिस्तैस्तैर्गुणौघैश्च परा समृद्धिः ॥ २५ ॥
परोपरोधेषु सदानभिज्ञा व्यवस्थितिः सत्त्ववतां मनोज्ञा ।
गुणाभिनिर्वर्तितचारुसंज्ञा क्षमेति लोकार्थकरी कृपाज्ञा ॥ २६ ॥
अलंक्रिया शक्तिसमन्वितानां तपोधनानां बलसंपदग्र्या ।
व्यापाददावानलवारिधारा प्रेत्येह च क्षान्तिरनर्थशान्तिः ॥ २७ ॥
क्षमामये वर्मणि सज्जनानां विकुण्ठिता दुर्जनवाक्यबाणाः ।
प्रायः प्रशंसाकुसुमत्वमेत्य तत्कीर्तिमालावयवा भवन्ति ॥ २८ ॥
हन्तीति या धर्मविपक्षमायां प्राहुः सुखां चैव विमोक्षमायाम् ।
तस्मान्न कुर्यात्क इव क्षमायां प्रयत्नमेकान्तहितक्षमायाम् ॥ २९ ॥

इति स महात्मा तासां धर्मातिथ्यं चकार। अथ स राजा निद्राक्लमविनोदनात्प्रतिविबुद्धः सावशेषमदगुरुनयनो मदनानुवृत्त्या क्व देव्य इति शयनपालिकाः सभ्रूक्षेपं पर्यपृच्छत् । एता देव वनान्तराण्युपशोभयमानास्तद्विभूतिं पश्यन्तीति चोपलभ्य शयनपालिकाभ्यः स राजा देवीजनस्य विस्रम्भनिर्यन्त्रणहसितकथितद्रवविचेष्टितदर्शनोत्सुकमतिरुत्थाय शयनाद्युवतिधृतच्छत्रव्यजनोत्तरीयखड्गः सकञ्चुकैर्वेत्रदण्डपाणिभिरन्तःपुरावचरैः कृतानुयात्रस्तद्वनमनुविचचार। स तत्र युवतिजनानैभृत्यविरचितां विविधकुसुमस्तबकपल्लवनिकरपद्धतिं ताम्बूलरसरागविचित्रामनुसरंस्तदाश्रमपदमभिजगाम। दृष्ट्वैव तु स राजा क्षान्तिवादिनं तमृषिवरं देवीजनपरिवृतं पूर्ववैरानुशयदोषान्मदपरिभ्रमितस्मृतित्वादीर्ष्यापराभूतमतित्वाच्च परं कोपमुपजगाम। प्रतिसंख्यानबलवैकल्याच्च भ्रष्टविनयोपचारसौष्ठवः संरम्भपाप्माभिभवादापतितस्वेदवैवर्ण्यवेपथुर्भ्रूभङ्गजिह्मविवृत्तस्थिराभिताम्रनयनो विरक्तकान्तिलावण्यशोभः प्रचलत्कनकवलयौ परिमृदनन् साङ्गुलिविभूषणौ पाणी तमृषिवरमधिक्षिपंस्तत्तदुवाच। हंहो—

अस्मत्तेजः खलीकृत्य पश्यन्नन्तःपुराणि नः ।
मुनिवेषप्रतिच्छन्नः कोऽयं वैतंसिकायते ॥ ३० ॥

तच्छ्रुत्वा वर्षवराः ससंभ्रमावेगा राजानमूचुः—देव मा मैवम्। चिरकाल-संभृतव्रतनियमतपोभावितात्मा मुनिरयं क्षान्तिवादी नामेति। उपहताध्याशयत्वात्तु स राजा तत्तेषां वचनमप्रतिगृह्णन्नुवाच—कष्टं भोः!

चिरात्प्रभृति लोकोऽयमेवमेतेन वञ्च्यते।
कुहनाजिह्मभावेन तापसाकुम्भसात्मना ॥ ३१ ॥

तदयमस्य तापसनेपथ्यावच्छादितं मायाशाठ्यसंभृतं कुहकस्वभावं प्रकाशयामीत्युक्त्वा प्रतिहारीहस्तादसिमादाय हन्तुमुत्पतितनिश्चयस्तमृषिवरं सपत्नवदभिजगाम। अथ ता देव्यः परिजननिवेदिताभ्यागमनमालोक्य राजानं क्रोधसंक्षिप्तसौम्यभावं वितानीभूतहृदयाः ससंभ्रमावेगचञ्चलनयनाः समुत्थायाभिवाद्य च तमृषिवरं समुद्यताञ्जलिकुड्मलाः शरन्नलिन्य इव समुद्गतैकपङ्कजाननमुकुला राजानमभिजग्मुः।

तत्तासां समुदाचारलीलाविनयसौष्ठवम्।
न तस्य शमयामास क्रोधाग्निज्वलितं मनः ॥ ३२ ॥

लब्धतरप्राणप्रसरास्तु ता देव्यः ससंरम्भविकारसमुदाचाररूक्षक्रमं सायुधमभिपतन्तं तमुदीक्ष्य राजानं तमृषिवरं प्रति विवर्तिताभिनिविष्टदृष्टि समावृण्वत्य ऊचुः—देव मा मा खलु साहसं कार्षीः। क्षान्तिवादी भगवानयमिति। प्रदुष्टभावात्तु स राजा समावर्जितभावा नूनमनेनेमा इति सुष्ठुतरं कोपमुपेत्य स्फुटतरं भ्रूभङ्गैरसूयासमावेशतीक्ष्णैस्तिर्यगवेक्षितैस्तत्तासां प्रणयप्रागल्भ्यमवभर्त्स्यं सरोषमवेक्षमाणः स्त्रीजनाधिकृताञ्छिरःकम्पादाकम्पमानकुण्डलमुकुटविटपस्ता योषितोऽभिवीक्षमाण उवाच—

वदत्येव क्षमामेष न त्वेनां प्रतिपद्यते।
तथा हि योषित्संपर्कतृष्णां न क्षान्तवानयम् ॥ ३३ ॥
वागन्यथान्यैव शरीरचेष्टा दुष्टाशयं मानसमन्यथैव।
तपोवने कोऽयमसंयतात्मा दम्भव्रताडम्बरधीरमास्ते ॥ ३४ ॥

अथ ता देव्यस्तस्मिन् राजनि क्रोधसंरम्भकर्कशहृदये प्रत्याहतप्रणयाः प्रजानानाश्च तस्य राज्ञश्चण्डतां दुरनुनेयतां च वैमनस्यदैन्याक्रान्तमनसः स्त्रीजनाधिकृतैर्भयविषादव्याकुलितैर्हस्तसंज्ञाभिरपसार्यमाणा व्रीडावनतवदनास्तमृषिवर्यं समनुशोचन्त्यस्ततोऽपचक्रमुः।

अस्मन्निमित्तमपराधविवर्जितेऽपि
दान्ते तपस्विनि गुणप्रथितेऽप्यमुष्मिन्।
को वेत्ति कामपि विवृत्य विकारलीलां
केनापि यास्यति पथा क्षितिपस्य रोषः ॥ ३५ ॥

क्षितीशवृत्तिं प्रतिलब्धकीर्तिं तनुं मुनेरस्य तपस्तनुं च।
अमून्यनागांसि च नो मनांसि तुल्यं हि हन्यादपि नाम राजा ॥ ३६ ॥

इति तासु देवीष्वनुशोचितविनिःश्वसितमात्रपरायणास्वपयातासु स राजा तमृषिवरं संतर्जयन् रोषवशान्निष्कृष्य खड्गं स्वयमेव च्छेत्तुमुपचक्रमे। निर्विकारधीरमसंभ्रान्तस्वस्थचेष्टितं च तं महासत्त्वमासाद्यमानमप्यवेक्ष्य संरम्भितरमेनमुवाच—

दाण्डाजिनिकतानेन प्रकर्षं गमिता यथा।
उद्वहन् कपटाटोपं मुनिवन्मामपीक्षते ॥ ३७ ॥

अथ बोधिसत्त्वः क्षान्तिपरिचयादविचलितधृतिस्तेनासत्कारप्रयोगेण तं राजानं रोषसंरम्भविरूपचेष्टितं भ्रष्टविनयोपचारश्रियं विस्मृतात्महिताहितपथमागतविस्मयः क्षणमभिवीक्ष्य करुणायमानः समनुनेष्यन्नियतमीदृशं किंचिदुवाच—

भाग्यापराधजनितोऽप्यपमानयोगः
संदृश्यते जगति तेन न मेऽत्र चिन्ता।
दुःखं तु मे यदुचिताभिगतेषु वृत्ति-
र्वाचापि न त्वयि मया क्रियते यथार्हम् ॥ ३८ ॥

अपि च महाराज,

असत्प्रवृत्तान् पथि संनियोक्ष्यतां भवद्विधानां जगदर्थकारिणाम्।
न युक्तरूपं सहसा प्रवर्तितुं विमर्शमार्गोऽप्यनुगम्यतां यतः ॥ ३९ ॥
अयुक्तवत्साध्वपि किंचिदीक्ष्यते प्रकाशतेऽसाध्वपि किंचिदन्यथा।
न कार्यतत्त्वं सहसैव लक्ष्यते विमर्शमप्राप्य विशेषहेतुभिः ॥ ४० ॥
विमृश्य कार्यं त्ववगम्य तत्त्वतः प्रपद्य धर्मेण च नीतिवर्त्मना।
महान्ति धर्मार्थसुखानि साधयञ्जनस्य तैरेव न हीयते नृपः ॥ ४१ ॥
विनीय तस्मादतिचापलान्मतिं यशस्यमेवार्हसि कर्म सेवितुम्।
अभिप्रथन्ते ह्यभिलक्षितात्मनामदृष्टपूर्वाश्चरितेष्वतिक्रमाः ॥ ४२ ॥
तपोवने त्वद्भुजवीर्यरक्षिते परेण यन्नाम कृतं न मर्षयेः।
हितक्रमोन्माथि यदार्यगर्हितं स्वयं महीनाथ कथं व्यवस्यसि ॥ ४३ ॥
स्त्रियोऽभियाता यदि ते ममाश्रमं यदृच्छयान्तःपुररक्षिभिः सह।
व्यतिक्रमस्तत्र च नो भवेत्कियान् रुषा यदेवं गमितोऽसि विक्रियाम् ॥ ४४ ॥
अथाप्ययं स्यादपराध एव मे क्षमा तु शोभेत तथापि ते नृप।
क्षमा हि शक्तस्य परं विभूषणं गुणानुरक्षानिपुणत्वसूचनात् ॥ ४५ ॥
कपोललोलद्युतिनीलकुण्डले न मौलिरत्नद्युतयः पृथग्विधाः।
तथाभ्यलंकर्तुमलं नृपान्यथा क्षमेति नैनामवमन्तुमर्हसि ॥ ४६ ॥
त्यजाक्षमां नित्यमसंश्रयक्षमां क्षमामिवारक्षितुमर्हसि क्षमाम्।
तपोधनेष्वभ्युदिता हि वृत्तयः क्षितीश्वराणां बहुमानपेशलाः ॥ ४७ ॥

इत्यनुनीयमानोऽपि स राजा तेन मुनिवरेणानार्जवोपहतमतिस्तमन्यथैवाभिशङ्कमानः पुनरुवाच—

न तापसच्छद्म बिभर्ति चेद्भवान्
स्थितोऽसि वा स्वे नियमव्रते यदि।
क्षमोपदेशव्यपदेशसंगतं
किमर्थमस्मादभयं प्रयाचसे ॥ ४८ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—श्रूयतां महाराज, यदर्थोऽयं मम प्रयत्नः ।

अनागसं प्रव्रजितमवधीद् ब्राह्मणं नृपः ।
इति ते मत्कृते मा भूद्यशो वाच्यविजर्जरम् ॥ ४९ ॥
मर्तव्यमिति भूतानामयं नैयमिको विधिः ।
इति मे न भयं तस्मात्स्वं वृत्तं चानुपश्यतः ॥ ५० ॥
सुखोदर्कस्य धर्मस्य पीडा मा भूत्तथैव तु ।
क्षमामित्यवदं तुभ्यं श्रेयोभिगमनक्षमाम् ॥ ५१ ॥
गुणानामाकरत्वाच्च दोषाणां च निवारणात् ।
प्राभृतातिशयप्रीत्या कथयामि क्षमामहम् ॥ ५२ ॥

अथ स राजा सूनृतान्यपि तान्यनादृत्य तस्य मुनेर्वचनकुसुमानि सासूयं तमृषिवरमुवाच—द्रक्ष्याम इदानीं ते क्षान्त्यनुरागमित्युक्त्वा निवारणार्थमीषदभिप्रसारितमभ्युच्छ्रितप्रतनुदीर्घाङ्गुलिं तस्य मुनेर्दक्षिणं पाणिं निशितेनासिना कमलमिव नालदेशाद् व्ययोजयत् ।

छिन्नेऽग्रहस्तेऽपि तु तस्य नासीद्-
दुःखं तथा क्षान्तिदृढव्रतस्य ।
सुखोचितस्याप्रतिकारघोरं
छेत्तुर्यथागामि समीक्ष्य दुःखम् ॥ ५३ ॥

अथ बोधिसत्त्वः कष्टमतिक्रान्तोऽयं स्वहितमर्यादामपात्रीभूतोऽनुनयस्येति वैद्यप्रत्याख्यातमातुरमिवैनं समनुशोचंस्तूष्णींबभूव । अथैनं स राजा संतर्जयन् पुनरुवाच—

एवं चाच्छिद्यमानस्य नाशमेष्यति ते तनुः ।
मुञ्च दम्भव्रतं चेदं खलबुद्धिप्रलम्भनम् ॥ ५४ ॥

बोधिसत्त्वस्त्वननुनयाक्षममेनं विदित्वायं च नामास्य निर्बन्ध इति नैनं किंचिदुवाच । अथ स राजा तस्य महात्मनो द्वितीयं पाणिमुभौ बाहू कर्णनासं चरणौ तथैव निचकर्त ।

पतति तु निशितेऽप्यसौ शरीरे न मुनिवरः स शुशोच नो चुकोप ।
परिविदितशरीरयन्त्रनिष्ठः परिचितया च जने क्षमानुवृत्त्या ॥ ५५ ॥
गात्रच्छेदेऽप्यक्षतक्षान्तिधीरं चित्तं तस्य प्रेक्षमाणस्य साधोः ।
नासीद् दुःखं प्रीतियोगान्नृपं तु भ्रष्टं धर्माद्वीक्ष्य संतापमाप ॥ ५६ ॥
प्रतिसंख्यानमहतां न तथा करुणात्मनाम् ।
बाधते दुःखमुत्पन्नं परानेव यथाश्रितम् ॥ ५७ ॥
घोरं तु तत्कर्म नृपः स कृत्वा सद्यो ज्वरेणानुगतोऽग्निनेव ।
विनिर्गतश्चोपवनान्तदेशाद् गां चावदीर्णां सहसा विवेश ॥ ५८ ॥

निमग्ने तु तस्मिन् राजनि भीमशब्दमवदीर्णायां वह्निज्वालाकुलायां समुद्भूते महति कोलाहले समन्ततः प्रक्षुभिते व्याकुले राजकुले तस्य राज्ञोऽमात्या जानानास्तस्य मुनेस्तपःप्रभावमाहात्म्यं तत्कृतं च राज्ञो धरणीतलनिमज्जनं मन्यमानाः

पुरायमृषिवरस्तस्य राज्ञो दोषात्सर्वमिदं जनपदं निर्दहतीति जातभयाशङ्काः समभिगम्य तमृषिवरमभिप्रणम्य क्षमयमाणाः कृताञ्जलयो विज्ञापयामासुः—

इमामवस्थां गमितोऽसि येन नृपेण मोहादतिचापलेन ।
शापानलस्येन्धनतां स एव प्रयातु ते मा पुरमस्य धाक्षीः ॥ ५९ ॥
स्त्रीबालवृद्धातुरविप्रदीनाननागसो नार्हसि दग्धुमत्र ।
तत्साधु देशं क्षितिपस्य तस्य स्वं चैव धर्मं गुणपक्ष रक्ष ॥ ६० ॥

अथैतान् बोधिसत्त्वः समाश्वासयन्नुवाच – मा भैष्ट आयुष्मन्तः ।

सपाणिपादमसिना कर्णनासमनागसः ।
छिन्नवान् योऽपि तावन्मे वने निवसतः सतः ॥ ६१ ॥
कथं तस्यापि दुःखाय चिन्तयेदपि मद्विधः ।
चिरं जीवत्वसौ राजा मा चैनं पापमागमत् ॥ ६२ ॥
मरणव्याधिदुःखार्ते लोभद्वेषवशीकृते ।
दग्धे दुश्चरितैः शोच्ये कः कोपं कर्तुमर्हति ॥ ६३ ।
स्यात्क्षभ्यरूपस्तु यदि क्रमोऽयं मय्येव पच्येत तदस्य पापम् ।
दुःखानुबन्धो हि सुखोचितानां भवत्यदीर्घोऽप्यविषह्यतीक्ष्णः ॥ ६४ ॥
त्रातुं न शक्यस्तु मया यदेवं विनिर्दहन्नात्महितं स राजा ।
उत्सृज्य तामात्मगतामशक्ति राज्ञे करिष्यामि किमित्यसूयाम् ॥ ६५ ॥
ऋतेऽपि राज्ञो मरणादिदुःखं जातेन सर्वेण निषेवितव्यम् ।
जन्मैव तेनात्र न मर्षणीयं तन्नास्ति चेत्किं च कुतश्च दुःखम् ॥ ६६ ॥
कल्पाननल्पान् बहुधा विनष्टं शरीरकं जन्मपरंपरासु ।
जह्यां कथं तत्प्रलये तितिक्षां तृणस्य हेतोरिव रत्नजातम् ॥ ६७ ॥
वने वसन् प्रव्रजितप्रतिज्ञः क्षमाभिधायी नचिरान्मरिष्यन् ।
किमक्षमायां प्रणयं करिष्ये तद्भैष्ट मा स्वस्ति च वोऽस्तु यात ॥ ६८ ।
इति स मुनिवरोऽनुशिष्य तान् सममुपनीय च साधुशिष्यताम् ।
अविचलितधृतिः क्षमाश्रयात्समधिरुरोह दिवं क्षमाश्रयात् ॥ ६९ ॥

तदेवं सात्मीभूतक्षमाणां प्रतिसंख्यानमहतां नाविषह्यं नामास्तीति क्षान्तिगुणसंवर्णने मुनिमुपनीय वाच्यम् । चापलाक्षान्तिदोषनिदर्शने राजानमुपनीय कामादीनवकथायामपि वाच्यम्—एवं कामहेतोर्दुश्चरितमासेव्य विनिपातभागिनो भवन्तीति । संपदामनित्यतासंदर्शने चेति ।

॥ इति क्षान्ति-जातकमष्टाविंशतितमम् ॥

२९. ब्रह्म-जातकम्

मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवद्यानीति विशेषानुकम्प्याः सतां दृष्टिव्यसनगताः । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलायं भगवान् ध्यानाभ्यासोपचितस्य कुशलस्य कर्मणो

विपाकप्रभावाद् ब्रह्मलोके जन्म प्रतिलेभे। तस्य तन्महदपि ध्यानविशेषाधिगतं ब्राह्मं सुखं पूर्वजन्मसु कारुण्यपरिचयान्नैव परहितकरणव्यापारनिरुत्सुकं मनश्चकार।

विषयसुखेनापि परां प्रमादवक्तव्यतां व्रजति लोकः।
ध्यानसुखैरपि तु सतां न तिरस्क्रियते परहितेच्छा॥ १॥

अथ कदाचित्स महात्मा करुणाश्रयभूतं विविधदुःखव्यसनशतोपसृष्टमुत्क्लिष्टव्यापादविहिंसाकामधातुं कामधातुं व्यलोकयन् ददर्श विदेहराजमङ्गदिन्नं नाम कुमित्रसंपर्कदोषादसन्मनस्कारपरिचयाच्च मिथ्यादृष्टिगहने परिभ्रमन्तम्। नास्ति परलोकः, कुतः शुभाशुभानां कर्मणां विपाक इत्येवं स निश्चयमुपेत्य प्रशान्तधर्मक्रियौत्सुक्यः प्रदानशीलादिसुकृतप्रतिपत्तिविमुखः संरूढपरिभवबुद्धिर्धार्मिकेष्वश्रद्धारूक्षमतिर्धर्मशास्त्रेषु परिहासचित्तः परलोककथासु शिथिलविनयोपचारगौरवबहुमानः श्रमणब्राह्मणेषु कामसुखपरायणो बभूव।

शुभाशुभं कर्म सुखासुखोदयं ध्रुवं परत्रेति विरूढनिश्चयः।
अपास्य पापं यतते शुभाश्रयो यथेष्टमश्रद्धतया तु गम्यते॥ २॥

अथ स महात्मा देवर्षिस्तस्य राज्ञस्तेन दृष्टिव्यसनोपनिपातेनापायिकेन लोकानर्थाकरभूतेन समावर्जितानुकम्पस्तस्य राज्ञो विषयसुखाकलितमतेः श्रीमति प्रविविक्ते विमानदेशेऽवतिष्ठमानस्याभिज्वलन् ब्रह्मलोकात्पुरस्तात्समवततार।

अथ स राजा तमग्निस्कन्धमिव ज्वलन्तं विद्युत्समूहमिव चावभासमानं दिनकरकिरणसंघातमिव च परया दीप्त्या विरोचमानमभिवीक्ष्य तत्तेजसाभिभूतमतिः ससंभ्रमः प्राञ्जलिरेनं प्रत्युत्थाय सबहुमानमुदीक्षमाण इत्युवाच—

करोति ते भूरिव संपरिग्रहं नभोऽपि पद्मोपमपाद पादयोः।
विभासि सौरीमिव चोद्वहन् प्रभां विलोचनानन्दनरूप को भवान्॥ ३॥

बोधिसत्त्व उवाच—

जित्वा दृप्तौ शात्रवमुख्याविव संख्ये
रागद्वेषौ चित्तसमादानबलेन।
ब्राह्मं लोकं येऽभिगता भूमिप तेषां
देवर्षीणामन्यतमं मां त्वमवेहि॥ ४॥

इत्युक्ते स राजा स्वागतादिप्रियवचनपुरःसरं पाद्यार्घ्यसत्कारमस्मै समुपहृत्य सविस्मयमेनमभिवीक्षमाण उवाच-आश्चर्यरूपः खलु ते महर्षे ऋद्धिप्रभावः।

प्रासादभित्तिष्वविषज्यमानश्चंक्रम्यसे व्योम्नि यथैव भूमौ।
शतह्रदोन्मेषसमृद्धदीप्ते प्रचक्ष्व तत्केन तवेयमृद्धिः॥ ५॥

बोधिसत्त्व उवाच—

ध्यानस्य शीलस्य च निर्मलस्य वरस्य चैवेन्द्रियसंवरस्य।
सात्मीकृतस्यान्यभवेषु राजन्नेवंप्रकारा फलसिद्धिरेषा॥ ६॥

राजोवाच—किं सत्यमेवेदमस्ति परलोक इति? ब्रह्मोवाच-आम्। अस्ति महाराज परलोकः। राजोवाच-कथं पुनरिदं मार्ष शक्यमस्माभिरपि श्रद्धातुं स्यात्?

बोधिसत्त्व उवाच-स्थूलमेतन्महाराज प्रत्यक्षादिप्रमाणयुक्तिग्राह्यमाप्तजननिर्दर्शितक्रमं परीक्षाक्रमगम्यं च । पश्यतु भवान् ।

चन्द्रार्कनक्षत्रविभूषणा द्यौस्तिर्यग्विकल्पाश्च वहुप्रकाराः ।
प्रत्यक्षरूपः परलोक एष मा तेऽत्र संदेहजडा मतिर्भूत् ॥ ७ ॥
जातिस्मराः सन्ति च तत्र तत्र ध्यानाभियोगात्स्मृतिपाटवाच्च ।
अतोऽपि लोकः परतोऽनुमेयः साक्ष्यं च नन्वत्र कृतं मयैव ॥ ८ ॥
यद्बुद्धिपूर्वैव च बुद्धिसिद्धिर्लोकः परोऽस्तीति ततोऽप्यवेहि ।
आद्या हि या गर्भगतस्य बुद्धिः सानन्तरं पूर्वकजन्मबुद्धेः ॥ ९ ॥
ज्ञेयावबोधं च वदन्ति बुद्धिं जन्मादिबुद्धेर्विषयोऽस्ति तस्मात् ।
न चैहिकोऽसौ नयनाद्यभावात्सिद्धौ यदीयस्तु परः स लोकः ॥ १० ॥
पित्र्यं स्वभावं व्यतिरिच्य दृष्टः शीलादिभेदश्च यतः प्रजानाम् ।
नाकस्मिकस्यास्ति च यत्प्रसिद्धिर्जात्यन्तराभ्यासमयः स तस्मात् ॥ ११ ॥
पटुत्वहीनेऽपि मतिप्रभावे जडप्रकारेष्वपि चेन्द्रियेषु ।
विनोपदेशात्प्रतिपद्यते यत्प्रसूतमात्रः स्तनपानयत्नम् ॥ १२ ॥
आहारयोग्यासु कृतश्रमत्वं तद्दर्शयत्यस्य भवान्तरेषु ।
अभ्याससिद्धिर्हि पटूकरोति शिक्षागणं कर्मसु तेषु तेषु ॥ १३ ॥

तत्र चेत्परलोकसंप्रत्ययापरिचयात्स्यादियमाशङ्का भवतः—

यत्संकुचन्ति विकसन्ति च पङ्कजानि
कामं तदन्यभवचेष्टितसिद्धिरेषा ।
नो चेत्तदिष्टमथ किं स्तनपानयत्नं
जात्यन्तरीयकपरिश्रमजं करोषि ॥ १४ ॥

सा चाशङ्का नानुविधेया नियमानियमदर्शनात्प्रयत्नानुपपत्त्युपपत्तिभ्यां च ।

दृष्टो हि कालनियमः कमलप्रबोधे
संमीलने च न पुनः स्तनपानयत्ने ।
यत्नश्च नास्ति कमले स्तनपे तु दृष्टः
सूर्यप्रभाव इति पद्मविकासहेतुः ॥ १५ ॥

तदेवं महाराज सम्यगुपपरीक्षमाणेन शक्यमेतच्छ्रद्धातुम्—अस्ति परलोक इति । अथ स राजा मिथ्यादृष्टिपरिग्रहाभिनिविष्टबुद्धित्वादुपचितपापत्वाच्च तां परलोककथां श्रुत्वा असुखायमान उवाच—भो महर्षे,

लोकः परो यदि न बालविभीषिकैषा
ग्राह्यं मयैतदिति वा यदि मन्यसे त्वम् ।
तेनेह नः प्रदिश निष्कशतानि पञ्च
तत्ते सहस्रमहमन्यभवे प्रदास्ये ॥ १६ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तदस्य प्रागल्भ्यपरिचयर्निर्विशङ्कं मिथ्यादृष्टिविषोद्गारभूतम-समुदाचारवचनं युक्तेनेव क्रमेण प्रत्युवाच—

इहापि तावद्धनसंपदर्थिनः प्रयुञ्जते नैव धनं दुरात्मनि ।
न घस्मरे नानिपुणे न चालसे गतं हि यत्तत्र तदन्तमेति तत् ।। १७ ।।
यमेव पश्यन्ति तु सत्यपत्रपं शमाभिजातं व्यवहारनैपुणम् ।
ऋणं प्रयच्छन्ति रहोऽपि तद्विधे तदर्पणं ह्यभ्युदयावहं धनम् ।। १८ ।
क्रमश्च तावद्विध एव गम्यतामृणप्रयोगे नृप पारलौकिके ।
त्वयि त्वसद्दर्शनदुष्टचेष्टिते धनप्रयोगस्य गतिर्न विद्यते ।। १९ ।।
कुदृष्टिदोषप्रभवैर्हि दारुणैर्निपातितं त्वां नरके स्वकर्मभिः ।
विचेतसं निष्कसहस्रकारणाद्रुजातुरं कः प्रतिचोदयेत्ततः ।। २० ।।
न तत्र चन्द्रार्ककरैर्दिगङ्गना विभान्ति संक्षिप्ततमोऽवगुण्ठनाः ।
न चैव तारागणभूषणं नभः सरः प्रबुद्धैः कुमुदैरिवेक्ष्यते ।। २१ ।।
परत्र यस्मिन्निवसन्ति नास्तिका घनं तमस्तत्र हिमश्च मारुतः ।
करोति योऽस्थीन्यपि दारयन् रुजं तमात्मवान् कः प्रविशेद्धनेप्सया ।। २२ ।।
घनान्धकारे पटुधूमदुर्दिने भ्रमन्ति केचिन्नरकोदरे चिरम् ।
स्ववध्रचीरप्रविकर्षणातुराः परस्परप्रस्खलनार्तनादिनः ।। २३ ।।
विशीर्यमाणैश्चरणैर्मुहुर्मुहुर्ज्वलत्कुकूले नरके तथापरे ।
दिशः प्रधावन्ति तदुन्मुमुक्षया न चान्तमायान्त्यशुभस्य नायुषः ।। २४ ।।
आतक्ष्य तक्षाण इवापरेषां गात्राणि रौद्रा विनियम्य याम्याः ।
निस्तक्ष्णुवन्त्येव शिताग्रशस्त्राः सार्द्रेषु दारुष्विव लब्धहर्षाः ।। २५ ।।
समुत्कृत्तसर्वत्वचो वेदनार्ता विमांसीकृताः केचिदप्यस्थिशेषाः ।
न चायान्ति नाशं धृता दुष्कृतैः स्वैस्तथा चापरे खण्डशश्छिद्यमानाः ।। २६ ।।
ज्वलितपृथुखलीनपूर्णवक्त्राः स्थिरदहनासु महीष्वयोमयीषु ।
ज्वलनकपिलयोक्त्रतोत्रवश्याश्चिरमपरे ज्वलतो रथान् वहन्ति ।। २७ ।।

संघातपर्वतसमागमपिष्टदेहाः
केचित्तदाक्रमणचूर्णितमूर्तयोऽपि ।
दुःखे महत्यविकलेऽपि च नो म्रियन्ते
यावत्परिक्षयमुपैति न कर्म पापम् ।। २८ ।।

द्रोणीषु केचिज्ज्वलनोज्ज्वलासु लौहैर्महद्भिर्मुसलैर्ज्वलद्भिः ।
समानि पञ्चापि समाशतानि संचूर्ण्यमाना विसृजन्ति नासून् ।। २९ ।।
तीक्ष्णायसज्वलितकण्टककर्कशेषु तप्तेषु विद्रुमनिभेष्वपरे द्रुमेषु ।
पाट्यन्त ऊर्ध्वमध एव च कृष्यमाणाः क्रूरै रवैरपुरुषैः पुरुषैर्यमस्य ।। ३० ।।
ज्वलितेषु तप्ततपनीयनिभेष्वङ्गारराशिषु महत्स्वपरे ।
उपभुञ्जते स्वचरितस्य फलं विस्पन्दितारसितमात्रबलाः ।। ३१ ।।

केचित्तीक्ष्णैः शङ्कुशतैराततजिह्वा
ज्वालामालादीप्ततरायां वसुधायाम् ।
रारट्यन्ते तीव्ररुजाविष्टशरीराः
प्रत्याय्यन्ते ते च तदानीं परलोकम् ।। ३२ ।।

आवेष्टयन्ते लोहपट्टैर्ज्वलद्भिर्निष्क्वाथ्यन्ते लोहकुम्भीष्वथान्ये ।
केचित्तीक्ष्णैः शस्त्रवर्षैः क्षताङ्गा निस्त्वङ्मांसा व्यालसंघैः क्रियन्ते ॥ ३३ ॥
केचित्क्लान्ता वह्निसंस्पर्शतीक्ष्णं क्षारं तोयं वैतरण्यां विशन्ति ।
संशीर्यन्ते यत्र मांसानि तेषां नो तु प्राणा दुष्कृतैर्धार्यमाणाः ॥ ३४ ॥
अशुचिकुणपमभ्युपेयिवांसो ह्रदमिव दाहपरिश्रमार्तचित्ताः ।
अतुलमनुभवन्ति तत्र दुःखं क्रिमिशतजर्जरितास्थिभिः शरीरैः ॥ ३५ ॥
ज्वलनपरिगता ज्वलच्छरीराश्चिरमपरेऽनुभवन्ति दाहदुःखम् ।
ज्वलनपरिगतायसप्रकाशाः स्वकृतधृता न च भस्मसाद्भवन्ति ॥ ३६ ॥

पाट्यन्ते क्रकचैर्ज्वलद्भिरपरे केचिन्निशातैः क्षुरैः
केचिन्मुद्गरवेगपिष्टशिरसः कूजन्ति शोकातुराः ।
पच्यन्ते पृथुशूलभिन्नवपुषः केचिद्विधूमेऽनले
पाय्यन्ते ज्वलिताग्निवर्णमपरे लौहं रसन्तो रसम् ॥ ३७ ॥

अपरे श्वभिर्भृशबलैः शबलैरभिपत्य तीक्ष्णदशनैर्दशनैः ।
परिलुप्तमांसतनवस्तनवः प्रपतन्ति दीनविरुता विरुताः ॥ ३८ ॥

एवंप्रकारमसुखं निरयेषु घोरं
प्राप्तो भविष्यति (भवान्) स्वकृतप्रणुन्नः ।
शोकातुरं श्रमविषादपरीतचित्तं
याचेद्दणं क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ३९ ॥

लौहीषु दुर्जनकलेवरसंकुलासु
कुम्भीष्वभिज्वलितवह्निदुरासदासु ।
प्रक्वाथवेगवशगं विवशं भ्रमन्तं
याचेद्दणं क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ४० ॥

यच्चायसज्वलितकीलनिबद्धदेहं
निर्धूमवह्निकपिले वसुधातले वा ।
निर्दह्यमानवपुषं करुणं रुदन्तं
याचेद्दणं क इव नाम तदा भवन्तम् ॥ ४१ ॥

प्राप्तं पराभवं तं दुःखानि महान्ति कस्तदानुभवन्तम् ।
याचेद्दणं भवन्तं प्रतिवचनमपि प्रदातुमप्रभवन्तम् ॥ ४२ ॥
विशस्यमानं हिममारुतेन वा निकूजितव्येऽपि विपन्नविक्रमम् ।
विदार्यमाणं भृशमार्तिनादिनं परत्र कस्त्वार्हति याचितुं धनम् ॥ ४३ ॥
विहिंस्यमानं पुरुषैर्यमस्य वा विचेष्टमानं ज्वलितेऽथवानले ।
श्ववायसैर्व्याहृतमांसशोणितं परत्र कस्त्वा धनयाच्ञया तुदेत् ॥ ४४ ॥
वधविकर्तनताडनपाटनैर्दहनतक्षणपेषणभेदनैः ।
विशसनैर्विविधैश्च सदातुरः कथमृणं प्रतिदास्यसि मे तदा ॥ ४५ ॥

अथ स राजा, तां निरयकथामतिभीषणां समुपश्रुत्य जातसंवेगस्त्यक्तमिथ्या-दृष्टयनुरागो लब्धसंप्रत्ययः परलोके, तमृषिवरं प्रणम्योवाच—

निशम्य तावन्नरकेषु यातनां भयादिदं विद्रवतीव मे मनः ।
कथं भविष्यामि न तां समेयिवान् वितर्कवह्निर्दहतीव मां पुनः ॥ ४

मया ह्यसद्दर्शननष्टचेतसा कुवर्त्मना यातमदीर्घदर्शिना ।
तदत्र मे साधुगतिर्गतिर्भवान् परायणं त्वं शरणं च मे मुने ॥ ४

यथैव मे दृष्टितमस्त्वयोद्धृतं दिवाकरेणेव समुद्यता तमः ।
तथैव मार्गं त्वमृषे प्रचक्ष्व मे भजेय येनाहमितो न दुर्गतिम् ॥ ४

अथैनं बोधिसत्त्वः संविग्नमानसमृजूभूतदृष्टिं धर्मप्रतिपत्तिपात्रभूतमवेक्ष्य पुत्रमाचार्य इव च शिष्यमनुकम्पमान इति समनुशशास —

सुशिष्यवृत्त्या श्रमणद्विजेषु पूर्वे गुणप्रेम यथा विचक्रुः ।
नृपाः स्ववृत्त्या च दयां प्रजासु कीर्तिक्षमः स त्रिदिवस्य पन्थाः ॥ ४०

अधर्ममस्माद् भृशदुर्जयं जयन् कदर्यभावं च दुरुत्तरं तरन् ।
उपैहि रत्नातिशयोज्ज्वलं ज्वलन् दिवस्पतेः काञ्चनगोपुरं पुरम् ॥ ५०

मनस्यसद्दर्शनसंस्तुतेऽस्तु ते रुचिस्थिरं सज्जनसंमतं मतम् ।
जहीहि तं बालिशरञ्जनैर्जनैः प्रवेदितोऽधर्मविनिश्चयश्च यः ॥ ५१

त्वया हि सद्दर्शनसाधुनाधुना नरेन्द्र वृत्तेन यियासता सता ।
यदैव चित्ते गुणरूक्षता क्षता तदैव ते मार्गकृतास्पदं पदम् ॥ ५२

कुरुष्व तस्माद् गुणसाधनं धनं शिवां च लोके स्वहितोदयां दयाम् ।
स्थिरं च शीलेन्द्रियसंवरं वरं परत्र हि स्यादशिवं न तेन ते ॥ ५३ ॥

स्वपुण्यलक्ष्म्या नृप दीप्तयाप्तया सुकृत्सु शुक्लत्वमनोज्ञयाज्ञया ।
चरात्मनोऽर्थप्रतिसंहितं हितं जगद्व्यथां कीर्तिमनोहरं हरन् ॥ ५४

त्वमत्र सन्मानससारथी रथी स्व एव देहो गुणसूरथो रथः ।
अरूक्षताक्षो दमदानचक्रवान् समन्वितः पुण्यमनीषयेषया ॥ ५५

यतेन्द्रियाश्वः स्मृतिरश्मिसंपदा मतिप्रतोदः श्रुतिविस्तरायुधः ।
ह्र्युपस्करः संनतिचारुकूबरः क्षमायुगो दाक्ष्यगतिर्धृतिस्थिरः ॥ ५६

असद्वचःसंयमनादकूजनो मनोज्ञवाङ् मन्द्रगभीरनिस्वनः ।
अमुक्तसंधिर्नियमाविखण्डनादसत्क्रियाजिह्मविवर्जनार्जवः ॥ ५७ ॥

अनेन यानेन यशःपताकिना दयानुयात्रेण शमोच्चकेतुना ।
चरन् परात्मार्थममोहभास्वता न जातु राजन्निरयं गमिष्यसि ॥ ५८

इति स महात्मा तस्य राज्ञस्तदसद्दर्शनान्धकारं भास्वरैर्वचनकिरणैर्व्य... प्रकाश्य चास्मै सुगतिमार्गं तत्रैवान्तर्दधे। अथ स राजा समुपलब्धपरलोकवृत्त... तत्त्वः प्रतिलब्धसम्यग्दर्शनचेताः सामात्यपौरजानपदो दानदमसंयमपरायणो बभूव

तदेवं मिथ्यादृष्टिपरमाण्यवद्यानीति विशेषेणानुकम्प्याः सतां दृष्टिव्यसनगत... एवं सद्धर्मश्रवणं परिपूर्णां श्रद्धां परिपूरयतीत्येवमप्युपनेयम्। एवं परतो ध... श्रवणं सम्यग्दृष्ट्युत्पादप्रत्ययो भवतीत्येवमप्युपनेयम्। एवमासादनामपि स...

स्तद्धितोपदेशेन प्रतिनुदन्ति क्षमापरिचयान्न पारुष्येणेति सत्प्रशंसायां क्षमावर्णेऽपि वाच्यम् । संवेगादेवमाशु श्रेयोभिमुखता भवतीति संवेगकथायामपि वाच्यमिति ।

।। इति ब्रह्म-जातकमेकोनत्रिंशत्तमम् ।।

———

३०. हस्ति-जातकम्

परहितोदर्कं दुःखमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किल अन्यतमस्मिन् नागवने पुष्पफलपल्लवालक्षितशिखरैरलंकृत इव तत्र तरुवरतरुणैर्विविधवीरुत्तरुतृणपिहितभूमिभागे वनरामणीयकनिबद्धहृदयैरनुत्कण्ठितमध्यास्यमान इव पर्वतस्थलैराश्रयभूते वनचराणां गम्भीरविपुलसलिलाशयसनाथे महता निर्वृक्षक्षुपसलिलेन कान्तारेण समन्ततस्तिरस्कृतजनान्ते महाकाय एकचरो हस्ती बभूव ।

स तत्र तरुपर्णेन बिसेन सलिलेन च ।
अभिरेमे तपस्वीव संतोषेण शमेन च ।। १ ।।

अथ कदाचित्स महासत्त्वस्तस्य वनस्य पर्यन्ते विचरन् यतस्तत्कान्तारं ततो जनशब्दमुपशुश्राव । तस्य चिन्ता प्रादुरभूत्-किं नु खल्विदम् ? न तावदनेन प्रदेशेन कश्चिद्देशान्तरगामी मार्गोऽस्ति । एवं महत्कान्तारं च व्यतीत्य मृगयापि न युज्यते प्रागेव महासमारम्भपरिखेदमस्मत्सयूथ्यग्रहणम् ।

व्यक्तं त्वेते परिभ्रष्टा मार्गाद्वा मूढदेशिका ।
निर्वासिता वा क्रुद्धेन राज्ञा स्वेनानयेन वा ।। २ ।।
तथा ह्ययमनोजस्को नष्टहर्षोद्धवद्रवः ।
केवलार्तिबलः शब्दः श्रूयते रुदतामिव ।। ३ ।।

तज्ज्ञास्यामि तावदेनमिति स महासत्त्वः करुणया समाकृष्यमाणो यतः स जननिर्घोषो बभूव ततः प्रससार । विस्पष्टतरविलापं च विषाददैन्यविरसं तमाक्रन्दितशब्दमुपश्रृण्वन् कारुण्यपर्युत्सुकमनाः स महात्मा द्रुततरं ततोऽभ्यगच्छत् । निर्गम्य च तस्माद्वनगहनान्निर्वृक्षक्षुपत्वात्तस्य देशस्य दूर एवावलोकयन् ददर्श सप्तमात्राणि पुरुषशतानि क्षुत्तर्षपरिश्रममन्दानि तद्वनमभिमुखानि प्रार्थयमानानि । तेऽपि च पुरुषास्तं महासत्त्वं ददृशुर्जङ्गममिव हिमगिरिशिखरं नीहारपुञ्जमिव शरद्बलाहकमिव पवनबलावर्जितमभिमुखमायान्तम् । दृष्ट्वा च विषाददैन्यपरीता हन्तेदानीं नष्टा वयमिति भयग्रस्तमनसोऽपि क्षुत्तर्षपरिश्रमविहतोत्साहा नापयानप्रयत्नपरा बभूवुः ।

ते विषादपरीतत्वात्क्षुत्तर्षश्रमविह्वलाः ।
नापयानसमुद्योगं भयेऽपि प्रतिपेदिरे ।। ४ ।।

अथ बोधिसत्त्वो भीतानवेत्यैतान्—मा भैष्ट, भैष्ट न वो भयमस्ति मत्त इति समुच्छ्रितेन स्निग्धाभिताम्रपृथुपुष्करेण करेण समाश्वासयन्नभिगम्य करुणायमाणः पप्रच्छ—केऽत्रभवन्तः ? केन चेमां दशामनुप्राप्ताः स्थ ?

रजःसूर्यांशुसंपर्काद्विवर्णाकृतयः कृशाः ।
शोकक्लमार्ताः के यूयमिह चाभिगताः कुतः ।। ५ ।।

अथ ते पुरुषास्तस्य तेन मानुषेणाभिव्याहारेणाभयप्रदानाभिव्यञ्जकेन चाभ्युपपत्तिसौमुख्येन प्रत्यागतहृदयाः समभिप्रणम्यैनमूचुः—

कोपोत्पातानिलेनेह क्षिप्ताः क्षितिपतेर्वयम् ।
पश्यतां शोकदीनानां बन्धूनां द्विरदाधिप ॥ ६ ॥
अस्ति नो भाग्यशेषस्तु लक्ष्मीश्चाभिमुखी ध्रुवम् ।
सुहृद्बन्धुविशिष्टेन यद् दृष्टा भवता वयम् ॥ ७ ॥
निस्तीर्णामापदं चेमां विद्मस्त्वद्दर्शनोत्सवात् ।
स्वप्नेऽपि त्वद्विधं दृष्ट्वा को हि नापदमुत्तरेत् ॥ ८ ॥

अथैनान् स द्विरदवर उवाच—अथ कियन्तोऽत्रभवन्त इति ? मनुष्या ऊचुः—

सहस्रमेतद्वसुधाधिपेन त्यक्तं नृणामत्र मनोज्ञगात्र ।
अदृष्टदुःखा बहवस्ततस्तु क्षुत्तर्षशोकाभिभवाद्विनष्टाः ॥ ९ ॥
एतानि तु स्युर्द्विरदप्रधान सप्तावशेषाणि नृणां शतानि ।
निमज्जतां मृत्युमुखे तु येषां मूर्तस्त्वमाश्वास इवाभ्युपेतः ॥ १० ॥

तच्छ्रुत्वा तस्य महासत्त्वस्य कारुण्यपरिचयादश्रूणि प्रावर्तन्त । समनुशोचंश्चैनान्नियतमीदृशं किंचिदुवाच—कष्टं भोः !

घृणाविमुक्ता बत निर्व्यपत्रपा नृपस्य बुद्धिः परलोकनिर्व्यथा ।
अहो तडिच्चञ्चलया नृपश्रिया हृतेन्द्रियाणां स्वहितानवेक्षिता ॥ ११ ॥
अवैति मन्ये न स मृत्युमग्रतः शृणोति पापस्य न वा दुरन्तताम् ।
अहो बतानाथतमा नराधिपा विमर्शमान्द्याद्वचनक्षमा न ये ॥ १२ ॥
देहस्यैकस्य नामार्थे रोगभूतस्य नाशिनः ।
इदं सत्त्वेषु नैर्घृण्यं धिगहो बत मूढताम् ॥ १३ ॥

अथ तस्य द्विरदपतेस्तान् पुरुषान् करुणास्निग्धमवेक्षमाणस्य चिन्ता प्रादुरभूत्—एवममी क्षुत्तर्षश्रमपीडिताः परिदुर्वलशरीरा निरुदकमप्रच्छायमनेकयोजनायाममं कान्तारमपथ्यादनाः कथं व्यतियास्यन्ति ? नागवनेऽपि च किं तदस्ति येनैषामेकाहमपि तावदपरिक्लेशेन वार्ता स्यात् ? शक्येयुः पुनरेते मदीयानि मांसानि पाथेयतामुपनीय दृतिभिरिव च ममान्त्रैः सलिलमादाय कान्तारमेतन्निस्तरितुं नान्यथा ।

करोमि तदिदं देहं बहुरोगशतालयम् ।
एषां दुःखपरीतानामापदुत्तरणप्लवम् ॥ १४ ॥
स्वर्गमोक्षसुखप्राप्तिसमर्थं जन्म मानुषम् ।
दुर्लभं च तदेतेषां मैवं विलयमागमत् ॥ १५ ॥
स्वगोचरस्थस्य ममाभ्युपेता धर्मेण चेमेऽतिथयो भवन्ति ।
आपद्गता बन्धुविवर्जिताश्च मया विशेषेण यतोऽनुकम्प्याः ॥ १६ ॥
चिरस्य तावद्बहुरोगभाजनं सदातुरत्वाद्विविधश्रमाश्रयः ।
शरीरसंज्ञोऽयमनर्थविस्तरः परार्थकृत्ये विनियोगमेष्यति ॥ १७ ॥

अथैनमन्ये क्षुत्तर्षश्रमधर्मदुःखातुरशरीराः कृताञ्जलयः साश्रुनयनाः समभिप्रणम्यार्ततया हस्तसंज्ञाभिः पानीयमयाचन्त ।

त्वं नो बन्धुरबन्धूनां त्वं गतिः शरणं च नः।
यथा वेत्सि महाभाग तथा नस्त्रातुमर्हसि ॥ १८ ॥

इत्येनमन्ये सकरुणमूचुः। अपरे त्वेनं धीरतरमनसः सलिलप्रदेशं कान्तारदुर्गोत्तारणाय च मार्गं पप्रच्छुः—

जलाशयः शीतजला सरिद्वा यद्यत्र वा नैर्झरमस्ति तोयम्।
छायाद्रुमः शाद्वलमण्डलं वा तन्नो द्विपानामधिप प्रचक्ष्व ॥ १९ ॥
कान्तारं शक्यमेतच्च निस्तर्तुं मन्यसे यतः।
अनुकम्पां पुरस्कृत्य तां दिशं साधु निर्दिश ॥ २० ॥

संबहुलानि हि दिनान्यत्र नः कान्तारे परिभ्रमताम्। तदर्हसि नः स्वामिन्निस्तारयितुमिति।

अथ स महात्मा तैः करुणैः प्रयाचितैस्तेषां भृशतरमाक्लेदितहृदयो यतस्तत्कान्तारं शक्यं निस्तर्तुं बभूव, तत एषां पर्वतस्थलं संदर्शयन्नभ्युच्छ्रितेन भुजगवरभोगपीवरेण करेणोवाच—अस्य पर्वतस्थलस्याधस्तात्पद्मोत्पलालंकृतविमलसलिलमस्ति महत्सरः। तदनेन मार्गेण गच्छत। तत्र च व्यपनीतघर्मतर्षक्लमास्तस्यैव नातिदूरेऽस्मात्पर्वतस्थलात्पतितस्य हस्तिनः शरीरं द्रक्ष्यथ। तस्य मांसानि पाथेयतामानीय दृतिभिरिव तस्यान्त्रैः सलिलमुपगृह्यानयैव दिशा यातव्यम्। एवमल्पकृच्छ्रेण कान्तारमिदं व्यतियास्यथ। इति स महात्मा तान् पुरुषान् समाश्वासनपूर्वकं ततः प्रस्थाप्य ततो द्रुततरमन्येन मार्गेण तद्गिरिशिखरमारुह्य तस्य जनकायस्य निस्तारणापेक्षया स्वशरीरं ततो मुमुक्षुर्नियतमिति प्रणिधिमुपबृंहयामास—

नायं प्रयत्नः सुगतिं ममाप्तुं नैकातपत्रां मनुजेन्द्रलक्ष्मीम्।
सुखप्रकर्षैकरसां न च द्यां ब्राह्मीं श्रियं नैव न मोक्षसौख्यम् ॥ ११ ॥
यत्त्वस्ति पुण्यं मम किंचिदेवं कान्तारमग्नं जनमुज्जिहीर्षोः।
संसारकान्तारगतस्य तेन लोकस्य निस्तारयिता भवेयम् ॥ २२ ॥

इति विनिश्चित्य स महात्मा प्रमोदादगणितप्रपातनिष्पेषमरणदुःखं स्वशरीरं तस्माद् गिरितटाद्यथोद्देशं मुमोच—

रेजे ततः स निपतञ्छरदीव मेघः
पर्यस्तविम्ब इव चास्तगिरेः शशाङ्कः।
तार्क्ष्यस्य पक्षपवनोग्रजवापविद्धं
शृङ्गं गिरेरिव च तस्य हिमोत्तरीयम् ॥ २३ ॥
आकम्पयन्नथ धरां धरणीधरांश्च
मारस्य च प्रभुमदाध्युषितं च चेतः।
निर्घातपिण्डितरवं निपपात भूमावावर्जयन् वनलता वनदेवताश्च ॥ २४ ॥
असंशयं तद्वनसंश्रयास्तदा मनस्सु विस्फारितविस्मयाः सुराः।
विचिक्षिपुर्व्योम्नि मुदोत्तनूरुहाः समुच्छ्रितैकाङ्गुलिपल्लवान् भुजान् ॥ २५ ॥

सुगन्धिभिश्चन्दनचूर्णरञ्जितैः प्रसक्तमन्ये कुसुमैरवाकिरन् ।
अतान्तवैः काञ्चनभक्तिराजितैस्तमुत्तरीयैरपरे विभूषणैः ॥ २६ ॥
स्तवैः प्रसादग्रथितैस्तथापरे समुद्यतैश्चाञ्जलिपद्मकुड्मलैः ।
शिरोभिरावर्जितचारुमौलिभिर्नमस्क्रियाभिश्च तमभ्यपूजयन् ॥ २७ ॥
सुगन्धिना पुष्परजोविकर्षणात्तरंगमालारचनेन वायुना ।
तमव्यजन् केचिदथाम्बरेऽपरे वितानमस्योपदधुर्घनैर्घनैः ॥ २८ ॥
तमर्चितुं भक्तिवशेन केचन व्यरासयन् द्यां सुरदुन्दुभिस्वनैः ।
अकालजैः पुष्पफलैः सपल्लवैर्व्यभूषयंस्तत्र तरूनथापरे ॥ २९ ॥
दिशः शरत्कान्तिमयीं दधुः श्रियं रवेः कराः प्रांशुतरा इवाभवन् ।
मुदाभिगन्तुं तमिवास चार्णवः कुतूहलोत्कम्पितवीचिविभ्रमः ॥ ३० ॥

अथ ते पुरुषाः क्रमेण तत्सरः समुपेत्य तस्मिन् विनीतघर्मतर्षक्लमा यथाकथितं तेन महात्मना तदविदूरे हस्तिशरीरं नचिरमृतं ददृशुः । तेषां बुद्धिरभवत्—अहो यथायं सदृशस्तस्य द्विरदपतेर्हस्ती ।

भ्राता नु तस्यैष महाद्विपस्य स्याद् बान्धवो वान्यतमः सुतो वा ।
तस्यैव खल्वस्य सिताद्रिशोभं संचूर्णितस्यापि विभाति रूपम् ॥ ३१ ॥
कुमुदश्रीरिवैकस्था ज्योत्स्ना पुञ्जीकृतेव च ।
छायेव खलु तस्येयमादर्शतलसंश्रिता ॥ ३२ ॥

अथ तत्रैकेषां निपुणतरमनुपश्यतां बुद्धिरभवत्—यथा पश्यामः स एव खल्वयं दिग्वारणेन्द्रप्रतिस्पर्धिरूपातिशयः कुञ्जरवर आपद्गतानामबन्धुसुहृदामस्माकं निस्तारणापेक्षया गिरितटादस्मान्निपतित इति ।

यः स निर्घातवदभूत्कम्पयन्निव मेदिनीम् ।
व्यक्तमस्यैव पततः स चास्माभिर्ध्वनिः श्रुतः ॥ ३३ ॥
एतद्वपुः खलु तदेव मृणालगौरं
चन्द्रांशुशुक्लतनुजं तनुबिन्दुचित्रम् ।
कूर्मोपमाः सितनखाश्चरणास्त एते
वंशः स एव च धनुर्मधुरानतोऽयम् ॥ ३४ ॥
तदेव चेदं मदराजिराजितं सुगन्धिवाय्वायतपीनमाननम् ।
समुन्नतं श्रीमदनर्पिताङ्कुशं शिरस्तदेतच्च बृहच्छिरोधरम् ॥ ३५ ॥
विषाणयुग्मं तदिदं मधुप्रभं सदर्पचिह्नं तटरेणुनारुणम् ।
आदेशयन् मार्गमिमं च येन नः स एष दीर्घाङ्गुलिपुष्करः करः ॥ ३६ ॥

आश्चर्यमत्यद्भुतरूपं बत खल्विदम् ।

अदृष्टपूर्वान्वयशीलभक्तिषु क्षतेषु भाग्यैरपरिश्रुतेष्वपि ।
सुहृत्त्वमस्मासु बतेदमीदृशं सुहृत्सु वा बन्धुषु वास्य कीदृशम् ॥ ३७ ॥

सर्वथा नमोऽस्त्वस्मै महाभागाय ।

आपत्परीतान् भयशोकदीनानस्मद्विधानभ्युपपद्यमानः ।
कोऽप्येष मन्ये द्विरदावभासः सिषत्सतामुद्वहतीव वृत्तम् ॥ ३८ ॥

क्व शिक्षितोऽसावतिभद्रतामिमामुपासितः को न्वमुना गुरुर्वने ।
न रूपशोभा रमते विना गुणैर्जनो यदित्याह तदेतदीक्ष्यते ॥ ३९ ॥
अहो स्वभावातिशयस्य संपदा विदर्शितानेन यथार्हभद्रता ।
हिमाद्रिशोभेन मृतोऽपि खल्वयं कृतात्मतुष्टिर्हसतीव वर्ष्मणा ॥ ४० ॥

तत्क इदानीमस्य स्निग्धबान्धवसुहृत्प्रतिविशिष्टवात्सल्यस्यैवमभ्युपपत्तिसुमुखस्य स्वैः प्राणैरप्यस्मदर्थमुपकर्तुमभिप्रवृत्तस्यातिसाधुवृत्तस्य मांसमुपभोक्तुं शक्ष्यति ? युक्तं त्वस्माभिः पूजाविधिपूर्वकमग्निसत्कारेणास्यानृण्यमुपगन्तुमिति । अथ तान् बन्धुव्यसन इव शोकानुवृत्तिप्रवणहृदयान् साश्रुनयनान् गद्गदायमानकण्ठानवेक्ष्य कार्यान्तरमवेक्षमाणा धीरतरमनस ऊचुरन्ये—न खल्वेवमस्माभिरयं द्विरदवरः संपूजितः सत्कृतो वा स्यात् । अभिप्रायसंपादनेन त्वयमस्माभिर्युक्तः पूजयितुमिति पश्यामः ।

अस्मन्निस्तारणापेक्षी स ह्यसंस्तुतबान्धवः ।
शरीरं त्यक्तवानेवमिष्टमिष्टतरातिथिः ॥ ४१ ॥
अभिप्रायमतस्त्वस्य युक्तं समनुवर्तितुम् ।
अन्यथा हि भवेद्व्यर्थो ननु तस्यायमुद्यमः ॥ ४२ ॥
स्नेहादुद्यतमातिथ्यं सर्वस्वं तेन खल्विदम् ।
अप्रतिग्रहणाद्व्यर्थां कुर्यात्को न्वस्य सत्क्रियाम् ॥ ४३ ॥
गुरोरिव यतस्तस्य वचसः संप्रतिग्रहात् ।
सत्क्रियां कर्तुमर्हामः क्षेममात्मन एव च ॥ ४४ ॥
निस्तीर्य चेदं व्यसनं समग्रैः प्रत्येकशो वा पुनरस्य पूजा ।
करिष्यते नागवरस्य सर्वं बन्धोरतीतस्य यथैव कृत्यम् ॥ ४५ ॥

अथ ते पुरुषाः कान्तारनिस्तारणापेक्षया तस्य द्विरदपतेरभिप्रायमनुस्मरन्तस्तद्वचनमप्रतिक्षिप्य तस्य महासत्त्वस्य मांसान्यादाय दृतिभिरिव च तदन्त्रैः सलिलं तत्प्रदर्शितया दिशा स्वस्ति तस्मात्कान्ताराद्विनिर्ययुः ।

तदेवं परिहितोदर्कं दुःखमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते, इति साधुजनप्रशंसायां वाच्यम् । तथागतवर्णेऽपि, सत्कृत्य धर्मश्रवणे च भद्रप्रकृतिनिष्पादनवर्णेऽपि वाच्यम्—एवं भद्रा प्रकृतिरभ्यस्ता जन्मान्तरेष्वनुवर्तत इति । त्यागपरिचयगुणनिदर्शनेऽपि वाच्यम्—एवं द्रव्यत्यागपरिचयादात्मस्नेहपरित्यागमप्यकृच्छ्रेण करोतीति । यच्चोक्तं भगवता परिनिर्वाणसमये समुपस्थितेषु दिव्यकुसुमवादित्रादिषु—न खलु पुनरानन्द एतावता तथागतः सत्कृतो भवतीति, तच्चैवं निदर्शयितव्यम् । एवमभिप्रायसंपादनात्पूजा कृता भवति न गन्धमाल्याद्यभिहारेणेति ।

॥ इति हस्ति-जातकं त्रिंशत्तमम् ॥

———

३१. सुतसोम-जातकम्

श्रेयः समाधत्ते यथातथाप्युपनतः सत्संगम इति सज्जनापाश्रयेण श्रेयोऽर्थिना भवितव्यम् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् यशःप्रकाशवंशे गुणपरिग्रहप्रसङ्गात्
भूतप्रजानुरागे प्रतापानतदृप्तसामन्ते श्रीमति कौरव्यराजकुले जन्म प्रतिलेभे।
गुणशतकिरणमालिनः सोमप्रियदर्शनस्य सुतस्य सुतसोम इत्येवं पिता नाम चक्रे।
शुक्लपक्षचन्द्रमा इव प्रतिदिनमभिवर्धमानकान्तिलावण्यः कालक्रमादवाप्य स
सोपवेदेषु च वेदेषु वैचक्षण्यं दृष्टक्रमः सोत्तरकलानां कलानां लोक्यानां लोकप्रे
माननिकेतभूतः सम्यगभ्युपपत्तिसौमुख्यादभिवर्धमानादरात्परिपालननियमाच्च
रिव गुणानां बभूव।

शीलश्रुतत्यागदयादमानां तेजःक्षमाधीधृतिसंनतीनाम्।
अनुन्नतिह्रीमतिकान्तिकीर्तिदाक्षिण्यमेधाबलशुक्लतानाम् ॥ १॥
तेषां च तेषां स गुणोदयानामलंकृतानामिव यौवनेन।
विशुद्धतौदार्यमनोहराणां चन्द्रः कलानामिव संश्रयोऽभूत् ॥ २॥

अतश्चैनं स राजा लोकपरिपालनसामर्थ्यादक्षुद्रभद्रप्रकृतित्वाच्च यौवर
विभूत्या संयोजयामास।

विद्वत्तया त्वासुरतीव तस्य प्रियाणि धर्म्याणि सुभाषितानि।
आनर्च पूजातिशयैरतस्तं सुभाषितैरेनमुपागमद्यः ॥ ३॥

अथ कदाचित्स महात्मा कुसुममासप्रभावविरचितकिसलयलक्ष्मीमाधु
प्रविकसत्कुसुममनोज्ञप्रहसितानि प्रविततनवशाद्वलकुथास्तरणसनाथधरणीतल
कमलोत्पलदलास्तीर्णनिर्मलनीलसलिलानि भ्रमद्भ्रमरमधुकरीगणोपगीतान्यनिभृत
भृतबर्हिगणानि मृदुसुरभिशिशिरसुखपवनानि मनःप्रसादोद्भावनानि नगरोपवना
नुविचरन् अन्यतममुद्यानवनं नातिमहता बलकायेन परिवृतः क्रीडार्थमुपनिर्जगाम।

स तत्र पुंस्कोकिलनादिते वने मनोहरोद्यानविमानभूषिते।
चचार पुष्पानतचित्रपादपे प्रियासहायः सुकृतीव नन्दने ॥ ४॥

गीतस्वनैर्मधुरतूर्यरवानुविद्धै-
नृत्यैश्च हावचतुरैर्ललिताङ्गहारैः।
स्त्रीणां मदोपहृतया च विलासलक्ष्म्या
रेमे स तत्र वनचारुतया तया च ॥ ५॥

तत्रस्थं चैनमन्यतमः सुभाषिताख्यायी ब्राह्मणः समभिजगाम। कृतोपच
सत्कारश्च तद्रूपशोभापहृतमनास्तत्रोपविवेश। इति स महासत्त्वो यौवनानुवृत
पुण्यसमृद्धिप्रभावोपनतं क्रीडाविधिमनुभवंस्तदागमनादुत्पन्नबहुमान एव तस्
ब्राह्मणे सुभाषितश्रवणादनवाप्तागमनफले सहसैवोत्पतितं गीतवादित्रस्वनोपरो
क्रीडाप्रसङ्गजनितप्रहर्षोपहन्तृ प्रमदाजनभयविषादजननं कोलाहलमुपश्रुत्य ज्ञाय
किमेतदिति सादरमन्तःपुरावचरान् समादिदेश। अथास्य दौवारिका भयविषा
दीनवदनाः ससंभ्रमं द्रुततरमुपेत्य न्यवेदयन्त—एष स देव पुरुषादः कल्माषपा
सौदासः साक्षादिवान्तको नरशतकदनकरणपरिचयाद्राक्षसाधिकक्रूरतरमतिर
मानुषबलवीर्यदर्पो रक्षःप्रतिभयरौद्रमूर्तिर्मूर्तिमानिव जगत्संत्रास इत एवाभिवर्तते

विद्रुतं च नस्तत्संत्रासग्रस्तधैर्यमुद्भ्रान्तरथतुरगद्विरदव्याकुलयोधं बलम्। यतः प्रतियत्नो भवतु देवः, प्राप्तकालं वा संप्रधार्यतामिति।

अथ सुतसोमो जानानोऽपि तानुवाच—भोः क एष सौदासो नाम? ते तं प्रोचुः—किमेतद्देवस्य न विदितं यथा सुदासो नाम राजा बभूव। स मृगयानिर्गतोऽश्वेनापहृतो वनगहनमनुप्रविष्टः सिंह्या सार्धं योगमगमत्। आपन्नसत्त्वा च सा सिंही संवृत्ता। कालान्तरेण च कुमारं प्रसुषुवे। स वनचरैर्गृहीतः सुदासायोपनीतः। अपुत्रोऽहमिति च कृत्वा सुदासेन संवर्धितः। पितरि च सुरपुरमुपगते स्वं राज्यं प्रतिलेभे। स मातृदोषादामिषेष्वभिसक्तः। इदमिदं रसवरं मांसमिति स मानुषं मांसमास्वाद्य स्वपौरानेव च हत्वा हत्वा भक्षयितुमुपचक्रमे। अथ पौरास्तद्वधायोद्योगं चक्रुः। यतोऽसौ भीतः सौदासो नररुधिरपिशितबलिभुग्भ्यो भूतेभ्य उपशुश्राव—अस्मात्संकटान्मुक्तोऽहं राज्ञां कुमारशतेन भूतयज्ञं करिष्यामीति। सोऽयं तस्मात्संकटान्मुक्तः। प्रसह्य प्रसह्य चानेन राजकुमारापहरणं कृतम्। सोऽयं देवमप्यपहर्तुमायातः। श्रुत्वा देवः प्रमाणमिति।

अथ स बोधिसत्त्वः पूर्वमेव विदितशीलदोषविभ्रमः सौदासस्य कारुण्यात्तच्चिकित्सावहितमतिराशंसमानश्चात्मनि तच्छीलविकृतप्रशमनसामर्थ्यं प्रियाख्यान इव च सौदासाभियाननिवेदने प्रीतिं प्रतिसंवेदयन्नियतमित्युवाच—

राज्याच्च्युतेऽस्मिन्नरमांसलोभादुन्मादवक्तव्य इवास्वतन्त्रे।
त्यक्तस्वधर्मे हतपुण्यकीर्तौ शोच्यां दशामित्यनुवर्तमाने॥ ६॥
को विक्रमस्यात्र ममावकाश एवंगताद्वा भयसंभ्रमस्य।
अयत्नसंरम्भपराक्रमेण पाप्मानमस्य प्रसभं निहन्मि॥ ७॥
गत्वापि यो नाम मयानुकम्प्यो मद्गोचरं स स्वयमभ्युपेतः।
युक्तं मयातिथ्यमतोऽस्य कर्तुमेवं हि सन्तोऽतिथिषु प्रवृत्ताः॥ ८॥

तद्यथाधिकारमत्रावहिता भवन्तु भवन्तः। इति स तानन्तःपुरावचराननुशिष्य विषादविपुलतरपारिप्लवाक्षमागद्गदविलुलितकण्ठं मार्गावरणसोद्यममाश्वासनपूर्वकं विनिवर्त्य युवतिजनं यतस्तत्कोलाहलं ततः प्रससार। दृष्ट्वैव च व्यायताबद्धमलिनवसनपरिकरं वल्कलपट्टविनियतं रेणुपरुषप्रलम्बव्याकुलशिरोरुहं प्ररूढश्मश्रुजालावनद्धान्धकारवदनं रोषसंरम्भव्यावृत्तरौद्रनयनमुद्यतासिचर्माणं सौदासं विद्रवदनुपतन्तं राजबलं विगतभयसाध्वसः समाजुहाव—अयमहमरे सुतसोमः। इत एव निवर्तस्व। किमनेन कृपणजनकदनकरणप्रसङ्गेनेति। तत्समाह्वानशब्दाकलितदर्पस्तु सौदासः सिंह इव ततो न्यवर्तत। निरावरणप्रहरणमेकाकिनं प्रकृतिसौम्यदर्शनमभिवीक्ष्य च बोधिसत्त्वमहमपि त्वामेव मृगयामीत्युक्त्वा निर्विशङ्कः सहसा संरम्भद्रुततरमभिसृत्यैनं स्कन्धमारोप्य प्रदुद्राव। बोधिसत्त्वोऽपि चैनं संरम्भदर्पोद्धतमानसं ससंभ्रमाकुलितमतिं राजबलविद्रावणादुपरूढप्रहर्षावलेपं साभिशङ्कमवेत्य नायमस्यानुशिष्टिकाल इत्युपेक्षांचक्रे। सौदासोऽप्यभिमतार्थप्रसिद्ध्या परमिव लाभमधिगम्य प्रमुदितमनाः स्वमावासदुर्गं प्रविवेश।

हतपुरुषकलेवराकुलं रुधिरसमुक्षितरौद्रभूतलम् ।
पुरुषमिव रुषावभर्त्संयत्स्फुटदहनैरशिवैः शिवारुतैः ॥ ९ ॥

गृध्रध्वाङ्क्षाध्यासनरूक्षारुणपर्णैः
कीर्णं वृक्षैर्नैकचिताधूमविवर्णैः ।
रक्षःप्रेतानर्तनबीभत्समशान्तं
दूराद् दृष्टं त्रासजडैः सार्थिकनेत्रैः ॥ १० ॥

समवतार्य च तत्र बोधिसत्त्वं तद्रूपसंपदा विनिबध्यमाननयनः प्रततं वीक्षमाणो विशश्राम । अथ बोधिसत्त्वस्य सुभाषितोपायनाभिगतं ब्राह्मणमकृतसत्कारं तदुद्यानविनिवर्तनप्रतीक्षिणमाशाबद्धहृदयमनुस्मृत्य चिन्ता प्रादुरभूत्—कष्टं भोः !

सुभाषितोपायनवानाशया दूरमागतः ।
स मां हृतमुपश्रुत्य विप्रः किं नु करिष्यति ॥ ११ ॥

आशाविघाताग्निपरीतचेता वैतान्यतीव्रेण परिश्रमेण ।
विनिश्वसिष्यत्यनुशोच्य वा मां स्वभाग्यनिन्दां प्रतिपत्स्यते वा ॥ १२ ॥

इति विचिन्तयतस्तस्य महासत्त्वस्य तदीयदुःखाभितप्तमनसः कारुण्यपरिचयादश्रूणि प्रावर्तन्त । अथ सौदासः साश्रुनयनमभिवीक्ष्य बोधिसत्त्वं समभिप्रहसन्नुवाच—मा तावद्भोः !

धीर इत्यसि विख्यातस्तैस्तैश्च बहुभिर्गुणैः ।
अथ चास्मद्वशं प्राप्य त्वमप्यश्रूणि मुञ्चसि ॥ १३ ॥

सुष्ठु खल्विदमुच्यते—

आपत्सु विफलं धैर्यं शोके श्रुतमपार्थकम् ।
न हि तद्विद्यते भूतमाहतं यन्न कम्पते ॥ १४ ॥ इति ।

तत्सत्यं तावद् ब्रूहि—

प्राणान् प्रियानथ धनं सुखसाधनं वा
बन्धून्नराधिपतितामथवानुशोचन् ।
पुत्रप्रियं पितरमश्रुमुखान् सुतान् वा
स्मृत्वेति साश्रुनयनत्वमुपागतोऽसि ॥ १५ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

न प्राणान् पितरौ न चैव तनयान् बन्धून्न दारान्न च
नैवैश्वर्यसुखानि संस्मृतवतो बाष्पोद्गमोऽयं मम ।
आशावांस्तु सुभाषितैरभिगतः श्रुत्वा हृतं मां द्विजो
नैराश्येन स दह्यते ध्रुवमिति स्मृत्वास्मि सास्रेक्षणः ॥ १६ ॥

तस्माद्विसर्जयितुमर्हसि तस्य याव-
दाशाविघातमथितं हृदयं द्विजस्य ।
संमाननाम्बुपरिषेकनवीकरोमि
तस्मात्सुभाषितमधूनि च संविभर्मि ॥ १७ ॥

प्राप्यैवमानृण्यमहं द्विजस्य गन्तास्मि भूयोऽनृणतां तवापि।
इहागमात्प्रीतिकृतक्षणाभ्यां निरीक्ष्यमाणो भवदीक्षणाभ्याम् ॥ १८ ॥
मा चापयातव्यनयोऽयमस्येत्येवं विशङ्काकुलमानसो भूः।
अन्यो हि मार्गो नृप मद्विधानामन्यादृशस्त्वन्यजनाभिपन्नः ॥ १९ ॥

सौदास उवाच—

इदं त्वया ह्यादृतमुच्यमानं श्रद्धेयतां नैव कथंचिदेति।
को नाम मृत्योर्वदनाद्विमुक्तः स्वस्थः स्थितस्तत्पुनरभ्युपेयात् ॥ २० ॥
दुस्तरं मृत्युभयं व्यतीत्य सुखे स्थितः श्रीमति वेश्मनि स्वे।
किं नाम तत्कारणमस्ति येन त्वं मत्समीपं पुनरभ्युपेयाः ॥ २१ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—कथमेवं महदपि ममागमनकारणमत्रभवान्नावबुध्यते? ननु मया प्रतिपन्नमागमिष्यामीति। तदलं मां खलजनसमतयैवं परिशङ्कितुम्। सुतसोमः खल्वहम्।

लोभेन मृत्योश्च भयेन सत्यं सत्यं यदेके तृणवत्त्यजन्ति।
सतां तु सत्यं वसु जीवितं च कृच्छ्रेऽप्यतस्तन्न परित्यजन्ति ॥ २२ ॥
न जीवितं यत्सुखमैहिकं वा सत्याच्च्युतं रक्षति दुर्गतिभ्यः।
सत्यं विजह्यादिति कस्तदर्थं यच्चाकरः स्तुतियशःसुखानाम् ॥ २३ ॥
संदृश्यमानव्यभिचारमार्गे त्वदृष्टकल्याणपराक्रमे वा।
श्रद्धेयतां नैति शुभं तथा च किं वीक्ष्य शङ्का तव मय्यपीति ॥ २४ ॥

त्वत्तो भयं यदि च नाम ममाभविष्यत्
सङ्गः सुखेषु करुणाविकलं मनो वा।
विख्यातरौद्रचरितं ननु वीरमानी
त्वामुद्यतप्रहरणावरणोऽभ्युपैष्यम् ॥ २५ ॥
त्वत्संस्तवस्त्वयमभीप्सित एव मे स्यात्
तस्य द्विजस्य सफलश्रमतां विधाय।
एष्याम्यहं पुनरपि स्वयमन्तिकं ते
नास्मद्विधा हि वितथां गिरमुद्गिरन्ति ॥ २६ ॥

अथ सौदासस्तद् बोधिसत्त्ववचनं विकल्पितमिवामृष्यमाणश्चिन्तामापेदे—सुष्ठु खल्वयं सत्यवादितया च धार्मिकतया च विकत्थते। तत्पश्यामि तावदस्य सत्यानुरागं धर्मप्रियतां च। किं च तावन्ममानेन नष्टेनापि स्यात्? अस्ति हि मे स्वभुजवीर्यप्रतापाद्वशीकृतं शतमात्रं क्षत्रियकुमाराणाम्। तैर्यथोपयाचितं भूतयज्ञं करिष्यामीति विचिन्त्य बोधिसत्त्वमुवाच—तेन हि गच्छ। द्रक्ष्यामस्ते सत्यप्रतिज्ञतां धार्मिकतां च।

गत्वा कृत्वा च तस्य त्वं द्विजस्य यदभीप्सितम्।
शीघ्रमायाहि यावत्ते चितां सज्जीकरोम्यहम् ॥ २७ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य स्वभवनमभिगतः प्रतिनन्द्यमानः स्वेन जनेन तमाहूय ब्राह्मणं तस्माद् गाथाचतुष्टयं शुश्राव। तच्छ्रुत्वा सुभाषिताभिप्रसादित-

मनाः स महासत्त्वः संराधयन् प्रियवचनसत्कारपुरःसरं साहस्त्रिकीं गाथां कृत्वा समभिलषितेनार्थेन तं ब्राह्मणं प्रतिपूजयामास। अथैनं तस्य पिता अस्थानातिव्यय-निवारणोद्यतमतिः प्रस्तावक्रमागतं सानुनयमित्युवाच—तात सुभाषितप्रतिपूजने साधु मात्रां ज्ञातुमर्हसि। महाजनः खलु ते भर्तव्यः, कोशसंपदपेक्षिणी च राजश्रीः। अतश्च त्वां ब्रवीमि—

शतेन संपूजयितुं सुभाषितं परं प्रमाणं न ततः परं क्षमम्।
अतिप्रदातुर्हि कियच्चिरं भवेद्धनेश्वरस्यापि धनेश्वरच्युतिः॥ २८॥
समर्थमर्थः परमं हि साधनं न तद्विरोधेन यतश्चरेत्प्रियम्।
नराधिपं श्रीर्न हि कोशसंपदा विवर्जितं वेशवधूरिवेक्षते॥ २९॥

बोधिसत्त्व उवाच—

अर्घप्रमाणं यदि नाम कर्तुं शक्यं भवेद्देव सुभाषितानाम्।
व्यक्तं न ते वाच्यपथं व्रजेयं तन्निष्क्रयं राज्यमपि प्रयच्छन्॥ ३०॥
श्रुत्वैव यन्नाम मनः प्रसादं श्रेयोऽनुरागः स्थिरतां च याति।
प्रज्ञा विवृद्ध्या वितमस्कतां च क्रय्यं ननु स्यादपि तत्स्वमांसैः॥ ३१॥
दीपः श्रुतं मोहतमःप्रमाथी चौराद्यहार्यं परमं धनं च।
संमोहशत्रुव्यथनाय शस्त्रं नयोपदेष्टा परमश्च मन्त्री॥ ३२॥
आपद्गतस्याप्यविकारि मित्रमपीडनी शोकरुजश्चिकित्सा।
बलं महद्दोषबलावमर्दि परं निधानं यशसः श्रियश्च॥ ३३॥
सत्संगमे प्राभृतशीभरस्य सभासु विद्वज्जनरञ्जनस्य।
परप्रवादद्युतिभास्करस्य स्पर्धावतां कीर्तिमदापहस्य॥ ३४॥
प्रसन्ननेत्राननवर्णरागैरसंस्कृतैरप्यतिहर्षलब्धैः।
संराधनव्यग्रकराग्रदेशैर्विख्याप्यमानातिशयक्रमस्य॥ ३५॥
विस्पष्टहेत्वर्थनिदर्शनस्य विचित्रशास्त्रागमपेशलस्य।
माधुर्यसंस्कारमनोहरत्वादक्लिष्टमाल्यप्रकरोपमस्य॥ ३६॥
विनीतदीप्तप्रतिभोज्ज्वलस्य प्रसह्य कीर्तिप्रतिबोधनस्य।
वाक्सौष्ठवस्यापि विशेषहेतुर्योगात्प्रसन्नार्थगतिः श्रुतश्रीः॥ ३७॥
श्रुत्वा च वैरोधिकदोषमुक्तं त्रिवर्गमार्गं समुपाश्रयन्ते।
श्रुतानुसारप्रतिपत्तिसारास्तरन्त्यकृच्छ्रेण च जन्मदुर्गम्॥ ३८॥
गुणैरनेकैरिति विश्रुतानि प्राप्तान्यहं प्राभृतवच्छ्रुतानि।
शक्तः कथं नाम न पूजयेयमाज्ञां कथं वा तव लङ्घयेयम्॥ ३९॥
यास्यामि सौदाससमीपमस्मादर्थो न मे राज्यपरिश्रमेण।
निवृत्तसंकेतगुणोपमर्दे लभ्यश्च यो दोषपथानुवृत्त्या॥ ४०॥

अथैनं पिता स्नेहात्समुत्पतितसंभ्रमः सादरमुवाच—तवैव खलु तात हिता-वेक्षिणा मयैवमभिहितम्। तदलमत्र ते मन्युवशमनुभवितुम्। द्विषन्तस्ते सौदासवशं गमिष्यन्ति। अथापि प्रतिज्ञातं त्वया तत्समीपोपगमनम्, अतः सत्यानुरक्षी तत्संपाद-यितुमिच्छसि, तदपि ते नाहमनुज्ञास्यामि। अपातकं हि स्वप्राणपरिरक्षानिमित्तं

गुरुजनार्थं चानृतमार्गो वेदविहित इति। तत्परिहारश्रमेण तव कोऽर्थः ? अर्थकामाभ्यां च विरोधिदृष्टं धर्मसंश्रयमनयमिति व्यसनमिति च राज्ञां प्रचक्षते नीतिकुशलाः। तदलमनेनास्मन्मनस्तापिना स्वार्थनिरपेक्षेण ते निर्बन्धेन। अथाप्ययशस्यं मार्ष धर्मविरोधि चेति प्रतिज्ञाविसंवादनमनुचितत्वान्न व्यवस्यति ते मतिः, एवमपीदं त्वद्विमोक्षणार्थं समुद्यक्तं सज्जमेव नो हस्त्यश्वरथपत्तिकायं संपन्नमनुरक्तं कृतास्त्रशूर-पुरुषमनेकसमरनीराजितं महन्महौघभीमं बलम्। तदनेन परिवृतः समभिगम्यैनं वशमानय, अन्तकवशं वा प्रापय। एवमव्यर्थप्रतिज्ञता संपादिता स्यादात्मरक्षा चेति।

बोधिसत्त्व उवाच—नोत्सहे देव अन्यथा प्रतिज्ञातुमन्यथा कर्तुं शोच्येषु वा व्यसनपङ्कनिमग्नेषु नरकाभिमुखेषु सुहृत्सु स्वजनपरित्यक्तेष्वनाथेषु च तद्विधेषु प्रहर्तुम्।

अपि च,

दुष्करं पुरुषादोऽसावुदारं चाकरोन्मयि।
मद्वचःप्रत्ययाद्यो मां व्यसृजद्वशमागतम्॥ ४१॥
लब्धं तत्कारणाच्चेदं मया तात सुभाषितम्।
उपकारी विशेषेण सोऽनुकम्प्यो मया यतः॥ ४२॥

अलं चात्र देवस्य मदत्ययाशङ्कया। का हि तस्य शक्तिरस्ति मामेवमभिगतं विहिंसितुमिति। एवमनुनीय स महात्मा पितरं विनिवारणसोद्यमं च विनिवर्त्य प्रणयिजनमनुरक्तं च बलकायमेकाकी विगतभयदैन्यः सत्यानुरक्षी लोकहितार्थं सौदासमभिविनेष्यंस्तन्निकेतमभिजगाम।

दूरादेवावलोक्य सौदासस्तं महासत्त्वमतिविस्मयादभिवृद्धबहुमानप्रसादश्चि-राभ्यासविरूढक्रूरतामलिनमतिरपि व्यक्तमिति चिन्तामापेदे—अहहहह!

आश्चर्याणां बताश्चर्यमद्भुतानां तथाद्भुतम्।
सत्यौदार्यं नृपस्येदमतिमानुषदैवतम्॥ ४३॥
मृत्युरौद्रस्वभावं मां विनीतभयसंभ्रमः।
इति स्वयमुपेतोऽयं ही धैर्यं साधु सत्यता॥ ४४॥
स्थाने खल्वस्य विख्यातं सत्यवादितया यशः।
इति प्राणान् स्वराज्यं च सत्यार्थं योऽयमत्यजत्॥ ४५॥

अथ बोधिसत्त्वः समभिगम्यैनं विस्मयबहुमानावर्जितमानसमुवाच—

प्राप्तं सुभाषितधनं प्रतिपूजितोऽर्थी
प्रीतिं मनश्च गमितं भवतः प्रभावात्।
प्राप्तस्तदस्म्ययमशान यथेप्सितं मां
यज्ञाय वा मम पशुव्रतमादिश त्वम्॥ ४६॥

सौदास उवाच—

नात्येति कालो मम खादितुं त्वां धूमाकुला तावदियं चितापि।
विधूमपक्वं पिशितं च हृद्यं शृणमस्तदेतानि सुभाषितानि॥ ४७॥

बोधिसत्त्व उवाच - कस्तवार्थ इत्थंगतस्य सुभाषितश्रवणेन ?

इमामवस्थामुदरस्य हेतोः प्राप्तोऽसि संत्यक्तघृणः प्रजासु ।
इमाश्च धर्मं प्रवदन्ति गाथाः समेत्यधर्मेण यतो न धर्मः ।। ४८ ।।

रक्षोविकृतवृत्तस्य संत्यक्तार्यपथस्य ते ।
नास्ति सत्यं कुतो धर्मः किं श्रुतेन करिष्यसि ।। ४९ ।।

अथ सौदासस्तामवसादनाममृष्यमाणः प्रत्युवाच--मा तावद्भोः !

कोऽसौ नृपः कथय यो न समुद्यतास्त्रः
क्रीडावने वनमृगीदयितान्निहन्ति ।
तद्वन्निहन्मि मनुजान् यदि वृत्तिहेतो-
रार्धमिकः किल ततोऽस्मि न ते मृगघ्नाः ।।५०।।

बोधिसत्त्व उवाच--

धर्मे स्थिता न खलु तेऽपि नमन्ति येषां
भीतद्रुतेष्वपि मृगेषु शरासनानि ।
तेभ्योऽपि निन्द्यतम एव नराशनस्तु
जात्युच्छ्रिता हि पुरुषा न च भक्षणीयाः ।।५१।।

अथ सौदासः परिकर्कशाक्षरमप्यभिधीयमानो बोधिसत्त्वेन तन्मैत्रीगुणप्रभावादभिभूतरौद्रस्वभावः सुखायमान एव तद्वचनमभिप्रहसन्नुवाच--भोः सुतसोम !

मुक्तो मया नाम समेत्य गेहं समन्ततो राज्यविभूतिरम्यम् ।
यन्मत्समीपं पुनरागतस्त्वं न नीतिमार्गे कुशलोऽसि तस्मात् ।।५२।।

बोधिसत्त्व उवाच--नैतदस्ति । अहमेव तु कुशलो नीतिमार्गे यदेनं न प्रतिपत्तुमिच्छामि ।

यं नाम प्रतिपन्नस्य धर्मादैकान्तिकी च्युतिः ।
न तु प्रसिद्धिः सौख्यस्य तत्र किं नाम कौशलम् ।। ५३ ।।

किं च भूयः,

ये नीतिमार्गप्रतिपत्तिधीराः प्रायेण ते प्रेत्य पतन्त्यपायान् ।
अपास्य जिह्मानिति नीतिमार्गान् सत्यानुरक्षी पुनरागतोऽस्मि ।। ५४ ।।
अतश्च नीतौ कुशलोऽहमेव त्यक्त्वानृतं योऽभिरतोऽस्मि सत्ये ।
न तत्सुनीतं हि वदन्ति तज्ज्ञा यत्रानुबध्नन्ति यशःसुखार्थाः ।। ५५ ।।

सौदास उवाच --

प्राणान् प्रियान् स्वजनमश्रुमुखं च हित्वा
राज्याश्रयाणि च सुखानि मनोहराणि ।
कामर्थसिद्धिमनुपश्यसि सत्यवाक्ये
तद्रक्षणार्थमपि मां यदुपागतोऽसि ।। ५६ ।।

बोधिसत्त्व उवाच--बहवः सत्यवचनाश्रया गुणातिशयाः । संक्षेपस्तु श्रूयताम्--

माल्यश्रियं हृद्यतयातिशेते सर्वान् रसान् स्वादुतया च सत्यम् ।
श्रमादृते पुण्यगुणप्रसिद्ध्या तपांसि तीर्थाभिगमश्रमांश्च ।। ५७ ।।

कीर्तेर्जगद्व्याप्तिकृतक्षणाया मार्गस्त्रिलोकाक्रमणाय सत्यम् ।
द्वारं प्रवेशाय सुरालयस्य संसारदुर्गोत्तरणाय सेतुः ॥ ५८ ॥

अथ सौदासः साधु युक्तमित्यभिप्रणम्यैनं सविस्मयमभिवीक्षमाणः पुनरुवाच—

अन्ये नरा मद्वशगा भवन्ति दैन्यार्पणात्त्रासविलुप्तधैर्याः ।
संत्यज्यसे त्वं तु न धैर्यलक्ष्म्या मन्ये न ते मृत्युभयं नरेन्द्र ॥ ५९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

महतापि प्रयत्नेन यच्छक्यं नातिवर्तितुम् ।
प्रतीकारासमर्थेन भयक्लैव्येन तत्र किम् ॥ ६० ॥

इति परिगणितलोकस्थितयोऽपि तु कापुरुषाः
पापप्रसङ्गादनुतप्यमानाः शुभेषु कर्मस्वकृतश्रमाश्च ।
आशङ्कमानाः परलोकदुःखं मर्तव्यसंत्रासजडा भवन्ति ॥ ६१ ॥
तदेव कर्तुं न तु संस्मरामि भवेद्यतो मे मनसोऽनुतापः ।
सात्मीकृतं कर्म च शुक्लमस्माद्धर्मस्थितः को मरणाद्बिभीयात् ॥ ६२ ॥
न च स्मराम्यर्थिजनोपयानं यन्न प्रहर्षाय ममार्थिनां वा ।
इति प्रदानैः समवाप्ततुष्टिर्धर्मे स्थितः को मरणाद्बिभीयात् ॥ ६३ ॥
चिरं विचिन्त्यापि च नैव पापे मनःपदन्यासमपि स्मरामि ।
विशोधितस्वर्गपथोऽहमेवं मृत्योः किमर्थं भयमभ्युपेयाम् ॥ ६४ ॥

विप्रेषु बन्धुषु सुहृत्सु समाश्रितेषु
दीने जने यतिषु चाश्रमभूषणेषु ।
न्यस्तं मया बहु धनं ददता यथार्हं
कृत्यं च यस्य यदभूत्तदकारि तस्य ॥ ६५ ॥
श्रीमन्ति कीर्तनशतानि निवेशितानि
सत्राजिराश्रमपदानि सभाः प्रपाश्च ।
मृत्योर्न मे भयमतस्तदवाप्ततुष्टे-
र्यज्ञाय तत्समुपकल्पय भुङ्क्ष्व वा माम् ॥ ६६ ॥

तदुपश्रुत्य सौदासः प्रसादाश्रुव्याप्तनयनः समुद्भिद्यमानरोमाञ्चपिटको विस्मृतपापस्वभावतामिस्रः सबहुमानमवेक्ष्य बोधिसत्त्वमुवाच—शान्तं पापम् ।

अद्याद्विषं स खलु हालहलं प्रजान-
न्नाशीविषं प्रकुपितं ज्वलदायसं वा ।
मूर्धापि तस्य शतधा हृदयं च यायाद्
यस्त्वद्विधस्य नृपपुंगव पापमिच्छेत् ॥ ६७ ॥

तदर्हति भवांस्तान्यपि मे सुभाषितानि वक्तुम् । अनेन हि ते वचनकुसुमवर्षेणाभिप्रसादितमनसः सुष्टुतरमभिवृद्धं च तेषु मे कौतूहलम् । अपि च भोः ।

दृष्ट्वा मे चरितच्छायावैरूप्यं धर्मदर्पणे ।
अपि नामागतावेगं स्यान्मे धर्मोत्सुकं मनः ॥ ६८ ॥

अथैनं बोधिसत्त्वः पात्रीकृताशयं धर्मश्रवणप्रवणमानसमवेत्योवाच—तेन हि धर्मार्थिना तदनुरूपसमुदाचारसौष्ठवेन धर्मः श्रोतुं युक्तम् । पश्य ।

नीचैस्तरासनस्थानाद्विबोध्य विनयश्रियम् ।
प्रीत्यर्पिताभ्यां चक्षुर्भ्यां वाङ्मध्वास्वादयन्निव ॥ ६९ ॥
गौरवार्वाजतैकाग्रप्रसन्नामलमानसः ।
सत्कृत्य धर्मं शृणुयाद्भिषग्वाक्यमिवातुरः ॥ ७० ॥

अथ सौदासः स्वेनोत्तरीयेण समास्तीर्योच्चैस्तरं शिलातलं तत्र चाधिरोप्य बोधिसत्त्वं स्वयमनास्तरितायामुपविश्य भूमौ बोधिसत्त्वस्य पुरस्तादाननोद्वीक्षणव्यापृतनिरीक्षणरतं महासत्त्वमुवाच-ब्रूहीदानीं मार्षेति । अथ बोधिसत्त्वो नवाम्भोधरनिनदमधुरेण गम्भीरेणापूरयन्निव तद्वनं व्यापिना स्वरेणोवाच—

यदृच्छयाप्युपानीतं सकृत्सज्जनसंगतम् ।
भवत्यचलमत्यन्तं नाभ्यासक्रममीक्षते ॥ ७१ ॥

तदुपश्रुत्य सौदासः साधु साध्विति स्वशिरः प्रकम्प्याङ्गुलीविक्षेपं बोधिसत्त्वमुवाच—ततस्ततः ?

अथ बोधिसत्त्वो द्वितीयां गाथामुदाजहार—

न सज्जनाद् दूरचरः क्वचिद्भवेद्भजेत साधून् विनयक्रमानुगः ।
स्पृशन्त्ययत्नेन हि तत्समीपगं विसर्पिणस्तद्गुणपुष्परेणवः ॥ ७२ ॥

सौदास उवाच—

सुभाषितान्यर्चयता साधो सर्वात्मना त्वया ।
स्थाने खलु नियुक्तोऽर्थः स्थाने नावेक्षितः श्रमः ॥ ७३ ॥

ततस्ततः ? बोधिसत्त्व उवाच—

रथा नृपाणां मणिहेमभूषणा व्रजन्ति देहाश्च जराविरूपताम् ।
सतां तु धर्मं न जराभिवर्तते स्थिरानुरागा हि गुणेषु साधवः ॥ ७४ ॥

अमृतवर्षं खल्विदम् । अहो संतर्पिताः स्मः । ततस्ततः ? बोधिसत्त्व उवाच—

नभश्च दूरे वसुधातलाच्च पारादवारं च महार्णवस्य ।
अस्ताचलेन्द्रादुदयस्ततोऽपि धर्मः सतां दूरतरेऽसतां च ॥ ७५ ॥

अथ सौदासः प्रसादविस्मयाभ्यामावर्जितप्रेमबहुमानो बोधिसत्त्वमुवाच—

चित्राभिधानातिशयोज्ज्वलार्था गाथास्त्वदेता मधुरा निशम्य ।
आनन्दितस्तत्प्रतिपूजनार्थं वरानहं ते चतुरो ददामि ॥ ७६ ॥

तद् वृणीष्व यद्यन्मत्तोऽभिकाङ्क्षसीति । अथैनं बोधिसत्त्वः सविस्मयबहुमान उवाच—कस्त्वं वरप्रदानस्य ?

यस्यास्ति नात्मन्यपि ते प्रभुत्वमकार्यसंरागपराजितस्य ।
स त्वं वरं दास्यसि कं परस्मै शुभप्रवृत्तेरपवृत्तभावः ॥ ७७ ॥
अहं च देहीति वरं वदेयं मनश्च दित्साथिशिलं तव स्यात् ।
तमत्ययं कः सघृणोऽभ्युपेयाद्देतावदेवालमलं यतो नः ॥ ७८ ॥

अथ सौदासः किंचिद् व्रीडावनतवदनो बोधिसत्त्वमुवाच-अलमत्रभवतो मामेवं विशङ्कितुम् ।

प्राणानपि परित्यज्य दास्याम्येतानहं वरान् ।
विस्रब्धं तद् वृणीष्व त्वं यद्यदिच्छसि भूमिप ।। ७९ ।।

बोधिसत्त्व उवाच-तेन हि

सत्यव्रतो भव विसर्जय सत्त्वहिंसां बन्दीकृतं जनमशेषमिमं विमुञ्च ।
अद्या न चैव नरवीर मनुष्यमांसमेतान् वराननवरांश्चतुरः प्रयच्छ ।। ८० ।।

सौदास उवाच—

ददामि पूर्वान् भवते वरांस्त्रीनन्यं चतुर्थं तु वरं वृणीष्व ।
अवैषि किं न त्वमिदं यथाहमीशो विरन्तुं न मनुष्यमांसात् ।। ८१ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—हन्त तवैतत्संवृत्तम् । ननूक्तं मया कस्त्वं वरप्रदानस्येति ? अपि च भोः ?

सत्यव्रतत्वं च कथं स्यादहिंसकता च ते ।
अपरित्यजतो राजन् मनुष्यपिशिताशिताम् ।। ८२ ।।

आह—

ननूक्तं भवता पूर्वं दास्याम्येतानहं वरान् ।
प्राणानपि परित्यज्य तदिदं जायतेऽन्यथा ।। ८३ ।।
अहिंसकत्वं च कुतो मांसार्थं ते घ्नतो नरान् ।
सत्येवं कतमे दत्ता भवता स्युर्वरास्त्रयः ।। ८४ ।।

सौदास उवाच—

त्यक्त्वा राज्यं वने क्लेशो यस्य हेतोर्धृतो मया ।
हतो धर्मः क्षता कीर्तिस्त्यक्ष्यामि तदहं कथम् ।। ८५ ।।

बोधिसत्त्व उवाच—अत एव तद्भवांस्त्यक्तुमर्हति ।

धर्मादर्थात्सुखात्कीर्तेर्भ्रष्टो यस्य कृते भवान् ।
अनर्थायतनं तादृक्कथं न त्यक्तुमर्हसि ।। ८६ ।।
दत्तानुशयिता चेयमनौदार्यहते जने ।
नीचता सा कथं नाम त्वामप्यभिभवेदिति ।। ८७ ।।

तदलं ते पाप्मानमेवानुभ्रमितुम् । अवबोद्धुमर्हस्यात्मानम् । सौदासः खल्वत्रभवान् ।

वैद्येक्षितानि कुशलैरुपकल्पितानि
ग्राम्याण्यनूपजलजान्यथ जाङ्गलानि ।
मांसानि सन्ति कुरु तैर्हृदयस्य तुष्टिं
निन्दावहाद्विरम साधु मनुष्यमांसात् ।। ८८ ।।
तूर्यस्वनान् सजलतोयदनादधीरान्
गीतस्वनं च निशि राज्यसुखं च तत्तत् ।
बन्धून् सुतान् परिजनं च मनोनुकूलं
हित्वा कथं नु रमसेऽत्र वने विविक्ते ।। ८९ ।।

चित्तस्य नार्हसि नरेन्द्र वशेन गन्तुं
धर्मार्थयोरनुपरोधपथं भजस्व।
एको नृपान् युधि विजित्य समस्तसैन्यान्
मा चित्तविग्रहविधौ परिकातरो भूः ॥ ९० ॥

लोकः परोऽपि मनुजाधिप नन्ववेक्ष्य-
स्तस्मात्प्रियं यदहितं च न तन्निषेव्यम्।
यत्स्यात्तु कीर्त्यनुपरोधि मनोज्ञमार्गं
तद्विप्रियं सदपि भेषजवद्भजस्व ॥ ९१ ॥

अथ सौदासः प्रसादाश्रुव्याप्तनयनो गद्‌गदायमानकण्ठः समभिसृत्यैव बोधिसत्त्वं पादयोः संपरिष्वज्योवाच—

गुणकुसुमरजोभिः पुण्यगन्धैः समन्ता-
ज्जगदिदमवकीर्णं कारणे त्वद्यशोभिः।
इति विचरति पापे मृत्युदूतोग्रवृत्तौ
त्वमिव हि क इवान्यः सानुकम्पो मयि स्यात् ॥ ९२ ॥

शास्ता गुरुश्च मम दैवतमेव च त्वं
मूर्ध्ना वचांस्यहममूनि तवार्चयामि।
भोक्ष्ये न चैव सुतसोम मनुष्यमांसं
यन्मां यथा वदसि तच्च तथा करिष्ये ॥ ९३ ॥

नृपात्मजा यज्ञनिमित्तमाहृता मया च ये बन्धनखेदपीडिताः।
हतत्विषः शोकपरीतमानसास्त एहि मुञ्चाव सहैव तानपि ॥ ९४ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथेत्यस्मै प्रतिश्रुत्य यत्र ते नृपसुतास्तेनावरुद्धास्तत्रैवाभिजगाम। दृष्ट्वैव च ते नृपसुताः सुतसोमं हन्त मुक्ता वयमिति परं हर्षमुपजग्मुः।

विरेजिरे ते सुतसोमदर्शनान्नरेन्द्रपुत्राः स्फुटहासकान्तयः।
शरन्मुखे चन्द्रकरोपबृंहिता विजृम्भमाणाः कुमुदाकरा इव ॥ ९५ ॥

अथैनानभिगम्य बोधिसत्त्वः समाश्वासयन् प्रियवचनपुरःसरं च प्रतिसंमोद्य सौदासस्याद्रोहाय शपथं कारयित्वा बन्धनाद्विमुच्य सार्धं सौदासेन तैश्च नृपतिपुत्रैरनुगम्यमानः स्वं राज्यमुपेत्य यथार्हकृतसंस्कारांस्तान् राजपुत्रान् सौदासं च स्वेषु स्वेषु राज्येषु प्रतिष्ठापयामास।

तदेवं श्रेयः समाधत्ते यथातथाप्युपनतः सत्संगम इति श्रेयोऽर्थिना सज्जनसमाश्रयेण भवितव्यम्। एवमसंस्तुतहृत्पूर्वजन्मस्वप्युपकारपरत्वाद् बुद्धो भगवानिति तथागतवर्णेऽपि वाच्यम्। एवं सद्धर्मश्रवणं दोषापचयाय गुणसमाधानाय च भवतीति सद्धर्मश्रवणेऽपि वाच्यम्। श्रुतप्रशंसायामपि वाच्यम्—एवमनेकानुशंसं श्रुतमिति। सत्यकथायामपि वाच्यम्—एवं सज्जनेष्टं पुण्यकीर्त्याकरं सत्यवचनमित्येवं स्वप्राणसुखैश्वर्यनिरपेक्षाः सत्यमनुरक्षन्ति सत्पुरुषा इति। सत्यप्रशंसायामप्युपनेयं करुणावर्णेऽपि चेति।

॥ इतिसुतसोम-जातकमेकत्रिंशत्तमम् ॥

———

३२. अयोगृह-जातकम्

राजलक्ष्मीरपि श्रेयोमार्गं नावृणोति संविग्नमानसानामिति संवेगपरिचयः कार्यः। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वभूतः किलायं भगवान् व्याधिजरामरणप्रियविप्रयोगादिव्यसनशतोपनिपातं दुःखितमनाथमत्राणमपरिणायकं लोकमवेक्ष्य करुणया समुत्साह्यमानस्तत्परित्राणव्यवसितमतिरतिसाधुस्वभावस्तत्तत्संपादयमानो विमुखस्यासंस्तुतस्यापि च लोकस्य हितं सुखविशेषं च कदाचिदन्यतमस्मिन् राजकुले प्रजानुरागसौमुख्यादस्खलिताभिवृद्ध्या च समृद्ध्या समानतदृप्तसामन्तया चाभिव्यज्यमानमहाभाग्ये विनयश्लाघिनि जन्म प्रतिलेभे। स जायमान एव तद्राजकुलं तत्समानसुखदुःखं च पुरवरं परयाभ्युदयश्रिया संयोजयामास।

प्रतिग्रहव्याकुलतुष्टविप्रं मदोद्धताभ्युज्ज्वलवेषभृत्यम्।
अनेकतूर्यस्वनपूर्णकूजमानन्दनृत्तानयवृत्तभावम्॥ १॥
संसक्तगीतद्रवहासनादं परस्पराश्लेषविवृद्धहर्षम्।
नरैः प्रियाख्यानकदानतुष्टैराशास्यमानाभ्युदयं नृपस्य॥ २॥
विघट्टितद्वारविमुक्तबन्धनं समुच्छ्रिताग्रध्वजचित्रचत्वरम्।
विचूर्णपुष्पासवसिक्तभूतलं बभार रम्यां पुरमुत्सवश्रियम्॥ ३॥
महागृहेभ्यः प्रविकीर्यमाणैर्हिरण्यवस्त्राभरणादिवर्षैः।
लोकं तदा व्याप्तुमिवोद्यता श्रीरुन्मत्तगङ्गाललितं चकार॥ ४॥

तेन च समयेन तस्य राज्ञो जाता जाताः कुमारा म्रियन्ते स्म। स तं विधिममानुषकृतमिति मन्यमानस्तस्य तनयस्य रक्षार्थं मणिकाञ्चनरजतभक्तिचित्रे श्रीमति सर्वायसे प्रसूतिभवने भूतविद्यापरिदृष्टेन वेदविहितेन च क्रमेण विहितरक्षोघ्नप्रतीकारे समुचितैश्च कौतुकमङ्गलैः कृतस्वस्त्ययनपरिग्रहे जातकर्मादिसंस्कारविधिं संवर्धनं च कारयामास। तमपि च महासत्त्वं सत्त्वसंपत्तेः पुण्योपचयप्रभावात्सुसंविहितत्वाच्च रक्षाया नामानुषाः प्रसेहिरे। स कालक्रमादवाप्तसंस्कारकर्मा श्रुताभिजनाचारमहद्भ्यो लब्धविद्यायशःसंमाननेभ्यः प्रशमविनयमेधागुणावर्जितेभ्यो गुरुभ्यः समधिगतानेकविद्यः प्रत्यहमापूर्यमाणमूर्तिर्यौवनकान्त्या निसर्गसिद्धेन च विनयानुरागेण परं प्रेमास्पदं स्वजनस्य जनस्य च बभूव।

असंस्तुतमसंबन्धं दूरस्थमपि सज्जनम्।
जनोऽन्वेति सुहृत्प्रीत्या गुणश्रीस्तत्र कारणम्॥ ५॥
हासभूतेन नभसः शरद्विकचरश्मिना।
संबन्धसिद्धिर्लोकस्य का हि चन्द्रमसा सह॥ ६॥

अथ स महासत्त्वः पुण्यप्रभावसुखोपनतैर्दिव्यकल्पैरनल्पैरपि च विषयैरुपलाल्यमानः स्नेहबहुमानसुमुखेन च पित्रा विश्वासनिर्विशङ्कं दृश्यमानः कदाचित्स्वस्मिन् पुरवरे प्रविततरमणीयशोभां कालक्रमोपनतां कौमुदीविभूतिं दिदृक्षुः कृताभ्यनुज्ञः पित्रा काञ्चनमणिरजतभक्तिचित्रालंकारं समुच्छ्रितनानाविधरागप्रचलितोज्ज्वलपताकध्वजं हेमभाण्डाभ्यलंकृतविनीतचतुरतुरंगं दक्षदाक्षिण्यनिपुणशुचिविनीतधीर-

सारथिं चित्रोज्ज्वलवेषप्रहरणावरणानुयातं रथवरमधिरुह्य मनोज्ञतूर्यस्वनपुरःसरस्तत्पुरवरमनुविचरंस्तद्दर्शनाक्षिप्तहृदयस्य कौतूहललोलचक्षुषः स्तुतिसभाजनाञ्जलिप्रग्रहप्रणामाशीर्वचनप्रयोगसव्यापारस्योत्सवरम्यतरवेषरचनस्य पौरजानपदस्य समुदयशोभामालोक्य लब्धप्रहर्षावकाशोऽपि मनसि कृतसंवेगपरिचयत्वात्पूर्वजन्मसु स्मृतिं प्रतिलेभे ।

कृपणा वत लोकस्य चलत्वविरसा स्थितिः ।
यदियं कौमुदीलक्ष्मीः स्मर्तव्यैव भविष्यति ॥ ७ ॥
एवंविधायां च जगत्प्रवृत्तावहो यथा निर्भयता जनानाम् ।
यन्मृत्युनाधिष्ठितसर्वमार्गा निःसंभ्रमा हर्षमनुभ्रमन्ति ॥ ८ ॥
अवार्यवीर्येष्वरिपु स्थितेषु जिघांसया व्याधिजरान्तकेषु ।
अवश्यगम्ये परलोकदुर्गे हर्षावकाशोऽत्र सचेतसः कः ॥ ९ ॥
स्वनानुकृत्येव महार्णवानां संरम्भरौद्राणि जलानि कृत्वा ।
मेघास्तडिद्भासुरहेममालाः संभूय भूयो विलयं व्रजन्ति ॥ १० ॥
तटैः समं तद्विनिबद्धमूलान् हृत्वा तरूँल्लब्धजवैः पयोभिः ।
भवन्ति भूयः सरितः क्रमेण शोकोपतापादिव दीनरूपाः ॥ ११ ॥
हृत्वापि शृङ्गाणि महीधराणां वेगेन वृन्दानि च तोयदानाम् ।
विघूर्ण्य चोद्वर्त्य च सागराम्भः प्रयाति नाशं पवनप्रभावः ॥ १२ ॥
दीप्तोद्धतार्चिर्विकसत्स्फुलिङ्गः संक्षिप्य कक्षं क्षयमेति वह्निः ।
क्रमेण शोभाश्च वनान्तराणामुद्यन्ति भूयश्च तिरोभवन्ति ॥ १३ ॥
कः संप्रयोगो न वियोगनिष्ठः काः संपदो या न विपत्परैति ।
जगत्प्रवृत्ताविति चञ्चलायामप्रत्यवेक्ष्यैव जनस्य हर्षः ॥ १४ ॥

इति स परिगणयन् महात्मा संवेगाद्व्यावृत्तप्रमोदोद्धवेन मनसा रमणीयेष्वपि पुरवरविभूषार्थमभिप्रसारिषु लोकचित्तेष्वविषज्यमानबुद्धिः क्रमेण स्वभवनमनुप्राप्तमेवात्मानमपश्यत् । तदभिवृद्धसंवेगश्च विषयसुखेष्वनास्थो धर्म एकः शरणमिति तत्प्रतिपत्तिनिश्चितमतिर्यथाप्रस्तावमभिगम्य राजानं कृताञ्जलिस्तपोवनगमनायानुज्ञामयाचत—

प्रव्रज्यासंश्रयात्कर्तुमिच्छामि हितमात्मनः ।
कृतां तत्राभ्यनुज्ञां च त्वयानुग्रहपद्धतिम् ॥ १५ ॥
तच्छ्रुत्वा प्रियतनयः स तस्य राजा दिग्धेन द्विरद इवेषुणाभिविद्धः ।
गम्भीरोऽप्युदधिरिवानिलावधूतस्तच्छोकव्यथितमनाः समाचकम्पे ॥ १६ ॥
निवारयिष्यन्नथ तं स राजा स्नेहात्परिष्वज्य सबाष्पकण्ठः ।
उवाच कस्मात्सहसैव तात संत्यक्तुमस्मान् मतिमित्यकार्षीः ॥ १७ ॥
त्वदप्रियेणात्मविनाशहेतुः केनायमित्याकलितः कृतान्तः ।
शोकाश्रुपर्याकुललोचनानि भवन्तु कस्य स्वजनाननानि ॥ १८ ॥
अथापि किंचित्परिशङ्कितं वा मयि व्यलीकं समुपश्रुतं वा ।
तद्ब्रूहि यावद्विरमामि तस्मात्पश्यामि न त्वात्मनि किंचिदीदृक् ॥ १९ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

इत्यभिस्नेहसुमुखे व्यलीकं नाम किं त्वयि ।
विप्रियेण समर्थः स्यान्मामासादयितुं च कः ॥ २० ॥

अथ किं तर्हि नः परित्यक्तुमिच्छसीति चाभिहितः साश्रुनयनेन राज्ञा स महासत्त्वस्तमुवाच—मृत्युभयात् । पश्यतु देवः,

यामेव रात्रिं प्रथमामुपैति गर्भे निवासं नरवीर लोकः ।
ततःप्रभृत्यस्खलितप्रयाणः स प्रत्यहं मृत्युसमीपमेति ॥ २१ ॥
नीतौ सुयुक्तोऽपि बले स्थितोऽपि नात्येति कश्चिन्मरणं जरां वा ।
उपद्रुतं सर्वमितीदमाभ्यां धर्मार्थमस्माद्वनमाश्रयिष्ये ॥ २२ ॥
व्यूढान्युदीर्णनरवाजिरथद्विपानि सैन्यानि दर्परभसाः क्षितिपा जयन्ति ।
जेतुं कृतान्तरिपुमेकमपि त्वशक्तास्तन्मे मतिर्भवति धर्ममभिप्रपत्तुम् ॥ २३ ॥
हृष्टाश्वकुञ्जरपदातिरथैरनीकैर्गुप्ता विमोक्षमुपयान्ति नृपा द्विषद्भ्यः ।
सार्धं बलैरतिबलस्य तु मृत्युशत्रोर्मन्वादयोऽपि विवशा वशमभ्युपेताः ॥ २४ ॥

संचूर्ण्य दन्तमुसलैः पुरगोपुराणि
मत्ता द्विपा युधि रथांश्च नरान् द्विपांश्च ।
नैवान्तकं प्रतिमुखाभिगतं नुदन्ति
वप्रान्तलब्धविजयैरपि तैर्विषाणैः ॥ २५ ॥

दृढचित्रवर्मकवचावरणान् युधि दारयन्त्यपि विदूरचरान् ।
इषुभिस्तदस्त्रकुशला द्विषतश्चिरवैरिणं न तु कृतान्तमरिम् ॥ २६ ॥
सिंहा विकर्तनकरैर्नखरैर्द्विपानां कुम्भाग्रमग्नशिखरैः प्रशमय्य तेजः ।
भित्त्वैव च श्रुतमनांसि रवैः परेषां मृत्युं समेत्य हतदर्पबलाः स्वपन्ति ॥ २७ ॥
दोषानुरूपं प्रणयन्ति दण्डं कृतापराधेषु नृपाः परेषु ।
महापराधे यदि मृत्युशत्रौ न दण्डनीतिप्रवणा भवन्ति ॥ २८ ॥
नृपाश्च सामादिभिरप्युपायैः कृतापराधं वशमानयन्ति ।
रौद्रश्चिराभ्यासदृढावलेपो मृत्युः पुनर्नानुनयादिसाध्यः ॥ २९ ॥

क्रोधानलज्वलितघोरविषाग्निगर्भै-
र्दंष्ट्राङ्कुरैरभिदशन्ति नरान् भुजंगाः ।
दंष्ट्व्ययत्नविधुरास्तु भवन्ति मृत्यौ
वध्येऽपि नित्यमपकारविधानदक्षे ॥ ३० ॥
दष्टस्य कोपरभसैरपि पन्नगैश्च
मन्त्रैर्विषं प्रशमयन्त्यगदैश्च वैद्याः ।
आशीविषस्त्वतिविषोऽयमरिष्टदंष्ट्रो
मन्त्रागदादिभिरसाध्यबलः कृतान्तः ॥ ३१ ॥
पक्षानिलैर्ललितमीनकुलं व्युदस्य
मेघौघभीमरसितं जलमर्णवेभ्यः ।

सर्पान् हरन्ति विततग्रहणाः सुपर्णा
मृत्युं पुनः प्रमथितुं न तथोत्सहन्ते ॥ ३२ ॥
भीतद्रुतानपि जवातिशयेन जित्वा
संसाद्य चैकभुजवज्रविलासवृत्त्या ।
व्याघ्राः पिबन्ति रुधिराणि वने मृगाणां
नैवंप्रवृत्तिपटवस्तु भवन्ति मृत्यौ ॥ ३३ ॥
दंष्ट्राकरालमपि नाम मृगः समेत्य
वैयाघ्रमाननमुपैति पुनर्विमोक्षम् ।
मृत्योर्मुखं तु पृथुरोगजरातिदंष्ट्रं
प्राप्तस्य कस्य च पुनः शिवतातिरस्ति ॥ ३४ ॥
पिबन्ति नृणां विकृतोग्रविग्रहा
सहौजसायूंषि दृढग्रहा ग्रहाः ।
भवन्ति तु प्रस्तुतमृत्युविग्रहा
विपन्नदर्पोत्कटतापरिग्रहाः ॥ ३५ ॥
पूजारतद्रोहकृतेऽभ्युपेतान् ग्रहान्नियच्छन्ति स सिद्धविद्याः ।
तपोबलस्वस्त्ययनौषधैश्च मृत्युग्रहस्त्वप्रतिवार्य एव ॥ ३६ ॥
मायाविधिज्ञाश्च महासमाजे जनस्य चक्षूंषि विमोहयन्ति ।
कोऽपि प्रभावस्त्वयमन्तकस्य यद्भ्राम्यते तैरपि नास्य चक्षुः ॥ ३७ ॥
हत्वा विषाणि च तपोबलसिद्धमन्त्रा
व्याधीन्नृणामुपशमय्य च वैद्यवर्याः ।
धन्वन्तरिप्रभृतयोऽपि गता विनाशं
धर्माय मे नमति तेन मतिर्वनान्ते ॥ ३८ ॥
आविर्भवन्ति च पुनश्च तिरोभवन्ति
गच्छन्ति वानिलपथेन महीं विशन्ति ।
विद्याधरा विविधमन्त्रबलप्रभावा
मृत्युं समेत्य तु भवन्ति हतप्रभावाः ॥ ३९ ॥
दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुरान् सुरेन्द्रा दृप्तानपि प्रतिनुदन्त्यसुराः सुरांश्च ।
मानाधिरूढमतिभिः समुदीर्णसैन्यैस्तैः संहतैरपि तु मृत्युरजय्य एव ॥ ४० ॥
इमामवेत्याप्रतिवार्यरौद्रतां कृतान्तशत्रोर्भवने न मे मतिः ।
न मन्युना स्नेहपरिक्षयेण वा प्रयामि धर्माय तु निश्चितो वनम् ॥ ४१ ॥

राजोवाच—अथ वने तव क आश्वासः एवमप्रतिक्रिये मृत्युभये सति धर्मपरिग्रहे च ।

किं त्वा वने न समुपैष्यति मृत्युशत्रु-
र्धर्मे स्थिताः किमृषयो न वने विनष्टाः ।
सर्वत्र नाम नियतः क्रम एष तत्र
कोऽर्थो विहाय भवनं वनसंश्रयेण ॥ ४२ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

कामं स्थितेषु भवने च वने च मृत्यु-
धर्मात्मकेषु विगुणेषु च तुल्यवृत्तिः।
धर्मात्मनां भवति न त्वनुतापहेतु-
धर्मश्च नाम वन एव सुख प्रपत्तुम् ॥ ४३ ॥

पश्यतु देवः,

प्रमादमदकन्दर्पलोभद्वेषास्पदे गृहे।
तद्विरुद्धस्य धर्मस्य कोऽवकाशपरिग्रहः ॥ ४४ ॥
विकृष्यमाणो बहुभिः कुकर्मभिः परिग्रहोपार्जनरक्षणाकुलः।
अशान्तचेता व्यसनोदयागमैः कदा गृहस्थः शममार्गमेष्यति ॥ ४५ ॥
वने तु संत्यक्तकुकार्यविस्तरः परिग्रहक्लेशविवर्जितः सुखी।
शमैककार्यः परितुष्टमानसः सुखं च धर्मं च यशांसि चार्छति ॥ ४६ ॥
धर्मश्च रक्षति नरं न धनं बलं वा
धर्मः सुखाय महते न विभूतिसिद्धिः।
धर्मात्मनश्च मुदमेव करोति मृत्यु-
र्न ह्यस्ति दुर्गतिभयं निरतस्य धर्मे ॥ ४७ ॥
क्रियाविशेषश्च यथा व्यवस्थितः शुभस्य पापस्य च भिन्नलक्षणः।
तथा विपाकोऽप्यशुभस्य दुर्गतिश्चित्तस्य धर्मस्य सुखाश्रया गतिः ॥ ४८ ॥

इत्यनुनीय स महात्मा पितरं कृताभ्यनुज्ञः पित्रा तृणवदपास्य राज्यलक्ष्मीं तपोवनाश्रयं चकार। तत्र च ध्यानान्यप्रमाणानि चोत्पाद्य तेषु च प्रतिष्ठाप्य लोकं ब्रह्मलोकमधिरुरोह।

तदेवं संविग्नमनसां राजलक्ष्मीरपि श्रेयोमार्गं नावृणोतीति संवेगपरिचयः कार्यः। मरणसंज्ञावर्णेऽपि वाच्यम्—एवमाशुमरणसंज्ञा संवेगाय भवतीति। तथा मरणानुस्मृतिवर्णेऽनित्यताकथायामप्युपनेयम्—एवमनित्याः सर्वसंस्कारा इति। तथा सर्वलोकेऽनभिरतिसंज्ञायाम्—एवमनाश्वासिकं संस्कृतमिति। एवमत्राणोऽयमसहायश्च लोक इत्येवमपि वाच्यम्। एवं वने धर्मः सुखं प्रतिपत्तुं न गेह इत्येवमप्युन्नेयम्।

॥ इति अयोगृह-जातकं द्वात्रिंशत्तमम् ॥

———

३३. महिष-जातकम्

सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते। तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन्नरण्यप्रदेशे पङ्कसंपर्कात्परुषवपुर्नीलमेघविच्छेद इव पादचारी वनमहिषवृषो बभूव। स तस्यां दुर्लभधर्मसंज्ञायां संमोहबहुलायामपि तिर्यग्गतौ वर्तमानः पटुविज्ञानत्वान्न धर्मचर्यानिरुद्योगमतिर्बभूव।

चिरानुवृत्त्येव निबद्धभावा न तं कदाचित्करुणा मुमोच।
कोऽपि प्रभावः स तु कर्मणो वा तस्यैव वा यत्स तथा बभूव ॥ १ ॥

अतश्च नूनं भगवानवोचदचिन्त्यतां कर्मविपाकयुक्तेः ।
कृपात्मकः सन्नपि यत्स भेजे तिर्यग्गतिं तत्र च धर्मसंज्ञाम् ॥ २ ॥
विना न कर्मास्ति गतिप्रबन्धः शुभं न चानिष्टविपाकमस्ति ।
स धर्मसंज्ञीपि तु कर्मलेशांस्तांस्तान् समासाद्य तथा तथासीत् ॥ ३ ॥

अथान्यतमो दुष्टवानरस्तस्य कालान्तराभिव्यक्तां प्रकृतिभद्रतां दयानुवृत्त्या च विगतक्रोधसंरम्भतामवेत्य नास्माद्भयमस्तीति तं महासत्त्वं तेन तेन विहिंसाक्रमेण भृशतरमबाधत ।

दयामृदुषु दुर्जनः पटुतरावलेपोद्धवः
परां व्रजति विक्रियां न हि भयं ततः पश्यति ॥ ४ ॥
यतस्तु भयशङ्कया सुकृशयापि संस्पृश्यते
विनीत इव नीचकैश्चरति तत्र शान्तोद्धवः ॥ ४ ॥

स कदाचित्तस्य महासत्त्वस्य विस्रब्धप्रसुप्तस्य निद्रावशाद्वा प्रचलायतः सहसैवोपरि निपतति स्म । द्रुममिव कदाचिदेनमधिरुह्य भृशं संचालयामास । क्षुधितस्यापि कदाचिदस्य मार्गमावृत्य व्यतिष्ठत । काष्ठेनाप्येनमेकदा श्रवणयोर्घट्टयामास । सलिलावगाहनसमुत्सुकस्याप्यस्य कदाचिच्छिरः समभिरुह्य पाणिभ्यां नयने समावव्रे । अप्येनमधिरुह्य समुद्यतदण्डः प्रसह्यैव वाहयन् यमस्य लीलामनुचकार । बोधिसत्त्वोऽपि महासत्त्वः सर्वं तदस्याविनयचेष्टितमुपकारमिव मन्यमानो निःसंक्षोभसंरम्भमन्युर्मर्षयामास ।

स्वभाव एव पापानां विनयोन्मार्गसंश्रयः ।
अभ्यासात्तत्र च सतामुपकार इव क्षमा ॥ ५ ॥

अथ किलान्यतमो यक्षस्तस्य परिभवममृष्यमाणो भावं वा जिज्ञासमानस्तस्य महासत्त्वस्य तेन दुष्टकपिना वाह्यमानं तं महिषवृषभं मार्गे स्थित्वेदमुवाच—मा तावद्भोः ! किं परिक्रीतोऽस्यनेन दुष्टकपिना ? अथ द्यूते पराजितः ? उताहो भयमस्मात्किंचिदाशङ्कसे ? उताहो बलमात्मगतं नावैषि यदेवमनेन परिभूय वाह्यसे ? ननु भोः !

वेगाविद्धं त्वद्विषाणाग्रवज्रं वज्रं भिन्द्याद्वज्रवद्वा नगेन्द्रान् ।
पादाश्चेमे रोषसंरम्भमुक्ता मज्जेयुस्ते पङ्कवच्छैलपृष्ठे ॥ ६ ॥
इदं च शैलोपमसंहतस्थिरं समग्रशोभं बलसंपदा वपुः ।
स्वभावसौजस्कनिरीक्षितोर्जितं दुरासदं केसरिणोऽपि ते भवेत् ॥ ७ ॥
मथान धृत्वा तदिमं क्षुरेण वा विषाणकोट्या मदमस्य वोद्धर ।
किमस्य जाल्मस्य कपेरशक्तवत्प्रबाधनादुःखमिदं तितिक्षसे ॥ ८ ॥
असज्जनः कुत्र यथा चिकित्स्यते गुणानुवृत्त्या सुखशीलसौम्यया ।
कटूष्णरूक्षाक्षि हि यत्र सिद्धये कफात्मको रोग इव प्रसर्पति ॥ ९ ॥

अथ बोधिसत्त्वस्तं यक्षमवेक्षमाणः क्षमापक्षपतितमरूक्षाक्षरमित्युवाच—

अवैम्येनं चलं नूनं सदा चाविनये रतम् ।
अत एव मया त्वस्य युक्तं मर्षयितुं ननु । १० ॥

प्रतिकर्तुमशक्तस्य क्षमा का हि बलीयसि ।
विनयाचारधीरेषु क्षन्तव्यं किं च साधुषु ॥ ११ ॥
शक्त एव तितिक्षते दुर्बलस्खलितं यतः ।
वरं परिभवस्तस्मान्न गुणानां पराभवः ॥ १२ ॥
असत्क्रिया हीनबलाच्च नाम निर्देशकालः परमो गुणानाम् ।
गुणप्रियस्तत्र किमित्यपेक्ष्य स्वधैर्यभेदाय पराक्रमेत ॥ १३ ॥
नित्यं क्षमायाश्च ननु क्षमायाः कालः परायत्ततया दुरापः ।
परेण तस्मिन्नुपपादिते च तत्रैव कोपप्रणयक्रमः कः ॥ १४ ॥
स्वां धर्मपीडामविचिन्त्य योऽयं मत्पापशुद्ध्यर्थमिव प्रवृत्तः ।
न चेत्क्षमामप्यहमत्र कुर्यामन्यः कृतघ्नो बत कीदृशः स्यात् ॥ १५ ॥

यक्ष उवाच—तेन हि न त्वमस्याः कदाचित्प्रबाधनाया मोक्ष्यसे—

गुणेष्वबहुमानस्य दुर्जनस्याविनीतताम् ।
क्षमानैभृत्यमत्यक्त्वा कः संकोचयितुं प्रभुः ॥ १६ ॥

बोधिसत्त्व उवाच—

परस्य पीडाप्रणयेन यत्सुखं निवारणं स्यादसुखोदयस्य वा ।
सुखार्थिनस्तन्न निषेवितुं क्षमं न तद्विपाको हि सुखप्रसिद्धये ॥ १७ ॥
क्षमाश्रयादेवमसौ मयार्थतः प्रबोध्यमानो यदि नावगच्छति ।
निवारयिष्यन्ति त एनमुत्पथादमर्षिणो यानयमभ्युपैष्यति ॥ १८ ॥
असत्क्रियां प्राप्य च तद्विधाज्जनान्न मादृशेऽप्येवमसौ करिष्यति ।
न लब्धदोषो हि पुनस्तथाचरेदतश्च मुक्तिर्मम सा भविष्यति ॥ १९ ॥

अथ यक्षस्तं महासत्त्वं प्रसादविस्मयबहुमानावर्जितमतिः साधु साध्विति सशिरःप्रकम्पाङ्गुलिविक्षेपमभिसंराध्य तत्तत्प्रियमुवाच —

कुतस्तिरश्चामियमीदृशी स्थितिर्गुणेष्वसौ चादरविस्तरः कुतः ।
कयापि बुद्ध्या त्विदमास्थितो वपुस्तपोवने कोऽपि भवांस्तपस्यति ॥२०॥

इत्येनमभिप्रशस्य तं चास्य दुष्टवानरं पृष्ठादवधूय समादिश्य चास्य रक्षाविधानं तत्रैवान्तर्दधे ।

तदेवं सति क्षन्तव्ये क्षमा स्यान्नासतीत्यपकारिणमपि साधवो लाभमिव बहु मन्यन्ते इति क्षान्तिकथायां वाच्यम् । एवं तिर्यग्गतानां बोधिसत्त्वानां प्रतिसंख्यानसौष्ठवं दृष्टम् । को नाम मनुष्यभूतः प्रव्रजितप्रतिज्ञो वा तद्विकलः शोभेत ? इत्येवमपि वाच्यम् । तथागतवर्णे सत्कृत्य धर्मश्रवणे चेति ।

॥ इति महिषजातकं त्रयस्त्रिंशत्तमम् ॥

———

३४. शतपत्र-जातकम्

प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नालं पापे प्रवर्तितुमनभ्यासात् । तद्यथानुश्रूयते—

बोधिसत्त्वः किलान्यतमस्मिन् वनप्रदेशे नानाविधरागरुचिरचित्रपत्रः शतपत्रो बभूव । करुणापरिचयाच्च तदवस्थोऽपि न प्राणिहिंसाकलुषां शतपत्रवृत्तिमनुववर्त ।

बालैः प्रवालैः स महीरुहाणां पुष्पाधिवासैर्मधुभिश्च हृद्यैः ।
फलैश्च नानारसगन्धवर्णैः संतोषवृत्तिं बिभरांचकार ॥ १ ॥
धर्मं परेभ्यः प्रवदन् यथार्हमार्तान् यथाशक्ति समुद्धरंश्च ।
निवारयंश्चाविनयादनार्यानुद्भावयामास परार्थचर्याम् ॥ २ ॥

इति परिपाल्यमानस्तेन महासत्त्वेन तस्मिन् वनप्रदेशे सत्त्वकायः साचार्यक इव बन्धुमानिव सवैद्य इव राजन्वानिव सुखमभ्यवर्धत ।

दयामहत्त्वात्परिपाल्यमानो वृद्धिं यथासौ गुणतो जगाम ।
स सत्त्वकायोऽपि तथैव तेन संरक्ष्यमाणो गुणवृद्धिमाप ॥ ३ ॥

अथ कदाचित्स महासत्त्वः सत्त्वानुकम्पया वनान्तराणि समनुविचरंस्तीव्रवेदनाभिभवाद्विचेष्टमानं दिग्धविद्धमिवान्यतमस्मिन् वनप्रदेशे रेणुसंपर्कव्याकुलमलिनकेसरसटं सिंहं ददर्श। समभिगम्य चैनं करुणया परिचोद्यमानः पप्रच्छ – किमिदं मृगराज ? बाढं खल्वकल्यशरीरं त्वां पश्यामि ।

द्विपेषु दर्पातिरसानुवृत्त्या जवप्रसङ्गादथवा मृगेषु ।
कृतं तवास्वास्थ्यमिदं श्रमेण व्याधेषुणा वा रुजया कयाचित् ॥ ४ ॥
तद् ब्रूहि वाच्यं मयि चेदिदं ते यदेव वा कृत्यमिहोच्यतां तत् ।
ममास्ति या मित्रगता च शक्तिस्तत्साध्यसौख्यस्य भवान् सुखी च ॥ ५ ॥

सिंह उवाच – साधो पक्षिवर ! न मे श्रमजातमिदमस्वास्थ्यं रुजया व्याधेषुणा वा । इदं त्वस्थिशकलं गलान्तरे विलग्नं शल्यमिव मां भृशं दुनोति । न ह्येनच्छक्नोम्यभ्यवहर्तुमुद्गरितुं वा । तदेष कालः सुहृदाम् । यथेदानीं जानासि, तथा मां सुखिनं कुरुष्वेति ।

अथ बोधिसत्त्वः पटुविज्ञानत्वाद्विचिन्त्य शल्योद्धरणोपायं तद्वदनविष्कम्भप्रमाणं काष्ठमादाय तं सिंहमुवाच–या ते शक्तिस्तया सम्यक् तावत्स्वमुखं निर्व्यादेहीति । स तथा चकार । अथ बोधिसत्त्वस्तदस्य काष्ठं दन्तपाल्योरन्तरे सम्यग्निवेश्य प्रविश्य चास्य गलमूलं तत्तिर्यगवस्थितमस्थिशकलं वदनाग्रेणाभिहत्यैकस्मिन् प्रदेशे समुत्पादितशैथिल्यमितरस्मिन् परिगृह्य पर्यन्ते विचकर्ष । निर्गच्छन्नेव तत्तस्य वदनविष्कम्भणकाष्ठं निपातयामास ।

सुदृष्टकर्मा निपुणोऽपि शल्यहृन्न तत्प्रयत्नादपि शल्यमुद्धरेत् ।
यदुज्जहारानभियोगसिद्धया स मेधया जन्मशतानुबद्धया ॥ ६ ॥
उद्धृत्य शल्येन सहैव तस्य दुःखं च तत्संजनितां शुचं च ।
प्रीतः स शल्योद्धरणाद्यथासीत् प्रीतः सशल्योद्धरणात्तथासीत् ॥ ७ ॥

धर्मता ह्येषा सज्जनस्य ।

प्रसाध्य सौख्यं व्यसनं निवर्त्य वा सहापि दुःखेन परस्य सज्जनः ।
उपैति तां प्रीतिविशेषसंपदं न यां स्वसौख्येषु सुखागतेष्वपि ॥ ८ ॥

इति स महासत्त्वस्तस्य तद्दुःखमुपशमय्य प्रीतहृदयस्तमामन्त्र्य सिंहं प्रतिनन्दितस्तेन यथेष्टं जगाम ।

अथ स कदाचित्प्रविततरुचिरचित्रपत्रः शतपत्रः परिभ्रमन् किंचित्क्वचित्

तद्विधमाहारजातमनासाद्य क्षुदग्निपरिगततनुस्तमेव सिंहमचिरहतस्य हरिणतरुणस्य मांसमुपभुञ्जानं तद्रुधिरानुरञ्जितवदननखरकेसराग्रं संध्याप्रभासमालब्धं शरन्मेघविच्छेदमिव ददर्श।

कृतोपकारोऽपि तु न प्रसेहे वक्तुं स याच्ञाविरसाक्षरं तम्।
विशारदस्यापि हि तस्य लज्जा तत्कालमौनव्रतमादिदेश॥ ९॥
कार्यानुरोधात्तु तथापि तस्य चक्षुष्पथे ह्रीविधुरं चचार।
स चानुपश्यन्नपि तं दुरात्मा निमन्त्रणामप्यकरोन्न तस्य॥ १०॥
शिलातले बीजमिव प्रकीर्णं हुतं च शान्तोष्मणि भस्मपुञ्जे।
समप्रकारं फलयोगकाले कृतं कृतघ्ने विदुले च पुष्पम्॥ ११॥

अथ बोधिसत्त्वो नूनमयं मां न प्रत्यभिजानीत इति निर्विशङ्कतरः समभिगम्यैनमर्थिवृत्त्या प्रयुक्तयुक्ताशीर्वादः संविभागमयाचत—

पथ्यमस्तु मृगेन्द्राय विक्रमार्जितवृत्तये।
अर्थिसंमानमिच्छामि त्वद्यशःपुण्यसाधनम्॥ १२॥

इत्याशीर्वादमधुरमप्युच्यमानोऽथ सिंहः क्रौर्यमात्सर्यपरिचयादनुचितार्यवृत्तिः कोपाग्निदीप्तयातिपिङ्गलया दिधक्षन्निव विवर्तिततया दृष्ट्या बोधिसत्त्वमीक्षमाण उवाच—मा तावद्भोः।

दयाक्लैब्यं न यो वेद खादन् विस्फुरतो मृगान्।
प्रविश्य तस्य मे वक्त्रं यज्जीवसि न तद्बहु॥ १३॥
मां पुनः परिभूयैवमासादयसि याच्ञया।
जीवितेन नु खिन्नोऽसि परं लोकं दिदृक्षसे॥ १४॥

अथ बोधिसत्त्वस्तेन तस्य रूक्षाक्षरक्रमेण प्रत्याख्यानवचसा समुपजातव्रीडस्तत्रैव नभः समुत्पपात। पक्षिणो वयमित्यर्थतः पक्षविस्फारणशब्देनैनमुक्त्वा प्रचक्राम।

अथान्यतमा वनदेवता तस्य तमसत्कारमसहमाना धैर्यप्रयामजिज्ञासया वा समुत्पत्य तं महासत्त्वमुवाच—पक्षिवर, कस्मादिममसत्कारमस्य दुरात्मनः कृतोपकारः सन् संविद्यमानायां शक्तावपि मर्षयसि? कोऽर्थः कृतघ्नेनानेनैवमुपेक्षितेन?

शक्तस्त्वमस्य नयने वदनाभिघाताद्
विस्फूर्जितः प्रमथितुं बलशालिनोऽपि।
दंष्ट्रान्तरस्थमपि चामिषमस्य हर्तुं
तन्मृष्यते किमयमस्य बलावलेपः॥ १५॥

अथ बोधिसत्त्वस्तथाप्यसत्कारविप्रकृतः प्रोत्साह्यमानोऽपि तया वनदेवतया स्वां प्रकृतिभद्रतां प्रदर्शयन्नुवाच—अलमलमनेन क्रमेण। नैष मार्गोऽस्मद्विधानाम्।

आर्ते प्रवृत्तिः साधूनां कृपया न तु लिप्सया।
तामवैतु परो मा वा तत्र कोपस्य को विधिः॥ १६॥
वञ्चना सा च तस्यैव यन्न वेत्ति कृतं परः।
को हि प्रत्युपकारार्थी तस्य भूयः करिष्यति॥ १७॥

उपकर्ता तु धर्मेण परतस्तत्फलेन च।
योगमायाति नियमादिहापि यशसः श्रिया ॥ १८ ॥
कृतश्चेद्धर्म इत्येव कस्तत्रानुशयः पुनः।
अथ प्रत्युपकारार्थमृणदानं न तत्कृतम् ॥ १९ ॥
उपकृतं किल वेत्ति न मे परस्तदपकारमिति प्रकरोति यः।
ननु विशोध्य गुणैः स यशस्तनुं द्विरदवृत्तिमभिप्रतिपद्यते ॥ २० ॥
न वेत्ति चेदुपकृतमातुरः परो न योक्ष्यतेऽपि स गुणकान्तया श्रिया।
सचेतसः पुनरथ को भवेत्क्रमः समुच्छ्रितं प्रमथितुमात्मनो यशः ॥ २१ ॥

इदं त्वत्र मे युक्तरूपं प्रतिभाति—

यस्मिन् साधूपचीर्णेऽपि मित्रधर्मो न लक्ष्यते।
अनिष्ठुरमसंरब्धमपयायाच्छनैस्ततः ॥ २२ ॥

अथ सा देवता तत्सुभाषितप्रसादितमनाः साधु साध्विति पुनरुक्तमभिप्रशस्य तत्तत्प्रियमुवाच—

ऋते जटावल्कलधारणश्रमाद्भवानृषिस्त्वं विदितायतिर्यतिः।
न वेषमात्रं हि मुनित्वसिद्धये गुणैरुपेतस्त्विह तत्त्वतो मुनिः ॥ २३ ॥

इत्यभिलक्ष्य प्रतिपूज्यैनं तत्रैवान्तर्दधे।

तदेवं प्रोत्साह्यमानोऽपि साधुर्नालं पापे प्रवर्तितुमनभ्यासादिति सज्जनप्रशंसायां वाच्यम्। एवं क्षान्तिकथायामप्युपनेयम्—एवं क्षमापरिचयान्न वैरबहुलो भवति, नावद्यबहुलो बहुजनप्रियो मनोज्ञश्चेति। एवं प्रतिसंख्यानबहुलाः स्वां गुणशोभामनुरक्षन्ति पण्डिता इति प्रतिसंख्यानवर्णे वाच्यम्। तथागतमाहात्म्ये च भद्रप्रकृत्यभ्यासवर्णे च—एवं भद्रप्रकृतिरभ्यस्ता तिर्यग्गतानामपि न निवर्तत इति।

॥ इति शतपत्र-जातकं चतुस्त्रिंशत्तमम् ॥

॥ कृतिरियमार्यशूरपादानाम् ॥